ज्ञानेश्वरी

अर्थात्

गीता पर श्रीज्ञानेश्वर महाराज की भावार्थ-दीपिका टीका का अनुवाद

अनुवादक

पण्डित रघुनाथ माधव भगाड़े, बी. ए.

[हिन्दीकोश]

संत ज्ञानेश्वरी

(1275-1353 ई.)

निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता की अनेक संस्कृत और भाषा टीकाएँ प्रसिद्ध है। उनमें से ज्ञानेश्वर महाराज-कृत भावार्थ-दीपिका नामक व्याख्या, जो पुरानी मराठी भाषा में लिखी है, दक्षिण में अत्युच्च श्रेणी में गिनी जाती है। यह ग्रन्थ साहित्य की दृष्टि से अनुपम है तथा सिद्धान्त की दृष्टि से भी अनोखा है। इसमें गीता के प्रत्येक श्लोक का केवल भाव ही दिया है, पर सम्पूर्ण व्याख्यान अद्वैत ज्ञान और भक्ति से भरा हुआ है। इस ग्रन्थ की यही विशेषता है। इसमें शांकर-मतानुसार शुद्धाद्वैत मानते हुए साथ ही भक्ति का अत्यन्त सुरस, अत्यन्त प्रेमयुक्त और अत्यन्त हृदयंगम निरूपण किया है। संस्कृत में श्रीमद्भागवत जितनी मधुर है, हिन्दी में तुलसीकृत रामायण जितनी ललित है उतनी ही मनोहर मराठी में यह ज्ञानेश्वरी है। इसके प्रणेता श्रीज्ञानेश्वर महाराज महाराष्ट्र के प्रमुख सन्तों में से एक है। वे मराठी के आदिकवि समझे जाते है। यह ग्रन्थ उन्होंने अपनी अवस्था के पन्द्रहवें वर्ष में लिखा है। इसी से उनकी लोकोत्तर बुद्धि और सामर्थ्य की कल्पना हो सकती है।

ज्ञानेश्वर महाराज का जन्म शक 1197 (संवत् 1332) में हुआ था। उनके पित्ता विट्ठल पन्त अत्यन्त वैराग्यशील थे। उन्होंने अनेक बार अपनी पत्नी से संन्यास-दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी पर उनके कोई पुत्र न था, इस कारण उसने न दी। एक समय जब उनकी स्त्री दुश्चित्त थी तब उन्होंने कहा कि मैं गंगा को जाता हूँ। स्त्री के मुँह से जाइये शब्द निकल गया। उसका आज्ञा समझ कर विट्ठल पन्त ठेठ काशी को चले गये, और वहाँ संन्यास-दीक्षा ले श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य हो गये। श्रीरामानन्द स्वामी काशी में विख्यात थे। सन्त कबीर इन्हीं के शिष्य समझे जाते हैं।

एक बार श्रीरामानन्द स्वामी ने रामेश्वर को जाते हुए आलन्दी में मुकाम किया। वहाँ और स्त्रियों के समान विट्ठल पन्त की स्त्री ने भी उन्हें नमस्कार किया और स्वामीजी ने उसे "पुत्रवती भव" कह कर आशीर्वाद दिया। यह सुन कर विट्ठल पन्त की स्त्री हँसी। स्वामीजी के कारण पूछ्ने पर उसने अपनी कथा कही। उस का वर्णन सुन कर स्वामीजी ने निश्चय किया कि इसका पति विट्ठल पन्त है। स्त्री रहते हुए, पुत्र सन्तान न होते हुए और स्त्री की सम्मति न रहते हुए, संन्यास लेना उचित नहीं है; यों समझा कर स्वामी जी ने विट्ठल पन्त का फिर गृहस्थाश्रम लेने की आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा मान विट्ठल पन्त ने गृहस्थाश्रम स्वीकारा। अनन्तर उनके चार सन्तान हुई। प्रथम निवृत्तिनाथ (शक 1195)

फिर ज्ञानेश्वर महाराज (1197), फिर सोपानदेव, और अन्त में मुक्ताबाई नामक एक कन्या हुई। ये सब बालक अपनी बाल्यावस्था से ही ज्ञान, याग और भक्ति के निवास ही जान पड़ते थे। एक बार रास्ता भूल कर निवृत्तिनाथ भटकते हुए अंजनी पर्वत पर एक गुहा में चले गये। श्रीगैनीनाथ तप कर रहे थे। निवृत्तिनाथ उनके चरणों पर गिर पड़े और श्रीगैनीनाथ को भी उस कोमल बालक का देख आनन्द हुआ। अधिकारी देख उन्होंने उसे ब्रह्मोपदेश किया। तदनन्तर निवृत्तिनाथ ने वही ज्ञान ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई को दे उन्हें कृतार्थ किया। इस प्रकार उन बालकों को उस छोटी-सी अवस्था में सम्प्रदाय-दीक्षा भी प्राप्त हो गई। विट्ठल पन्त संन्यासी से गृहस्थ हुए थे। यह शास्त्रविहित कर्म न था। इसलिए इन बालकों की उपनयन-विधि के लिए ब्राह्मण राजी न होता था। विट्ठल पन्त ने चाहे जो प्रायश्चित्त करना स्वीकार किया परन्तु ब्राह्मणों ने निर्णय किया कि इस दोष के लिए कोई प्रायश्चित्त ही नहीं, केवल देहान्त प्रायश्चित्त है। यह सुन कर विट्ठल पन्त ने प्रयाग जा त्रिवेणी में अपना देह अर्पण कर गृहस्थाश्रम लेने के समय जैसे गुरु की आज्ञा शिरसा मान्य की थी वैसे ही ब्राह्मणों के प्रति भी अपनी श्रद्धा व्यक्त की। उस समय निवृत्तिनाथ केवल दस वर्ष के थे। प्रयाग से लौटे तो उनके भाई-बन्दों ने उन्हें अपने घर न आने

दिया और उनकी सम्पत्ति का भाग भी उन्हें न दिया। अतः भिक्षा-वृत्ति का आश्रय लेना पड़ा। उपनयन के लिए श्री निवृत्तिनाथ अधिक उत्सुक न थे। वे विरक्त थे, केवल ब्रह्मरूप थे; परन्तु ज्ञानेश्वर महाराज की सम्मति थी कि वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा होनी चाहिए। ब्राह्मण के लिए उपनयन आवश्यक है. अतएव शास्त्रानुसार उपनयन-विधि करनी चाहिए। इसलिए चारों भाई-बहन पैठन गये; परन्तु ब्राह्मणों ने यह निर्णय किया कि संन्यासी के लड़कों का उपनयन शास्त्रानुकूल नहीं है। पर जब ज्ञानेश्वर महाराज ने योग-सिद्धि के कई चमत्कार दिखाये, तब ब्राह्मणों ने उनकी लोकोत्तर सामर्थ्य देख कर उन्हें एक शुद्धिपत्र लिख दिया कि ये चारों बालक अवतारी पुरुष हैं — इन्हें प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं। श्रीज्ञानेश्वर के पैठन के चमत्कारों में से भैंसे के मुख से वेदोच्चार करवाना और श्राद्ध के लिए मूर्तिमान पितरों को बुलवाना अत्यन्त प्रसिद्ध है। तदनन्तर चारों भाई-बहन आलन्दी गये। वहाँ भी कई चमत्कार हुए। वहाँ उनका काल निरन्तर वेदान्तचर्चा, कीर्तन, पुराण, भजन इत्यादि सत्कर्मों में जाता था। वे भागवत, योगवासिष्ठ, गीता इत्यादि अध्यात्म-ग्रन्थों का निरूपण करते और संसार को परमार्थ-मार्ग का उपदेश करते थे। इसी काल (शक 1212) में महाराज ने गीता पर भाष्य लिखा। वही ज्ञानेश्वरी वा भावार्थ-दीपिका नाम से प्रसिद्ध है। इस समय

महाराज की अवस्था केवल 15 वर्ष की थी। अन्य सब चमत्कार छोड़ दीजिए, केवल इसी एक बात का विचार कीजिए कि जिस अवस्था में प्रायः अत्यन्त बुद्धिमान लड़का भी किसी साधारण विषय पर ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता उस अवस्था में अध्यात्म विषय पर ऐसा ग्रन्थ लिखना, जो आज छः सौ वर्षों के बाद भी शिरोधार्य है, कितना बड़ा चमत्कार है। ज्ञानेश्वरी के समान ओज से भरा हुआ, आत्मानुभव के प्रकाश से जगमगाता हुआ, प्रेम और भक्तिरस से थबथबाता हुआ दूसरा ग्रन्थ मिलना कठिन है। काव्यदृष्टि से देखिए चाहे भाषादृष्टि से — ज्ञानेश्वरी की कक्षा में रखने के योग्य थोड़े ही ग्रन्थ मिलेंगे। ज्ञानेश्वरी के अनन्तर महाराज ने अमृतानुभव नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने स्वतन्त्र रूप से सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्र का निरूपण किया है। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त मनोहर और उच्च श्रेणी का है। इसके सिवाय महाराज ने और भी कुछ ग्रन्थ और अनेक पद अभंग इत्यादि रचे हैं जिनसे उनके अलौकिक ज्ञान, अलौकिक सामर्थ्य, और अलौकिक भक्ति की कल्पना हो सकती है। तदनन्तर ज्ञानेश्वर महाराज तीर्थयात्रा के लिए निकले। अनेक क्षेत्रों में उनके अनेक चमत्कार हुए। जब काशी में पहुँचे तब वहाँ मुद्गलाचार्य नामक एक सत्पुरुष एक बड़ा यज्ञ कर रहे थे। उसके लिए ब्राह्मणों का समुदाय इकट्ठा हुआ था और यज्ञ के समय अग्रपूजा का सन्मान

किसे दिया जाय, इस विषय पर वाद मच रहा था। अन्त में मुद्गलाचार्य ने एक हथिनी की सूँड में एक पुष्पमाला दी और यह ठहराया कि जिसके कण्ठ में हथिनी माला डालेगी उसी की अग्रपूजा की जावेगी। हथिनी ने उस समुदाय भर में श्रीज्ञानेश्वर के कण्ठ में माला पहना दी। महाराज की अग्रपूजा हुई और काशी विश्वेश्वर ने यज्ञ का पुरोडाश उनके हाथ से ग्रहण किया। तदनन्तर ज्ञानेश्वर उत्तर के सब तीर्थ कर द्वारका से मारवाड़ होते हुए पण्ढरपुर पहुँचे। अनेक स्थलों में उनके चमत्कार हुए जिनका साद्यन्त वर्णन स्थलसंकोच के कारण नहीं दिया जा सकता। हर जगह महाराज ने ज्ञानोपदेश किया और संसार का परमार्थ का मार्ग दिखाया। श्री विट्ठल का दर्शन ले सब भाई-बहन आलन्दी लौट आये और अन्त तक वहीं रहे।

एक बार वहाँ चांगदेव नामक योगी उनसे मिलने के लिए बाघ पर सवार हो कर आ रहे थे। उनको देखने के लिए महाराज अपने भाई-बहन-सहित एक दीवार पर जा बैठे और चांगदेव का गर्व हरण करने के उद्देश्य से उन्होंने उस दीवार का चलने की आज्ञा दी। दीवार चलने लगी। यह देख कर चांगदेव लज्जित हो गया। उनके ऐसे कई चमत्कार प्रसिद्ध हैं।

शक 1218 में श्रीज्ञानेश्वर समाधिस्थ हुए। उस समय वे 21 वर्ष के थे। उन्होंने जीवित समाधि ली। इन्द्रायणी नदी के तीर पर

महाराज ने एक गुहा तैयार करवाई। कार्तिक वदी 11 का सब सन्तों ने मिल कर भजन किया, द्वादशी का सबने पारण किया। त्रयोदशी को श्रीज्ञानेश्वर ने तुलसीपत्र और विल्वपत्र का आसन तैयार किया और समाधि में बैठने के लिए उद्यत हुए। श्री विट्ठल ने स्वयं उनके ग्रन्थों की स्तुति की और उनके गले में एक फूलों का हार पहनाया। ज्ञानेश्वर ने उन्हें नमन किया। अन्य सब सन्तों ने महाराज का वन्दन किया और महाराज समाधिस्थान को प्रदक्षिणा कर, सब सन्तों के जयघोष के बीच, भीतर घुसे। एक हाथ श्री विट्ठल ने और दूसरा श्री निवृत्तिनाथ ने पकड़ कर उन्हें आसन पर बैठाया और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। इस प्रकार महाराज ने अपने अवतार-कार्य की समाप्ति की; तथापि उनकी समाधि नित्य हैं। उनकी स्फूर्ति सदा जागृत है, और संसार को सत्यमार्ग में प्रवृत्त करने के लिए समर्थ है।

ज्ञानेश्वरी के द्वारा महाराज ने संसार पर अनन्त उपकार किये हैं। जैसे इस में उत्तम व्यवहार, उत्तम नीति, उत्तम धर्म, उत्तम ज्ञान प्रतिपादन किया है वैसे इसकी भाषा और काव्य भी अत्यन्त रमणीय है। इसे पढ़ कर अध्यात्म-विचार करनेहारा पाठक जितना सुखी होता है, इसके अध्यात्म-तत्त्वों का विवरण देख मुमुक्षुओं को जैसा समाधान होता है, वैसे ही इसकी गम्भीर भाषा,

उदात्त विचार और उपमा दृष्टान्तादि अलंकारों को देख केवल साहित्य के प्रेमी पाठकों का हृदय भी आनन्द से भर जाता है।

इस ग्रन्थ में किस-किस अध्याय में किस-किस विषय का वर्णन है, यह महाराज ने अनेक स्थलों में कहा है। अन्त में महाराज कहते हैं कि गीता त्रिकाण्डात्मक श्रुति है। पहले अध्याय में अर्जुन का विषाद और दूसरे में सांख्ययोग के वर्णन के पश्चात् तीसरे अध्याय में कर्मकाण्ड का निरूपण है, तथा चौथे से बारहवें के मध्य तक देवताकाण्ड कर वहाँ से पन्द्रहवें के अन्त तक ज्ञानकाण्ड का वर्णन है। उसी सम्यक् ज्ञान के दृढ होने के लिए सोलहवें अध्याय में देवासुर-सम्पत्ति कही है और प्रसंगानुसार सत्रहवें में तीन प्रकार की श्रद्धा का वर्णन किया गया है। अठारहवाँ अध्याय उपसंहारात्मक है।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज के ग्रन्थावलोकन से ज्ञात होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ में प्रायः श्रीशंकराचार्य के मत को ही माना है। परन्तु अद्वैत मत के साथ वे भक्ति का भी प्रतिपादन करते हैं। यही उनमें विशेषता है। अठारहवें अध्याय (1150-51) में महाराज ने स्पष्ट कहा है कि चन्दन के संग जैसे सुगन्ध रहती है, चन्द्रमा के संग जैसे चन्द्रिका रहती है, वैसे ही अद्वैत-ज्ञान के संग भक्ति भी अवश्य रहती है। सातवें अध्याय के श्लोक 16 और 17 में कहा है कि चार प्रकार के भक्तों में भगवान् को ज्ञानी भक्त ही सबसे

अधिक प्रिय है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि ज्ञानी भक्त शरीर और कर्म के वश भक्त प्रतीत होता है परन्तु उसे आत्मानुभव होने के कारण वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है। प्रश्न है कि जब ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होती है तो फिर भक्ति की क्या आवश्यकता है? परन्तु श्रुति का सिद्धान्त यही है कि भक्ति के बिना अखण्ड परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'

इस श्रुति का भी अर्थ यही है।

ज्ञान से सच्चिदानन्द-स्वरूप की सत्ता और चित्ता की प्रतीति होती है पर आनन्दवत्ता के लिए भक्ति की ही आवश्यकता है। इसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि ज्ञान से मोक्ष होती है, तथापि केवल ज्ञान से उपाधि का नाश नहीं होता। अतएव उपाधि के नाश के लिए भी भक्ति की आवश्यकता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान स्थिर होता है, और निदिध्यासन योग की रीति से ही सिद्ध होता है परन्तु योग में भी समाधि के व्युत्थान का सम्भव है। अतः सन्तत समाधि-सुख का अनुभव लेने के लिए भक्ति आवश्यक है।

भक्ति का स्वरूप शुद्धप्रेम है। नारद ने कहा है कि "सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा" अर्थात् आत्मस्वरूप में परम प्रेम का नाम भक्ति है; तथा प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय कहा है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि ईश्वर की सहजस्थिति का ही नाम भक्ति है। जिस अखण्ड प्रकाश से विश्व की स्थिति या अस्थिति है, जिस प्रकाश से आन्तरिक वासनानुसार जगत् की प्रतीति होती है उसे भक्ति कहते हैं (18.1113-17); एवं चन्द्र से जैसे चन्द्रिका भिन्न नहीं वैसे ही भक्ति भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न नहीं है, तथा चन्द्रिका जेसे भिन्न-सी जान पड़ती है वैसे ही भक्ति भी भिन्न-सी समझनी चाहिए। छठे अध्याय के दसवें श्लोक की व्याख्या में (113 से 120 तक) महाराज ने इसी भिन्न-इव भक्ति का वर्णन किया है।

भक्ति तीन प्रकार की कही है — (1) तस्यैवाहं, अर्थात् हनुमान् जी के समान निज को ईश्वर का दास इत्यादि समझना; (2) ममैवासौ, अर्थात् यशोदा इत्यादि के समान ईश्वर में वात्सल्यादि भाव, रखना; और (3) स एवाहं, अर्थात् गोपिका प्रभृति के समान ईश्वर से एक हो जाना। आत्म-प्रेम सबसे अधिक होता है। उसी आत्म-स्वरूपी परमात्मा में अनिर्वचनीय प्रेम का नाम ही अत्यन्त श्रेष्ठ भक्ति है। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने जहाँ-तहाँ, विशेषतः अठारहवें अध्याय के श्लोक 55 की व्याख्या में, इसी भक्ति का वर्णन किया

है। उसे पूर्णतः समझने और उसका वर्णन करने की सामर्थ्य मुझ अल्पबुद्धि में नहीं है।

यह ज्ञानेश्वरी का अनुवाद मैंने, जहाँ तक हो सका, मूल को न छोड़ते हुए किया है। मराठी का अनुवाद होने के कारण, तथा मेरी मातृभाषा भी मराठी होने के कारण और हिन्दी भाषा में मेरा यह पहला ही ग्रन्थ होने के कारण, इसकी भाषा में कई त्रुटियाँ होगी। उनके लिए विद्वज्जन क्षमा करेंगे। त्रुटियों की सूचना हो और भाग्य से यदि दूसरी आवृत्ति छापने का अवसर प्राप्त हो तो उस समय सुधार किया जावेगा।

यह अल्प सेवा श्रीज्ञानेश्वर महाराज के चरणों में समर्पित है।

~रघुनाथ माधव भगाड़े।

वक्तव्य।

हिन्दी-ज्ञानेश्वरी के प्रथम संस्करण में भाषा-विषयक अनेक दोष थे। अनेक सज्जनों ने मुझे उन दोषों की सूचना देने की कृपा की। उनका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इस संस्करण में, जहाँ तक हो सका, उन दोषों का सुधार किया गया है तथापि अनेक त्रुटियाँ रह

गई होंगी। आशा है कि पाठक उनके लिए क्षमा करेंगे और हंस-क्षीर-न्यायानुसार गुण ही का ग्रहण करेंगे।

श्रीज्ञानेश्वरार्पणमस्तु।

~रघुनाथ माधव भगाड़े।

नमः परमात्मने।

॥ मङ्गलम् ॥

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमंब
त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ 1 ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्त्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ 2 ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ 3 ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ 4 ॥

विषय-सूची

ज्ञानेश्वरी

ॐ श्रीगणेशाय नमः

पहला अध्याय

(1.1) हे ओंकार! हे वेदों से ही वर्णनीय आदिरूप! आपको नमस्कार है। स्वयं आप ही अपने को जाननेहारे हे आत्मरूप! आपका जय-जयकार हो।

(1.2) हे देव, मैं निवृत्ति का दास निवेदन करता हूँ, सुनिए, आप ही सकल अर्थ और बुद्धि के प्रकाशित करनेहारे गणेश हैं।

(1.3) ये जो अखिल वेद है वही आपकी सुन्दर मूर्ति है। और वेद के अक्षर आपका निर्दोष शरीर हैं।

(1.4) स्मृतियाँ आपके अवयव है। शरीर के भाव देखिए तो अर्थ की सुन्दरता आपके लावण्य की द्युति है।

(1.5) अठारह पुराण आपके मणि-भूषण है, प्रमेय रत्न है और पद-रचना उनका कुन्दन है।

(1.6) उत्तम पद-लालित्य आपका रँगा हुआ वस्त्र है, जिसमें साहित्यशास्त्र ही उज्जवल और महीन ताना-बाना है।

(1.7) देखिए, काव्य और नाटक, जिनको देखते ही सानन्द आश्चर्य होता है, रुमझुम करनेवाली आपकी क्षुद्र-घण्टियाँ है। और काव्य-नाटकों का अर्थ उन घण्टियों की ध्वनि है।

(1.8) अनेक प्रकार के तत्त्वार्थ और उनकी कुशलता अच्छी तरह देखने पर उन तत्त्वार्थों के उत्तम पद उन काव्यादि घण्टियों के बीच चमकनेवाले रत्न मालूम होते हैं।

(1.9) व्यासादि ऋषियों की बुद्धि मेखला-सी सुहाती है, और उसका तेज मेखला के पल्लव का अग्र भाग-सा चमकता है।

(1.10) देखिए, जो षड्दर्शन कहलाते है, वहीं आपकी भुजाएँ है, और जो भिन्न-भिन्न मत है वही आपके शस्त्र है।

(1.11) तर्कशास्त्र फरसा है, न्यायशास्त्र अंकुश है, और वेदान्त अत्यन्त सुरस मोदक जैसा शोभता है।

(1.12) एक हाथ में जो आप ही आप टूटा हुआ दन्त है सो वार्त्तिककारों के व्याख्यान से खण्डित किये हुए बौद्ध मत का संकेत है।

(1.13) तथा जो वरदायक कर-कमल है सो सहज ही सत्कार-वार का सूचक है और धर्म की प्रतिष्ठा आपका अभय कर है।

(1.14) देखिए, जिसमें महासुख का परमानन्द है वह अत्यन्त निर्मल विवेक आपकी लम्बी सूँड है।

(1.15) उत्तम संवाद आपके सम और शुभ्रवर्ण दन्त है और हे देव, हे विघ्नराज! ज्ञान-दृष्टि आपके सूक्ष्म नेत्र है।

(1.16) दोनों मीमांसाएँ दोनों कानों के स्थान में दिखाई देती है; ज्ञानामृत मद है और ज्ञानवान् मुनि उसका सेवन करनेवाले भ्रमर जान पड़ते है।

(1.17) तत्त्वार्थ प्रकाशमान प्रवाल है, द्वैत और अद्वैत निकुम्भ है, और दोनों का जिस स्थान पर एकीकरण होता है वही आपका मस्तक शोभता है।

(1.18) वेद और उपनिषद्, जो उत्तम ज्ञानामृत से युक्त है सो, आपके मस्तक पर रक्खे हुए मुकुट के पुष्पों के समान शोभा देते है।

(1.19) अकार आप के दोनों चरण है, उकार विशाल उदर है और मकार मस्तकाकार महामण्डल है।

(1.20) ये तीनों जहाँ एक होते है वहाँ वेद समाविष्ट है। उसी आदि-बीज ओंकार को मैं श्रीगुरु की कृपा से नमस्कार करता हूँ।

(1.21) तदन्तर, जो अपूर्व वाणी में विलास करनेहारी, चातुर्य-अर्थ और कलाओं में प्रवीण, विश्वमोहिनी सरस्वती है उसे नमस्कार करता हूँ।

(1.22) जिनके कारण मैं इस संसार-रूपी जल के पार हुआ वे मेरे सद्गुरु मेरे हृदय में हैं, इसलिए विवेक पर मेरा विशेष प्रेम है।

(1.23) जैसे आँख में अंजन लगाने से दृष्टि फैलती है और देखते ही भूमि में गड़ा हुआ द्रव्य दिखाई देता है,

(1.24) अथवा जैसे चिन्तामणि के हाथ में लगने से सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण होते है वैसे ही, श्री-निवृत्ति के कारण मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए है।

(1.25) इसलिए जो बुद्धिमान है, उन्हें चाहिए कि गुरु-सेवा करें और कृतार्थ हो। जड़ में पानी सींचने से जैसे सब शाखा-पल्लवों की पुष्टि होती है,

(1.26) अथवा, त्रिभुवन में जितने तीर्थ है, उन सबका पुण्य जैसे समुद्र के स्नान से प्राप्त हो जाता है, किंवा अमृत-रस के स्वाद से जैसे सब रसों का आस्वाद मिल जाता है

(1.27) उसी न्यायानुसार मैं बारंबार श्रीगुरु की ही वन्दना करता हूँ, क्योंकि सब अभिलाष और मनोरुचि के पूर्ण करनेहारे वही है।

(1.28) अब उस गहन कथा को श्रवण कीजिए जो सकल कथाओं की जन्म-भूमि है और जो विवेक-रूपी वृक्षों का एक अपूर्व बगीचा है,

(1.29) अथवा यह कथा सब सुखों की नींव है, सिद्धांत-रत्नों का भाण्डार है, अथवा नवरसरूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है.

(1.30) अथवा यह खुला हुआ परमधाम है, सब विद्याओं की मूल-भूमि है और अशेष शास्त्रों का आश्रय है,

(1.31) अथवा सब धर्मों की मातृभूमि सज्जनों का प्रेमास्पद, सरस्वती के लावण्य-रत्नों का भाण्डार है,

(1.32) अथवा सरस्वती स्वयं व्यास महामुनि की बुद्धि में प्रवेश कर तीनों जगतों में इस कथारूप से प्रकट हुई है।

(1.33) इसलिए यह कथा सब काव्यों में श्रेष्ठ है, तथा सब ग्रन्थों के महत्व की जड़ है। इसी से सब रसों को सुरसता प्राप्त हुई है और आत्मज्ञान की कोमलता इसी से दुगुनी बढ़ी हुई है।

(1.34) और भी सुनिए। शब्दलक्ष्मी इसी से शास्त्रवती हुई है और आत्मज्ञान की कोमलता इसी से दुगुनी बढ़ी हुई है।

(1.35) चातुर्य्य ने इसी से चतुराई सीखी है, सिद्धान्त इसी से रुचिर बने है और सुख के सौभाग्य की वृद्धि इसी से हुई है।

(1.36) माधुर्य्य की मधुरता, श्रृंगार की सुरूपता और योग्य वस्तु की श्रेष्ठता इसी कथा से उत्तम दिखाई देती है।

(1.37) कलाओं को इसी से कौशल प्राप्त हुआ है, पुण्य का प्रताप इसी से बढ़ा हुआ दिखाई देता है। इसी के कारण जनमेजय के पाप सहज लीला से ही नष्ट हो गये।

(1.38) और पल भर सुनिए। रंगों की सुरंगता इसी से बढ़ी है, तथा गुणों की सुगुणता का दीर्घ बल इसी कथा में प्राप्त हुआ है।

(1.39) सूर्य्य के प्रकाश से उज्जवल त्रिलोक जैसे प्रकाशित दिखाई देता है वैसे ही व्यास मुनि की बुद्धि से आच्छादित जगत शोभा दे रहा है।

(1.40) अथवा उत्तम खेत में बोया हुआ बीज जैसे मनमाना फैलता है, वैसे ही इस भारती-कथा में सब विषय सुशोभित हो रहे है।

(1.41) अथवा नगर में बसने से जैसे मनुष्य चतुर हो जाता है, वैसे ही व्यास मुनि की वाणी के प्रकाश से सब जगत् ज्ञानमय हो रहा है।

(1.42) जैसे यौवन के समय स्त्रियों के शरीर में लावण्य की शोभा विशेष प्रकट होती है,

(1.43) अथवा वसन्त ऋतु आते ही वन-शोभा की खानि पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खुल जाती है,

(1.44) अथवा जैसे सोने का पाँसा देखने में बहुत साधारण होता है, परन्तु अलंकार बनने पर उसकी उत्तमता प्रकट होती है

(1.45) वैसे ही व्यास मुनि के वचनों से अलंकृत होने के कारण इस कथा को अत्यन्त उत्तमता प्राप्त हुई है; और यही जान कर इतिहास ने इसे आश्रय दिया है।

(1.46) नहीं, नहीं, पूर्ण प्रतिष्ठा के हेतु स्वयं नम्रता स्वीकार सब पुराण इस आख्यानरूप से महाभारत में आकर जगत में प्रसिद्ध हुए हैं।

(1.47) इसलिए जो बात महाभारत में नहीं है, वह तीनों लोकों में नहीं है। इसी कारण कहा जाता है कि जगत्त्रय व्यास का उच्छिष्ट है।

(1.48) इस प्रकार जगत में जो सुरस कथा है, और जो परमार्थ की जन्मभूमि है, उसे वैशंपायन मुनि नृपराज जनमेजय से कहते है।

(1.49) ऐसी जो उत्तम, अद्वितीय, पवित्र, उपमा-रहित, और परम-कल्याणकारक कथा है, उसे सुनिए।

(1.50) श्रीकृष्ण ने अर्जुन के संग जो संवाद किया वह गीताख्य विषय भारतरूपी कमल की धूलि है;

(1.51) अथवा वेदरूपी समुद्र का मन्थन करके व्यास की बुद्धि ने यह अपार नवनीत निकाला है

(1.52) और वही फिर ज्ञानरूपी अग्नि की विचाररूपी ज्वाला में तपाने से परिपक्व हो घृत की सुगन्ध को प्राप्त हुआ है।

(1.53) विरक्तों को जिसकी इच्छा करनी चाहिए, सन्तों को जिसका सदा अनुभव करना चाहिए, पहुँचे हुए पुरुषों को सोहं भाव से जहाँ रममाण होना चाहिए,

(1.54) भक्तों को जिसका श्रवण करना चाहिए, और जो तीनों जगतों में परमपूज्य है, ऐसी यह कथा भीष्मपर्व में कही गई है।

(1.55) इसे भगवद्गीता कहते है। ब्रह्मा और शंकर ने इसकी प्रशंसा की है। सनकादिक इसका प्रेम से सेवन करते है।

(1.56) जैसे चकोर पक्षी के बच्चे शरत्काल की चाँदनी के कोमल अमृत-कणों को अन्तःकरणपूर्वक चुन लेते है

(1.57) वैसे ही श्रोताओं को चित्त में उत्सुकता धारण कर इस कथा का अनुभव करना चाहिए।

(1.58) इस कथा का संवाद शब्द के बिना करना चाहिए, इसे इन्द्रियों को मालूम न होते भोगना चाहिए, और शब्दोच्चार के पहले ही इसका सिद्धान्त जान लेना चाहिए।

(1.59) भ्रमर जैसे फूल का पराग ले जाते है, परन्तु कमलों के दल को इससे कुछ संवेदना नहीं होती वैसी ही रीति इस ग्रन्थ के सेवन करने की है।

(1.60) जैसे अपना स्थान न छोड़ते, चन्द्रोदय होते ही आलिंगनप्रेम का उपभोग केवल कुमुदिनी ही जानती है,

(1.61) वैसे ही जिसका अन्तःकरण गम्भीरता से स्थिर हो रहा है वही इस कथा का सम्मान करना जानता है।

(1.62) अहो! श्रवण करने के विषय में अर्जुन की पंक्ति के योग्य आप सन्त कृपा करके सुनिए।

(1.63) मैं जो इस प्रकार निर्भयता से कहता हूँ और आप के चरणों से बिनती करता हूँ, उसका कारण यह है कि हे प्रभो! आपका हृदय गम्भीर है।

(1.64) जैसे माता-पिता का यह स्वभाव ही रहता है कि बालक यद्यपि तोतले शब्द बोले तथापि वे सन्तुष्ट होते है,

(1.65) वैसे ही आप सज्जनों ने मेरा अंगीकार किया है और मुझे अपनाया है, तो फिर मुझे यह प्रार्थना करने की आवश्यकता ही क्या है कि मेरी त्रुटियाँ क्षमा की जावें?

(1.66) परन्तु अपराध दूसरा ही है; वह यह कि मैं गीता के अर्थ का आकलन किया चाहता हूँ और उसे सुनने की आपसे प्रार्थना किया चाहता हूँ।

(1.67 मेरे चित्त में वृथा धैर्य उपजा है, जिससे मैं यह नहीं विचारता कि यह बात कितनी कठिन है। सूर्य के तेज के सामने भला खद्योत की क्या शोभा है?

(1.68) जैसे एक टिटहरी अपनी चोंच में पानी भर कर समुद्र का माप करने के लिए तैयार हुई थी वैसे ही मैं भी गीता का महत्त्व न जानते हुए उसका अर्थ करने के लिए उद्यत हुआ हूँ।

(1.69) सुनिए, आकाश का आच्छादन करना हो तो उससे अधिक बड़ा हुए बिना न हो सकेगा इसलिए विचार कर देखने से यह कार्य अशक्य जान पड़ता है।

(1.70) इस गीतार्थ का महत्त्व स्वयं शंकर ने वर्णन किया है। जब भवानी ने कुतूहल से प्रश्न किया

(1.71) तब शंकर ने कहा - हे देवि जैसे तुम्हारा स्वरूप नित्य नूतन दिखाई देता है, वैसे गीतातत्त्व भी सदा नवीन ही है।

(1.72) यह वेदार्थसमुद्र जिस सोये हुए पुरुष के घर्राटे का शब्द है उसी श्रीसर्वेश्वर ने स्वयं इसे कथन किया है।

(1.73) जो ऐसा अगाध है, जहाँ वेद भी स्तब्ध हो जाते है, वहाँ मैं छोटा-सा मतिमन्द कःपदार्थ हूँ?

(1.74) इस अपार वस्तु का आकलन कैसे किया जा सकता है? सूर्य्य का तेज कौन उज्जवल कर सकता है? मशक की मुट्ठी में गगन किस प्रकार समा सकता है?

(1.75) परन्तु इस विषय में मुझे एक आधार है। उसी की बदौलत मैं धैर्य्य से बोल रहा हूँ। वह यह है कि श्रीगुरु मेरे अनुकूल है;

(1.76) नहीं तो मैं तो मूर्ख हूँ। यद्यपि मैंने अविवेक का काम किया है तथापि आप सन्तों का कृपारूप दीपक तो प्रकाशित है।

(1.77) लोहे को सुवर्ण बनाने की सामर्थ्य पारस में है; अमृत-सिद्धि से मृत मनुष्य को भी जीवन लाभ हो सकता है;

(1.78) सिद्धि-सरस्वती प्रकट हो तो गूँगे को भी वाणी फूटती है: इन बातों में क्या आश्चर्य है? यह वस्तु की सामर्थ्य है।

(1.79) किंवा कामधेनु जिसकी माता है उसे क्या कुछ दुर्लभ है? अतएव मैं इस ग्रन्थ के विवरण करने का साहस करता हूँ,

(1.80) तथा विनती करता हूँ कि जो कुछ न्यून हो उसे पूर्ण कर लीजिए और जो कुछ अधिक हो सो छोड़ दीजिए।

(1.81) अब सुनिए। आप जैसी शक्ति देंगे वैसा ही मैं बोलूँगा। जैसे काठ का पुतला सूत्र के अधीन हो नाचता है,

(1.82) वैसे ही मैं आप साधुओं का अनुगृहीत तथा आज्ञाधारक हूँ। आप अपनी इच्छानुसार मुझे अलंकृत कीजिए।

(1.83) तब श्रीगुरु बोले — ठहरो, इतना कहने की कुछ आवश्यकता नहीं है। ग्रन्थ की ओर जल्दी ध्यान दो।

(1.84) यह वचन सुनकर निवृत्ति के दास अत्यन्त आनन्दित हो बोले कि मन को स्थिर कर के सुनिए।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥ 1.1 ॥

(1.85) पुत्र-प्रेम से मोहित हो धृतराष्ट्र पूछने लगे कि हे संजय! कुरुक्षेत्र की कथा कहो।

(1.86) जिसे धर्म का स्थान कहते है वहाँ, मेरे पुत्र और पाण्डव युद्ध के निमित्त गये है।

(1.87) इस समय तक वे आपस में क्या कर रहे हैं?

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ 1.2 ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ 1.3 ॥

(1.88) संजय ने कहा — प्रथम पाण्डवों की सेना ऐसी क्षुब्ध हो गई कि जैसे महाप्रलय के समय कृतान्त ने मुँह फैलाया हो।

(1.89) वह अत्यन्त सघन सेना एकदम भभक उठी; जैसे कालकूट विष क्षुब्ध हो कर सब दूर छा जाये तो उसे कौन शमन कर सकता है?

(1.90) अथवा जैसे बड़वानल प्रलय-काल की वायु से पुष्ट होकर समुद्र का शोषण करता है और उससे आकाश तक प्रदीप्त हो जाता है,

(1.91) वैसे ही यह दुर्धर सेना नाना प्रकार के व्यूहों से रची हुई मुझे उस समय भयानक दिखाई दी।

(1.92) उसे देखकर दुर्योधन ने उसका इस तरह तिरस्कार किया कि जैसे सिंह हाथियों के समूह की परवा नहीं करता।

(1.93) फिर वह द्रोण के पास आया और उनसे कहने लगा कि देखो, पाण्डवों का दल कैसा भभक रहा है।

(1.94) बुद्धिमान द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने इस सेना में चहुँओर अनेक व्यूह रचे है जो मानों चलते पहाड़ी किले ही है।

(1.95) देखिए, आपने जिस शिष्य को अपनी विद्या का आश्रयस्थान बनाया है उसी ने इस सेनारूपी समुद्र का विस्तार किया है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ 1.4 ॥

(1.96) तथा यहाँ और भी शस्त्रास्त्र में प्रवीण और क्षात्रधर्म में निपुण बड़े-बड़े वीर आये है।

(1.97) जो बल, प्रौढ़ता और पुरुषार्थ में भीम और अर्जुन के समान है। उनका मैं प्रसंगानुसार कुतूहल से वर्णन करता हूँ।

(1.98) ये वीर महायोद्धा युयुधान राजा, विराट राजा और श्रेष्ठ महारथी द्रुपद राजा है।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ 1.5 ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ 1.6 ॥

(1.99) ये देखिए चेकितान है, ये धृष्टकेतु है, ये पराक्रमी काशिराज है, ये नृपश्रेष्ठ उत्तमौजा और शैब्य है।

(1.100) देखिए, ये कुन्तीभोज है। ये युधामन्यु है और देखिए, ये पुरुजित् आदि सब राजा है।

(1.101) दुर्योधन ने और भी कहा - हे द्रोण देखिए, यह जो सुभद्रा के हृदय को आनन्द देनेवाला उसका पुत्र अभिमन्यु है जो मानों दूसरा अर्जुन ही हो।

(1.102) तथा ये सब द्रौपदी के पुत्र और अनेक महारथी वीर एकत्रित है जिनकी गिनती भी नहीं हो सकती।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ 1.7 ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ 1.8 ॥

(1.103) अब प्रसंगानुसार हमारे देश में जो मुख्य प्रसिद्ध वीर और योद्धा है उनका वर्णन करता हूँ -

(1.104) आप जिनमें मुखिया है उन प्रमुख वीरों में से पहचान के लिए एक-दो नाम लेता हूँ।

(1.105) वे गंगानन्दन भीष्म है जो प्रताप में तेजस्वी सूर्य के समान है। वे शत्रुरूपी हाथी का सिंह के समान नाश करनेवाले वीर कर्ण है।

(1.106) ये एक-एक ऐसे है कि जिनके संकल्पमात्र से इस विश्व की उत्पत्ति या संहार हो सकता है। ये एक कृपाचार्य ही क्या इस विषय में समर्थ नहीं है?

(1.107) ये वीर विकर्ण है। देखिए, ये अश्वत्थामा है। कृतान्त भी मन में इनका डर रखता है।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ 1.9 ॥

(1.108) समितिंजय, सोमदत्ति इत्यादि और भी बहुत से वीर है जिनके बल का अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।

(1.109) ये शस्त्रविद्या में प्रवीण हैं और मन्त्रविद्या के मूर्तिमान अवतार है। सब शस्त्रविद्या इन्हीं के कारण जगत में प्रसिद्ध हुई है।

(1.110) जगत में इनके समान मल्ल नहीं हैं। इनमें पूर्ण प्रताप है, तथापि सबने प्राणों समेत मेरा ही अनुसरण किया है।

(1.111) पतिव्रता का हृदय जैसे पति के सिवा किसी वस्तु का स्पर्श नहीं करता वैसे ही इन उत्तम योद्धाओं का मन मेरी ओर खिंचा हुआ है।

(1.112) ये ऐसे उत्तम और निःसीम स्वामिभक्त है कि हमारे कार्य के सामने अपने प्राणों को भी कुछ नहीं समझते।

(1.113) ये सब युद्ध का चातुर्य जानते है और अपनी कला से कीर्ति को जीतते है। बहुत क्या कहूँ, क्षत्रिय-धर्म इन्हीं से प्रसिद्ध हुआ है।

(1.114) ऐसे सब प्रकार से पूर्ण वीर हमारे दल में है। इनकी गणना क्या करूँ? ये अनगिनती है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ 1.10 ॥

(1.115) सिवाय इसके जो क्षत्रियों में श्रेष्ठ है, जो जगत में अत्यन्त श्रेष्ठ योद्धा है, उस भीष्म को हमारे दल के सेनापतित्व का अधिकार है।

(1.116) इसके बल का आश्रय पाकर वह सेना दुर्ग के समान फैली हुई है। इसके सामने तीनों लोक अल्प दिखाई देते है।

(1.117) देखिए, समुद्र एक तो पहले ही डरावना होता है, और फिर उसमें जैसे बड़वानल सहकारी हो जावे;

(1.118) अथवा प्रलयकाल की अग्नि और महावात इन दोनों का जैसे संयोग हो जावे, वैसा ही हाल गंगासुत के सेनापति होने से इस सेना का दिखाई देता है।

(1.119) अब इससे कौन भिड़ सकता है? इसकी तुलना में यह पाण्डवों की सेना, जिसका सेनापति यह बलाढ्य भीमसेन है, सचमुच अल्प दिखाई देती है।

(1.120) इतना कहकर वह स्तब्ध हो गया।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ 1.11 ॥

(1.121-122) फिर दुर्योधन ने सब सेनापतियों से कहा कि अब अपनी-अपनी सेना तैयार करो, जो अक्षौहिणियाँ जिसके अधीन है

उसको उन्हें रणभूमि में लाना चाहिए, और जो जो महारथी है उनको अपनी अपनी सेनाएँ बाँट लेनी चाहिए।

(1.23) और उन्हें अपने अधीन रख भीष्म की आज्ञा में रहना चाहिए। फिर उसने द्रोण से कहा कि आप सब सेना की देखरेख रखिए

(1.124) और इस भीष्म की रक्षा कीजिए। इसे मेरे समान मानिए, क्योंकि हमारे दल की स्थिति इसी पर निर्भर है।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ 1.12 ॥

(1.125) राजा के इस वचन से सेनापति भीष्म को संतोष हुआ और उसने सिंह के समान गर्जना की।

(1.126) वह अद्भुत सिंहनाद दोनों सेनाओं के बीच गरजा और उसी प्रतिध्वनि ऐसी उठी कि वहाँ समा न सकी।

(1.127) इतने में उस प्रतिध्वनि के समान ही भीष्मदेव ने अपनी वीरवृत्ति की सामर्थ्य से अपना दिव्य शंख फूँका।

(1.128) ये दोनों नाद एकत्र हुए तब सब त्रैलोक्य बहिरा सा हो गाय, ऐसा जान पड़ा मानों आकाश ही टूटकर गिर पड़ा हो।

(1.129) संपूर्ण वायुमण्डल गरज उठा, समुद्र उबलने लगा, और सब चराचर क्षुब्ध हो कँप उठे।

(1.130) उस महाघोष। की गर्जना पहाड़ों की गुफाओं में घूम रही थी, इतने में सेनाओं में मारू बाजे बजने लगे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ 1.13 ॥

(1.131) कई बाजे बजाये गये, जो भयानक और कर्कश थे और जिन्हें सुनकर बलवानों को भी प्रलयकाल सा जान पड़ता था।

(1.132) नौबतें, निशान, शंख, झाँझें और रणसींगे बजने लगे और बड़े-बड़े योद्धाओं के भयानक रणशब्दों का कोलाहल होने लगा।

(1.133) वे आवेश से ताल ठोकने लगे तथा जोर-जोर से एक दूसरे को लड़ाई के लिए ललकारने लगे। जहाँ हाथी ऐसे बेकाबू हो गये कि रोके नहीं जा सकते थे।

(1.134) वहाँ डरपोकों की क्या कथा? जो कच्चे थे वे तो कचरे के समान उड़ते थे। यह दृश्य देखकर कृतान्त भी डर से सूख गया।

(1.135) कई एकों के प्राण खड़े-खड़े निकल गये, अच्छे अच्छों के दाँत भिच गये, और बड़े-बड़े विरुदवाले काँपने लगे।

(1.136) ऐसी अद्भुत वाद्यध्वनि सुनकर ब्रह्मा भी व्याकुल हो गये और देव कहने लगे कि आज हमारा प्रलयकाल आ पहुँचा।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ 1.14॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ 1.15॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ 1.16॥

(1.137) यह कोलाहल देखकर स्वर्ग में जब यह हाल हुआ तब पाण्डवों के दल में क्या हो रहा था?

(1.138) जो मानों विजयश्री का सारभूत अथवा सूर्य के तेज का भाण्डार है, जिसमें गरुड़ की बराबरी करनेवाले चार घोड़े जुते है.

(1.139) अथवा जो सपक्ष मेरु पर्वत के समान दिखाई देता है वह रथ वहाँ शोभा दे रहा था। उसके तेज से चारों दिशाएँ भर गई थी।

(1.140) जिस रथ का सारथी वैकुण्ठ का राजा था उसके गुणों का मैं क्या वर्णन करूँ।

(1.141) अर्जुन के ध्वजस्तंभ पर हनुमान विराजे है। वह स्वयं मूर्तिमान् शंकर है और श्रीकृष्ण उसके सारथी है।

(1.142) उस प्रभु का नवल भक्तप्रेम देखिए कि वह पार्थ का सारथीपन कर रहा है,

(1.143) तथा सेवक को पीछे रख आप आगे हो खड़ा है। उसने सहज-लीला से अपना पाञ्चजन्य शंख फूँका।

(1.144) उसका महाघोष गम्भीरता से गरजने लगा। सूर्य उदय होते ही जैसे नक्षत्रों का लोप हो जाता है,

(1.145) वैसे ही महाघोष होते ही कौरव-सेना में रणवाद्य चहुँओर गरज रहे थे वे न जाने कहाँ लुप्त हो गये।

(1.146) फिर देखिए, अर्जुन ने भी बड़ी गर्जना के साथ देवदत्त नामक शंख बजाया।

(1.147) उस समय दोनों अद्भुत ध्वनियाँ इकट्ठी मिलते ही सब ब्रह्माण्ड मानों टुकड़े-टुकड़े होने लगा।

(1.148) तब भीमसेन को भी आवेश चढ़ा और उसने महाकाल के समान क्षुब्ध हो पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।

(1.149) वह प्रलयकाल के मेघ के समान गम्भीरता से गड़गड़ा रहा था। इतने में युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख फूँका।

(1.150) नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक शंख फूँके जिनके निनाद से यम भी घबरा उठा।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ 1.17 ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ 1.18 ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ 1.19 ॥

(1.151) द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रादिक, महाबाहु काशिराज इत्यादि वहाँ जो अनेक राजा उपस्थित थे

(1.152) तथा अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, अपराजित सात्यकि, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी,

(1.153) विराट इत्यादि राजा और जो मुख्य सैनिक वीर थे उन सबने अनेक शंख लगातार बजाये।

(1.154) उस महाघोष के धक्के से शेष, कूर्म, एकाएक घबरा कर भूमि का भार छोड़ने की चेष्टा करने लगे।

(1.155) उस समय तीनों लोक कम्पित होने लगे। मेरु और मान्दार डगमगाने लगे और समुद्र का जल कैलास तक उछलने लगा।

(1.156) पृथ्वीतल ऐसा जान पड़ता था कि मानों उलटता ही हो, आकाश मानों टूटा पड़ता था और नक्षत्रों की वर्षा हो रही थी।

(1.157) सत्यलोक में हल्ला हो गया कि सृष्टि डूब गई; देव निराश्रित हो गये;

(1.158) दिन रहते ही सूर्य छिप गया; मानों प्रलयकाल ही छा रहा हो। इस प्रकार तीनों लोकों में हाहाकार मच गया।

(1.159) यह देखकर आदि-नारायण विस्मय से कहने लगे कि ऐसा न हो कि अन्त ही हो जावे। तब उन्होंने उस अद्भुत आवेश को खींच लिया।

(1.160) इससे जगत का बचाव हुआ, नहीं तो कृष्णादिकों के महाशंख बजाना आरम्भ करते प्रलय ही आ पहुँचा था।

(1.161) यद्यपि वह घोष बन्द हो गया तथापि उसकी जो प्रतिध्वनि हो रही थी उसने कौरवों की सेना का विध्वंस कर दिया।

(1.162) जैसे हाथियों के समूह के बीच घिरा हुआ सिंह सहज ही उस समूह का विदारण कर डालता है वैसे ही वह प्रतिध्वनि कौरवों के हृदय का छेदन करती थी।

(1.163) ज्योंही वे उसकी गर्जना सुनते त्योंही खड़े-खड़े गिर पड़ते थे और एक दूसरे को सचेत रहने की सूचना करते थे।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ 1.20 ॥

(1.164) तब जो बल से पूर्ण महारथी वीर थे उन्होंने सेना को फिर से जमा किया,

(1.165) और वे बड़ी तैयारी के साथ आगे बढ़े तथा दुगने आवेश से चढ़ाई करने लगे। उस सेना से तीनों लोक क्षुब्ध हो गये।

(1.166) उन धनुर्धारी वीरों ने बाणों की ऐसी लगातार वर्षा की कि मानों वे प्रलयकाल के अनिवार्य मेघ ही हों।

(1.167) यह देखकर अर्जुन को मन में सन्तोष हुआ और उसने आवेश से सब सेना की ओर दृष्टि फेंकी;

(1.168) और सब कौरवों को युद्ध के लिए तैयार देखकर उसने भी लीला से धनुष उठाया।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ 1.21 ॥

(1.169) और श्रीकृष्ण से कहा - हे देव! अब रथ जल्दी से आगे बढ़ा कर दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करो,

यावदेतान्निरिक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ 1.22 ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ 1.23 ॥

(1.170) जिससे मैं क्षण भर इन सब सैनिक वीरों को देख लूँ जो युद्ध के लिए उद्यत है।

(1.171) क्योंकि यहाँ आये तो सभी है परन्तु मुझे यह देखना चाहिए कि मुझे किसके साथ लड़ना योग्य है।

(1.172) क्योंकि कौरव प्रायः उतावले और दुःखभाव रखते है, पराक्रम बिना युद्ध की अभिलाषा रखते है;

(1.173) युद्ध की तो इच्छा रखते है परन्तु युद्ध के समय धैर्यवान् नहीं होते। राजा से इतना कहकर संजय और बोले कि

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ 1.24 ॥

(1.174) सुनिए, अर्जुन के ऐसा कहते ही श्रीकृष्ण ने रथ आगे बढ़ाया और दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दिया।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ 1.25 ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ 1.26 ॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ 1.27 ॥

(1.175) और जहाँ भीष्म-द्रोणादिक नातेदार सामने ही खड़े थे और अन्य भी बहुत से राजा लोग थे।

(1.176) वहीं रथ ठहरा कर अर्जुन शीघ्रता से उस समग्र सेना को देखने लगा।

(1.177) और फिर बोला — हे देव! देखिए देखिए, ये सब अपने ही कुल के श्रेष्ठ जन है।

यह सुनकर श्रीकृष्ण के मन में क्षण भर विस्मय हुआ।

(1.178) वे मन में कहने लगे कि न जानें इसके मन में यह क्या आया! परन्तु क्या आश्चर्य है...

(1.179) इस प्रकार उन्हें होनहार बात का स्मरण हुआ। वे सहज ही उसका अन्तरात्मा जान गये, परन्तु उस समय स्तब्ध हो रहे और कुछ न बोले।

(1.180) यहाँ अर्जुन ने अपने सब पितृ, पितामह, गुरु, भ्राता और मातुलों की ओर देखा।

(1.181) अपने इष्ट-मित्र, कुमारजन भी देखे। वे सब युद्ध के लिए आये हुए वीरों में उपस्थित थे।

(1.182) मित्रगण, श्वसुर और अन्य सगे सम्बन्धी, कुमार और नाती आदि को अर्जुन ने वहाँ उपस्थित देखा।

(1.183) जिनका उसने उपकार किया था, अथवा संकट के समय जिनकी रक्षा की थी वही नहीं, वरन् सब बड़े-छोटे

(1.184) गोत्रज दोनों सेनाओं में युद्ध के लिए उत्सुक देख पड़े।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ 1.28 ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ 1.29 ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ 1.30 ॥

(1.185) तब उसके अन्तःकरण में गड़बड़ मच गई और आप ही आप कृपा उत्पन्न हुई। इस अपमान के कारण वीरवृत्ति उसे छोड़कर चली गई।

(1.186) जो स्त्रियाँ उत्तम कुल की होती है और सद्गुणी और सौन्दर्य-सम्पन्न होती है, वे अपने तेज के कारण अपने पति के साथ अन्य स्त्री का सहवास नहीं सह सकती।

(1.187) नूतन स्त्री की इच्छा से कामीजन जैसे अपनी स्त्री को भूल जाता है और वह नूतन स्त्री के योग्य न हो तो भी भ्रम से उसका अनुसरण करता है,

(1.188) अथवा तप के बल से संपत्ति प्राप्त होते ही जैसे बुद्धि का भ्रंश हो जाता है और फिर उस तप करनेहारे को वैराग्य की सिद्धि प्राप्त नहीं होती,

(1.189) वैसे ही उस समय अर्जुन का हाल हुआ। अन्तःकरण में दया को स्थान देने से, वहाँ जो पुरुष-वृत्ति बसती थी वह चली गई।

(1.190) देखिए, मंत्रज्ञ मंत्रोच्चार में भूल करे तो जैसे उसे भूत-संचार हो जाता है वैसे ही अर्जुन को उस समय महामोह ने गाँठ लिया।

(1.191) इस कारण उसका धैर्य चला गया तथा हृदय में करुणा उत्पन्न हुई; मानों सोमकान्त मणि को चन्द्र-किरणों का स्पर्श हुआ हो।

(1.192) इस प्रकार अर्जुन अत्यन्त दया से मोहित और दुःखयुक्त होकर श्रीकृष्ण से कहने लगा

(1.193) कि हे देव! सुनिए, मैं इस समुदाय की ओर देखता हूँ तो यहाँ सब अपना गोत्रवर्ग ही पाता हूँ।

(1.194) यह सही है कि ये सब संग्राम के लिए उद्यत है, परन्तु हमें यह संग्राम करना कैसे उचित है।

(1.195) इनसे युद्ध का नाम लेते ही न जाने क्यों मैं अपनी ही सुध भूल गया हूँ। मेरा मन और बुद्धि स्थिर नहीं है।

(1.196) देखिए, शरीर काँपता है, जीभ सूखती है और सब अवयवों में विफलता उपज रही है।

(1.197) सब शरीर में रोमांच खड़े हुए है और अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न हुआ है। यह कहते हुए उसके जिस हाथ में गाण्डीव धनुष था वह ढीला पड़ गया।

(1.198) और पकड़ छूट जाने के कारण बिना जाने धनुष उसके हाथ से गिर पड़ा। इस प्रकार मोह ने उसके हृदय को व्याप लिया।

(1.199) आश्चर्य है कि जो हृदय वज्र से भी कठिन, दुर्धर और अत्यन्त भयकारक था उसमें भी यह स्नेह बलवान् हो गया!

(1.200) जिसने युद्ध में शंकर का पराजय किया, निवात और कवच का नाम-निशान मिटा दिया, उस अर्जुन को मोह ने क्षण भर में ग्रस लिया।

(1.201) जैसे भ्रमर चाहे जिस काठ को मनमाना छेद डालता है परन्तु एक कोमल सी कली के बीच पकड़ा जाता है,

(1.202) और वहाँ चाहे प्राण छोड़ दे पर उस कमलदल को चीरने की बात कभी उसके चित्त में नहीं आती, वैसे ही कोमलता के वश होते हुए स्नेह भी तोड़ना कठिन है।

(1.203) संजय बोले — हे राजा! सुनिए, यह आदिपुरुष की माया ब्रह्मदेव के भी वश में नहीं आती। अतएव क्या आश्चर्य कि अर्जुन को भी भ्रम हो गया!

(1.204) सुनिए, तदनन्तर अर्जुन अपने स्वजनों को देखकर युद्ध का अभिमान भूल गया।

(1.205) उसके चित्त में न जाने कैसे सदयता उत्पन्न हुई और वह कहने लगा - हे कृष्ण! अब यहाँ ठहरना भी न चाहिए।

(1.206) इन सबके वध करने का विचार मन में आते ही मेरा मन अत्यन्त व्याकुल होता है और मुँह से शब्द नहीं निकलता।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ 1.31 ॥

(1.207) इन कौरवों का वध किया जाये तो युधिष्ठिरादि का भी क्यों न किया जाय! ये भी तो सब हमारे गोत्रज है।

(1.208) इसलिए नाश हो इस युद्ध का! यह मुझे नही भाता। इस महापाप से मुझे क्या लेना-देना?

(1.209) हे देव! अनेक प्रकार से विचार कर देखने से मालूम होता है कि इनसे संग्राम करने से बुराई ही होगी, किन्तु इसे टाल देने से कुछ लाभ होगा।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ 1.32 ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ 1.33 ॥

(1.210) विजय-वृत्ति से मुझे कुछ काम नहीं है। इस तरह के राज्य को लेकर क्या करना है?

(1.211) इन सबका वध करके जो राजभोग प्राप्त होंगे उनका नाश हो!

(1.212) ऐसा सुख न मिलते कोई भी संकट आवे तो सहना चाहिए, वरन् इन लोगों के लिए प्राण भी अर्पण करना चाहिए,

(1.213) परन्तु यह बात कि इनका घात हो और फिर हम राज्यसुख भोगें, मेरा मन स्वप्न में भी ग्रहण नहीं कर सकता।

(1.214) यदि मन में इन श्रेष्ठ जनों का अहित-चिन्तन करना है तो हमने जन्म ही क्यों लिया? यह जीवन किनके लिए रखना चाहिए?

(1.215) कुल के सब लोग पुत्र की इच्छा करते है, वह क्या इसी के लिए कि उससे अपने गोत्र का नाश हो?

(1.216) यह बात मन में ही कैसे आ सकती है? अपना मन वज्र के समान कठोर क्योंकर बना लिया जाये? हो सके तो इनका भला ही करना चाहिए;

(1.217) हम जो कुछ कमावें उस सब का उपभोग इन्हें देना चाहिए, यह जीवन इनके उपकार में लगाना चाहिए।

(1.218) हमको सब दिगन्त के राजाओं का पराजय करके जिस कुल का संतोष करना चाहिए

(1.219) उसी के ये सब लोग है।। परन्तु कर्म कैसा विपरीत है कि देखिए, ये सब युद्ध के लिए उद्यत हुए है;

(1.220) और अपनी स्त्रियाँ, पुत्र, द्रव्य, भाण्डार को छोड़कर शस्त्राग्र पर अपने प्राण रक्खे खड़े हैं!

(1.221) इन स्वजनों को कैसे मारूँ? इनमें से किस पर शस्त्र चलाऊँ? अपने ही हृदय का घात किस प्रकार कर लूँ?

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा॥ 1.34॥

(1.222) आप नहीं जानते, ये कौन-कौन है? उस ओर भीष्म-द्रोण हैं, जिनके हम पर अनेक असाधारण उपकार है।

(1.223) इस ओर साले, श्वसुर, मातुल और ये सब भ्राता, पुत्र, नाती और इष्ट खड़े है।

(1.224) सुनिए, ये सब हमारे अत्यन्त ही पास के सगे सहोदरे है। इसलिए इनके वध की बात मुँह पर लाना भी पाप है।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ 1.35॥

(1.225) ये चाहे कुछ भी करें, चाहे हमें अभी और यहीं पर मार डालें, परन्तु अपने मन में इनका घात सोचना हमारे लिए अयोग्य है।

(1.226) यद्यपि त्रैलोक्य का भी निष्कण्टक राज्य मिले तथापि यह अनुचित बात मैं न करूँगा।

(1.227) यदि आज यहाँ ऐसा कर जाऊँ तो मेरा कौन नाम लेगा? हे कृष्ण! आप ही कहिए, आपको मैं किस प्रकार मुँह दिखा सकूँगा।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ 1.36 ॥

(1.228) यदि इन गोत्रजों का वध करूँ तो मैं पापों का आश्रय हो जाऊँगा और फिर आप जो मुझे प्राप्त हुए हैं सो हाथ से चले जावेंगे।

(1.229) कुल के घात से होनेवाले पाप जब आ लगते है तब आप किसे और कहाँ दिखाई देते है?

(1.230) जैसा बाग में प्रबल अग्नि का संचार देख कर कोयल वहाँ क्षण भर भी नहीं ठहरती

(1.231) अथवा सरोवर को कीचड़ से भरा देख कर चकोर पक्षी वहाँ नहीं रहते - उसका तिरस्कार कर चले जाते है -

(1.232) वैसे ही, हे देव, यदि मेरे पुण्य-रूपी जल का नाश हो जाय तो मुझ से आपको केवल माया-जल से फँसाते न बनेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ 1.37 ॥

(1.233) इसलिए मैं यह कृत्य नहीं करता। मैं इस युद्ध में शस्त्र ही नहीं पकड़ता। अनेक रीति से यह कर्म बुरा ही दिखाई देता है।

(1.234) आपसे वियोग हो तो फिर कहिए, हमें क्या रह गया? हे कृष्ण! आपके बिना हमारा हृदय दुःख से विदीर्ण हो जावेगा।

(1.235) इसलिए अर्जुन ने कहा कि कौरवों का वध हो और हमें भोग प्राप्त हो यह बात अनहोनी ही रहने दो।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ 1.38 ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ 1.39 ॥

(1.236) यद्यपि ये लोग अभिमान-मद से भूलकर संग्राम के लिए आये है तथापि हमें तो अपनी हित जानना चाहिए।

(1.237) ऐसा कैसे किया जाए, कि अपने स्वजनों को हमीं मार डालें। जानबूझ कर कालकूट विष क्यों खाना चाहिए?

(1.238) अजी, मार्ग से चलते-चलते यदि अकस्मात् सिंह सामने आ जाय तो उसे टाला देने में ही लाभ है।

(1.239) कहिए, प्रकाश छोड़ किसी अँधेरे कुएँ का आश्रय करने में, हे देव! क्या लाभ है?

(1.240) अथवा, जैसे सामने अग्नि देखकर यदि कोई उसे एक ओर छोड़ कर अपना बचाव न करे तो वह उसे पल भर में चहुँओर से घेर कर भस्म कर सकती है

(1.241) वैसे ही यह जानकर कि ये प्रत्यक्ष पाप लगा ही चाहते है, युद्ध में हमें क्यों प्रवृत्त होना चाहिए?

(1.242) और भी अर्जुन उस समय कहने लगा, हे देव! सुनिए, इस पाप का महत्व मैं आपसे वर्णन करता हूँ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ 1.40 ॥

(1.243) जैसे लकड़ी पर लकड़ी रगड़ने से ऐसी अग्नि निकलती है कि जो प्रदीप होते ही सब लकड़ी को जला डालती है,

(1.244) वैसे ही गोत्रजों में यदि परस्पर मत्सर के कारण वध हो तो जो घोर पाप होता है उससे कुल का ही नाश हो जाता है।

(1.245) इस पाप से कुल का कर्म लुप्त हो जाता है और कुल में अधर्म का संचार हो रहता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ 1.41 ॥

(1.246) तब सारासार विवेक कौन करे? कौन किस बात का आचरण करे? विधि और निषेध सब नष्ट हो जाते है।

(1.247) जिस प्रकार हाथ का दिया खो जाय और अँधेरे में चलना हो तो समान भूमि पर भी ठिठकना पड़ता है,

(1.248) वैसे ही कुल का क्षय हो तो अनादि धर्म चला जाता है। फिर पाप के सिवाय क्या रह जाता है?

(1.249) यम और नियम बन्द हो जाते है, इन्द्रियाँ स्वतन्त्र बर्तने लगती है, कुल-स्त्रियों में व्यभिचार होने लगता है,

(1.250) उत्तम अधमों में व्यवहार करने लगते है, ब्राह्मण शूद्रादि वर्णावर्ण मिल जाते है और जातिधर्म का समूल उच्छेद हो जाता है।

(1.251) जैसे चौरस्ते पर फेंके हुए बलि पर कौए चारों ओर से झपट्टी मारते है वैसे ही कुल में चारों ओर से महापापों का प्रवेश हो जाता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ 1.42 ॥

(1.252) और फिर सब कुल को और कुल का घात करने वालों को नरक प्राप्त होता है।

(1.253) देखिए, सब वंशवृद्धि जब इस प्रकार पतित हो जाती है तब पूर्व-पुरुष भी स्वर्ग से नीचे गिरते है।

(1.254) जहाँ नित्य स्नान-सन्ध्यादि क्रियाएँ बन्द हो जाती है और नैमित्तिक क्रिया भी लुप्त हो जाती है वहाँ कौन किसे तिलांजलि देता है?

(1.255) तो फिर पितृ क्या करेंगे? स्वर्ग में कैसे रहेंगे? इसलिए वे भी अपने कुलवालों के पास आ जाते हैं।

(1.256) जैसे साँप नखाग्र में काटे तो भी मस्तक पर्यन्त व्याप लेता है, वैसे ही इस पाप से ब्रह्मलोक तक पहुँचे हुए पूर्वज भी सब डूब जाते है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ 1.43 ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ 1.44 ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजन

(1.257) हे देव! और भी सुनिए, इसमें एक और महापाप लगता है। वह यह है कि दुःसंग के कारण लोकाचार भी नष्ट हो जाता है।

(1.258) जैसे दैववशात् अपने घर में आग लगे तो वह प्रज्वलित हो दूसरे घरों को भी जला डालती है,

(1.259) वैसे ही उस कुल की संगति में जो लोग बर्तते है उन्हें भी उसके निमित्त पीड़ा सहनी पड़ती है।

(1.260) इस प्रकार अर्जुन ने कहा कि अनेक पापों के कारण वह सब कुल केवल महा घोर नरक भोगता है,

(1.261) और वहाँ पतन होने पर उसका कल्पान्त में भी छुटकारा नहीं होता। कुलक्षय से ऐसा अधःपात होता है!

(1.262) हे देव! यह बात बहुत कुछ कान से सुनते है परन्तु अभी तक त्रास नहीं उपजता। यह हृदय वज्र का है, क्या किया जाय? देखिए,

(1.263) जिस बात के लिए राज्य-सुख की इच्छा की जाय वह क्षण में नाश होने वाली है, वह जान कर भी दोष नहीं छोड़े जाते।

(1.264) हमने इन सब श्रेष्ठ जनों को मारने के लिए अपनी दृष्टि के सामने खड़ा किया है, कहिए तो भला हमारे पास किस बात की कमी है?

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ 1.46 ॥

(1.265) अतएव अतः पर जीते रहने की अपेक्षा यही अच्छा है कि शस्त्रों का त्याग करके इन्हीं के बाण सहें।

(1.266) फिर चाहे जो हो, मृत्यु भी आ जाए तो भी भला, परन्तु यह पाप हम नहीं चाहते।

(1.267) इस प्रकार अर्जुन ने अपने सब कुल को देख कर यह ठहराया कि राज्य केवल नरक-भोग है।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ 1.47 ॥

(1.268) संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि उस समय रणभूमि पर अर्जुन इस प्रकार बोला

(1.269) और अत्यन्त उदास हो गया, अनिवार्य शोक से मोहित हो गया और रथ से नीचे कूद पड़ा।

(1.270) जैसे कोई राजकुमार स्थान-भ्रष्ट होने के कारण सर्वथा मानहीन हो जाता है, अथवा सूर्य राहु के ग्रस्त होने के कारण निस्तेज हो जाता है,

(1.271) किंवा महासिद्धि के मोह से पराजित होने के कारण तपस्वी भ्रमिष्ट हो जाता है और फिर काम उसे वश कर दीन कर देता है,

(1.272) वैसे ही अर्जुन रथ को त्याग देने पर दुःख से जर्जर दिखाई देने लगा।

(1.273) उसने धनुष-बाण छोड़ दिये, उसका धैर्य जाता रहा, और उसकी आँखों में आँसू आ गये। संजय ने कहा - हे राजा! सुनिए, यह बात हुई।

(1.274) अब इस पर वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण अर्जुन को दुःख-युक्त देख कर किस प्रकार परमार्थ का निरूपण करते हैं

(1.275) वह संपूर्ण कथा आगे कहता हूँ, कुतूहल से सुनिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः।

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ 2.1 ॥

(2.1) संजय ने कहा — सुनिए, पार्थ वहाँ शोक से व्याकुल हो रोने लगा।

(2.2) अपना सब कुल देख कर उसे अपूर्व स्नेह उपजा। उससे उसका चित्त किस प्रकार पिघल गया?

(2.3) जैसे लवण को पानी स्पर्श करे अथवा बादल वायु से फट जाय वैसे ही (यद्यपि वह धैर्ययुक्त था तथापि) उसका हृदय पिघल गया।

(2.4) इसलिए वह कृपा के वश हो गया और ऐसा म्लान दिखाई देने लगा मानों राजहंस कीचड़ में फँसा हो।

(2.5) इस प्रकार उस पाण्डु के पुत्र अर्जुन को महामोह से ग्रस्त देखकर श्रीशार्ङ्धर श्रीकृष्ण क्या बोले?

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ 2.2 ॥

(2.6) उन्होंने कहा - हे अर्जुन! प्रथम यह देखो कि क्या तुम्हें इस स्थान में ऐसा करना उचित है? तुम हो कौन और यह कर क्या रहे हो?

(2.7) कहो तुम्हें क्या हुआ है? किस बात की कमी पड़ी है? कौन सा कार्य बाकी रह गया है? किस कारण खेद करते हो?

(2.8) तुम तो कभी अनुचित बातों को चित्त में नहीं लाते। कभी धीरज नहीं छोड़ते। तुम्हारा नाम सुनते ही अपयश हद के पार भाग जाता है।

(2.9) तुम शूरता के आश्रय हो। क्षत्रियों के राजा हो। तुम्हारी शूरता की तीनों लोकों में प्रतिष्ठा है।

(2.10) तुमने युद्ध में शंकर को पराजित किया है, निवात और कवच का निशान मिटा दिया और निज को गन्धर्वों के गीत का विषय बना लिया है।

(2.11) तुम्हारी तुलना में त्रैलोक्य भी अल्प दिखाई देता है। हे पार्थ! तुम्हारा पौरुष इतना निर्मल है।

(2.12) वही तुम आज यहाँ वीरवृत्ति का त्याग कर मुँह नीचा कर रोते हुए बैठे हो!

(2.13) विचार करो कि क्या तुमको - अर्जुन को - करुणा से दीन हो जाना चाहिए? कहो कभी अन्धकार ने सूर्य का ग्रास किया है?

(2.14) अथवा वायु कभी मेघों से डरता है? अमृत की क्या कभी मृत्यु होती है? और देखो, क्या ईंधन कभी आग को जला सकता है?

(2.15) लवण से कभी पानी पिघलता है? किसी पदार्थ के संसर्ग से कभी कालकूट मरा है? अथवा कहो कभी दादुर ने साँप को खाया है?

(2.16) सिंह के साथ गीदड़ लड़ सके - ऐसी बराबरी कभी हुई है? परन्तु ये बातें आज तुम सच कर बता रहे हो।

(2.17) इसलिए हे अर्जुन! अब भी इस अयोग्य बात को चित्त में मत आने दो और जल्दी से मन में धीरज धर सावधान हो जाओ।

(2.18) यह मूर्खता छोड़ दो। धनुष-बाण लेकर उठो। संग्राम के समय कारुण्य किस काम का?

(2.19) अजी तुम ज्ञानी हो तो विचार क्यों नहीं करते? कहो, युद्ध के समय क्या सदयता उचित है?

(2.20) यह प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश करती है, और इससे परलोक भी हाथ नहीं आता। इस प्रकार जगन्निवास श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ 2.3 ॥

(2.21) उन्होंने यह और भी कहा कि हे अर्जुन! शोक मत करो, पूर्ण धीरज धरो और इस खेद का त्याग करो।

(2.22) इस संग्राम के अवसर पर करुणा उपयोगी नहीं है। ये लोग क्या इसी समय तुम्हारे सगे संबंधी हो गये?

(2.24) यह बात क्या तुम पहले नहीं जानते थे? अथवा इन गोत्रियों की तुम्हें पहचान नहीं थी? नाहक क्यों तूल खींचते हो?

(2.25) आज का युद्ध क्या तुम्हारे जन्म भर में नवीन है? तुम्हें आपस में युद्ध के निमित्त सदी ही बना रहता है।

(2.26) फिर इसी समय क्या हो गया? मैं नहीं जानता कि यह करुणा क्यों उत्पन्न हई है? परन्तु हे अर्जुन! तुम यह बुरा कर रहे हो।

(2.27) मोह रखने से यह फल होगा कि तुमने जो कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त की है वह चली जाएगी और ऐहिक के साथ पारलौकिक हित में भी अन्तर पड़ेगा।

(2.28) हृदय की दुर्बलता भलाई का हेतु नहीं होती। संग्राम के समय वह क्षत्रियों के लिए अधःपात का हेतु होती है।

(2.29) इस प्रकार उस कृपावन्त श्रीकृष्ण ने नाना प्रकार से समझाया। उनकी बातें सुनकर पाण्डुसुत अर्जुन कहने लगा —

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ 2.4 ॥

(2.30) हे देव! सुनिए, इतना कहने का कारण नहीं है। प्रथम आप ही इस संग्राम का विचार कर देखिए।

(2.31) यह युद्ध नहीं प्रमाद है। इसमें प्रवृत्त होना पाप दिखाई देता है। यह हमारे हाथ से श्रेष्ठ जनों का खुला खुला उच्छेद हो रहा है।

(2.32) देखिए, माता-पिता की पूजा करनी चाहिए, सब प्रकार से उन्हें सन्तोष देना चाहिए, तो फिर अपने ही हाथ से उनका वध क्योंकर करना चाहिए?

(2.33) हे देव! साधुवृन्दों को नमन करना चाहिए, अथवा हो सके तो उनकी पूजा करनी चाहिए। यह छोड़कर स्वयं अपनी वाणी से उनकी निन्दा क्योंकर करनी चाहिए?

(2.34) और ये तो हमारे कुलगुरु हैं, हमारे लिए नित्य नियम-पूर्वक पूजनीय है। भीष्म और द्रोण के मुझ पर अनेक उपकार है।

(2.35) हे देव! जिनसे हमारा मन स्वप्न में भी वैर नहीं रख सकता उनकी मैं प्रत्यक्ष हत्या कैसे कर सकता हूँ?

(2.36) इनकी अपेक्षा यह जीवन नष्ट ही जाय तो कुछ हानि नहीं। आज इन सबों को ऐसा क्या हो गया है कि हमने जो कुछ शस्त्रविद्या इनसे सीखी है उसकी प्रतिष्ठा इन्हीं के वध से की जाय?

(2.37) मैं अर्जुन, द्रोण का बनाया हुआ हूँ। उन्होंने मुझे धनुर्वेद सिखाया है। तो उनके उपकार से अनुगृहीत हो क्या उनका वध करूँ?

(2.38) जिनकी कृपा से वर का लाभ हो उसी से मन में विरोध रखने के लिए क्या मैं भस्मासुर हूँ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥
2.5 ॥

(2.39) हे देव! सुनते है कि समुद्र गम्भीर होता है परन्तु यह गम्भीरता ऊपरी होती है। पर द्रोण की बात पूछिए तो क्षोभ उसके मन में भी नहीं आता।

(2.40) यह जो ऊपर विस्तृत आकाश है उसकी भी माप हो सकेगा परन्तु द्रोण का हृदय अत्यन्त अगाध और गम्भीर है।

(2.41) चाहे अमृत भी बिगड़ जाय, काल के वश में वज्र भी फूट जाय, परन्तु क्षुब्ध करने का प्रयत्न करने से भी द्रोण की मनोवृत्ति अस्थिर नहीं होती।

(2.42) स्नेह के विषय में माता उदाहरण समझी जाती है परन्तु द्रोणाचार्य में मूर्तिमती कृपा भरी है।

(2.43) यह कारुण्य का मूलस्थान है, सकल गुणों की खान है, विद्या का अपार सागर है।

(2.44) इस प्रकार यह श्रेष्ठ है। इसके अलावा हम पर कृपावन्त है। फिर कहिए इसकी हत्या का चिंतन हम कैसे कर सकेंगे?

(2.45) ऐसे श्रेष्ठ जनों का रण में वध किया जाय तो फिर हम सुख से राज्य भोगें, यह बात जन्म भर हमारे मन में न आवेगी।

(2.46) यह बात इतनी दुर्धर है कि इससे भी बड़े-बड़े राज-भोग मिलते हों तो न मिलें, चाहे भीख माँगनी पड़े,

(2.47) अथवा देशत्याग हो जाय किंवा पर्वतों की गुहाओं में रहना पड़े तो भी भला, परन्तु इन लोगों पर शस्त्र चलाना उचित नहीं है।

(2.48) हे देव! नये धार लगाये हुए बाणों से इनके हृदयों में प्रहार कर रक्त में डूबे हुए राज्योपभोग ढूँढे जायँ

(2.49) तो उन्हें प्राप्त करके क्या लाभ होगा? रक्त में लिप्त होने से उनका उपभोग कैसे किया जायगा? अतएव यह युक्ति मुझे नहीं भाती।

(2.50) इस प्रकार उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा। परन्तु यह बात श्रीकृष्ण के मन को न भाई।

(2.51) यह जानकर अर्जुन उठा और फिर कहने लगा - क्या देव मेरे शब्दों की ओर चित्त नहीं देते?

> न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
> यानेव हत्वा न जिजीविषाम- स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे
> धार्तराष्ट्राः ॥ 2.6 ॥

(2.52) मेरे तो जो मन में था सो मैं स्पष्ट कर कह चुका। इस पर भला क्या है सो आप जाने।

(2.53) देखिए, जिनसे बैर की बात सुनते ही हमें प्राण छोड़ देना चाहिए, वही लोग यहाँ संग्राम के निमित्त खड़े है।

(2.54) अब इनका वध करें, अथवा इन्हें छोड़कर चले जायँ? इन दोनों बातों में भली कौन-सी है, मैं नहीं जानता।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ 2.7 ॥

(2.55) कौन-सी बात उचित है सो मुझे विचार करने पर भी जान नहीं पड़ती, क्योंकि मोह से मेरा चित्त व्याकुल हो गया है।

(2.56) अँधेरा छा जाने से जैसे नेत्रों का तेज चला जाता है और पास रक्खी हुई वस्तु भी दिखाई नहीं देती

(2.57) वैसे ही, हे देव! मेरा हाल हो गया है, क्योंकि मेरा मन भ्रम से ग्रस्त हो गया है और मैं अपना हित नहीं जान सकता।

(2.58) इसलिए हे श्रीकृष्ण, आप जो ठीक समझते हों सो बताइए, क्योंकि आप हमारे मित्र और हमारे सर्वस्व हैं।

(2.59) आप ही हमारे गुरु, भ्राता और पिता है। आप हमारे इष्ट देवता है और आप ही आपत्काल में सदा हमारी रक्षा करने वाले है।

(2.60) गुरु कभी शिष्य को दूर करना नहीं जानता। समुद्र नदी का त्याग क्योंकर कर सकता है?

(2.61) अथवा हे कृष्ण! सुनिए, माता बालक को छोड़कर चली जाय तो वह कैसे जी सकता है?

(2.62) उसी प्रकार, हे देव! हमारे लिए सब तरह से आप ही एक हैं। मैंने जो कुछ अभी कहा वह यदि आपको मान्य न हो

(2.63) तो हे पुरुषोत्तम, जो उचित हो और हमारे धर्म के विरुद्ध न हो सो हमें बताइए।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ 2.8 ॥

(2.64) यह सब कुल देखकर मेरे मन में जो शोक उत्पन्न हुआ है वह आपके उपदेश के सिवाय किसी बात से न जावेगा।

(2.65) संपूर्ण पृथ्वी का राज्य भी प्राप्त हो सकेगा अथवा इन्द्र का श्रेष्ठ पद भी मिल सकेगा परन्तु यह मन का मोह न मिटेगा।

(2.66) जैसे अग्नि में भुना हुआ बीज उत्तम खेत में भी बोया जाय तो, चाहे जितना सींचो, नहीं उगता,

(2.67) अथवा आयुष्य-पूर्ण हो गया हो तो औषधी कुछ काम नहीं आती और एक भगवन्नामामृत ही उपयोगी होता है

(2.68) वैसे ही राज्यभोग-समृद्धि से मेरी बुद्धि उत्तेजित नहीं होती। हे कृपानिधि, आपकी करुणा ही हमारे जीवन का रहस्य है।

(2.69) अर्जुन जब इस प्रकार बोला तब एक क्षण मोह ने उसे छोड़ दिया, परन्तु फिर से उसकी लहर ने उसे घेर लिया।

(2.70) मैं समझता हूँ कि वह केवल लहर नहीं और ही कुछ था। उसे महामोहरूपी कालसर्प ने ग्रस लिया था।

(2.70) उस सर्प ने ऐसा अवसर देखकर कि अर्जुन के हृदयकमल में करुणा भर गई है, उसके मर्मस्थान में डस लिया, इस कारण उसकी लहरें बंद नहीं होती थी।

(2.72) ऐसा कठिन समय जानकर श्रीहरिरूपी बाजीगर, जो दृष्टि से ही विष का नाश कर सकते हैं, दौड़कर आ पहुँचे

(2.73) और उस व्याकुल अर्जुन के पास खड़े हुए और अब अपनी कृपा से सहज ही उसकी रक्षा करने वाले है।

(2.74) यह जान कर मैंने अर्जुन का मोहरूपी साँप से ग्रस्त होना वर्णन किया।

(2.75) उस समय अर्जुन भ्रम से ऐसा आच्छादित हो गया था जैसे मेघ के परदे से सूर्य ढँक जाता है।

(2.76) वैसे ही अर्जुन दुःख से भी ऐसा जर्जर हो गया था मानों ग्रीष्म काल में कोई पर्वत दावानल से भुन गया हो।

(2.77) इसलिए सहज ही जो नीलवर्ण है और कृपारूपी अमृत से सजल है वे श्रीगोपालरूपी महामेघ आ पहुँचे।

(2.78) इनके दाँतों का तेज मानों विद्युत का चमकना है और गम्भीर वाचा गर्जना की सामग्री है।

(2.79) अब ये उदार मेघ कैसी वर्षा करेंगे और उससे अर्जुन-रूपी पर्वत कैसा जुड़ावेगा और फिर कैसा ज्ञानरूपी नूतन अंकुर फूटेगा,

(2.80) सो कथा मन के समाधान के हेतु सुनिए।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ 2.9 ॥

(2.81) तदन्तर संजय कहने लगे - हे राजा! अर्जुन फिर शोक से व्याकुल हो क्या बोला

(2.82) सो सुनिए। उसने श्रीकृष्ण से खेदयुक्त होकर कहा कि अब आप मुझसे आग्रहपूर्वक न कहें। मैं निश्चय से इनके साथ सर्वथा युद्ध न करूँगा।

(2.83) ऐसा एक बार बोला और फिर स्तब्ध हो रहा, तब उसे देखकर श्रीकृष्ण को आश्चर्य हुआ।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ 2.10 ॥

(2.84) वे अपने मन में कहने लगें कि इसने इस समय क्या आरम्भ किया है। यह कुछ भी नहीं समझता। क्या किया जाय?

(2.85) अब यह किस प्रकार समझेगा, कैसे धीरज धरेगा? जैसे मान्त्रिक ग्रहों की परीक्षा करता है,

(2.86) अथवा रोग असाध्य देखकर वैद्य अमृत के समान दिव्य और कठिन समय में उपयोग में लाई जाने वाली औषधि की योजना करता है

(2.87) वैसे ही श्रीकृष्ण उन दोनों सेनाओं के बीच उस उपाय का विचार करने लगे जिससे अर्जुन मोह को छोड़ दे।

(2.88) इस मतलब से वे क्रोधयुक्त हो बोले। परन्तु जैसे माता के कोप में प्रेम भरा रहता है

(2.89) अथवा औषधि की कड़वाहट में अमृत व्याप्त रहता है और वह ऊपर से नहीं दीखता परन्तु गुणरूप से प्रकट होता है,

(2.90) वैसे ही श्रीकृष्ण ऊपर से देखने में तो क्रोधयुक्त परन्तु भीतर से अत्यन्त सुरस वचन बोले।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ 2.11 ॥

(2.91) वे अर्जुन से कहने लगे - आज यह जो तुमने बीच ही में मचा रक्खा है उससे हमें आश्चर्य होता है।

(2.92) तु ज्ञानी कहलाते हो परन्तु अज्ञान नहीं छोड़ते; और सिखापन देने लगो तो बहुत कुछ नीति की बातें कहते हो।

(2.93) जन्मान्ध मनुष्य पागल हो जाय तो जैसा इधर-उधर मनमाना दौड़ता है वैसा ही हमें तुम्हारा चातुर्य दिखाई देता है।

(2.94) हमें बारम्बार यही विस्मय होता है कि तुम निज को तो जानते नहीं परन्तु इन कौरवों का शोक किया करते हो।

(2.95) कहो हे अर्जुन! इस त्रिभुवन का पालन क्या तुम्हीं से होता है? यह बात क्या झूठ है कि यह विश्व-रचना अनादि है?

(2.96) जगत् में जो कहावत है कि यहाँ एक ही वस्तु समर्थ है तथा उसी से सब प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं सो क्या मिथ्या है?

(2.97) तो क्या सच बात ऐसी है कि ये जन्म-मृत्यु तुम्हीं ने बनाये हैं? और ये क्या तुम्हीं से नाश पावेंगे?

(2.98) तुम भ्रममूलक अहंकार से यदि इन कौरवों का घात चित्त में न लाओ तो कहो क्या ये चिरंजीव हो जावेंगे?

(2.99) अथवा क्या तुम्हीं एक मारने वाले हो और यह सब जग मरने वाला है? इस प्रकार का भ्रम कभी चित्त में मत आने दो।

(2.100) यह सब जगत् अनादि काल से सिद्ध है। उत्पन्न होना और नष्ट होना उसका स्वभाव ही है। फिर कहो शोक क्यों करना चाहिए।

(2.101) परन्तु मूर्खता के कारण तुम यह नहीं समझते। जो चिन्ता न करनी चाहिए, सो करते हो, और तुम्हीं हमें नीति बताते हो।

(2.102) देखो, जो विवेकी होते है वे उत्पत्ति और नाश दोनों का शोक नहीं करते। कारण — यह भ्रान्ति है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ 2.12॥

(2.103) हे अर्जुन! सुनो। इस संसार में हम, तुम, और ये सब राजागण इत्यादि

(2.104-5) सर्वदा ऐसे ही रहेंगे अथवा निश्चय से क्षय को प्राप्त होवेंगे, ये दोनों ही बातें ठीक नहीं। वास्तव में जो परब्रह्म है वह अविनाशी ही है।

(2.106) जैसे वायु से जब पानी हिलता और तरंगाकार होता है तब कहाँ और किस की उत्पत्ति होती है?

(2.107) और जब वायु का स्फुरण बन्द हो जाता है और पानी आप ही स्थिर हो जाता है तब किस बात का लय हो जाता है, विचारो तो सही।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ 2.13 ॥

(2.108) सुनो, शरीर एक है परन्तु अवस्था-भेद से अनेक मालूम होता है। यह प्रमाण प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है।

(2.109) अथवा जैसे प्रथम बाल्यावस्था दिखाई देती है, और फिर तारुण्य के समय उसका नाश हो जाता है, परन्तु हर एक अवस्था के साथ देह का नाश नहीं होता,

(2.110) वैसे ही चैतन्य के ये शरीर बदलते जाते है। यह बात जो जानता है उसे भ्रान्ति का दुःख नहीं हो सकता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ 2.14 ॥

(2.111) इस विषय में अज्ञान का कारण यह है कि मनुष्य इन्द्रियों के अधीन होता है। इन्द्रियाँ अन्तःकरण को आकर्षित करती है इस कारण उसे भ्रम होता है।

(2.112) इन्द्रियाँ विषय का सेवन करती है इस कारण सुख-दुःख उत्पन्न होते है। इन विषयों के संग द्वारा वे चित्त को मोह में डुबाती है।

(2.113) विषयों में कभी स्थिरता नहीं रहती, इससे उनमें कभी दुःख और कभी सुख दिखाई देता है।

(2.114) देखो, निन्दा और स्तुति में शब्द-विषय व्याप्त है। उससे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा द्वेषाद्वेष उत्पन्न होते है।

(2.115) मृदुता और कठिनता दोनों गुण स्पर्शविषयक है। वे त्वगिन्द्रिय के संग से सन्तोष और खेद के हेतु होते है।

(2.116) वैसे ही भयानक और सुन्दर रूप के विषय हैं। वे नेत्रों के द्वारा सुख-दुःख उपजाते है।

(2.117) सुगन्ध और दुर्गन्ध गन्धविषय का भेद है। वह घ्राणेन्द्रिय के संग से सन्तोष और दुःख उत्पन्न करता है।

(2.118) वैसे ही रस विषय दो प्रकार का है, और सुख और दुःख उत्पन्न करता है। अतएव विषयों का संग च्युति का कारण है।

(2.119) देखो, इन्द्रियों के अधीन होने से सरदी और गरमी लगती है और मनुष्य सुख-दुःख के अधीन हो जाता है।

(2.120) इन्द्रियों का स्वभाव ही है कि उन्हें विषयों के सिवाय कभी कुछ भी रम्य नहीं जान पड़ता।

(2.121) और ये विषय कैसे है? जैसे रोहिणी का जल अथवा स्वप्न में दिखाई दिया हुआ हाथी।

(2.122) वे इस प्रकार अनित्य है, इसलिए हे धनुर्धर! उनका त्याग करो और कभी भी उनका संग न करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ 2.15 ॥

(2.123) ये विषय जिन्हें वश नहीं करते उन्हें सुख-दुःख नहीं होता तथा उन्हें गर्भवास का संग नहीं प्राप्त होता।

(2.124) हे पार्थ! जो इन इन्द्रियों के हाथ नहीं लगता वह सर्वथा नित्यरूप समझो।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ 2.16 ॥

(2.125) हे अर्जुन! अब सुनो, मैं एक बात सुनाता हूँ, जो विचारवान् लोग जानते है।

(2.126) इस जगद्रूप उपाधि में सर्वव्यापी चैतन्य गुप्त है। तत्त्वज्ञानी सदा उसी का स्वीकार करते है।

(2.127) पानी और दूध जैसे एक ही में मिला रहता है पर राजहंस उसे अलग देता है,

(2.128) अथवा जैसे बुद्धिमान् लोग सोने को आग में तपा कर हीन सोने से शुद्ध सोना अलग कर लेते है,

(2.129) अथवा चतुराई से दही का मन्थन करने से निदान में जैसे नवनीत हाथ लगता है,

(2.130) अथवा भूसे सहित बीज की उड़ावनी करने से जैसे घनीभूत धान्य रह जाता है और भूसी उड़ जाती है;

(2.131) वैसे ही विचार करने से ज्ञानियों की दृष्टि में प्रपंच अलग हो सहज ही छूट जाता और केवल तत्व ही रह जाता है।

(2.132) इसलिए अनित्य वस्तु में उनकी सत्यबुद्धि नहीं रहती। उन्हें सत् और असत् दोनों का निर्णय ज्ञात रहता है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ 2.17 ॥

(2.133) सार और असार का विचार कर देखो तो असारता भ्रम है और सार सहज ही नित्य है।

(2.134) जिससे इस त्रैलोक्य का विस्तार हुआ है उसके नाम, रूप, आकार, चिह्न कुछ भी नहीं है।

(2.135) जो सर्वदा सर्वव्यापी है, जन्म-मरण से रहित है, उसका नाश करने जाइए तो कदापि नहीं हो सकता है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ 2.18 ॥

(2.136) और यह जो सब शरीरमात्र है वह स्वभावतः नाशवन्त है। इसलिए, हे पाण्डुकुँवर! युद्ध करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ 2.19 ॥

(2.137) तुम देहाभिमान रखकर और शरीर की ओर दृष्टि देकर कहते हो कि मैं मारक और ये मरनेहारे है।

(2.138) परन्तु हे अर्जुन! तुम ने तत्व नहीं जाता। यदि यथार्थतः विचारोगे तो तुम वध करनेहारे नहीं और वे वध्य भी नहीं है।

न जायते म्रियते वा कदाचि. न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ 2.20 ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ 2.21 ॥

(2.139) जैसे जो कुछ स्वप्न में दिखाई देता है वह स्वप्न में ही सत्य होता है, जागने पर देखो तो कुछ भी नहीं रहता,

(2.140) वैसे ही इस माया को जानो। तुम्हें व्यर्थ भ्रम हो रहा है। जैसे परछाई पर शस्त्र से किया हुआ घाव देह को नहीं लगता,

(2.141) अथवा जैसे भरे हुए घड़े का पानी उड़ेलने से उसमें दिखाई देनेहारा सूर्य का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है परन्तु उसके साथ सूर्य का नाश नहीं होता,

(2.142) अथवा मठ के भीतर का आकाश मठ के ही आकार का हो जाता है परन्तु वही मठ के भंग होते ही जैसे आप ही आप अपने निजी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है,

(2.143) वैसे ही शरीर का नाश होने से आत्मस्वरूप का नाश सर्वथा नहीं हो सकता। इसलिए अपने ऊपर भ्रान्ति का आरोपण मत करो।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
2.22 ॥

(2.144) जैसे कोई अपना जीर्ण वस्त्र छोड़ दे और नया वस्त्र पहने वैसे ही आत्मा एक छोड़ दूसरे शरीर का स्वीकार करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ 2.23 ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ 2.24 ॥

(2.145) यह आत्मा उत्पत्ति-रहित और नित्य है, उपाधि-रहित और अत्यन्त शुद्ध है। इसलिए शस्त्रादि से उसका छेदन नहीं हो सकता;

(2.146) प्रलय के जल में यह डूब नहीं सकता, अग्नि से जल नहीं सकता और वायु की महाशोषण-शक्ति भी इसके विषय समर्थ नहीं होती।

(2.147) हे अर्जुन! यह तीनों कालों में अवाध्य है, अचल है, शाश्वत है, सर्वत्र है, और सदा परिपूर्ण है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ 2.25 ॥

(2.148) हे किरीटी! यह तर्कशास्त्र की दृष्टि से दिखाई नहीं देता, योगियों के ध्यान को इसकी भेंट की उत्कण्ठा लगी रहती है;

(2.149) मन को यह सदा दुर्लभ है, और साधनों से यह प्राप्त नहीं होता। हे अर्जुन! यह पुरुषों में श्रेष्ठ और अपरंपार है।

(2.150) यह गुणत्रय-विरहित है, अनादि है, विकार-रहित है, व्यक्तता से परे है। परन्तु सब पदार्थमात्र इसी का रूप है।

(2.151) हे अर्जुन! इसे इस प्रकार जान लो। यह समझ लो कि सर्वत्र यही आत्मा है। फिर तुम्हारा सब शोक सहज ही चला जायगा।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ 2.26 ॥

(2.152) अथवा यदि यह न मानो, यदि जगत् को नाशवन्त मानो तथापि हे अर्जुन, शोक करना उचित नहीं है।

(2.153) क्योंकि जैसे गंगा के जल का प्रवाह अखण्ड है वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति, और लय सर्वदा है।

(2.154) जैसे गंगाजल उद्गम में अखण्डित है, समुद्र में भी सदा मिला हुआ बना है और बीच में भी प्रवाह में बहता हुआ दिखाई देता है;

(2.155) वैसे ही प्राणिमात्र में ये तीनों अवस्थाएँ सर्वदा एक के अनन्तर एक आती ही रहती है, कभी रुकती नहीं।

(2.156) इसलिए इस सब जगत् के विषय तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अनादि काल से सृष्टिक्रम स्वभावतः ऐसा ही चला आता है।

(2.157) अथवा, हे अर्जुन! संसार को जन्म-मृत्यु के अधीन देख कर यदि तुम उपर्युक्त बात न मानो

(2.158) तो भी तुम्हें शोक करने का कारण नहीं है; क्योंकि जन्म और मृत्यु कभी टल नहीं सकते।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 2.27 ॥

(2.159) जो उपजता है वह नष्ट होता है, और जो नष्ट हुआ है सो फिर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह संसार घटिकायन्त्र के समान चक्कर खा रहा है।

(2.160) अथवा सूर्योदय और सूर्यास्त जैसे आप ही आप निरन्तर होते जाते है वैसे ही जन्म-मरण भी संसार में अनिवार्य हैं।

(2.161) महाप्रलय के समय त्रैलोक्य का भी नाश हो जाता है परन्तु उससे कुछ आदि अन्त का नाश नहीं होता।

(2.162) यदि तुम यह बात मानते हो तो खेद क्यों करते हो? हे धनुर्धर! क्या जानबूझ कर अज्ञानी बनते हो?

(2.163) हे अर्जुन! एक बात और है। अनेक प्रकार से विचार करने पर तुम्हें ज्ञात होगा कि दुःख करने के लिए तो गुंजाइश ही नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ 2.28 ॥

(2.164) ये जो सब प्राणी है सो उत्पत्ति के पूर्ण निराकार रहते है और फिर जन्म लेने पर आकार को प्राप्त होते है।

(2.165) उनका जब क्षय हो जाता है तब निश्चय से वे कुछ दूसरे नहीं बन जाते प्रत्युत अपनी पूर्व-स्थिति को ही प्राप्त होते है।

(2.166) यह जो बीच की स्थिति दिखाई देती है सो किसी निद्रित मनुष्य के स्वप्न के समान है। यह सब आकार ब्रह्मस्वरूप पर माया के कारण दिखाई देता है।

(2.167) अथवा वायु का स्पर्श होने से जल जैसे तरंगरूप से दिखाई देता है, अथवा सुवर्ण जैसे दूसरे के इच्छानुसार अलंकार-रूप से प्रकट होता है,

(2.168) वैसे ही यह सब संसार माया से हुआ जानो। आकाश में दिखाई देनेवाले अभ्रपटल के समान

(2.169) जिसका मूल ही नहीं है उसके लिए तुम क्यों शोक करते हो? उस एक चैतन्य की ओर ध्यान दो जो अक्षय है,

(2.170) जिसकी अभिलाषा करने से सन्त विषयों से छूट जाते है, जिसके लिए वे विरक्त और वनवासी बन जाते है

(2.171) और जिसकी ओर दृष्टि दे कर मुनीश्वर ब्रह्मचर्यादि व्रत और तप किया करते है,

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन- माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव
कश्चित् ॥ 2.29 ॥

(2.172) जिसके अन्तःकरण निश्चल कर निहारने से कोई संसार की सब खटपट भूल जाते है;

(2.173) जिसके गुणानुवाद गाते-गाते किसी को चित्त में उपरति उत्पन्न होकर निरन्तर निस्सीम निमग्नता प्राप्त हो जाती है;

(2.174) जिसका श्रवण करते-करते कोई शान्ति प्राप्त कर लेता लेते है और देहाभिमान से छूट जाते हैं; जिसके अनुभव के बल कोई तद्रूप हो जाते है;

(2.175) – जैसे नदी का समग्र प्रवाह समुद्र में मिलता है तथा कभी समुद्र में न समाते पीछे नहीं हटता,

(2.176) वैसे ही — जिसके स्वरूप से मिलते ही योगीश्वरों की बुद्धि तद्रूप हो जाती है तथा जिसका विचार करने से वे कभी पुनर्जन्म नहीं पाते;

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ 2.30 ॥

(2.177) जो सर्वत्र सब देहों में है; जिसका घात करना चाहो तो भी नहीं हो सकता; उस जगद्रूप केवल चैतन्य की ओर ध्यान दो।

(2.178) सब घटनाएँ उसी के स्वभाव से होती है। फिर कहो, क्या तुम्हें शोक करना उचित है?

(2.179) हे पार्थ! न जाने क्यों तुम्हारे चित्त में यह बात नहीं जमती? हमें तो हर तरह से सोचते तुम्हारा शोक करना गौण दिखाई देता है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ 2.31 ॥

(2.180) तुम अब भी क्यों नहीं विचारते? यह क्या चिंतन कर रहे हो? मनुष्य का जो तारक है उस स्वधर्म को क्या तुम भूल गये?

(2.181) यदि इन कौरवों का नाश हो जाय, अथवा तुम्हीं को कुछ हो जाए, अथवा इस युग का भी अन्त हो जाय

(2.182) तथापि एक स्वधर्म अवश्य बच रहेगा। वह कभी त्याज्य नहीं हो सकता। उसका त्याग करने से तुम्हें जो दया उत्पन्न हुई है उससे क्या तुम तर सकोगे?

(2.183) हे अर्जुन! तुम्हारे चित्त में यद्यपि दया उत्पन्न हुई है तथापि युद्ध के समय वह अनुचित है।

(2.184) अजी, गौ का दूध हो तथापि पथ्य नहीं समझा जाता। और यदि वह नवज्वर में दिया जाय तो विष के बराबर है।

(2.185) वैसे ही दूसरे के कर्म करने से स्वहित का नाश होता है। इसलिए सावधान रहो।

(2.186) वृथा क्यों व्याकुल होते हो? स्वधर्म की ओर देखो जिसका आचरण करने से किसी काल में भी दोष नहीं लगता।

(2.187) जैसे रास्ते से चलने में कभी अपाय नहीं होता, अथवा दीपक के आधार से चलने से ठिठकना नहीं पड़ता,

(2.188) उसी प्रकार हे पार्थ! स्वधर्म का आचरण करने से सहज ही सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

(2.189) इसलिए देखो, तुम क्षत्रियों को संग्राम के सिवाय और कुछ भी उचित नहीं है,

(2.190) निष्कपट होकर, आमने सामने खड़े हो, एक दूसरे पर प्रहार कर युद्ध करना ही तुम्हें उचित है। प्रत्यक्ष बात अधिक विस्तार कर क्या बताई जाय?

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ 2.32 ॥

(2.191) हे अर्जुन! यह युद्ध नहीं तुम्हारा भाग्य ही सामने खड़ा है, अथवा सकल धर्म का निधान ही प्रकट हुआ है।

(2.192) अजी, यह क्या युद्ध कहा जाय कि इस रूप से मूर्तिमान स्वर्ग ही तुम्हारे प्रताप से प्रकट हुआ है?

(2.193) अथवा तुम्हारे गुणों की प्रतीति से साभिलाष हो कीर्ति ही तुमसे स्वयंवर करने के लिए आई है?

(2.194) क्षत्रियों ने बहुत पुण्य किया हो तब कहीं ऐसे संग्राम का लाभ होता है। जैसे मार्ग में चलते-चलते अकस्मात् चिन्तामणि मिल जाय

(2.195) अथवा जमुहाई लेते समय मुँह खोलते ही अकस्मात् अमृत आ पड़े वैसे ही तुम्हें यह संग्राम प्राप्त हुआ है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ 2.33 ॥

(2.196) अब यदि इसका त्याग करो और अनहोनी बात का शोक करते बैठो तो स्वयं अपनी हानि करनेवाले होगे।

(2.197) यदि आज इस रण में शस्त्र का त्याग करोगे तो यह कहा जाएगा कि पूर्वजों का सम्पादन किया हुआ यश तुम्हीं ने खो दिया;

(2.198) एवं प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश होगा, जगत् निन्दा करेगा और महापाप तुम्हारी खोज करते चले आवेंगे।

(2.199) जैसे पतिविहीन स्त्री सर्वदा अपमान पाती है वैसी ही दशा स्वधर्म बिना इस जीवित की हो जाती है।

(2.200) अथवा रण में जो शब छोड़ दिया जाता है उसे जैसे चहुँओर से गीदड़ नोच डालते है, वैसे ही स्वधर्महीन मनुष्य को महापाप वश में कर लेते हैं।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ 2.34 ॥

(2.201) इसलिए यदि स्वधर्म का त्याग करोगे तो पाप को प्राप्त होगे और अपकीर्ति कल्पान्त तक भी न मिटेगी।

(2.202) ज्ञानी मनुष्य को तभी तक जीना चाहिए जब तक अपयश नहीं लग पाता। तो फिर कहो, यहाँ से क्यों हटना चाहिए?

(2.203) तुम तो मत्सररहित हो - सदय अन्तःकरण से पीछे फिरोगे, परन्तु तुम्हारा इस प्रकार जाना इन सबों के मन में न भायेगा।

(2.204) ये चारों ओर से तुम्हें घेर लेंगे, तुम पर बाण पर बाण छा देवेंगे। तब हे पार्थ, सदयता से तुम्हारा छुटकारा न होगा।

(2.205) इस पर भी यदि इस प्राण-संकट से बड़े कष्ट से छुटकारा हो जाय, तथापि इस प्रकार जीना मरण से भी बुरा है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ 2.35 ॥

(2.206) तुम एक बात और नहीं विचारते। तुम यहाँ युद्ध की तैयारी से आये हो और यदि दयालुता से पीछे फिरोगे

(2.207) तो हे अर्जुन! कहो क्या तुम्हारी इस दयालुता को ये दुर्जन वैरी पतियावेंगे?

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ 2.36 ॥

(2.208) वे तो कहेंगे, "गया जी गया, अर्जुन हम से डर कर भाग गया!" कहो, भला यह ऐसा दोष लगना क्या भली बात है?

(2.209) हे धनुर्धर! लोग बहुत कष्ट कर के और अपने प्राण भी अर्पण कर के कीर्ति बढ़ाने की चेष्टा करते है;

(2.210) यह कीर्ति तुम्हें अनायास ही प्राप्त हुई है। यह आकाश जैसा अनुपम है

(2.211) वैसी ही तुम्हारी कीर्ति निःसीम और अनुपम है। तुम्हारे उत्तम गुण तीनों लोकों में

(2.212) नाना देशों के राजागण भाट हो वर्णन करते है; जिन्हें सुनकर यम इत्यादि भी डर उठते है।

(2.213) देखो, तुम्हारी महिमा ऐसी घनी तथा गंगा जैसी निर्मल है कि उसे देखकर सब जगत् के महायोद्धा स्तब्ध हो गये हैं।

(2.214) ऐसी तुम्हारी अद्भुत शूरता की महिमा सुनकर ये सब कौरव अपने प्राणों पर उदार हुए हैं।

(2.215) जैसे सिंह की गर्जना उन्मत्त हाथी को प्रलय-सी मालूम होती है वैसे ही इन कौरवों को तुम्हारा डर लग रहा है।

(2.216) हे अर्जुन! पर्वत जैसे वज्र को अथवा सर्प जैसे गरुड़ को वैसे ही सर्वदा कौरव तुम्हें मानते हैं।

(2.217) यदि युद्ध न करके पीछे फिरोगे तो यह श्रेष्ठता चली जाएगी और हीनता प्राप्त होगी।

(2.218) और ये लोग तुम्हें भागते भागने न देंगे, पकड़ कर निर्भर्त्सना करेंगे, और तुम्हारे मुँह पर अगणित कुशब्द बोलेंगे।

(2.219) फिर उस समय हृदय को विदीर्ण होने देने की अपेक्षा अभी शौर्य से युद्ध क्यों न करना चाहिए? इसमें जीत हो तो पृथ्वी का राज्य प्राप्त होगा,

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ 2.37 ॥

(2.220) अथवा यहाँ लड़ते-लड़ते जीवन समाप्त हो जाय ते अनायास ही स्वर्ग का सुख प्राप्त होगा।

(2.221) इसलिए हे किरीटी! इस विषय में कुछ आगे-पीछे न देखो। अब धनुष लेकर उठो और जल्दी से युद्ध करो।

(2.222) देखो, स्वधर्माचरण करने से पूर्वकृत पाप का नाश हो जाता है। तुम्हारे चित्त में पाप के विषय में क्या भ्रम उत्पन्न हुआ है?

(2.223) नौका के सहाय से कभी मनुष्य डूबता है? अथवा सीधे मार्ग से जाने पर कभी ठिठकता है? परन्तु कदाचित् उसे चलना ही न आता हो तो ऐसा संभव हो सकता है,

(2.224) तथा विष मिलाकर पिया जाए तो दूध से भी मृत्यु हो सकती है। वैसे ही फल की आशा के कारण स्वधर्म से भी दोष प्राप्त होता है।

(2.225) इसलिए हे पार्थ, फल की आशा को छोड़ क्षत्रिय धर्मानुसार युद्ध करने से कभी पाप नहीं होता।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ 2.38 ॥

(2.226) सुख के समय सन्तोष न मानना चाहिए तथा दुःख के समय खेद भी न मानना चाहिए, और लाभ और हानि मन में न लानी चाहिए।

(2.227) युद्ध में विजय होगा अथवा देह का नाश होगा, इन अगली बातों की पहले से ही चिन्ता न करनी चाहिए।

(2.228) हमें जो उचित है उस स्वधर्म से व्यवहार करते समय जो कुछ फल हो सो शान्ति से सह लेना चाहिए।

(2.229) मन इतना दृढ हो जाय सहज ही पाप न लगेगा। इसलिए अब भ्रम छोड़ युद्ध करो।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ 2.39 ॥

(2.23) अभी तक मैंने तुम्हें संक्षिप्त रीति से अपरोक्ष ज्ञानयोग बतलाया। अब बुद्धियोग बतलाता हूँ सो सुनो।

(2.231) जिस मनुष्य को बुद्धियोग प्राप्त हो जाय उसे कर्मबन्ध की पीड़ा कभी नहीं होती।

(2.232) जैसे वज्रकवच पहनने से शस्त्रों की वर्षा सहकर मनुष्य विजय प्राप्त कर अबाधित रहता है,

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ 2.40 ॥

(2.233) वैसे ही बुद्धियोग से उसके ऐहिक सुख का नाश न होते मोक्ष भी हाथ लगता है। इस बुद्धियोग से पूर्व में किया हुआ कर्म निर्मल हुआ देख पड़ता है;

(2.234) कर्म के आधार से मनुष्य व्यवहार करता है परन्तु कर्म के फल की ओर दृष्टि नहीं देता। जैसे मन्त्रज्ञ को भूतबाधा नहीं होती

(2.235) वैसे ही जिन्हें सुबुद्धि की पूर्ण प्राप्ति हो गई है उन्हें सर्वदा रहनेवाली उपाधि वश नहीं कर सकती।

(2.236) जिस बुद्धि में पुण्य और पाप का संचार नहीं होता, जो अत्यन्त सूक्ष्म और निश्चल रहती है और जिसे त्रिगुणों का लेप नहीं लग सकता

(2.237) वह बुद्धि, हे अर्जुन! पूर्व-पुण्य से यदि अल्प भी हृदय में प्रकाशित हो तो सब संसाररूपी पाप का जड़ से नाश कर देती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ 2.41 ॥

(2.238) जैसे दीपक की ज्योति छोटी-सी रहती है परन्तु अत्यन्त प्रकाश प्रकट करती है, उसी प्रकार इस सद्बुद्धि को अल्प मत समझो

(2.239) हे पार्थ! विचारवान् मनुष्यों को सब प्रकार से इस सद्बुद्धि की अपेक्षा करनी चाहिए। क्योंकि सद्वासना चराचर में दुर्लभ है।

(2.240) जैसे अन्य पत्थरों के समान पारस बहुतेरा नहीं मिलता, अथवा अमृतबिन्दु कभी दैवयोग से ही प्राप्त होता है,

(2.241) वैसे ही परमात्मा में जिसका पर्यवसान होता है, वह सद्बुद्धि दुर्लभ है। गंगा को सर्वदा जैसे समुद्र

(2.242) वैसे जिसे ईश्वर के सिवाय और कुछ प्राप्तव्य नहीं है ऐसी हे अर्जुन! संसार मे एक ही बुद्धि है।

(2.243) दूसरी जो बुद्धि है, जिससे विकार उत्पन्न होते है, वह दुर्बुद्धि है। इसमें निरन्तर अविचारी लोग रमण करते है।

(2.244) इसलिए हे पार्थ! उन्हें स्वर्ग, संसार, अथवा नरक यही गति प्राप्त होती है, परन्तु आत्म-सुख कभी दिखाई नहीं देता।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ 2.42 ॥

(2.246) वे वेद के आधार से बोलते है, केवल कर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करते है, परन्तु कर्म के फल से प्रीति रखते है।

(2.247) वे कहते है कि संसार में जन्म लेना चाहिए, यज्ञादिक कर्म करना चाहिए, और मनोहर स्वर्ग का सुख भोगना चाहिए।

(2.247) हे अर्जुन! इन दुर्बुद्धियों का ऐसा मत है कि संसार में इसके सिवाय और कुछ सुख नहीं है।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ 2.43 ॥

(2.248) देखो, वे काम के अधीन हो कर तथा केवल भोग की ओर चित्त दे कर्म कर्म करते है।

(2.249) वे अनेक प्रकार की क्रियाओं का अनुष्ठान करते है, विधि को नहीं टालते और निपुणता से धर्म का आचरण करते है;

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ 2.44 ॥

(2.250) परन्तु वे यही एक बुरा करते है कि मन में स्वर्ग की कामना रखते है और यज्ञ का भोक्ता जो ईश्वर है उसे भूल जाते है।

(2.251) जैसे कपूर का ढेर लगाया जाय और फिर उसमें आग लगा दी जाय; अथवा मिष्ठान्न बनाकर जैसे उसे कालकूट विष मिला दिया जाय;

(2.252) दैवयोग से मिला हुआ अमृत का घड़ा जैसे लात से उड़ेल दिया जाय; वैसे ही ये लोग हाथ लगे हुए धर्म का, फल की आशा से नाश कर डालते है।

(2.253) श्रम करके यदि पुण्य-सम्पादन करते है तो फिर संसार की चाह क्यों चाहिए? परन्तु क्या किया जाय, यह बात इन अकृतार्थ लोगों की समझ में ही नहीं आती।

(2.254) राँधनेवाली जैसे उत्तम रसोई बनाकर मोल से बेचे वैसे ही ये अविवेकी लोग धर्म को खो देते है;

(2.255) एवं हे पार्थ! देखो, वे के अर्थवाद में निमग्न हुए लोगों के मन में सर्वदा दुर्बुद्धि ही रहती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ 2.45॥

(2.256) यह निश्चय जानो कि वेद तीनों गुणों से वेष्टित है। उपनिषदादि सात्विक है,

(2.257) और हे धनुर्धर! दूसरे भाग जिनमें कर्मादिकों का वर्णन किया गया और जो केवल स्वर्ग की सूचना करते है, सो रज-तमात्मक है।

(2.258) इसलिए वेद सुख-दुःख के ही हेतु है। इनमें अपना अन्तःकरण मत लगने दो।

(2.259) तीनों गुणों का त्याग करो, अहंकार और ममता को छोड़ दो और एक अन्तर्यामी आत्मसुख को मत भूलो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ 2.46 ॥

(2.260) यद्यपि वेदों ने बहुत कुछ कहा हो, अनेक भेदों की सूचना की हो, तथापि हमको वही लेना चाहिए जो अपना हित हो।

(2.261) सूर्य का उदय होते ही सभी रास्ते साफ दिखाई देने लगते है, परन्तु कहो भला, मनुष्य क्या एकदम उन सभी रास्तों से चलता है?

(2.262) अथवा, यद्यपि सारा का सारा पृथ्वीतल जलमय हो जाय तथापि जैसे उसमें से मनुष्य अपने इच्छानुसार ही ग्रहण करता है,

(2.263) वैसे ही जो ज्ञानी होते हैं वे वेदार्थ का विचार करते है और उस इष्ट वस्तु का स्वीकार करते है जो शाश्वत है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ 2.47 ॥

(2.264) इसलिए हे पार्थ! इसी प्रकार तुम्हें भी स्वकर्म करना उचित है।

(2.265) खूब विचार कर देखने पर हमारे ध्यान में यही आता है कि तुम्हें अपना कर्तव्य-कर्म नहीं छोड़ना चाहिए।

(2.266) परन्तु कर्म के फल की आशा नहीं रखनी चाहिए और निषिद्ध कर्म की ओर प्रवृत्त न होना चाहिए। किन्तु हेतु-रहित हो सत्कर्म का आचरण करना चाहिए।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ 2.48 ॥

(2.267) योगयुक्त होकर फल का संग छोड़ दो और फिर मन लगाकर कर्म करो।

(2.268) परन्तु यदि आरम्भ किया हुआ कर्म सुदैव से सिद्ध हो जाय तो उसके विषय अधिक सन्तोष भी मत मानो,

(2.269) अथवा यदि किसी कारण से वह कर्म सिद्ध न होते हुए रह जाय तो असन्तोष से क्षुब्ध भी मत हो।

(2.270) कर्म करते करते यदि सिद्ध हो जाय तो निःसन्देह भला ही हुआ; परन्तु न भी सिद्ध हो तो सफल ही हुआ सा समझो।

(2.271) जितना कुछ कर्म उत्पन्न होता है उतना सब ईश्वर को समर्पण किया जाय तो सहज ही परिपूर्ण हुआ सा समझना चाहिए।

(2.272) ऐसी जो भले-बुरे कर्म के विषय मनोधर्म की समानता होती है उसी योगस्थिति की श्रेष्ठ जन प्रशंसा करते है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ 2.49 ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ 2.50 ॥

(2.274) हे अर्जुन! जहाँ मन और बुद्धि की एकता होती है, और जहाँ चित्त की समता रहती है, वही योग का सार है।

(2.275) हे पार्थ! इस बुद्धि-योग का अनेक रीति से विचार करने से कर्मयोग की योग्यता कम दिखाई देती है।

(2.276) परन्तु कर्म का आचरण किया जाय तभी यह योग सिद्ध होता है, क्योंकि कर्मोत्तर स्थिति ही स्वभावतः योग की स्थिति है।

(2.277) जो बुद्धि-योग में उद्यत है वे ही संसार के पार गये है और वे ही संसार और स्वर्ग-संबंधी पाप-पुण्यों से छूटे हैं।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ 2.51 ॥

(2.278) वे कर्म में व्यवहार करते है, परन्तु कर्म के फल की इच्छा उन्हें स्पर्श नहीं करती। हे अर्जुन! उनका जन्म-मरण भी नष्ट हो जाता है;

(2.279) और फिर हे धनुर्धर! वे बुद्धि-योग-युक्त जन आनन्द से भरा हुआ अविनाशी स्थान पाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ 2.52 ॥

(2.280) तुम ऐसे तभी होगे जब इस मोह को छोड़ दोगे और जब तुम्हारे मन में वैराग्य का संचार होगा।

(2.281) तब निर्दोष और अगाध आत्मज्ञान उपजेगा जिससे तुम्हारा मन आप ही आप निरिच्छ हो जायगा।

(2.282) उस समय और किसी वस्तु का जानना अथवा पिछली किसी बात का स्मरण करना दूर रह जाएगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ 2.53 ॥

(2.283) और तुम्हारी मति जो इन्द्रियों की संगति से फैलती है वह जब पुनः आत्मस्वरूप में स्थिर हो जावेगी,

(2.284) जब बुद्धि केवल समाधि-सुध में निश्चल होगी, तब तुम्हें सम्पूर्ण योग की स्थिति प्राप्त होगी।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ 2.54 ॥

(2.285) तब अर्जुन ने कहा - हे देव! मैं इसी विषय में कुछ पूछा चाहता हूँ।

(2.286) श्रीकृष्ण बोले — हे किरीटी! तुम जो चाहो सन्तोष और आनन्द के साथ पूछो।

(2.287) यह वचन सुनकर पार्थ ने पूछा - हे श्रीकृष्ण! स्थितप्रज्ञ की क्या व्याख्या है? वह कैसे पहचाना जाता है सो कहिए।

(2.288) जिसे स्थिरबुद्धि कहते है और जो अखण्ड समाधि-सुख का उपभोग लेता है वह किन लक्षणों से जाना जाता है?

(2.289) हे देव! हे लक्ष्मीपति! वह किस स्थिति में रहता है, किस रूप से शोभता है, सो कहिए।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 2.55 ॥

(2.290) तब परब्रह्म के अवतार, षड्गुणों के अधिष्ठान श्रीनारायण क्या बोले?

(2.291) उन्होंने कहा — हे अर्जुन सुनो, मन में जो अभिलाषा प्रबल होती है वही आत्मसुख में विघ्न करती है।

(2.292) जो पुरुष सर्वदा तृप्त है, जिसका अन्तःकरण ज्ञान से पूर्ण है, जिस काम की संगति विषयों में पतन कराती है

(2.293) वह काम जिसका सर्वथा चला जाता है, जिसका मन आत्मसन्तोष में ही मग्न रहता है उस पुरुष को स्थितप्रज्ञ जानो।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ 2.56 ॥

(2.294) अनेक दुःख प्राप्त होने से भी जिसके चित्त में विकलता नहीं उपजती और जो सुख की आशा में नहीं फँसता

(2.295) उसमें हे अर्जुन! काम और क्रोध नहीं रहते; और उस पहुँचे हुए पुरुष को कभी भय भी नहीं होता।

(2.296) इस प्रकार जो निःसीम है, जो संसार का त्याग कर भेद-रहित हो गया है, उसे स्थिर-बुद्धि जानो।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.57॥

(2.297) जो सर्वदा समान रहता है, जैसे पूर्णचन्द्र प्रकाश देते समय ऐसा भेद नहीं रखता कि यह अधम और यह उत्तम है

(2.298) वैसे ही जिसकी अखण्ड समता है, जिसमें सब भूत मात्र के विषय में सदयता है, और जिसके चित्त में किसी समय भी अन्तर नहीं होता,

(2.299) कोई अच्छी बात प्राप्त हो तो जो उसके सन्तोष के वश नहीं होता, तथा किसी बुरी बात से जो दुःख के हाथ नहीं आता,

(2.300) ऐसा जो हर्ष और शोक से रहित और आत्मज्ञान से पूर्ण हो उसे, हे धनुर्धर! प्रज्ञायुक्त जानो।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.58॥

(2.301) अथवा जैसे कछुआ मौज से अपने अवयव फैलाता है किंवा अपने इच्छानुसार आप ही उन्हें सिकोड़ लेता है,

(2.302) वैसे ही इन्द्रियाँ जिसके अधीन हो आज्ञा पालन करती है उसी की प्रज्ञा स्थिरता को प्राप्त हुई है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ 2.59 ॥

(2.303) हे अर्जुन! एक और कुतूहल सुनो। जो योग-साधना करनेहारे नियम-साधन करके विषयों का त्याग करते है,

(2.304) श्रवणादि इन्द्रियों का संयमन करते है, परन्तु रसना का निग्रह नहीं करते उन्हें विषय सहस्रधा आ लिपटते हैं।

(2.305) ऊपर-ऊपर के पत्ते तोड़िये और जड़ को पानी देते जाइए तो उस वृक्ष का नाश कैसे होगा?

(2.306) वह जल के बल से जैसा अधिक विस्तार से फैलता जाता है वैसे ही मन में रसना के द्वारा विषय पुष्ट होते जाते है।

(2.307) दूसरे इन्द्रियों के विषय जैसे हठ से छूट सकते है वैसे रस-विषय का संयमन हठ से नहीं हो सकता, क्योंकि उसके बिना यह जीवन भी नहीं रह सकता।

(2.308) परन्तु हे अर्जुन! जब साधक साक्षात्कार के द्वारा परब्रह्म रूप हो जाता है तब इस रसना का नियमन आप ही आप हो जाता है।

(2.309) उस समय जो सोऽहंभाव का अनुभव प्रकट होता है तब शरीर के व्यवहार बन्द हो जाते है और इन्द्रिय विषयों को भूल जाते है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ 2.60॥

(2.310) हे अर्जुन! साधारणतः ये विषय निरन्तर यत्न से साधना के पीछे लगनेवालों के भी हाथ नहीं आते।

(2.311) अभ्यास जिनकी गश्त दे रहा है, यम-नियमों की जिनके बागुर लगी है, और जो मन को सर्वदा मुट्ठी में रक्खे हुए हैं,

(2.312) वे भी इन इन्द्रियों से व्याकुल हो जाते है। ऐसा इनका प्रताप है। भूत जैसे मन्त्रज्ञ को भुलाता है

(2.313) जैसे ऋद्धि-सिद्धि के मिस से साधकों को ये विषय ही प्राप्त हो जाते है, और इन्द्रियों का स्पर्श होते ही वे उन्हें वश कर लेते हैं,

(2.314) मन उस विषय-समुदाय में लग जाता है और अभ्यास में निर्बल हो रहता है। इन्द्रियों की शक्ति इतनी दृढ है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.61॥

(2.315) इसलिए हे पार्थ, सुनो। सब विषयों की इच्छा छोड़ कर जो इन्द्रियों का सर्वथा दमन करता है

(2.316) उसी को योगनिष्ठा का हेतु जानो। उसका अन्तःकरण विषय-सुख में नहीं फँसता।

(2.317) वह सर्वदा आत्मज्ञान से युक्त हो रहता है और अपने हृदय में मेरा ध्यान नहीं भूलता।

(2.318) यों चाहे कोई बाह्यतः विषय छोड़ दे, परन्तु यदि मन में विषय रह जायँ तो उसे आदि से अन्त तक संसार ही रहता है।

(2.319) जैसे विष का लेशमात्र खाने से उसका शरीर भर में विस्तार हो जाता है और निश्चय से जीवन का नाश हो जाता है,

(2.320) वैसे ही विषय की आशंका मन में रहने से कुल विचार-समूह का नाश हो जाता है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ 2.62 ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ 2.63 ॥

(2.321) हृदय में यदि विषयों का स्मरण बना रहे तो वैराग्यशील मनुष्य को भी उनकी प्रीति होती है और इस प्रीति से मूर्तिमान् अभिलाष अर्थात् काम प्रकट होता है।

(2.322) जहाँ काम उपजता है वहाँ क्रोध पहले ही आ जाता है और क्रोध के साथ अविचार रक्खा ही हुआ है।

(2.323) अविचार प्रकट होते ही जैसे प्रचण्ड वायु से ज्योति बुझ जाती है वैसे ही स्मृति का नाश हो जाता है।

(2.324) और, सूर्यास्त होने पर रात्रि जैसे सूर्य्य के तेज को ग्रस लेती है वैसी ही दशा प्राणियों की — स्मृति का भ्रंश हो जाने पर — होती है।

(2.325) फिर जो केवल अज्ञानान्धकार रह जाता है उसमें मनुष्य सर्वथा डूब जाता है। उस समय बुद्धि व्याकुल हो जाती है।

(2.326) जैसे जन्मान्ध को कभी दौड़कर भागना पड़े तो वह दीनता से इधर-उधर दौड़ता है वैसे ही, हे धनुर्धर! बुद्धि भी चक्कर में पड़ जाती है;

(2.327) एवं जब स्मृतिभ्रंश होता है तब बुद्धि बिलकुल अड़ जाती है और सब ज्ञान उन्मूल हो जाता है।

(2.328) तात्पर्य यह कि जीव के नाश के जैसी दशा शरीर की होती है वैसी ही बुद्धि के नाश से मनुष्य की होती है।

(2.329) इसलिए हे अर्जुन! जैसे छोटी-सी चिनगारी ईंधन में में लग जाय तो वह बढ़ कर त्रिभुवन का नाश करने के लिए काफी हो सकती है,

(2.330) वैसे ही यदि मन विषयों को ध्यान में भी लावें तो उपर्युक्त पतन मनुष्य को ढूँढता हुआ आ पहुँचता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 2.64 ॥

(2.331) इसलिए सब विषयों को मन से सर्वथा निकाल देना चाहिए। फिर राग और द्वेष का सहज ही नाश हो जावेगा।

(2.332) हे पार्थ! एक बात और सुनो। राग-द्वेष नष्ट हो जायँ तो इन्द्रियों को विषयों के सेवन से कुछ बाधा नहीं हो सकती।

(2.333) आकाश में रहनेवाला सूर्य अपना किरणरूपी हाथों से इस जगत् का स्पर्श करता है, तो क्या वह उसके संसर्ग-दोष से लिप्त हो जाता है?

(2.334) इसी तरह जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों में उदासीन है, जो आत्मप्रीति में ही निमग्न है, जो काम और क्रोध से रहित हो रहता है

(2.335) उसे विषयों में भी आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं जान पड़ता। तो फिर विषय क्या हैं और किसे क्या बाधा करेंगे?

(2.336) यदि जल में जल डूब सके अथवा अग्नि से अग्नि जल सके तभी वह पहुँचा हुआ पुरुष विषयसंग में डूब सकेगा।

(2.337) अतएव यह निश्चय जानो कि जो केवल आप ही सर्वरूप हो रहता है उसकी बुद्धि अचल रहती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ 2.65 ॥

(2.338) देखो, जहाँ चित्त में निरन्तर प्रसन्नता है वहाँ इन सब संसार-दुःखों का प्रवेश नहीं हो सकता।

(2.339) जैसे, जिनके पेट से अमृत का प्रवाह उत्पन्न हो उसे कभी भूख और प्यास का डर नहीं रहता,

(2.340) वैसे ही यदि हृदय प्रसन्न हो तो दुःख काहे का हो और कहाँ रहे? उस समय बुद्धि अपने आप परमात्मा के स्वरूप में जा बसती है।

(2.341) जैसे वायुरहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक कभी कम्प नहीं जानता, वैसे ही जिसकी बुद्धि स्थिर है वह आत्मस्वरूप के योग में निश्चल हो रहता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ 2.66 ॥

(2.342) जिसके अन्तःकरण में इस योग का विचार नहीं है उसे विषयादिक गुणों के वशीभूत समझो।

(2.343) हे पार्थ! उसकी बुद्धि कभी सर्वथा स्थिर नहीं रहती और उसे स्थिरता की इच्छा भी कभी नहीं उपजती।

(2.344) हे अर्जुन! निश्चलता की भावना यदि मन में न उपजेगी तो उसे शान्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी?

(2.345) जैसे पापियों के पास मोक्ष कभी नहीं बसता वैसे ही जहाँ शान्ति का उद्गम नहीं हैं वहाँ सुख कभी भूलकर भी नहीं जाता।

(2.346) देखो, जो बीज अग्नि में भूना गया है वह यदि उग सके तभी अशान्त मनुष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है।

(2.347) अतएव मन का नियमन न करना ही सब दुःखों का कारण है। इसलिए इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 2.67 ॥

(2.348) जो मनुष्य इन्द्रिय जो जो कहे सो सो करते है वे इस विषयरूपी समुद्र में से तर जायँ तो भी तरे न समझना चाहिए।

(2.349) जैसे नाव तीर पर लग कर भी तूफान में पड़ जाय तो टला हुआ संकट फिर आ बीतता है,

(2.350) वैसे ही पहुँचा हुआ मनुष्य भी यदि कुतूहल से इन्द्रियों का लालन करे तो उसे इन संसार-सम्बन्धी दुःखों ने घेर ही लिया जानो।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.68 ॥

(2.351) इसलिए, हे धनंजय! अपनी इन्द्रियाँ यदि अपने अधीन हो जायँ तो इससे अधिक सार्थक और क्या है?

(2.352) देखो, कछुवा जैसे अपने ही इच्छानुसार अपने अवयव फैलाता है, अथवा अपनी ही इच्छा से आप ही आप उन्हें सिकोड़ लेता है,

(2.353) वैसे ही इन्द्रिय जिसके वश होकर आज्ञा मानते है उस की बुद्धि स्थिरता को पहुँची समझो।

(2.354) अब, हे अर्जुन! पहुँचे हुए मनुष्य का एक और गूढ़ लक्षण बताता हूँ सो सुनो।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ 2.69 ॥

(2.355) देखो, जिस विषय में सब प्राणिमात्र अज्ञान में रहते है उस विषय में जिसे ज्ञान है और जिस विषय में सब प्राणिमात्र जागृत हैं उस विषय में जो निद्रित है,

(2.356) हे अर्जुन! उसी को उपाधिरहित, स्थिरबुद्धि और गम्भीर मुनीश्वर समझो।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न
कामकामी ॥ 2.70 ॥

(2.357) हे पार्थ! वह एक प्रकार से और भी पहचाना जा सकता है। जैसे समुद्र में निरन्तर निश्चलता रहती है —

(2.358) वर्षाकाल में यद्यपि सम्पूर्ण नदियों के प्रवाह पूर्ण हो उससे आ मिलते हैं तथापि जैसे वह किंचित् भी नहीं बढ़ता और अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता,

(2.359) अथवा ग्रीष्मकाल में सब नदियाँ सूख जाती है तथापि जैसे वह कुछ न्यून नहीं होता —

(2.360) वैसे ही ऋद्धि और सिद्धि की प्राप्ति होने से उस पहुँचे हुए पुरुष की बुद्धि चंचल नहीं होती और उनके न प्राप्त होने से उसे अधीरता नहीं उपजती।

(2.361) कहो, क्या सूर्य के घर दिया लगाने से प्रकाश होता है, और न लगाने से क्या वह अंधेरे में रहता है?

(2.362) ऐसे ही जो ऋद्धि-सिद्धि के आने-जाने का स्मरण भी नहीं करता, उसी का अन्तःकरण महासुख में निमग्न रहता है।

(2.363) जो अपने घर की सुन्दरता के आगे इन्द्रभवन को भी तुच्छ समझता है उसे भीलों की पत्तों की मड़ैयों से कैसे आनन्द मिलेगा?

(2.364) जो अमृत को भी नाम रखता है वह जैसे दरिया कभी नहीं पीता वैसे ही आत्मसुख का अनुभव लेनेवाला ऋद्धि-सिद्धि का उपभोग कभी नहीं करता।

(2.365) हे पार्थ! यह चमत्कार देखो; जहाँ स्वर्ग के सुख की परवा नहीं है वहाँ ऋद्धि-सिद्धि क्या चीज है? वह तो केवल साधारण ही है।

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ 2.71 ॥

(2.366) ऐसा जा आत्मज्ञान से सन्तुष्ट हो, जो परमानन्द से पुष्ट हो, उसी को सच्चा स्थिरप्रज्ञ जानो।

(2.367) वह अहंकार को छोड़, सकल मनोरथों का त्याग कर जगदाकार हो संचार करता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ 2.72 ॥

(2.368) एस निःसीम ब्रह्मस्थिति को जिन निष्काम जनों को अनुभव होता है वे बिना कष्ट के परब्रह्मपद को पहुँच जाते है।

(2.369) जिस स्थिति के कारण ज्ञान-स्वरूप में मिलते समय ज्ञानियों के चित्त में देहान्त का व्याकुलतारूपी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता,

(2.370) वहीं यह स्थिति लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने अर्जुन से वर्णन की। इस प्रकार संजय ने राजा से निवेदन किया।

(2.371) श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन ने मन में कहा कि यह युक्ति हमारे हित की हुई।

(2.372) देव ने सब कर्ममात्र का निषेध किया इससे मेरा युद्ध करना भी टल गया।

(2.373) इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचनों से अर्जुन चित्त में प्रसन्न हुआ और अब आशंका-सहित उत्तम प्रश्न करेगा।

(2.374) इस सुन्दर संवाद मानों सब धर्मों का उत्पत्तिस्थान है, अथवा विवेकरूपी अमृत का अमर्याद समुद्र है।

(2.375) इस संवाद का निरूपण स्वयं सर्वज्ञान श्रीकृष्ण करेंगे और वह कथा मैं निवृत्ति का दास ज्ञानदेव वर्णन करूँगा।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः।

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ 3.1 ॥

(3.1) फिर अर्जुन ने कहा - हे देव, हे कृपानिधि! आपके वचन मैंने भलीभाँति सुने।

(3.2) आपने कहा कि उस आत्मस्वरूप में कर्म और कर्ता रहते ही नहीं, हे श्रीअनन्त! यह यदि आपका निश्चित मत हो

(3.3) तो हे श्रीहरि! मुझे युद्ध के लिए प्रोत्साहन दे, इस महाघोर कर्म में डालते हुए आपको संकोच क्यों नहीं होता?

(3.4) अजी, आप ही सब कर्म का सर्वथा निषेध करते है, तो मुझसे ऐसा हिंसक कर्म क्यों कराते है?

(3.5) हे श्रीहृषीकेश! आप ही विचार कर देखिए कि आप लेशमात्र भी कर्म को भला नहीं समझते, और मुझसे इतनी बड़ी हिंसा कराते हैं!

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ 3.2 ॥

(3.6) हे देव! आप ही यदि यों कहे तो हम अज्ञानी लोग क्या करें? सम्पूर्ण विवेक की बातों का अन्त ही हुआ चाहिए!

(3.7) अजी उपदेश ऐसा सन्दिग्ध हो तो अपभ्रंश और कैसा रहता है? फिर हमारा आत्मज्ञान का मनोरथ पूर्ण हो चुका!

(3.8) यदि वैद्य पथ्य बता जावे और फिर आप ही विष देवे तो कहिए रोगी कैसे जियेगा?

(3.9) जैसे कोई अन्धे को आड़े टेढ़े रास्ते में ले जाय, अथवा वानर को कोई नशा पिला दिया जाय, वैसे ही हमें आपका उत्तम उपदेश प्राप्त हुआ है।

(3.10) मैं पहले से ही अज्ञानी हूँ, ऊपर से मोह के वश हुआ हूँ; इसलिए हे श्रीकृष्ण! मैंने आपकी सम्मति पूछी।

(3.11) तो आपकी एक-एक बात विलक्षण ही दिखाई देती है। आपके उपदेश में उलझाव मालूम पड़ता है। शरणागत की क्या ऐसी दशा की जाती है?

(3.12) हम तन-मन-प्राण से आपके वचनों पर विश्वास रक्खें और आप यदि ऐसा करें तो हो चुका!

(3.13) इस प्रकार आप बोध करेंगे तो हमारी बड़ी भलाई करेंगे! इसमें ज्ञान की क्या आशा है?

(3.14) ज्ञान की तो बात ही गई परन्तु उलटी एक बात और यह हो गई कि मेरा मन जो स्थिर था सो और क्षुब्ध हो गया।

(3.15) परन्तु हे श्रीकृष्ण! यदि इस मिस से आप मेरा मन देखते हों तो आपकी लीला अतर्क्य है।

(3.16) विचार करने से भी मुझे यह निश्चय नहीं जान पड़ता कि आप मुझे ठगते हैं कि गूढ़ भाषा में परमार्थ ही बताते हैं।

(3.17) इसलिए हे देव! सुनिए, ऐसा भावार्थ न कहिए। मुझे स्पष्ट भाषा में ज्ञान बताइए।

(3.18) ऐसी निश्चयात्मक बात कहिए कि मैं यद्यपि अत्यन्त मतिमन्द हूँ तथापि भली-भाँति समझ सकूँ।

(3.19) देखिए, औषधि रोग को हटानेवाली तो हो ही, परन्तु वह जैसे मधुर और रुचिर भी हो,

(3.20) वैसा ही सकलार्थ से भरा हुआ तथा उचित तत्व बताइए; परन्तु इस तरह बताइये कि मेरे चित्त को बोध हो जाए।

(3.21) हे देव! आपके समान गुरु होते हुए मैं अपनी इच्छा की तृप्ति क्यों न कर लूँ? लज्जा किसकी करूँ? आप तो मेरी माता है

(3.22) अजी दैवयोग से कामधेनु का गोरस प्राप्त हो जाय तो फिर क्या मनोरथों की कमी करनी चाहिए?

(3.23) यदि चिन्तामणि हाथ लग जाय तो कामना करने में कौन-सा संकट है! मनमानी इच्छा क्यों न की जाय?

(3.24) देखिए, यदि कोई अमृत के समुद्र के किनारे जा पहुँचे और फिर भी प्यास से व्याकुल रहे तो उसने वहाँ जाने का श्रम ही क्यो किया?

(3.25) वैसे ही हे श्रीकमलापति! अनेक जन्मान्तर से आपकी उपासना करते-करते दैवयोग से आज आप हमारे हाथ लगे हैं।

(3.26) तो हे परेश! अपनी इच्छा भर आपसे क्यों न माँग ले? हे देव! आज हमारे मन के लिए सुदिन उदय हुआ है!

(3.27) देखिए, आज मेरी सब इच्छाओं का जीवन और पुण्य सफल हो चुका और सब मनोरथों का विजय हो चुका।

(3.28) क्योंकि, हे परम-कल्याणनिधि! हे सकल देवों में श्रेष्ठ! आज आप हमारे अधीन हुए है।

(3.29) जैसे माता का स्तनपान करने के लिए बालक को कभी कुअवसर नहीं होता,

(3.30) वैसे ही हे देव, हे कृपानिधि! मैं आपसे अपने इच्छानुसार पूछता हूँ।

(3.31) अतएव ऐसी एक निश्चयात्मक बात कहिए, जो परलोक में तो हितकारी हो और आचरण के भी योग्य हो।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ 3.3 ॥

(3.32) यह सुनकर श्रीअच्युत विस्मित हो कहने लगे — हे अर्जुन! आत्मज्ञान और कर्म का अभिप्राय हमने संक्षेप से बताया था।

(3.33) क्योंकि बुद्धियोग का वर्णन करते हुए ज्ञानमार्ग का वर्णन हमने प्रसंगानुसार किया था।

(3.34) यह बात तुमने नहीं जानी। इसलिए तुमको वृथा कष्ट हुआ। अब सुनो। ये दोनों योग मैं ही कहे हैं।

(3.35) हे वीरश्रेष्ठ! इस संसार में ये दोनों अनादिसिद्ध मार्ग मुझसे ही प्रकट हुए है।

(3.36) एक को ज्ञानयोग कहते है, जिसका ज्ञानी आचरण करते हैं और जिससे ज्ञान होते ही ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है।

(3.37) दूसरा कर्मयोग कहलाता है जिसमें निपुण हो साधकजन अवकाश से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(3.38) वैसे तो ये दो मार्ग है, परन्तु अन्त में एक हो जाते है। जैसे बने हुए भोजन से निदान में एक तृप्ति ही होती है,

(3.39) अथवा जैसे पूर्व पश्चिम बहती हुई नदियाँ प्रवाह में भिन्न दिखाई देती है परन्तु समुद्र में मिलने से निदान में एक ही हो जाती है,

(3.40) वैसे ही ये दोनों मार्ग एक ही हेतु की सूचना करते है। परन्तु इनकी उपासना साधकों की योग्यता पर निर्भर है।

(3.41) देखो, उड़ान मारते हुए पक्षी फल से झूम जाता है परन्तु मनुष्य उस तक उसी वेग से कैसे पहुँच सकता है?

(3.42) वह धीरे-धीरे इस डाल पर से उस डाल पर होता हुआ, किसी काल में, निश्चय से पहुँचेगा।

(3.43) वैसे ही ज्ञानी-जन विहंगम-मार्ग से ज्ञान का आश्रय करके तत्काल मोक्ष को अपने अधीन करते है,

(3.44) और अन्य योगी कर्म के आधार से वेदविहित स्वधर्माचरण करते हुए योग्य काल में पूर्णता को पहुँचते हैं।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ 3.4 ॥

(3.45) वस्तुतः उचित कर्म का आरम्भ न करते हुए कर्महीन मनुष्य सिद्धि के तुल्य निश्चय से नहीं हो सकता।

(3.46) हे अर्जुन! यह कहना, कि विहित कर्म का त्याग करने से ही निष्कर्मता प्राप्त हो जाती है, व्यर्थ और मूर्खता है।

(3.47) कहो, पार जाने का जहाँ संकट उपस्थित है वहाँ नाव का त्याग कैसे किया जा सकता है?

(3.48) अथवा तृप्ति की इच्छा हो तो रसोई क्योंकर न बनाई जाय, अथवा बनी हुई हो तो क्योंकर न खाई जाय?

(3.49) जब तक निरिच्छता उत्पन्न नहीं होती तब तक व्यापार होता ही रहता है और सन्तुष्टता प्राप्त होते ही सहज में बन्द हो जाता है।

(3.50) इसलिए हे पार्थ! सुनो, जिसको नैष्कर्म्य अथवा परमहंसपद की इच्छा ही उसे उचित कर्म बिलकुल त्याज्य नहीं हैं।

(3.51) इसके अलावा, "कर्म ऐसा है कि अपने इच्छानुसार करने से होता है और छोड़ देने से छूट जाता है"

(3.52) यह उक्ति भी व्यर्थ और स्वच्छंद है। अनुभव करके देखो तो निश्चित रूप से जान लोगे कि छोड़ने से कर्म नहीं छूटता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ 3.5 ॥

(3.53) जब तक माया का आश्रय है तब तक यह समझना कि मैं कर्म का त्याग तथा ग्रहण कर सकता हूँ केवल अज्ञान है, क्योंकि यह चेष्टा स्वभावतः गुणों के अधीन रहती है।

(3.54) देखो, जितने कुछ विहित कर्म है, उन्हें यद्यपि कोई छोड़ दे तथापि क्या इन्द्रियों के स्वभाव छूट सकते है?

(3.55) कानों का श्रवण करना क्या बन्द हो सकता है, अथवा क्या नेत्रों का प्रकाश चला जा सकता है? यह नासारन्ध्र क्या बन्द हो सूँघ नहीं सकता?

(3.56) अथवा प्राण और अपान वायु की गति बन्द हो सकती है? बुद्धि क्या संकल्प-विकल्परहित हो सकती है? या क्षुधा-तृषा इत्यादि इच्छाओं का नाश हो सकता है?

(3.57) सोना और जागना बन्द हो सकता है? अथवा क्या पाँव चलना भूल सकते है? और तो क्या, जन्म-मरण बन्द हो सकते है?

(3.58) ये बातें यदि बन्द नहीं हो सकती, तो त्याग किस कर्म का किय जा सकता है? सारांश, मायाधीन मनुष्यों से कर्म का त्याग नहीं हो सकता।

(3.59) कर्म पराधीनता के कारण प्रकृतिगुणों के हेतु उपजता है। इसलिए मन में यह समझना व्यर्थ है कि मैं कर्म करता हूँ या मैं कर्म का त्याग कर सकता हूँ।

(3.60) देखो, रथ में बैठो तो यदि निश्चल भी बैठो, तथापि परतंत्र होकर चलायमान हो घूमना पड़ता है,

(3.61) अथवा वायु से उड़ा हुआ सूखा पत्ता जैसे चलित होता और चैतन्यरहित हो आकाश में घूमता है,

(3.62) वैसे ही प्रकृति के आधार से और कर्मेन्द्रियों के विकार से निष्काम पुरुष भी निरन्तर व्यापार करता है।

(3.63) अतएव जब तक प्रकृति का संग है तब तक कर्म का त्याग नहीं हो सकता। इस पर भी जो कहते हों कि हम कर सकते हैं उनका केवल आग्रह ही है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ 3.6 ॥

(3.64) जो उचित कर्म छोड़ देते हैं और फिर कर्मेन्द्रिय-प्रवृत्ति का दमन करके कर्मविमुक्त हुआ चाहते है

(3.65) उनसे कर्मत्याग नहीं हो सकता क्योंकि उनके मन में कर्म करने की अभिलाषा रह जाती है। जो ऊपर की दिखावट है वह सचमुच विडंबना है।

(3.66) हे पार्थ! यह निस्सन्देह सत्य समझो कि ऐसे पुरुष सर्वदा विषयासक्त रहते हैं।

(3.67) हे धनुर्धर! अब ध्यान दो, हम तुम्हें प्रसंगानुसार निरिच्छ मनुष्य का लक्षण बतलाते हैं।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ 3.7 ॥

(3.68) जिसका अन्तःकरण निश्चल रहता है, जो परमात्मा के स्वरूप में निमग्न रहता है और बाह्यतः जैसा लोकाचार हो वैसा आचरण करता है,

(3.69) वह इन्द्रियों की आज्ञा नहीं करता, विषयों का भय नहीं रखता और जो उचित कर्म जिस समय करना अवश्य हो, उसका त्याग नहीं करता।

(3.70) कर्मेन्द्रियाँ कर्म में व्यापार करती हों तथापि वह उनका नियमन नहीं करता, परन्तु कभी उनके विकारों के अधीन नहीं होता।

(3.71) वह किसी भी कामना के वश नहीं होता और मोह-मल में लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से नहीं भीगता।

(3.72) वैसे ही, पानी में सूर्य-बिम्ब के समान, वह संसार में रहता है और सब के समान दिखाई देता है;

(3.73) परन्तु सामान्यतः देखने से ही वह साधारण मनुष्य के समान दिखाई देता है। अन्यथा विचार कर देखने से भी उसकी स्थिति जानी नहीं जा सकती।

(3.74) ऐसे लक्षणों से जो चिह्नित हो उसी को मुक्त और आशापाश-रहित समझो।

(3.75) हे अर्जुन! जगत् में जिस की विशेष कीर्ति होती है, ऐसा योगी वहीं है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम ऐसे ही योगी बनो।

(3.76) मन का नियमन करो और अन्तःकरण में निश्चल रहो, फिर चाहे कर्मेन्द्रिय सुख से व्यापार करती रहें।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ 3.8 ॥

(3.77) अतः जब कर्मरहित होने की सम्भावना नहीं हो सकती तो फिर विचार करो कि निषिद्ध कर्मों का आचरण क्यों किया जाय?

(3.78) इसलिए जो जो उचित हो और अवसर से प्राप्त हुआ हो उस कर्म का, फल हेतु छोड़कर, आचरण करो।

(3.79) हे पार्थ! एक और कुतूहल है जो तुम नहीं जानते। वह यह कि कर्म ही अपने आप कर्म की मुक्ति का कारण होता है।

(3.80) देखो, वर्णाश्रम के आधार से जो स्वकर्म का आचरण करते हैं वे उस चेष्टा के द्वारा निश्चय से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ 3.9 ॥

(3.81) स्वधर्म को ही नित्ययज्ञ समझो। इसलिए उसका आचरण करने से पाप का संचार नहीं होता।

(3.82) यह स्वधर्म जब छूट जाता है और कुकर्म की प्रवृत्ति होती है तभी संसार का बन्धन होता है।

(3.83) इसलिए जो स्वधर्म का आचरणरूपी अखण्ड यज्ञ करता है उसको कर्मबन्धन नहीं हो सकता।

(3.84) यह संसार जो कर्म से बँधा है और प्रकृति को भूल जाता है उसका कारण यह है कि वह नित्ययज्ञ करना भूलता है।

(3.85) अब हे पार्थ! मैं इस विषय में तुम से एक कथा कहता हूँ। जब ब्रह्मदेव मे सृष्टि इत्यादि की रचना की।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ 3.10॥

(3.86) तब उस समय सम्पूर्ण प्राणियों के साथ ही नित्ययज्ञ भी उत्पन्न किया, परन्तु गूढ़ होने के कारण उन्होंने उस यज्ञ को नहीं पहचाना।

(3.87) अतः प्रजागण ने ब्रह्मदेव की बिनती की कि हे देव! हमें यहाँ क्या आश्रय है। तब उन कमलजन्मा ब्रह्मदेव ने प्राणियों से कहा कि

(3.88) हमने तुम्हारी वर्णव्यवस्था के अनुसार स्वधर्म की रचना की है। इसकी उपासना करो तो तुम्हारे मनोरथ सहज ही पूर्ण होंगे।

(3.89) तुम चाहे व्रत नियम आदि मत करो, शरीर को पीड़ा न दो, तीर्थ के लिए दूर कहीं न जाओ,

(3.90) योगादिक साधन, किसी कामना के लिए आराधन, और तान्त्रिक अनुष्ठान न करो;

(3.91) दूसरे देवताओं को न भजो; ये बातें बिलकुल कुछ भी न करो किन्तु बिना कष्ट के स्वधर्मरूपी यज्ञ का यजन करो।

(3.92) इसका निष्काम चित्त से अनुष्ठान करो। जैसे पतिव्रता पति की सेवा करती है

(3.93) वैसे ही स्वधर्मरूपी यज्ञ भी तुम्हारा सेव्य है। सत्यलोकनायक ब्रह्मदेव ने और भी कहा

(3.94) कि हे प्रजागण! स्वधर्म की उपासना करोगे तो वह तुम्हारी कामधेनु बनेगा और कभी तुम्हारा त्याग न करेगा।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ 3.11 ॥

(3.95) जब इस स्वधर्म की सेवा से सम्पूर्ण देवताओं को सन्तोष होगा तब वे तुम्हारे इष्ट हेतु पूर्ण करेंगे।

(3.96) स्वधर्म का आदर करने से सब देवतागण निश्चय ही तुम्हारा योगक्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु का पालन) करेंगे।

(3.97) और जब आपस में ऐसा प्रेम उपजेगा कि तुम देवों का भजन करो और देव तुम पर सन्तुष्ट हों।

(3.98) तब तुम जो कुछ करना चाहोगे सो आप ही सिद्ध हो जायगा, मन की कामनाएँ पूर्ण हो जावेंगी,

(3.99) वाचासिद्धि प्राप्त होगी, तुम आज्ञाकर्ता बनोगे और महाऋद्धि तुम्हारी आज्ञा मानेगी।

(3.100) जैसे वनशोभा, फल-भार और लावण्य सहित सदा वसन्त ऋतु के द्वार का आश्रय करती है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ 3.12 ॥

(3.101) वैसे ही मूर्तिमान दैव ही सुख सहित तुम्हारी खोज करता हुआ चला आवेगा।

(3.102) इस प्रकार, निरिच्छ हो एक स्वधर्म में ही लगे हुए बर्ताव करने से तुम सम्पूर्ण उपभोगों से संपन्न हो जावोगे।

(3.103) अन्यथा, सकल संपत्ति हाथ लगने पर जो विषयों के स्वाद से लुब्ध हो उन्मत्त इन्द्रियों की आज्ञा में चलता है;

(3.104) जो यज्ञ से सन्तुष्ट किये हुए देवताओं की दी हुई संपत्ति से सर्वेश्वर स्वधर्म की पूजा नहीं करता;

(3.105) जो अग्नि में हवन नहीं करता, देवताओं की पूजा नहीं करता, यथा-काल ब्राह्मणों को भोजन नहीं देता,

(3.106) गुरुभक्ति से विमुख होता है, अतिथि का सत्कार नहीं करता और अपनी जाति को संतोष नहीं देता,

(3.107) ऐसा जो स्वधर्म-कर्मरहित, संपत्ति के कारण साभिमान और केवल भोगों में निमग्न होता है

(3.108) उसे ऐसा बड़ा अपाय प्राप्त होता है कि जिससे गाँठ की संपूर्ण संपत्ति चली जाती है और प्राप्त किये हुए भोगों का उपभोग भी नहीं मिल सकता।

(3.109) जैसे आयुष्य बीते हुए शरीर में जीवात्मा नहीं रहता अथवा अभागे के घर में जैसे लक्ष्मी नहीं रहती,

(3.110) वैसे ही स्वधर्म का लोप हो जाय तो सब सुख का आश्रयस्थान ही टूट जाता है। जैसे दीपक बुझते ही प्रकाश का लोप हो जाता है

(3.111) वैसे ही ब्रह्मदेव ने कहा - हे प्रजागण! यह सत्य वचन सुनो कि जब निज की धर्मवृत्ति छूट जाती है तब वहाँ स्वतंत्रता निवास नहीं करती।

(3.112) इसलिए जो स्वधर्म का त्याग करेगा उसे काल दण्ड देगा, और उसे चोर समझकर उसका सर्वस्व हर लेगा।

(3.113) फिर सब के सब दोष उसे चारों ओर से घेर लेंगे। जैसे रात्रि के समय भूत श्मशान को घेर लेते हैं

(3.114) वैसे ही तीनों भुवनों के दुःख और नाना प्रकार के पाप और सम्पूर्ण दरिद्रता उस पुरुष में निवास करती है।

(3.115) हे प्राणिगण! जब उस उन्मत्त की ऐसी दशा होती है तो वह कल्पान्त तक रोने-पीटने से भी सर्वथा नहीं छूटती।

(3.116) इसलिए आत्मवृत्ति न छोड़ो और इन्द्रियों को बहकने मत दो।

(3.117) पानी जलचरों को त्याग दे तो जैसे तत्काल उनकी मृत्यु होती है, वैसी ही दशा स्वधर्म को भूलने वाले की भी होती है। (इसलिए स्वधर्म को भूल न जाना)

(3.118) अतएव हम बारबार कहते है कि तुम सब को अपने अपने उचित कर्मों में तत्पर होना चाहिए।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ 3.13॥

(3.119) देखो, जो प्राप्त की हुई सम्पत्ति का निष्काम बुद्धि से विहित कर्मानुष्ठान में उपयोग करता है;

(3.120) गुरु, गोत्र और अग्नि की पूजा करता है, यथाकाल ब्राह्मणों की सेवा करता है, पितरों के हेतु श्राद्धादिक यज्ञों का यजन करता है;

(3.121) और इस उचित यज्ञक्रिया से यज्ञ का हवन कर सहज ही जो कुछ हवन-सामग्री शेष रह जाय

(3.122) उसका अपने घर में कुटुम्बियों के साथ सुख से भोजन करता है, उसके सब पापों का वह यज्ञशेष नाश करता है।

(3.123) वह यज्ञ में बचे हुए अन्न का भोजन करता है इसलिए, जैसे अमृत का सेवन किये हुए पुरुष से महारोग दूर भागते है, वैसे ही पाप उस के समीप नहीं जाते।

(3.124) अथवा जैसे ब्रह्मनिष्ठ मनुष्य को भ्रान्ति का लेश भी नहीं छू सकता वैसे ही उस यज्ञावशिष्ट के भोजन करने वाले को पाप वश में नहीं कर सकते।

(3.125) इसलिए स्वधर्म से जो कुछ सम्पादन किया जाय उसका खर्च स्वधर्मानुसार ही करना चाहिए और फिर जो बचे उसका सन्तोष से उपभोग करना चाहिए।

(3.126) हे पार्थ! इसके सिवाय और किसी रीति से चलना उचित नहीं। ऐसी यह आद्यकथा श्री मुरारि ने कही।

(3.127) जो देह को ही आत्मा मानते है और विषयों को भोग्य समझते है तथा इसके सिवाय और कुछ नहीं जानतें;

(3.128) जो यह न जानकर कि सब जगत् यज्ञ की सामग्री है, भूल से तथा केवल अहंकार-बुद्धि ही से इसका उपभोग किया चाहते है

(3.129) और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार भले-भले भोजन बनवाते हैं वे पापी-गण पापों का सेवन करते हैं।

(3.130) यह सब सम्पत्ति केवल हवन की सामग्री समझनी चाहिए और उसे स्वधर्मरूपी यज्ञ के द्वारा ही परमेश्वर को अर्पण करना चाहिए।

(3.131) यह न करके मूर्ख लोग केवल अपने लिए नाना प्रकार के भोजन बनाते है।

(3.132) जिस अन्न से यज्ञ सिद्ध होता है और परमेश्वर सन्तुष्ट होता है वह सामान्य अन्न नहीं है। इसलिए

(3.133) इसे साधारण अन्न न समझ कर ब्रह्मरूप समझना चाहिए; क्योंकि यह सकल जगत् के जीवन का हेतु है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ 3.14 ॥

(3.134) अन्न से सम्पूर्ण प्राणिमात्र की वृद्धि होती है और अन्न को सर्वत्र पर्जन्य उपजाता है।

(3.135) पर्जन्य का जन्म यज्ञ से होता है और यज्ञ को कर्म प्रकट करता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ 3.15 ॥

कर्म का उत्पत्तिस्थान वेदरूप ब्रह्म है।

(3.136) और वेदों को परात्पर अविनाशी ब्रह्म उत्पन्न करता है, एवं यह सब चराचर ब्रह्म के अधीन है।

(3.137) परन्तु हे सुभद्रापति! कर्म की मूर्ति जो यज्ञ है वहीं श्रुति का निरन्तर निवास है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ 3.16 ॥

(3.138) हे धनुर्धर! यह यज्ञसम्बन्धी आदि परम्परा हमने तुम्हें संक्षेप से कह सुनाई;

(3.139) एवं जो उन्मत्त पुरुष इस संसार में सर्वथा उचित स्वधर्मरूपी यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता,

(3.140) और जो कुकर्म के द्वारा इन्द्रियों के उपयोगी होता है उसे पातकों की राशि और भूमि का केवल भारभूत जानो।

(3.141) उसका सकल जन्म और कर्म अत्यन्त निष्फल जानो। जैसे अकालिक आये हुए मेघ,

(3.142) अथवा बकरी के गले के थन व्यर्थ है वैसा ही स्वधर्मानुसार आचरण न करनेहारे का जीवन जानो।

(3.143) इसलिए हे पाण्डव! सुनो, स्वधर्म किसी को न छोड़ना चाहिए। सम्पूर्ण भावों में इसी एक की सेवा करनी चाहिए।

(3.144) अजी, यदि शरीर है तो उसके साथ कर्तव्य सहज ही प्राप्य है, तो फिर अपना उचित धर्म क्यों छोड़ा जाय?

(3.145) हे सव्यसाची! मनुष्यदेह पाकर जो कर्म का आलस करते है उन्हें मूढ समझना चाहिए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 3.17 ॥

(3.146) देखो, देहधर्म उपस्थित रहते भी कर्म से वही एक पुरुष लिप्त नहीं होता जो निरन्तर आत्म-स्वरूप में रमण करता है।

(3.147) वह आत्मबोध से सन्तुष्ट हो जाता है इसलिए कृतार्थ हो बैठता है, और सहज ही कर्म के संग से मुक्त हो जाता है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ 3.18 ॥

(3.148) जैसे तृप्ति होने पर उसके सब साधन आप ही आप बन्द हो जाते है, वैसे ही स्वरूपानन्द प्राप्त होने पर कर्म भी नहीं रहते।

(3.149) हे अर्जुन! मन को जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तभी तक साधनों के आचरण की आवश्यकता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ 3.19 ॥

(3.15) इसलिए तुम सर्वदा सब कामनाओं से रहित होकर उचित स्वधर्म का आचरण करो।

(3.151) जिन्होंने निष्काम बुद्धि से स्वधर्म का आचरण किया है, उन्हें संसार में परमार्थतः कैवल्यपद प्राप्त हुआ है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ 3.20 ॥

(3.152) देखो, जनक इत्यादि सत्पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का त्याग न करते मोक्षपद को पहुँचे हैं।

(3.153) इसलिए हे पार्थ! कर्म की आस्था आवश्यक है। इससे एक प्रकार का और उपयोग होगा।

(3.154) वह यह है कि हमें कर्म का आचरण करते देखकर संसार को नसीहत मिलेगी और अनायास उसके दुःख टल जायेंगे।

(3.155) देखो, जो कृतार्थ हो चुके है और जिन्हें निष्कामता प्राप्त हो चुकी है उन्हें भी लोगों के लिए कर्तव्य बाकी रह जाता है।

(3.156) अन्धे को रास्ते से ले जानेवाला नेत्रवान् मनुष्य भी उसी जैसा चलता है वैसे ही अज्ञानी लोगों के लिए धर्म का ज्ञान आचरण द्वारा प्रकट करना चाहिए।

(3.157) अजी, यदि ऐसा न हो तो अज्ञानी लोग क्या जान सकेंगे? उन्हें इस मार्ग का किस प्रकार ज्ञान होगा?

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ 3.21 ॥

(3.158) संसार में श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते है उसी को सब सामान्य जन धर्म समझते है और वैसा ही आचरण करते है।

(3.159) यह बात स्वाभाविक है। इसलिए सन्तों को भी कर्म का त्याग न करते उसका विशेषतः आचरण करना पड़ता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ 3.22 ॥

(3.160) अब दूसरों की बातें क्या कहूँ? हे किरीटी! देखो, मैं भी इसी मार्ग से चलता हूँ।

(3.161) क्या मुझ पर कुछ संकट पड़ा है? अथवा यदि यह समझा जाय कि मैं कोई एक इच्छा रख कर धर्म का आचरण करता हूँ,

(3.162) तो तुम्हें तो मालूम है कि मैं इतना समर्थ हूँ कि पूर्णता के विषय संसार में मुझसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।

(3.163) मैंने अपने मरे हुए गुरुपुत्र को जीवित कर लिया। इस प्रकार मेरा माहात्म्य तुमने देखा। पर वही मैं, कुछ इच्छा न रहते भी, कर्म का आचरण करता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ 3.23 ॥

(3.164) हम स्वधर्म का इस प्रकार आचरण करते हैं जैसा कि कोई साभिलाष मनुष्य करता है; और वह इसीलिए कि जिसमें

(3.165) इन प्राणिगणों से, जो केवल हमारे अधीन रहते है, भूल न हो जाय।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ 3.24 ॥

(3.166) यदि हम पूर्णकाम हो अपनी ब्रह्मस्थिति में रहेंगे तो सब प्रजा का किस प्रकार निभाव होगा?

(3.167) हमारे आचरण का मार्ग देखकर अपने आचरण की रीति सीखने का जो इस लोगों का लोकाचार है सो सब नष्ट हो जावेगा।

(3.168) अतएव विशेषतः जो संसार में समर्थ और सर्वज्ञ का सम्पन्न है उसे कर्म का त्याग करना उचित नहीं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ 3.25 ॥

(3.169) देखो, कामुक मनुष्य फल की आशा से जैसा आचरण करता है निरिच्छ पुरुष को भी कर्म में वैसा ही प्रेम होना चाहिए।

(3.170) क्योंकि, हे पार्थ! इस सब लोकस्थिति की बारम्बार और हर तरह से रक्षा करना आवश्यक है।

(3.171) इसलिए कर्ममार्ग के आधार से चलना चाहिए, तथा संसार को भी सन्मार्ग में लगाना चाहिए; परन्तु लोगों की दृष्ट में अलौकिक नहीं बनना चाहिए।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ 3.26 ॥

(3.172) जिस बालक के लिए स्तनपान करना भी कठिन है वह पक्वान्न का भोजन कैसे कर सकता है? इसलिए, हे धनुर्धर! जैसे उसे पक्वान्न देना उचित नहीं

(3.173) वैसे ही कर्म के विषय जिनका अधिकार नहीं है उनसे नैष्कर्म्यता की श्रेष्ठता की बातें करना हँसी में भी उचित नहीं है।

(3.174) उन्हें सत्कर्म ही बताना चाहिए। उस एक बात की प्रशंसा करनी चाहिए। इतना ही नहीं वरन् निष्कर्म लोगों को उस सत्कर्म का आचरण भी करके बताना चाहिए।

(3.175) वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के हेतु कर्म का व्यवहार करने से उन्हें कर्मबन्ध नहीं लगता।

(3.176) राजा-रानी-वेषधारी बहुरूपिये पुरुष-स्त्री भाव मन में नहीं रखते, केवल लोगों की दृष्टि ही बदल देते है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ 3.27 ॥

(3.177) हे धनुर्धर! देखो, यदि दूसरे का बोझा अपने सिर लिया जाय तो क्या वह भारी न लगेगा?

(3.178) वैसे ही प्रकृति के धर्म से जो भले-बुरे कर्म उपजते हैं मूर्ख लोग बुद्धि के भ्रम के कारण निज को ही उनका कर्ता समझते है।

(3.179) ऐसे जो अहंकार से भरे हुए, केवल देह को आत्मा समझनेवाले मूर्ख है, उनपर इस गहन परमार्थ को प्रकट करना उचित नहीं।

(3.180) अब सम्प्रति तुम्हें एक हितकारी बात बताते है; हे अर्जुन! ध्यान देकर सुनो।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ 3.28 ॥

(3.181) जिसके कारण कर्म उत्पन्न होते है वह देह-भाव जिन तत्त्वज्ञानियों का नष्ट हो जाता है

(3.182) वे देह का अभिमान छोड़कर और गुण और कर्म के परे हो देह में प्रकृति के साक्षी हो व्यवहार करते हैं।

(3.183) इसलिए यद्यपि वे शरीर धारण करते है तथापि कर्म से बद्ध नहीं होते, जैसे कि प्राणियों की चेष्टा से सूर्य लिप्त नहीं होता।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ 3.29 ॥

(3.184) संसार में कर्म से वही लिप्त होता है जो गुणों के भ्रम के वश हो जाता है और प्रकृति के अधीन हो व्यवहार करता है,

(3.185) और इन्द्रियगण गुणों के आधार से जो अपने-अपने व्यवहार करते हैं तद्रूपी पराया कर्म जो बलात् आप ही अंगीकार करता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ 3.30॥

(3.186) अतएव तुम सब उचित कर्मों का आचरण कर उन्हें मुझे अर्पण करो परन्तु चित्त की वृत्ति आत्मा के स्वरूप में लगा रक्खो।

(3.187) और चित्त में कभी इस अभिमान का प्रवेश न होने दो कि यह कर्म है, मैं कर्ता हूँ अथवा अमुक फल के हेतु मैं इस कर्म का आचरण करूँगा।

(3.188) शरीर के अधीन मत हो, कामना सब छोड़ दो और फिर अवसर से प्राप्त हुए सब भोग भोगों।

(3.189) अब अपना धनुष हाथ में लेकर रथ पर चढ़ो और समाधान-पूर्वक वीरवृत्ति का स्वीकार करो,

(3.190) संसार में कीर्ति फैलावो, स्वधर्म का सम्मान बढ़ाओ और पृथ्वी को इस बोझ से मुक्त करो।

(3.191) अब हे पार्थ! निःशंक हो जाओ और इस संग्राम में चित्त दो। इसके सिवाय इस समय और कुछ उचित नहीं है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ 3.31 ॥

(3.192) हे धनुर्धर! यह मेरा निश्चित मत जो अत्यन्त आदर के साथ स्वीकारेंगे और श्रद्धापूर्वक उसका आचरण करेंगे

(3.193) उन्हें भी, यद्यपि वे कर्मों में व्यवहार करते हो, तथापि, कर्म-रहित समझों। अतएव यह उपदेश निश्चय से आचरण करने के योग्य है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ 3.32 ॥

(3.194) अन्यथा, यह भी निश्चय जानो कि जो प्रकृति के अधीन हो इन्द्रियों को दुलरा कर मेरे मत का अनादर करके त्याग कर देते हैं, जो उसे सामान्य समझते है, उसकी अवज्ञा करते है, अथवा ऐसी बक करते है कि यह स्तुति वाक्य है

(3.196) वे मोह की मदिरा से मत-वाले अथवा विषयरूप विष से सने हुए अथवा अज्ञानरूप कीचड़ में फँसे हुए है।

(3.197) मृत मनुष्य के हाथ में रक्खा हुआ रत्न जैसा वृथा है, अथवा जन्मान्ध को जैसे प्रकाश प्रमाणित नहीं होता,

(3.198) अथवा चन्द्र का उदय जैसे कौवे को उपयोगी नहीं होता, वैसे ही यह विवेक मूर्ख मनुष्य को नहीं भाता।

(3.199) उसी प्रकार हे पार्थ! जो इस परमार्थ से विमुख है उनसे सम्भाषण ही न करना चाहिए।

(3.200) क्योंकि वे इसे नहीं मानते और इसकी निन्दा भी करने लगते है। कहो प्रकाश क्या पतंगों से सहा जाता है?

(3.201) पतंग दीपक को आलिंगन देता है तो जैसे उसकी अवश्य ही मृत्यु हो जाती है वैसे ही विषयों के आचरण से आत्मनाश हो जाता है।

> सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
> प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ 3.33 ॥

(3.202) एवं इन्द्रिय एक ऐसी वस्तु है जिसको महत्व देकर कुतूहल से लालन करना ज्ञानी मनुष्यों को कभी उचित नहीं।

(3.203) अजी, क्या सर्प के साथ कोई खेल सकता है? अथवा क्या व्याघ्र का सहवास निभ सकता है? कहो, क्या हलाहल विष पीने से पच सकता है?

(3.204) देखो, खेलते-खेलते यदि आग लग जाय तो वह भड़क उठती है और फिर सँभाली नहीं सँभलती, वैसे ही इन्द्रियों का लालन करना भला नहीं होता।

(3.205) इसके अतिरिक्त हे अर्जुन! इस पराधीन शरीर के लिए अनेक प्रकार के विषय-भोग क्यों सम्पादन किये जायँ?

(3.206) अनेक आयास करके, रात और दिन सम्पूर्ण सम्पत्ति मिलाकर, क्या हम लोगों को इस देह का ही प्रतिपाल करते रहना चाहिए?

(3.207) सब तरह से कष्ट करके सकल समृद्धि सम्पादन की जाय वह क्या इसलिए की स्वधर्म छोड़ इस शरीर का पोषण हो?

(3.208) तो फिर जब ये पंचभूतों का समूह अन्त में पंचत्व में मिल जायगा उस समय हमें हमारे किये हुए कष्ट का फल खोजते कहाँ मिलेगा?

(3.209) अतएव केवल शरीर के पोषण को स्पष्ट हानि ही समझो। इसमें चित्त लगाना उचित नहीं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ 3.34 ॥

(3.210) साधारणतः इन्द्रियों के इच्छानुसार विषयों का पोषण करने से सचमुच चित्त में सन्तोष उत्पन्न होता है।

(3.211) परन्तु वह मानों साहुरूपी चोर की संगति है, जो जब तक नगर की सीमा नहीं छूटती तब तक ही स्वस्थ रहता है।

(3.212) हे तात! विष की मधुरता आरम्भ में चित्त में प्रीति उत्पन्न करती है परन्तु परिणाम पूछो तो प्राण हर लेती है।

(3.213) देखो, इन्द्रियों में जो काम है वह सुख की दुराशा लगा देता है, जैसे बनसी में लगा हुआ मांस मीन को भुला देता है।

(3.214) जैसे काँटा अदृष्ट होने के कारण मीन यह नहीं जान सकता कि उस बनसी में लगे हुए मांस के भीतर प्राणहारक काँटा है

(3.215) वैसी ही दशा अभिलाष के कारण मनुष्य की होती है। विषयों की आशा रखने से मनुष्य क्रोधाग्नि के अधीन हो जाता है।

(3.216) जैसे बहेलिया मृग को, मारने के लिए जान बूझकर, अपने निशान के सामने घेर लाता है

(3.217) वैसा ही हाल इन विषयों का है। इसलिए हे पार्थ! इनका संग तुम्हें उचित नहीं। काम और क्रोध दोनों को घातक समझो।

(3.218) अतएव इनका आश्रय भी न करना चाहिए। मन में इनका स्मरण भी न करना चाहिए। एक आत्मवृत्ति की आर्द्रता मात्र कभी नष्ट न होने देना चाहिए।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ 3.35 ॥

(3.219) अजी, अपना स्वधर्म यद्यपि कठिन भी हो तथापि उसी का आचरण करना भला है।

(3.220) अन्य पराया आचार देखने में कितना ही अच्छा हो तथापि आचरण करने वाले को चाहिए कि अपने ही धर्म का आचरण करे।

(3.221) शूद्र के घर सब अच्छे-अच्छे पक्वान्न हो तो क्या दरिद्री ब्राह्मण को खा लेना चाहिए?

(3.222) ऐसी अनुचित बात क्यों की जाय? जो वस्तु ग्रहण करने के योग्य नहीं है उसकी इच्छा क्यों करनी चाहिए?

(3.223) लोगों के मनोहर महल देखकर अपने बने बनाये फूस के झोंपड़े क्यो तोड़ डालने चाहिए?

(3.224) और रहने दो, अपनी स्त्री यद्यपि कुरूपा हो तथापि जैसे उसी को भोगना भला है

(3.225) वैसे ही स्वधर्म कितना ही कठिन हो, आचरण के लिए दुर्घट हो, तथापि परलोक में वही सुखकारी होता है।

(3.226) अजी, खाँड़ और दूध मधुरता में प्रसिद्ध हैं परन्तु कृमि-दोष वाले के विरुद्ध है। वह उन्हें कैसे पी सकता है?

(3.227) इस पर भी यदि पिये तो उसका आग्रह ही है। क्योंकि, हे धनुर्धर! परिणाम में वह हितकारी नहीं होता।

(3.228) इसलिए यदि अपना हित विचारना हो तो दूसरों को जो विहित है और हमारे लिए अनुचित है, उसका आचरण कदापि न करना चाहिए।

(3.229) इस स्वधर्म का अनुष्ठान करते-करते यदि जीवित का नाश हो जाय तो भी वह दोनों लोकों में बहुत श्रेष्ठ समझा जाता है।

(3.230) इस प्रकार जब सम्पूर्ण देवों के मुकुटमणि शार्ङ्गपाणि बोले तब अर्जुन कहने लगा कि हे देव! एक विनती है।

(3.231) यह जो कुछ आपने कहा सो मैंने खूब सुन लिया, परन्तु अब कुछ अपने इच्छानुसार पूछता हूँ।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ 3.36 ॥

(3.232) हे देव! ऐसा क्यों होता है कि ज्ञानियों की भी स्थिति बिगड़ जाती है और वे सन्मार्ग को छोड़ अन्य मार्ग से चलते हुए दिखाई देते है?

(3.233) जो सर्वज्ञ होते है और ये उपाय भी जानते हैं वे भी किस गुण के कारण अपना धर्म छोड़कर परधर्म का व्यभिचार करते हैं?

(3.234) बीज और भूसे की छाँट जैसे अन्धा नहीं कर सकता वैसे ही क्षण भर नेत्रवान् मनुष्य भी क्यों भूल जाता है?

(3.235) जो बना बनाया संग छोड़ देते है वे पुनः संग करते हुए भी तृप्त नहीं होते; वनवासी भी नगर में आ रहते है;

(3.236) छिप करके सब तरह से पापों को टाला देते है परन्तु बलात्कार से फिर उन्हीं पापों में लग जाते हैं;

(3.237) जो जिस बात से घृणा करता है वही जी से लग बैठती है, और उसे टाला देने का यत्न करने से वह फिर उसे खोज लेती है;

(3.238) ये बातें किसी जबरदस्त गुण के आग्रह से होती हुई दिखाई देती है। यह कौन-सा गुण है? हे हृषीकेश! बतलाइए।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ 3.37॥

(3.239) तब जो हृदय-कमल को सुख देने वाले है, योगी निरिच्छ होते हुए भी जिने लिए सकाम होते है, वे पुरुषोत्तम बोले - सुनो,

(3.240) ये काम और क्रोध हैं जिनके पास दयारूपी पूँजी नहीं रहती। ये काल की जगह माने जाते है।

(3.241) ये ज्ञानरूपी धन के सर्प है, विषयरूपी खोरे के बाघ है, भजन-मार्ग के घात करने वाले डोम है।

(3.242) ये देहरूपी किले के पत्थर है; इन्द्रिय-नगर के कोट है। संसार में इनका अज्ञान इत्यादिरूपी गदर मच रहा है।

(3.243) ये मन के रजोगुण से उत्पन्न हुए है, सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति के बने हुए है, और इनका धायीपन अविद्या ने किया है।

(3.244) ये रजोगुण से उत्पन्न हुए है, परन्तु तमोगुण के बड़े प्यारे हैं इसलिए तमोगुण ने इन्हें अपना पद अर्थात् भूल और मोह प्रदान किया है।

(3.245) मृत्युरूप नगर में ये श्रेष्ठ समझे जाते हैं, क्योंकि ये जीवन के शत्रु हैं।

(3.246) इन्हें खाने की इच्छा हो तो यह संसार इनके एक कौर के लिए भी बस नहीं होता। आशा इनका व्यापार चलाती है।

(3.247) जिसे चौदहों भुवन कुतूहल से मुट्ठी में दबाने के लिए थोड़े मालूम होते हैं वह भ्रान्ति इनकी प्यारी छोटी बहिन है।

(3.248) यह भ्रान्ति तीनों लोकरूपी रसोई का खेल खेलते-खेलते उसे सहज ही खा डालती है। इसके दासीपन के बल से तृष्णा जीवन धारण करती है।

(3.249) और तो क्या, मोह इन्हें मानता है, तथा अहंकार इन्हें आलिंगन दे भेंट देता है, जिससे वह सब संसार को अपने इच्छानुसार नचाता है।

(3.250) सत्य का गूदा निकालनेहारे और उसमें असत्यरूपी भुस भरनेहारे दम्भ को इन्हीं ने संसार में बसाया है।

(3.251) इन्होंने पतिव्रता शान्ति को लूट कर भिखमंगी माया को सिंगारा है और उससे साधुओं के समूहों को भ्रष्ट करवाया है।

(3.252) इन्होंने विवेक का आश्रय-स्थान तोड़ डाला है, वैराग्य का चमड़ा उधेड़ डाला है, और उपशम का जीते जी गला मरोड़ डाला है।

(3.253) इन्होंने सन्तोषरूपी वन काट डाला है, धैर्यरूपी किले गिरा दिये हैं, और आनन्दरूपी रोपे उखाड़ कर फेंक दिया है।

(3.254) इन्होंने ज्ञान के रोपे नोच डाले है, सुख का नाम ही मिटा दिया है और अन्तःकरण में त्रिविध तापों की आग उत्पन्न कर दी है।

(3.255) इन्होंने जब से शरीर धारण किया है तब से य हृदय से ही लगे हुए हैं परन्तु खोजने से ये ब्रह्मादि देवों के भी हाथ नहीं लगते।

(3.256) ये चैतन्य के पास ज्ञान की पंक्ति में बैठे हैं, इसलिए महाप्रलय करने के लिए प्रवृत्त होते हैं और किसी के रोके नहीं रुकते।

(3.257) ये प्राणियों को बिना पानी के डुबाते हैं, बिना अग्नि के जलाते हैं और न बोलते ग्रस लेते हैं।

(3.258) ये बिना शस्त्र के मारते हैं, बिना डोरी के बाँधते है, और ज्ञानियों का भी शर्तिया नाश करते है।

(3.259) ये बिना कीचड़ के गाड़ देते हैं, बिना पाश के फँसाते हैं, तथा बलाढ्यता में कोई इनका सामना नहीं कर सकता।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ 3.38॥

(3.260) जैसे चन्दन की जड़ में साँप लिपटा हुआ रहता है अथवा गर्भ जैसे गर्भ-वेष्टन की खोल से ढँका रहता है,

(3.261) अथवा प्रकाश के बिना सूर्य, धूम्र के बिना अग्नि, मल के बिना दर्पण जैसे कभी नहीं रहता,

(3.262) वैसे ही इनके बिना ज्ञान हमने अकेला नहीं देखा। जैसे बीज फोकले से ढका हुआ उत्पन्न होता है

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ 3.39॥

(3.263) वैसे ही ज्ञान यद्यपि शुद्ध है तथापि काम-क्रोध से आच्छादित रहता है, इसलिए वह अगाध हो बैठा है।

(3.264) पहले इन काम-क्रोधों को जीतना चाहिए तब ज्ञान हाथ आवेगा। तब तक राग-द्वेष के पराभव की सम्भावना नहीं होती।

(3.265) इनके मारने के लिए शरीर में जो बल लाया जाय वह आग में ईंधन जैसा इन्हीं का सहायक हो जाता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ 3.40 ॥

(3.266) तथा और जो-जो इस तरह के उपाय किये जायँ वे सब इन्हों के सहायक हो जाते है। इसलिए संसार में इन्होंने दृढ योगियों को भी जीत लिया है।

(3.267) ऐसे संकट में भी एक उपाय उत्तम है वह यदि तुम्हें अनुकूल हो तो बताता हूँ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ 3.41 ॥

(3.268) इनका पहला घोंसला इन्द्रियाँ हैं। यहीं से प्रवृत्ति कर्म उत्पन्न करती है। प्रथम उन इन्द्रियों को सर्वथा पराजित कर छोड़ो।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ 3.42 ॥

(3.269) ऐसा करने से मन की दौड़ बन्द हो जायगी और बुद्धि का छुटकारा हो जावेगा। इस प्रकार इन पापियों का ठाँव मिट जावेगा।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ 3.43 ॥

(3.270) ये दोनों यदि अन्तःकरण से निकाल दिये जायँ तो निश्चय से उनका नाश हो जाता है, जैसे किरण न हो तो मृगजल नहीं रह सकता।

(3.271) अतः यदि राग और द्वेष का नाश हो जाय तो ब्रह्मरूपी स्वराज्य हाथ आता है, और मनुष्य आप ही आत्मसुख भोगता है।

(3.272) यही गुरु और शिष्य की गुह्य बात है। यही जीव और ब्रह्म की भेंट है। यहाँ स्थिर होकर रहो, यहाँ से कभी मत उठो।

(3.273) हे राजा! सुनो, सम्पूर्ण सिद्धों के राजा, देवी लक्ष्मी के नाथ और देवों के देव ने इस प्रकार उपदेश किया।

(3.274) अब वे अनन्त फिर एक पुरातन कथा कहेंगे और फिर पाण्डुपुत्र अर्जुन प्रश्न करेगा।

(3.275) उस संवाद की योग्यता अथवा रसिकता की श्रेष्ठता से श्रोतागणों को श्रवणसुख का सुकाल होगा।

(3.276) मैं श्री-निवृत्ति का दास ज्ञानदेव कहता हूँ, हे तात! अपनी बुद्धि भली भाँति जागृत रखकर इस श्रीकृष्ण और पार्थ के संवाद का उपभोग लीजिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः।

चौथा अध्याय

(4.1) आज हमारी श्रवणेन्द्रिय के लिए दिन निकला है, क्योंकि उसे गीतारूपी धन दृग्गोचर हो रहा है। अब वह स्वप्नरूपी जगत् सत्य के मोल का दिखाई देता है।

(4.2) एक तो पहले ही यह कथा विवेक की है, ऊपर से जगच्छ्रेष्ठ श्रीकृष्ण उसकी निरूपण करते हैं और भक्तराज अर्जुन सुन रहे है।

(4.3) पंचम स्वर के साथ जैसे सुगन्ध का मेल हो जाय, अथवा सुगन्ध और सुस्वाद का मेल हो जाय वैसे ही यह कथा भी अत्यन्त मनोरंजक हुई है।

(4.4) कैसा विशाल भाग्य है! हमें मानों अमृत की गंगा प्राप्त हुई है, अथवा श्रोताओं के पूर्व तप ने ही फल का रूप धारण किया है।

(4.5) अब सब इन्द्रियों को श्रवण के घर में प्रवेश कर इस गीता नामक संवादसुख का उपभोग लेना चाहिए।

(4.6) अब मैं विशेष लम्बा चौड़ा प्रस्ताव छोड़ता हूँ और कृष्ण और अर्जुन दोनों परस्पर जो संवाद कर रहे थे उसका वर्णन करता हूँ।

(4.7) इस समय संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि अर्जुन बड़ा भाग्यशाली है जो श्रीनारायण उससे अत्यन्त प्रेम से संवाद करते हैं।

(4.8) जो बात उन्होंने पिता वसुदेव से न कही, जो माता देवकी को न बताई, जो भ्राता बलभद्र को भी न सुनाई वही गुप्त बात वे अर्जुन से कह रहे है।

(4.9) देवी लक्ष्मी जो इतनी समीप रहनेहारी उसने भी इस प्रेम का सुख नहीं देखा। आज श्रीकृष्ण के प्रेम का बल अर्जुन को ही मिला है।

(4.10) सनकादि ऋषियों की आशाएँ बहुतेरी बढ़ी हुई थी परन्तु वे भी इस प्रकार सफल न हुई।

(4.11) अर्जुन पर इस जगदीश्वर का प्रेम निरूपम दिखाई देता है। इसने कैसा सर्वोत्तम पुण्य किया है!

(4.12) अथवा जिसकी प्रीति के हेतु इस विदेही भगवान् ने व्यक्त रूप धारण किया है उसकी स्थिति मुझे इसके संग एकाकार हुई जान पड़ती है।

(4.13) प्रायः यह योगियों के हाथ नहीं आता, वेद के जाननेवालों के बुद्धिगत नहीं होता, और ध्यान की दृष्टि भी उस तक पहुँच नहीं सकती।

(4.14) ऐसा यह आत्मस्वरूप, अनादि और निश्चल है, परन्तु वही कैसा दयालु हो रहा है!

(4.15) जो त्रैलोक्यरूपी वस्त्र की तह है, अथवा आकार का परतीर है वही कैसा इस अर्जुन के प्रेम के अधीन हो रहा है।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ 4.1 ॥

(4.16) फिर देव ने कहा - हे पाण्डुसुत! यही योग हमने विवस्वत को बताया था परन्तु यह वार्ता बहुत दिनों की है।

(4.17) उस विवस्वान सूर्य ने यह सब योगस्थिति अच्छी तरह से वैवस्वत् मनु से निरूपित की।

(4.18) मनु ने स्वयं इस योग का अनुष्ठान किया और फिर इक्ष्वाकु को उसका उपदेश दिया। ऐसी यह पुरातन परम्परा विस्तृत हुई।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ 4.2 ॥

(4.19) तदनन्तर यह योग और भी कई राजर्षियों को ज्ञात हुआ परन्तु तब से अब साम्प्रतकाल में इसे कोई नहीं जानता।

(4.20) कारण यह है कि प्राणियों को विषयों की अभिरूचि है और शरीर पर ही प्रेम है, इसलिए वे आत्मज्ञान को भूल गये हैं।

(4.21) लोगों की आस्था और बुद्धि आड़े टेढ़े मार्ग में प्रवृत्त होती है, विषयों का सुख ही परम-प्राप्तव्य मालूम होता है, और जैसा जी है वैसी ही उपाधि उन्हें प्रिय हो रही है।

(4.22) साधारण बात यह है कि दिगम्बर लोगों की बस्ती में बहुमोल वस्त्रों का क्या काम है? कहो जन्मान्ध मनुष्य को सूर्य्य का क्या उपयोग है?

(4.23) अथवा बहिरों की सभा में गीत का कौन सम्मान करता है अथवा चोर को क्या कभी चाँदनी से प्रीति उत्पन्न होती है?

(4.24) देखो, चन्द्रोदय के पूर्व ही जिनकी आँखें फूट जाती हैं वे कौए चन्द्र को किस प्रकार पहिचान सकते है?

(4.25) इस प्रकार जो वैराग्य की हद देखने नहीं पाते, विवेक का नाम भी नहीं जानते वे मूर्ख ईश्वर तक कैसे पहुँच सकते है?

(4.26) इस प्रकार न जाने कैसे मोह बढ़ गया है। और बहुत-सा काल व्यर्थ व्यतीत हो गया है इसलिए इस लोक में यह योग लुप्त हो गया है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ 4.3 ॥

(4.27) वही योग हे कुन्तीसुत! आज मैंने तुमसे तत्त्वतः निरूपण किया। इसे मत भूलो।

(4.28) यह मेरे हृद्य का गुह्य है, परन्तु तुमसे क्योंकर छिपा सकता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्रेमी हो।

(4.29) हे धनुर्धर! तुम केवल प्रेम की मूर्ति हो, भक्ति के हृदय हो, मैत्री की जीवनकला हो,

(4.30) विश्वास से आश्रय हो। अतएव क्या तुम्हारे साथ प्रतारणा हो सकती है?

(4.31) यद्यपि हम युद्ध के लिए उद्यत हैं तथापि क्षण भर ठहरेंगे और यह गड़बड़ हो रही है तथापि पहले तुम्हारा अज्ञान दूर करेंगे।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ 4.4 ॥

(4.32) तब अर्जुन ने कहा - हे श्री हरि! सुनिए। माता अपने बालक पर स्नेह करती है, तो हे कृपानिधे उसमें क्या आश्चर्य है?

(4.33) आप संसार से तप्त हुए लोगों के लिए छाया हैं, अनाथ जीवों के लिए माता हैं; वास्तव में हम लोगों को आपकी कृपा ही ने उत्पन्न किया है।

(4.34) हे देव! किसी को यदि एक आध पंगु पुत्र उत्पन्न हो तो उसे आजन्म उसका जंजाल सहना पड़ता है। आपकी श्रेष्ठता आप ही के सामने क्या बखानी जाय।

(4.35) अब जो कुछ मैं पूछता हूँ उस पर ध्यान दीजिए और हे देव! उस बात पर क्रोध न कीजिए।

(4.36) हे अनन्त! आपने जो पुरातन वार्ता कही वह क्षण भर भी मेरे चित्त में नहीं जमती।

(4.37) क्योंकि वह विवस्वत कौन था सो बूढे भी नहीं जानते, तो उसे आपने कहाँ और कब उपदेश किया?

(4.38) वह तो बहुत पुरातन सुनो जाता है, और आप श्रीकृष्ण तो साम्प्रतकाल के है! इसलिए इस बात में विरोध मालूम होता है।

(4.39) तथापि हे देव! आपका चरित्र हम कुछ भी नहीं जानते, आपकी बात को हम एकदम मिथ्या क्योंकर कह दें?

(4.40) अतएव यह सब बात इस तरह बताइए कि मेरी समझ में आ जाय। क्या आपने उसे सूर्य को उपदेश किया था?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ 4.5 ॥

(4.41) तब श्रीकृष्ण ने कहा — हे पाण्डुसुत! यदि तुम्हारे चित्त में यह भ्रम हो कि जब वह विवस्वत था तब हम न थे

(4.42) तो यह तुम्हारा अज्ञान है। देखो, तुम्हारे हमारे कई जन्म हो चुके हैं, परन्तु तुम्हें अपने जन्मों का स्मरण नहीं है।

(4.43) मैं जिस-जिस काल में जिस-जिस रूप में अवतार लेता हूँ उन सब का स्मरण रखता हूँ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ 4.6 ॥

(4.44) इसलिए यह पुरातन वार्ता मुझे याद है। मैं अजन्मा हूँ परन्तु प्रकृति का अंगीकार करने से जन्म लेता हूँ।

(4.44) मेरी अविनाशिता का भंग नहीं होता। जन्म और मृत्यु जो दिखाई देते हैं वे माया के कारण मुझ ही में प्रतिभासित होते है।

(4.46) मेरी स्वतन्त्रता तो नष्ट नहीं होती, परन्तु मेरा कर्म के वश हुआ-सा दिखाई देना भ्रमबुद्धि के कारण होता है। मैं वास्तव में कर्माधीन नहीं होता।

(4.47) एक वस्तु जो दर्पण में दूसरी दिखाई देती है वह दर्पण के आधार से दिखाई देती है। अन्यथा यदि सत्य विचारा जाय तो क्या कोई दूसरी वस्तु रहती है?

(4.48) वैसे ही हे किरीटी! मैं निराकार हूँ परन्तु जब माया धारण करता हूँ तब कार्य के हेतु साकार हो नट जैसा वेष धर लेता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ 4.7 ॥

(4.49) क्योंकि आरम्भ से ही यह एक स्वाभाविक परिपाटी पड़ी है कि मुझे सम्पूर्ण धर्मसमुदाय की प्रत्येक युग में रक्षा करनी चाहिए।

(4.50) इसलिए जिस समय अधर्म धर्म का पराभव करता है उस समय मैं अपना जन्मराहित्य दूर रख अपनी निराकारता भी भूल जाता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ 4.8 ॥

(4.51) उस समय मैं अपने भक्तों का पक्ष लेने के लिए साकार हो कर अवतार लेता हूँ और अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर डालता हूँ,

(4.52) अधर्म की सीमा तोड़ डालता हूँ, पापों का लेख फाड़ डालता हूँ, और सज्जनों से सुख की ध्वजा फहरवाता हूँ।

(4.53) दैत्यों के कुल का नाश करता हूँ, साधुओं को सम्मान दिलाता हूँ, और धर्म और नीति का विवाह करा देता हूँ।

(4.54) जब मैं अविवेकरूपी गुल झाड़ कर विवेकरूपी दीपक उस्काता हूँ तब योगियों के लिए निरन्तर दिवाली सा उजेला हो जाता है,

(4.55) विश्व आत्मसुख से भर जाता है, संसार में धर्म आ बसता है और भक्तों के सात्विक भावों की तोंदें निकल पड़ती है,

(4.56) हे पाण्डुकुँवर! जब मेरी मूर्ति प्रकट होती है तब पाप का परदा हट जाता है, और पुण्य का सबेरा हो जाता है।

(4.57) ऐसे कार्यों के लिए मैं हर एक युग में अवतार लेता हूँ। परन्तु जो यह जान ले वहीं संसार में ज्ञानी है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ 4.9 ॥

(4.58) जो निःसंशय यह समझ ले कि मैं जन्मरहित होते हुए जन्म लेता हूँ, क्रिया करनेहारा न रहते हुए कर्म करता हूँ, वही अत्यन्त मुक्त है।

(4.59) जब मनुष्य देहसंग के कारण चले तो भी वास्तव में नहीं चलता, देह में रहता है तो भी देह के वश नहीं होता, और फिर जब पंचत्व में मिलता है, तब मेरे ही स्वरूप में आ मिलता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ 4.10 ॥

(4.60) सामान्यतः जो अगली-पिछली बातों का सोच नहीं करते, जो कामनाशून्य हो जाते है, और किसी समय क्रोध के मार्ग से नहीं जाते,

(4.61) सदैव मुझसे ही सम्पन्न रहते है, मेरी ही सेवा के लिए जीते है, अथवा निरिच्छ होकर आत्मज्ञान से सन्तुष्ट हो रहते है,

(4.62) जो तपरूपी तेज की राशि है, अथवा ज्ञान के एक ही आश्रय है, और जो स्वयं तीर्थरूप रहते हुए अन्य तीर्थों को पवित्रता पहुँचाते है

(4.63) वे मनुष्य सहज ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होते है। वे मद्रूप हो रहते है। क्योंकि मुझमें और उनमें कुछ अन्तर नहीं रहता।

(4.64) कहो, जब पीतल का कलंक सम्पूर्ण जल जाय तब सुवर्ण क्या कोई दूसरी प्राप्तव्य वस्तु रह जाती है?

(4.65) वैसे ही इसमें सन्देह नहीं कि जो यम-नियम के पालन से तपे रहते हैं, वे जो मैं हूँ वही हो जाते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ 4.11 ॥

(4.66) यों भी देखो, मुझ में जो जैसा प्रेम रखते है उन पर मैं भी वैसी ही प्रीति रखता हूँ।

(4.67) वास्तव में सम्पूर्ण मनुष्य स्वभावतः केवल मेरा ही भजन करते है।

(4.68) परन्तु ज्ञान के बिना उनकी हानि होती है। क्योंकि उनकी बुद्धि भेदयुक्त हो गई है। वे मुझ एक की अनेक रूपों में कल्पना करते हैं।

(4.69) इससे मैं जो भेद-रहित हूँ उसमें वे भेद देखते हैं, मैं जो नाम-रहित हूँ उसे वे नाम देते है, मैं जो अनिर्वाच्य हूँ उसे देव-देवी इत्यादि पद लगाते है,

(4.70) और मैं जो सर्वत्र और सदैव समान हूँ उसके, भ्रान्ति बुद्धि के वश हो, अधम और उत्तम भेद मानते हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ 4.12 ॥

(4.71) तथा अनेक हेतु मन में रखकर और अनेक प्रकार से मनमाने उपचारों से मनाये हुए अनेक देवताओं की उपासना करते हैं।

(4.72) ऐसा करने से जो-जो उनका इच्छित हेतु रहता है, वह सम्पूर्ण उन्हें प्राप्त होता है। परन्तु वास्तव में वह उनके कर्म का फल समझो।

(4.73) इसके सिवाय फल देने या लेने वाला कोई भी दूसरा नहीं है। यह सत्य जानो कि इस मनुष्यलोक में कर्म ही फल देनेहारा होता है।

(4.74) जैसे खेत में जो कुछ बोया जाय उसके सिवाय दूसरी वस्तु वहाँ उत्पन्न नहीं होती, अथवा दर्पण के आधार से जो देखना चाहो वही वस्तु दिखाई देती है,

(4.75) अथवा हे किरीटी! पर्वत के कगार पर जैसे अपना ही शब्द प्रतिध्वनित हो उठता है,

(4.76) वैसे ही इन सब भजनों का मैं साक्षिभूत हूँ, परन्तु इनमें अपनी-अपनी भावना ही फल-रूपिणी होती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ 4.13 ॥

(4.77) अब इसी प्रकार यह जान लो कि ये चारों वर्ण मैंने गुण और कर्म के भेद से उत्पन्न किये है।

(4.78) अर्थात् प्रकृति के आधार से गुणों का मिश्रण होता है और उन गुणों के अनुसार कर्म नियत किये गये हैं।

(4.79) हे धनुर्धर अर्जुन! यह जगत् सब एक ही है। परन्तु स्वभावतः गुणकर्मों का प्रबन्ध ऐसा किया गया है कि उसका चार वर्णों में विभाग हो गया है।

(4.80) इसलिए हे पार्थ! वर्णभेद की संस्था का कर्ता मैं नहीं हूँ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ 4.14 ॥

(4.81) इस प्रकार जो यह जान लेता है कि ये भेद मेरे ही कारण उत्पन्न हुए है परन्तु मैंने नहीं बनाये हैं, वही कर्म से छुटकारा पाता है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ 4.15॥

(4.82) हे धनुर्धर! पूर्व में जो मुमुक्षु थे उन्होंने मुझे इस प्रकार जानकर ही सम्पूर्ण कर्म किया है।

(4.83) जैसे भुना हुआ बीज बोने से कभी नहीं उगता वैसे ही कर्म उन मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष का कारण हुआ है।

(4.84) हे अर्जुन! इसमें एक बात और है कि समझदार मनुष्य को कर्माकर्म का विचार अपने इच्छानुसार करना योग्य नहीं है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ 4.16॥

(4.85) जिसे कर्म कहते है वह क्या है, अथवा अकर्म का क्या लक्षण है, इस बात का विचार करते विद्वान लोग भी चकरा गये हैं।

(4.86) जैसे नकली सिक्का सच्चे सिक्के के समान दीखने के कारण नेत्रों की देखने की क्रिया को भी संशययुक्त कर डालता है

(4.87) वैसे ही जो संकल्प मात्र से दूसरी सृष्टि बना सकते है, उन्हें भी निष्कर्मता के भ्रम से कर्म ढूँढ़ते आ पहुँचता है।

(4.88) इस विषय में ज्ञानी लोग भी मोह गये है तो फिर मूर्खों की क्या कथा है?

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ 4.17 ॥

(4.89) जिससे स्वभावतः विश्वाकार प्रकट होता है, वह कर्म कहलाता है। संसार में प्रथम उसको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

(4.90) फिर जो वर्णाश्रम के उचित और विशेष तथा विहित कर्म है वे भी निश्चय से उनके उपयोग सहित जान लेने चाहिए।

(4.91) अनन्तर जो निषिद्ध कर्म कहलाते है उनका स्वरूप भी जान लेना चाहिए। इतना करने से आप ही आप चित्त कहीं लिप्त न होगा।

(4.92) सामान्यतः सब संसार कर्म के अधीन है। इतनी गहन इसकी व्यापकता है। परन्तु यह रहने दो, अब पहुँचे हुए पुरुष के लक्षण सुनो।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ 4.18 ॥

(4.93) जो सब कर्मों के व्यवहार करते हुए निज को निष्कर्म जानता है, और कर्म का संग होते हुए फल की आशा नहीं रखता,

(4.94) तथा कर्तव्यता के लिए संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है, इस प्रकार उत्तम निष्कर्मता के ज्ञान से युक्त हुआ है;

(4.95) तथापि सम्पूर्ण क्रिया-समूहों का उत्तम आचरण करते हुए दिखाई देता है, इन लक्षणों के द्वारा उसी को ज्ञानी समझना चाहिए।

(4.96) जैसे जल के किनारे खड़े रहने से यदि अपना प्रतिबिम्ब जल में दिखाई दे तो उसे वह मनुष्य निश्चय से पहिचान सकता है और कह सकता है कि मैं इस प्रतिबिम्ब से भिन्न हूँ.

(4.97) अथवा जो नाव में बैठ कर चलता है वह तीर पर के वृक्षों को वेग से दौड़ते देखता हैं, किन्तु यही बात यदि वह सत्यतः देखने लगे तो अवश्य कहेगा कि वृक्ष अचल है।

(4.98) वैसे ही सब कर्मों में व्यवहार करना बिलकुल असत्य मानकर जो निज को निष्कर्म समझता है,

(4.99) और उदय और अस्त होने के कारण सूर्य जैसे स्थिर होते हुए भी चलता-सा दिखता है वैसे ही जो कर्म करते हुए निष्कर्मता का तत्व जानता है

(4.100) वह मनुष्य, मनुष्य के समान दिखाई देता है; परन्तु जैसे सूर्य का बिम्ब जल में नहीं डूबता वैसे वह भी मनुष्यत्व से लिप्त नहीं होता।

(4.101) वह आँख से न देखते सब विश्व को देख चुका है, कुछ भी न करते हुए सब कर चुका है और कुछ भी न भोगते सब भोग्य वस्तुओं का भोग ले चुका हैं।

(4.102) वह यद्यपि एक ही जगह बैठा हो परन्तु सर्वत्र भर गया है; और तो क्या वह स्वयं विश्व हो गया है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ 4.19 ॥

(4.103) जिस पुरुष को कर्म के विषय कुछ विषाद नहीं होता परन्तु कोई फल की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होती,

(4.104) और जिसका मन ऐसे संकल्प से दूषित नहीं होता कि मैं यह कर्म करूँगा अथवा यह आरम्भ किया हुआ कर्म पूर्ण करूँगा,

(4.105) जिसने सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि की ज्वाला में जला डाले हैं, उस मनुष्य के रूप में परब्रह्म समझो।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥ 4.20 ॥

(4.106) जो शरीर के विषय में उदासीन रहता है, फल-भोग के विषय में निरिच्छ रहता है, और सर्वदा आनन्दी रहता है,

(4.107) हे धनुर्धर! जो सन्तोषरूपी मध्यगृह में भोजन करते समय आत्मज्ञानरूपी भोजन के परोसे से कभी नहीं अघाता,

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ 4.21 ॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ 4.22 ॥

(4.108) और जो अहंकार सहित आशारूपी निछावर का त्याग करके अधिक-अधिक प्रेम से महासुख की माधुरी चखता है,

(4.109) अतएव जो कुछ समयानुसार प्राप्त हो जाय उसी से जो सुखी होता है और जिसे अपना और पराया दोनों ही नहीं है,

(4.110) वह मनुष्य जो कुछ देखता है वही आप हो रहता है, और जो कुछ सुनता है वही आप हो जाता है;

(4.111) और चरणों से चलना, मुख से बोलना, इत्यादि चेष्टाओं का जितना समूह है वह सब आप ही हो रहता है।

(4.112) और तो क्या, संसार भर में देखो तो उसे निज आत्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है, तो फिर कर्म कौन-सी वस्तु है, और उससे उसे बाधा ही क्या हो सकती है?

(4.113) इतना द्वैतभाव, कि जिससे मत्सर उत्पन्न हो, उसमें रह ही नहीं जाता तो उसके निर्मत्सर होने में सन्देह ही क्या है?

(4.114) अतएव इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वह सर्वथा मुक्त है, सकर्म होता हुआ भी कर्म-रहित है, सगुण होता हुआ भी गुणातीत है;

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ 4.23 ॥

(4.115) वह देह के संग से रहता है, परन्तु ब्रह्मस्वरूप के समान जान पड़ता है, और परब्रह्म की कसौटी से देखते अत्यन्त शुद्ध दिखाई देता है।

(4.116) इस पर भी यदि वह कुतूहल से यज्ञादिक कर्म करे तो वे सम्पूर्ण कर्म उसी में लय को प्राप्त होते है।

(4.117) जैसे अनवसर से आये हुए मेघ बरसे बिना ही उत्पन्न होने के साथ आकाश में लुप्त हो जाते हैं;

(4.118) जैसे ही यद्यपि वह मनुष्य यज्ञादि-विहित कर्मों का अनुष्ठान करता है, तथापि वे कर्म उसके ऐक्यभाव के कारण एकत्व को ही प्राप्त होते है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ 4.24 ॥

(4.119) क्योंकि उसकी बुद्धि में यह भिन्नता नहीं रहती कि यह यज्ञ है और मैं यज्ञकर्ता हूँ, अथवा इस यज्ञ का यह भोक्ता है।

(4.120) जिस इष्ट यज्ञ का वह हवन करता है और जिस होम, मन्त्र और द्रव्यों से यजन करता है, उन्हें वह आत्मरूप जान अविनाशी समझता है।

(4.121) इसलिए हे धनुर्धर! जिसकी ऐसी समबुद्धि हो गई है कि 'जो ब्रह्म वही कर्म है' उसे कर्तव्य ही निष्कर्मता है।

(4.122) अब जिनकी अविवेक-रूपी बाल्यावस्था निकल गई है और विरक्ति से विवाह हो चुका है, और फिर जिन्होंने योगाग्नि की पूजा का आरम्भ किया है,

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ 4.25 ॥

(4.123) जो दिन-रात यज्ञ करते है, मन-सहित अविद्या को गुरुवाक्यरूपी अग्नि में हवन करते है,

(4.124) हे पाण्डुकुँवर! ऐसे योगाग्निहोत्री जो यज्ञ करते है वह दैवयज्ञ कहा जाता है, जिससे आत्मसुख की इच्छा पूर्ण हो सकती है।

(4.125) जिसका पालन प्रारब्ध कर्म के अनुसार होता है उस शरीर के पोषण की चिन्ता जो नहीं करता उसे दैवयोग से महायोगी जानो।

(4.126) अब सुनो, हम और दूसरे ब्रह्माग्निहोत्रियों का वर्णन करते हैं जो यज्ञ कर्मो से परमात्मा की उपासना करते है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ 4.26 ॥

(4.127) कोई आत्मसंयमरूपी अग्नि के हवन करनेहारे होते है। वे युक्ति-त्रय के (वज्रासन, जालन्धर, ओढियाण) मन्त्र से और इन्द्रियरूपी पवित्र सामग्री से हवन करते है।

(4.128) कोई वैराग्यरूपी सूर्य का उदय होते ही संयमरूपी स्थल बनाकर वहाँ इन्द्रियरूपी अग्नि प्रज्वलित करते हैं,

(4.129) और जब उसकी वैराग्यरूपी ज्वाला निकलते ही विकार के ईंधन जलने लगते है और अन्तःकरण-पंचक के कुण्डों में से आशारूपी धुवाँ निकलता है

(4.130) तब इन्द्रियरूपी अग्निकुण्ड में वे विहित वाक्यों की कुशल रीति से विषयरूपी विशाल आहुति का हवन करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ 4.27 ॥

(4.131) हे पार्थ! कोई इस प्रकार पापों की सर्वथा शुद्धि करते हैं, तो कोई हृदयरूपी अरणी पर विवेकरूपी मथानी रखते है,

(4.132) उसे शान्ति की डोरी से बाँधते है, धैर्य के बल से दबाते है, और गुरुवाक्य के सहाय से जोर से घुमाते है।

(4.133) ऐसी वृत्तियों की एकता से मन्थन करते ही तत्काल कार्य होता है, अर्थात् ज्ञानाग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

(4.134) पहले जो ऋद्धि-सिद्धियों का मोहरूपी धुवाँ उठता है इसके निकल जाने पर सूक्ष्म चिनगारी उत्पन्न होती है।

(4.135) उसमें - पहले ही से यम-नियम के अनुष्ठान से सूख कर सूक्ष्म हुए — मन का बहुत-सा ईंधन डाला जाता है।

(4.136) जिसके प्रदीप्त होते ही बड़ी ज्वाला उत्पन्न होती है। वे अनेक वासनारूपी समिधा को अनेक प्रकार के घृत-सहित उसमें जलाते हैं।

(4.137) और, यज्ञकर्ता दीक्षित सोऽहं मन्त्र से इन्द्रियकर्मों की आहुति उस प्रदीप्त ज्ञानरूपी अग्नि में डालते हैं।

(4.138) तदनन्तर प्राणकर्मों के स्रुवा से अग्नि में पूर्णाहुति पड़ते ही सहज ही एकत्वबोधरूपी अवभृथ स्नान होता है।

(4.139) फिर आत्मज्ञान के सुख का जो कि संयमयज्ञ का बचा हुआ द्रव्य है उस यज्ञशेष का — वे भोग लेते हैं।

(4.140) कोई इस प्रकार यज्ञ करने से संसार में मुक्त हो रहते हैं। यज्ञक्रियाएँ तो भिन्न हैं, परन्तु उनका प्राप्तव्यमात्र एक है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ 4.28 ॥

(4.141) ये जो यज्ञ मैंने कहे उनमें एक द्रव्ययज्ञ कहलाता है। एक तपरूपी सामग्री से किया जाता है। एक को योगयज्ञ कहते हैं।

(4.142) एक में शब्द में शब्द का होम किया जाता है, उसे वाग्यज्ञ करते है जिसमें ज्ञान से ज्ञेय वस्तु प्राप्त की जाती है वह ज्ञानयज्ञ कहाता है।

(4.143) हे अर्जुन! ये सब यज्ञ विकट हैं, क्योंकि इनका अनुष्ठान बहुत कठिन है। परन्तु ये जितेन्द्रिय मनुष्य को उसके योग्यतानुसार साध्य हो सकते हैं।

(4.144) वे इन यज्ञों में प्रवीण रहते हैं और योग्य-समृद्धि से संपन्न रहते हैं। इसलिए वे आत्मा में निज का हवन करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ 4.29 ॥

(4.145) कोई अपानवायुरूपी अग्नि की ज्वाला में अभ्यासयोग से प्राणवायुरूपी द्रव्यों का हवन करते हैं;

(4.146) कोई प्राणवायु में अपान अर्पण करते हैं और कोई दोनों का ही निरोध करते हैं। हे पाण्डुकुँवर! वे प्राणायामी कहाते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ 4.30 ॥

(4.147) कोई हठयोग के अभ्यास से विषयरूपी आहार का नियमन करके प्राणवायुरूपी अग्नि से सब प्राणों का तत्काल हवन करते हैं।

(4.148) इस प्रकार ये सभी मोक्ष की इच्छा करनेहारे हैं, सभी यज्ञकर्ता है, जिन्होंने यज्ञ के द्वारा मन के मल की शुद्धि की है।

(4.149) सब अज्ञान के नाश हो जाने से वस्तु स्वभावतः निज स्वरूप से रह जाती है, जहाँ अग्नि और यज्ञ करनेहारे को कोई भेद नहीं रहता,

(4.150) जिससे यज्ञ करने की इच्छा पूर्ण हो जाती है, यज्ञ की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, और फिर सब कर्मसमूह भी समाप्त हो चुकता हैं,

(4.151) जिसमें बुद्धि का प्रवेश नहीं हो सकता, कामना जिसे स्पर्श नहीं कर सकती, और जो द्वैतदोष की संगति से लिप्त नहीं होता,

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ 4.31॥

(4.152) ऐसा जो अनादिसिद्ध शुद्ध और यज्ञ का शेषज्ञान है उसका ब्रह्मनिष्ठ लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र से सेवन करते हैं।

(4.153) वे इस शेषरूपी अमृत से तृप्त हो चुकते हैं, अथवा अमरता को प्राप्त होते हैं। अतएव वे अनायास ब्रह्म ही हो जाते हैं।

(4.154) अन्यों को विरक्ति कभी जयमाल नहीं डालती। उनसे कभी संयमाग्नि की सेवा नहीं बन पड़ती। वे जन्मभर कभी योग-याग नहीं करते।

(4.155) उनका ऐहिक भी ठीक नहीं रहता तो फिर उनके पारलौकिक सुख की बात ही क्या कही जाय? हे पाण्डुकुँवर! उनकी बात ही छोड़ो।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ 4.32 ॥

(4.156) ऐसे जो हमने अनेक यज्ञ अनेक प्रकार से तुम्हें बताये उनका वेदों ने विस्तार से निरूपण किया है।

(4.157) परन्तु उस विस्तार से क्या काम है? यह जान लो कि ये सब यज्ञ कर्म से सिद्ध होते हैं। इतने ही से सहज में कर्म का बन्धन न होगा।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ 4.33 ॥

(4.158) हे अर्जुन! वेद जिनका मूल है, जो बाह्यक्रिया-प्रधान हैं और जिनका अपूर्व फल स्वर्ग का सुख है,

(4.159) वे वास्तव में द्रव्ययज्ञ हैं, परन्तु सूर्य्य के सामने नक्षत्रों की प्रकाशसम्पत्ति के समान वे भी ज्ञानयज्ञ की बराबरी नहीं कर सकते।

(4.160) देखो, परमात्म-सुखरूपी निधि प्राप्त करने के लिए योगी जन अपने नेत्रों में जिसका अंजन लगाना नहीं छोड़तें,

(4.161) जो क्रियमाण कर्म का प्राप्तव्य विषय है, कर्मातीत बोध की खानि हैं, जो आत्म-प्राप्ति के लिए भूखे मनुष्य को साधन से उत्पन्न हुई तृप्ति है,

(4.162) जहाँ प्रवृत्ति लँगड़ी हो जाती है, तर्क की दृष्टि दीन हो जाती है, जिसके संग से इन्द्रियाँ विषयों का संग भूल जाती है,

(4.163) मन का मनत्व नहीं रहता, शब्द का शब्दत्व बन्द हो जाता है, और ज्ञेय वस्तु ब्रह्म जिसके अन्तर्गत दिखाई देती है,

(4.164) जहाँ वैराग्य की हीनता नष्ट हो जाती है, विवेक की उत्कण्ठा टूट जाती है और न खोजते भी आत्मत्व से सहज ही भेंट हो जाती है,

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 4.34 ॥

(4.165) उस उत्तम ज्ञान को जानने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हर प्रकार से सन्तों की सेवा करो।

(4.166) क्योंकि जो ज्ञानरूपी घर है उसकी देहली सेवा है। हे सुभट! सेवा करके इस ज्ञान को अधीन करो।

(4.167) शरीर से, मन से, जीव से सन्तों के चरणों से लगो और गर्व-रहित हो उनकी खूब सेवा करो

(4.168) तो वे इष्ट प्रश्न पूछते ही उपदेश करेंगे। उस उपदेश से बोधित हुए अन्तःकरण से कल्पना उत्पन्न न होगी।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ 4.35 ॥

(4.169) और उसके वाक्यरूपी प्रकाश से चित्त निर्भय हो निःसंशय ब्रह्म की योग्यता प्राप्त कर लेगा।

(4.170) उस समय तुम्हें अपने समेत यह सब जगत् निरन्तर मेरे स्वरूप में दिखाई देगा।

(4.171) हे पार्थ! जब श्रीगुरु की कृपा होती है तब ज्ञान का प्रकाश होता है और मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ 4.36 ॥

(4.172) तुम यद्यपि पाप की खानि हो, भ्रान्ति के समुद्र हो और भ्रम के पर्वत हो।

(4.173) तथापि ज्ञानशक्ति के सामने ये सब बातें अत्यल्प है। इस ज्ञान मे ऐसी उत्तम सामर्थ्य है।

(4.174) देखो, विश्वाभास जैसी जो निराकार स्वरूप की परछाई है सो भी जिसके प्रकाश के आगे नहीं टिकती

(4.175) उसके सामने मन के अज्ञान की क्या कथा है? इस बात निकालना ही अयोग्य है। संसार में ज्ञान के समान बड़ी वस्तु दूसरी नहीं है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ 4.37 ॥

(4.176) कहो तीनों भुवनों का जो आकाश में धुवाँ उड़ा देता है उस प्रलयकाल के तूफान के सामने क्या मेघ टिक सकते हैं?

(4.177) अथवा पवन के कोप के सहाय से जो पानी भी जला डालती है वह प्रलयाग्नि क्या घास और ईंधन से बुझ सकती हैं?

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ 4.38 ॥

(4.178) बहुत क्या कहा जाय, ये बातें हो नहीं सकती। इनका विचार ही असंगत दिखाई देता है। ज्ञान के समान कोई भी वस्तु पवित्र दिखाई नहीं देती।

(4.179) इस संसार में ज्ञान ही एक उत्तम वस्तु है। जैसे चैतन्य-जैसी दूसरी वस्तु नहीं होती, वैसे ही इस ज्ञान की सी दूसरी वस्तु कहाँ है?

(4.180) यदि सूर्य के तेज की कसौटी से प्रतिबिम्ब उज्जवल दिखाई दे सकता हो, अथवा यदि आकाश चपेटने से चपेटा जा सकता हो,

(4.181) अथवा यदि पृथ्वी की बराबरी का कोई माप मिल सकता हो, तभी हे पाण्डुकुँवर! ज्ञान की कोई उपमा मिल सकती है।

(4.182) अतएव अनेक प्रकार से देखने से और बारम्बार विचार करने से यही कहना पड़ता है कि इस ज्ञान की पवित्रता ज्ञान ही में हैं।

(4.183) जैसे अमृत का स्वाद बखाना जाय तो अमृत जैसा ही कहा जावेगा, वैसे ही ज्ञान की उपमा ज्ञान ही हो सकती है।

(4.184) अब इस पर और जो कुछ कहा जाय वह सब वृथा समय खोना है। तब अर्जुन ने कहा कि जो कुछ आप कहते हैं सत्य है।

(4.185) परन्तु अर्जुन पूछनेवाला था कि वह ज्ञान कैसे जाना जाय, इतने में श्रीकृष्ण ने उनका हेतु जान लिया

(4.186) और कहा हे किरीटी! अब हम तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। उस पर ध्यान दो।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ 4.39 ॥

(4.187) जिसे आत्मसुख का स्वाद के कारण सम्पूर्ण विषयों की हीक आती है, जो इन्द्रियों की प्रतिष्ठा नहीं रखता,

(4.188) जो मन से कोई इच्छा विदित नहीं करता, जो प्रकृति के कर्म को अपना कर्म नहीं समझता और जो श्रद्धा के सम्भोग से सन्तुष्ट हुआ है,

(4.189) जिस में भरपूर शान्ति भरी है उसी मनुष्य को खोजते-खोजते ज्ञान निश्चय से पहुँच जाता है।

(4.190) वह ज्ञान जब हृदय में स्थिर होता है, और शान्ति का अंकुर फूटता है तब आत्मबोध का विस्तार प्रकट होता है।

(4.191) फिर जिस ओर दृष्टि जाती है वहाँ शान्ति ही दिखाई देती है और विचार करने से अपना और पराया नहीं देख पड़ता।

(4.192) इस प्रकार इस ज्ञानबीज के विस्तार का जितना अधिक वर्णन किया जाय उतना ही थोड़ा है। अतएव अब रहने दो।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ 4.40 ॥

(4.193) सुनो, जिस प्राणी को इस ज्ञान के लिए रुचि नहीं है उसके जीवन के विषय में क्या कहा जाय? उससे मृत्यु भली है।

(4.194) जैसे कोई सूना घर अथवा प्राणरहित शरीर हो वैसे ही ज्ञान के बिना मोहयुक्त जीवन है।

(4.195) अथवा, ज्ञान तो निश्चय से प्राप्त न हो किन्तु उसकी इच्छा हो तो भी कुछ प्राप्ति का सम्भव हो सकता है।

(4.196) परन्तु यदि, ज्ञान की तो बता ही क्या, मन में आस्था भी नहीं है तो ऐसे मनुष्य को संशयरूपी अग्नि में पड़ा हुआ जानो।

(4.197) क्योंकि जब ऐसी अरुचि उत्पन्न होती है कि अमृत भी नहीं भाता तब यह समझा जाता है कि निश्चय से मृत्यु आती है।

(4.198) वैसे ही निःसन्देह जानो कि विषयों के सुख से जो सुखी होता है, ज्ञान के विषय में जो बेपरवाह है, वह संशय के वश हो जाता है,

(4.199) और यदि एक बार संशय में जा पड़े तो निश्चय से नष्ट हो जाता है और इस लोक और परलोक के सुख से हाथ धो चुकता हैं।

(4.200) जिसके शरीर में कालज्वर भर जाता है वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता, अग्नि और चाँदनी समान ही समझता है

(4.201) वैसे ही संशय से व्याकुल मनुष्य भी सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा नहीं समझता।

(4.202) जन्मान्ध को जैसे रात और दिन जान नहीं पड़ते वैसे ही संशय में रहने से कुछ नहीं जान पड़ता।

(4.203) इसलिए संशय से बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है। प्राणियों के लिए यह नाश का जाल है।

(4.204) इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। यह ज्ञान के अभाव में रहता है। पहले इसी को जीतना चाहिए।

(4.205) जब अज्ञान का अँधेरा हो जाता है तब मन में इस संशय की अत्यल्प वृद्धि होती है। इससे श्रद्धा का मार्ग ही बन्द हो जाता है।

(4.206) और वह हृदय में नहीं समा सकता, बुद्धि को भी खोज कर ग्रस लेता है, अतएव इससे तीनों लोक संशयात्मक दिखाई देने लगते है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ 4.41 ॥

(4.207) यद्यपि यह संशय इतना बढ़ा हुआ हो तथापि एक उपाय से वश में आ सकता है। यदि हाथ में उत्तम ज्ञान का खंग हो

(4.208) तो उस तीक्ष्ण ज्ञानशस्त्र से इसका निःशेष नाश हो सकता है, और फिर मन का दुःख मिट जाता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ 4.42 ॥

(4.209) इसलिए हे पार्थ! अपने हृदय के संशय का नाश करके शीघ्र उठ खड़े हो।

(4.210) संजय ने कहा - हे राजा! सुनो; सर्वज्ञों के नाथ, ज्ञान के दीपक, श्रीकृष्ण दयालु हो इस प्रकार बोले।

(4.211) तब, इस पूर्वापर विवेचन का विचार करके पाण्डु पुत्र अर्जुन जो समयोचित प्रश्न करेगा

(4.212) वह सुसंगत कथा, भाव का भाण्डार, रस की पुष्टि आगे वरणी जायगी

(4.213) जिसकी उत्तमता पर आठों रस निछावर हैं, तथा जो संसार में सज्जनों की बुद्धि का विश्राम है।

(4.214) अब वह प्राकृत वाणी सुनिए, जिससे शान्तरस ही प्रकट होगा जो समुद्र से भी अगाध है और अर्थ से भरी हुई है।

(4.215) जैसे सूर्य का बिम्ब तो छोटा-सा रहता है परन्तु प्रकाश के लिए उसे त्रिभुवन भी अल्प होता है उसी प्रकार इस वाणी की व्यापकता का अनुभव लीजिए।

(4.216) अथवा जैसे कल्पवृक्ष इच्छा करनेवाले की मनमानी इच्छा पूर्ण करता है वैसे ही यह वाणी भी व्यापक है। इसलिए ध्यान दीजिए।

(4.217) और क्या कहा जाय, आप सर्वज्ञ हैं, सहज ही सब कुछ जानते हैं तथापि मेरी बिनती है कि अच्छी तरह चित्त दीजिए।

(4.218) जैसे कोई कुलवंती स्त्री सौन्दर्यवती और पतिव्रता भी हो, वैसे ही इस वाणी में अलंकार और शान्तरस भरा है।

(4.219) पहले ही यदि खाँड़ भाती हो और वही यदि औषधि में मिलाई गई हो तो आनन्द से बार-बार क्यों न खाई जाय?

(4.220) मलयगिरि की वायु स्वभावतः मन्द और सुगन्धित है; उसमें यदि अमृत का स्वाद हो जाय और उसी में यदि दैवगति से नाद भी उत्पन्न हो जाय

(4.221) तो वह स्पर्श से सब शरीर को शीतल करेगी, स्वाद से जिह्वा को नचावेगी, तथा कानों से भी "वाह वाह" कहलावेगी

(4.222) वैसे ही इस कथा का श्रवण करना कानों के व्रत का पारण है और किसी विकार के बिना ही संसार के दुःखों की निवृत्ति है।

(4.223) यदि मन्त्र से ही शत्रु की मृत्यु होती तो कटार बाँधने का क्या काम है? यदि दूध और शंकर से रोग निवृत्त होता है तो फिर नीम पीने की क्या आवश्यकता है?

(4.224) वैसे ही मन को दुःख और इन्द्रियों को कष्ट न देते इस कथा के केवल श्रवण से ही मोक्ष मिला मिलाया धरा है।

(4.225) इसलिए मैं निवृत्ति का दास ज्ञानदेव कहता हूँ कि समाधानसम्पन्न होने के लिए इस उत्तम गीतार्थ को सुनिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ 5.1 ॥

(5.1) तब पार्थ ने श्रीकृष्ण से कहा कि आप यह कैसा विवरण करके हैं? एक ही बात हो तो अन्तःकरण से विचारी जा सकती हैं।

(5.2) पहिले आप ही न सकल कर्मों के संन्यास का अनेक प्रकार से निरूपण किया। फिर अब पुनः कर्मयोग का विवेचन क्यों अधिक बढ़ाते हैं?

(5.3) हे श्रीअनन्त! आप ऐसे द्व्यर्थी भाषा बोलते है कि उससे हम अज्ञानियों के चित्त में जैसा चाहिए वैसा बोध नहीं होता।

(5.4) सुनिए एकत्व का बोध करना हो तो एकता की स्थिति का ही निरूपण करना चाहिए, यह बात आपको दूसरों से जानने का आवश्यकता है?

(5.5) इसीलिए मैंने आपसे विनती की थी कि ये परमार्थ की बातें केवल ध्वनि से न कहिए।

(5.6) परन्तु पिछली बातें जाने दीजिए। हे देव! सम्प्रति यह निर्णय कीजिए कि दोनों में अधिक भला मार्ग कौन-सा है

(5.7) जो निदान तक साथ निबाहे, फल भी पूर्ण दे तथा जिस मार्ग से चलना स्वभावतः सुलभ हो,

(5.8) जिसका पालकी में जैसे निद्रासुख का भंग नहीं होता और रास्ता भी बहुत-सा कट जाता है वैसा सुगम हो।

(5.9) अर्जुन के इन वचनों से श्रीकृष्ण मन में आनन्दित हुए और सन्तोष से बोले कि फिर सुनो।

(5.10) देखिए, जिस भाग्यवान् मनुष्य की कामधेनु जैसी माता है उसे, अगर वह चाहे तो, खिलौने के लिए चन्द्र भी मिल सकता है।

(5.11) देखो भला, श्रीशंकर ने प्रसन्नता से उपमन्यु की इच्छा पूर्ण करने के हेतु क्या उसे दूध-भात माँगते है क्षीर-समुद्र नहीं दे दिया?

(5.12) वैसे ही औदार्य का घर जो श्रीकृष्ण, उनके प्राप्त होते हुए अर्जुन सब सुखों का आश्रय क्यों न हो?

(5.13) इसमें आश्चर्य ही क्या है? श्रीलक्ष्मीकान्त जैसा धनी प्राप्त हुआ है अतएव उससे अपने इच्छानुसार माँग लेना ही योग्य है।

(5.14) यही सोचकर अर्जुन ने उपर्युक्त विनती की। वह श्रीकृष्ण ने पूर्ण की। अब श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा उसका मैं वर्णन करता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ 5.2 ॥

(5.15) श्रीकृष्ण बोले - हे कुन्तीसुत! संन्यास और कर्मयोग दोनों का विचार करने से मालूम होगा कि तत्त्वतः दोनों ही मोक्ष के देनेवाले हैं।

(5.16) तथापि स्त्री बालादिकों को जल के पार जाने के लिए जैसे नाव है वैसे ही अज्ञानी सभी के लिए कर्मयोग निश्चय ही सुलभ है।

(5.17) तथा सारासार विचार करते कर्मयोग ही सुगम दिखाई देता है। इससे अनायास संन्यास के फल का लाभ होता है।

(5.18) अब इस पर हम तुम्हें संन्यासियों के लक्षण बताते है जिससे तुम्हें संन्यास और कर्मयोग की अभिन्नता का ज्ञान होगा।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ 5.3 ॥

(5.19) जो गई बात का स्मरण नहीं करता, जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो हृदय में मेरु जैसा अत्यन्त स्थिर रहता है,

(5.20) और जिसका अन्तःकरण "अहन्ता वा ममता" का स्मरण भी भूल जाता है उसे, हे पार्थ! निरन्तरसंन्यासी समझो।

(5.21) जो मन से इस प्रकार स्थिर हो गया है उसका संग विषय छोड़ देते हैं और उसे अनायास निरन्तर सुख प्राप्त होता है।

(5.22) तब फिर घर इत्यादि संसार छोड़ने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन विषयों का ग्रहण करनेहारा स्वभावतः निःसंग हो रहता है।

(5.23) देखो आग बुझ जाने पर केवल राख रह जाती है, उसका आच्छादन कपास जैसे बिना जले कर सकता है,

(5.24) वैसे ही जिसकी बुद्धि में संकल्प नहीं रह जाता वह मनुष्य कर्म के बन्ध से बाँधा नहीं जा सकता।

(5.25) अतएव जब कल्पना छूट जाती है तब संन्यास होता है, और इसी लिए संन्यास और कर्मयोग दोनों समान हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ 5.4 ॥

(5.26) हे पार्थ! सामान्यतः जो लोग सर्वथा मूर्ख होते हैं वे ज्ञान और कर्मयोग की व्यवस्थिति कैसे समझ सकते हैं?

(5.27) स्वभावतः अज्ञानी होने के कारण वे उन दोनों को भिन्न समझते हैं। नहीं तो, एक ही दीपक क्या जुदा-जुदा प्रकाश देता है?

(5.28) जिन्होंने उत्तम अनुभव के द्वारा सम्पूर्ण तत्व जान लिया है वे सांख्य और योग दोनों को एक भाव से मानते है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स: पश्यति॥ 5.5 ॥

(5.29) जो वस्तु ज्ञानमार्ग से प्राप्त होती है वही कर्मयोग से भी मिल सकती है। अतएव दोनों मार्गों की इस प्रकार स्वाभाविक एकता है।

(5.30) देखो, आकाश और अवकाश में जैसा भेद नहीं है वैसा ही जो कर्मयोग और संन्यास का ऐक्य पहचानता है,

(5.31) जिसे सांख्य और योग का भेद-रहित ज्ञान हुआ है, उसी को संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ है, उसी ने निज को पहचाना है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ 5.6 ॥

(5.32) हे पार्थ! जो योग के मार्ग से मोक्षरूपी पर्वत पर चढ़ता है वह शीघ्र ही महासुख के शिखर पर पहुँच जाता है।

(5.33) और अन्य जन जो योगस्थिति का अवलम्बन नहीं करते वे वृथा खटपट करते रहते हैं परन्तु उन्हें कभी संन्यास की प्राप्ति नहीं होती।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ 5.7 ॥

(5.34) जिसने अपना मन भ्रम की ओर से हटाकर, गुरुवाक्य से शुद्ध कर, दृढता से आत्मस्वरूप में लगा दिया है;

(5.35) जब तक समुद्र में लवण नहीं गिरता तब तक जैसे किंचित भिन्न दिखाई देता है परन्तु समुद्र में मिलते ही समुद्र जैसा हो जाता है,

(5.36) वैसे ही जिसका संकल्प की ओर से हटाया हुआ मन चैतन्यरूप हो जाता है, वह यद्यपि परिच्छिन्न है तथापि तीनों लोकों में व्यापक हो जाता है।

(5.37) फिर आप ही आप कर्ता, कर्म और क्रिया तीनों का अन्त हो जाता है और वह मनुष्य कर्म करता हो तथापि अकर्ता बना रहता है।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ 5.8 ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ 5.9 ॥

(5.38) क्योंकि, हे पार्थ, उसे इस बात का स्मरण नहीं रहता कि मैं देह रूप हूँ। फिर कहो उसे क्या कर्तृत्व बाकी रह जाता है?

(5.39) इस प्रकार योगयुक्त पुरुषों में देहत्याग के बिना ही परब्रह्म के सम्पूर्ण गुण दिखाई देते हैं।

(5.40) यों तो अन्यों के समान वह भी एक देहधारी है और अशेष कर्मों में व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है।

(5.41) वह भी नेत्रों से देखता है, कानों से सुनता है परन्तु आश्चर्य देखो कि वह उन इन्द्रियों में सर्वथा आसक्त नहीं रहता।

(5.42) उसे स्पर्श का ज्ञान होता है, वह नाक से सुगन्ध सूँघता है, जिसका त्याग करना चाहिए, समयोचित भाषण भी करता है,

(5.43) आहार को स्वीकार करता है, जिसका त्याग करना चाहिए उसे छोड़ता है, निद्रा के समय सुख से सोता है,

(5.44) अपने इच्छानुसार चलता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार वह निश्चय से सब कर्मों में व्यवहार करता है।

(5.45) एक-एक बात क्या कहें, श्वास और उच्छवास करना और पलक मुँदना-खोलना आदि

(5.46) सब बातें हे पार्थ! वह करता है, तथापि वह अनुभव-बल के कारण इन सब कर्मों का कर्ता नहीं कहा जा सकता।

(5.47) क्योंकि जब वह भ्रान्तिरूपी शय्या पर सोया था तब उसे स्वप्नरूपी सुख का अनुभव होता था, परन्तु अब वह ज्ञानोदय-काल में जागृत हो गया है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ 5.10 ॥

(5.48) अब उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्तियाँ अपने-अपने विषयों में अधिष्ठान के सान्निध्य से व्यवहार करती है।

(5.49) जैसे दीपक के प्रकाश में घर के सब व्यापार होते हैं वैसे ही उस योगयुक्त पुरुष के देह से सब कर्म होते हैं।

(5.50) वह सब कर्म करता है परन्तु जैसे जल में उगा हुआ कमल-पत्र से नहीं भीगता वैसे ही वह कर्मबन्ध के वश नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ 5.11 ॥

(5.51) देखो, जो ऐसा कर्म है कि जिसमें बुद्धि का सम्बन्ध ही नहीं है, जिसमें मन का अंकुर भी नहीं उगता वह शारीर कर्म कहाता है।

(5.52) यही बात सुलभ रीति से कहिए, तो योगीजन बालक की चेष्टा के समान केवल शरीर से कर्म करते हैं।

(5.53) और यह पंचभूतात्मक शरीर मानों सो जाता है और केवल मन ही स्वप्नवत् व्यापार करता है,

(5.54) हे धनुर्धर! आश्चर्य देखो, वासना का कैसा विस्तार है कि वह देह को मालूम न होते हुए, सुख-दुःख भोगती हैं।

(5.55) इस प्रकार इन्द्रियों को कुछ भी मालूम न होते जो कर्म उत्पन्न होता है वह केवल मानस कर्म कहलाता है।

(5.56) योगीजन मानस कर्म भी करते हैं परन्तु वे उससे बाँधे नहीं जाते। क्योंकि उन्होंने अहंभाव की संगति छोड़ दी है।

(5.57) और भ्रमयुक्त हो जाने से जैसे इन्द्रियों की चेष्टा पिशाच के चित्त के समान अव्यवस्थित दिखाई देती है — जैसे

(5.58) स्वरूप का दिखाई देना, बुलाने से सुन पड़ना, मुख से शब्द निकलना परन्तु ज्ञान न होना —

(5.59) वैसे जो कर्म, किंबहुना जो निष्कारण किया जाता है, वह केवल इन्द्रियों का कर्म समझो।

(5.60) और (श्रीहरि अर्जुन से कहते है कि) जो सर्वत्र जानने की क्रिया है वह बुद्धि का कर्म हैं।

(5.61) योगीजन बुद्धि को प्रमुख करके मन लगा कर भी कर्म करते हैं, परन्तु वस्तुतः वे कर्म से मुक्त रहते है।

(5.62) क्योंकि बुद्धि से लगाकर देह तक उन्हें अहंकार का स्मरण ही नहीं रहता। अतएव कर्म करते-करते वे शुद्ध हो गये हैं।

(5.63) अजी, कर्ता के बिना जो कर्म किया जाता है वही निष्कर्मता है। यह गुरुकृपा ही से समझने योग्य रहस्य योगीजन जानते है।

(5.64) अप इसका उपरान्त शान्तरस की ऐसी बाढ़ आई है कि वह पात्र में न समाकर उभरा रहा है क्योंकि अब जो वचन बोले जावेंगे वे वाणी के परे के हैं।

(5.65) जिनकी इन्द्रियों की इच्छा अच्छी तरह पूर्ण हो चुकी हो वे ही ये वचन श्रवण करने के योग्य हैं।

(5.66) परन्तु (श्रोताओं ने कहा कि) अब विषयान्तर रहने दो, कथा का सम्बन्ध मत छोड़ो, क्योंकि श्लोकसंगति का भंग होगा।

(5.67) जो बात मन से ग्रहण करने के लिए कठिन है, प्रयत्न करने से भी बुद्धि को प्राप्त नहीं होती, उसका भाग्यवशात् तुमने उत्तम रीति से वर्णन किया है।

(5.68) जो वस्तु स्वभावतः शब्द के परे है वह यदि शब्दों से ही व्यक्त हो रही है तो और दूसरी बातों का क्या काम है? अतएव कहो।

(5.69) श्रोताओं की ऐसी उत्कट इच्छा जानकर निवृत्ति के दास बोले कि श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद बार-बार सुनिए।

(5.70) श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मैं तुम्हें पहुँचे हुए पुरुष का पूर्ण लक्षण बताता हूँ उसकी ओर चित दो।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ 5.12 ॥

(5.71) जो आत्मज्ञान से सम्पन्न है, जिसके हृदय में कर्म के फल का तिरस्कार उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य संसार में शान्ति के घर में घुस कर उसे वर लेता है

(5.72) परन्तु हे किरीटी! जो आत्मयोगी नहीं है वह कर्मबन्ध के कारण फलभोगरूपी खूँटी से फलेच्छा की गाँठ दे बाँधा जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ 5.13 ॥

(5.73) फल की इच्छा से कर्म करनेहारा जैसे कर्म करता है उसी प्रकार जो सब कर्म तो करता है, परन्तु जो उस कर्म की इस भाव से उपेक्षा करता है कि मैं उसका करनेहारा नहीं हूँ

(5.74) वह मनुष्य जिस ओर दृष्टि देता है वहीं सुख की सृष्टि हो जाती है। वह जहाँ चाहे वहीं महाबोध उपस्थित रहता है।

(5.75) वह फल का त्याग करनेहारा इस नवद्वार देह में रहते हुए भी नहीं रहता, और कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 5.14 ॥

(5.76) जैसे, देखने में तो सर्वेश्वर अकर्ता है परन्तु वही इस त्रिभुवन के विस्तार की रचना करता है;

(5.77) और उसे कर्ता कहिए तो वह किसी भी कर्म से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उदासीन वृत्ति के हाथ-पाँव कर्म में लिप्त नहीं होते।

(5.78) उसकी योगनिद्रा का भंग न होते, उसके अकर्तृत्व में कुछ कमी न होते, वह भली-भाँति महाभूतों का समुदाय रचकर खड़ा कर देता है।

(5.79) वह जगत् के हृदय में भरा है परन्तु वह कभी किसी का नहीं है। जगत् उत्पन्न होता और नाश पाता है पर इसकी उसे खबर भी नहीं है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15 ॥

(5.80) सब पाप-पुण्य पास है तथापि वह उन्हें न देखता और न उनका साक्षी होता है। तो फिर और बातों का पूछना ही क्या है?

(5.81) देह की संगति से वह प्रभु मूर्तिमान् हो क्रीड़ा करता है परन्तु उसकी निराकारता कभी मलिन नहीं होती,

(5.82) एवं चराचर में यह जो मत विख्यात है कि वह संसार की रचना करता है, स्थिति रखता, और नाश करता है, वह अज्ञान है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ 5.16 ॥

(5.83) यह अज्ञान जब सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है तब भ्रम का अन्धकार मिट जाता है और मुझ ईश्वर की निष्कर्मता प्रकट होती है।

(5.84) एतावता यदि चित्त में यह ज्ञान हो कि ईश्वर अकर्ता है और यदि इस विवेक का उदय हो कि

(5.85) स्वभावतः आरम्भ से मैं ही ईश्वर हूँ, तो उस मनुष्य को तीनों लोकों में किस बात का भेद रह जावेगा? स्वानुभव होते ही वह अपने समान ही सब जगत् को मुक्त समझेगा,

(5.86) जैसे कि सूर्य का उदय होते ही पूर्व दिशा के घर में दिवाली हो जाती है, तथा उसी समय अन्य दिशाओं के अन्धकार का भी नाश हो जाता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ 5.17 ॥

(5.87) अपनी बुद्धि के निश्चित होते ही उसे आत्मज्ञान हो जाता है। वह निज को ब्रह्मरूप जानता है और रात-दिन ब्रह्मपरायण हो पूर्ण ब्रह्मस्थिति विद्यमान रखता है।

(5.88) इस प्रकार उत्तम व्यापक ज्ञान जिनके हृदय को ढूँढता हुआ आ पहुँचा है उनकी एकत्व की दृष्टि का मैं शब्दों से और क्या वर्णन करूँ?

(5.89) इसमें क्या आश्चर्य है कि वे स्वयं जैसे एक हैं वैसे सब विश्व को देखते है!

(5.90) परन्तु जैसे भाग्यवान् को कभी कुतूहल से भी दरिद्रता दिखाई नहीं देती, अथवा विवेक जैसे कभी भ्रान्ति को नहीं पहचानता,

(5.91) अथवा सूर्य जैसे अन्धकार का नमूना स्वप्न में भी नहीं देखता, अथवा अमृत जैसे मृत्यु की कथा कभी कान से नहीं सुनती,

(5.92) और, रहने दो, जैसे चन्द्र को कभी यह खबर नहीं होती कि सन्ताप क्या वस्तु है, वैसे ही ज्ञानीजन प्राणियों में कभी भेद का नाम नहीं जानते।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ 5.18 ॥

(5.93) तब फिर यह मशक है और यह हाथी है, अथवा यह चाण्डाल है और यह ब्राह्मण है, यह अपना है और यह पराया है, इत्यादि बातें कहाँ रही?

(5.94) अथवा और अधिक क्या कहें, यह गौ है और यह कुत्ता है, यह बड़ा है और यह छोटा है, इत्यादि स्वप्न उस जागृत को कहाँ से होंगे?

(5.95) उसे तो भेद तभी दिखाई दे सकता है जब अहंभाव बच रहा हो। वह सब पहले ही नष्ट हो जाता है, फिर भिन्नता क्योंकर रह सकती है?

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ 5.19 ॥

(5.96) अतएव समदृष्टि का सम्पूर्ण मर्म यही समझो कि जो सर्वदा और सर्वत्र समान है वह अद्वितीय ब्रह्म स्वयं मैं हूँ।

(5.97) जिन्होंने न तो विषयों का संग छोड़ा और न इन्द्रियों को ही दण्ड दिया, पर कामना-रहित होकर निःसंगता का भोग किया है;

(5.98) और जिन्होंने संसार के आश्रय से व्यावहारिक कर्म तो किये हैं परन्तु मूढता से भरे हुए लौकिक कर्मों को ऐसे त्याग दिया है, जैसे कि सोया हुआ आदमी सब कामों से अलग रहता है

(5.99) ऐसे पुरुष यद्यपि देहधारी हैं फिर भी संसारी बुद्धिवाला उनको उसी तरह नहीं पहचान सकता जिस तरह लोगों में मौजूद रहने पर भी पिशाच किसी को देख नहीं पड़ता।

(5.100) और रहने दो, पवन के योग से जैसे जल में जल हिलोरता है और लोग उसे अलग तरंग समझते है,

(5.101) वैसे ही जिसका मन सर्वत्र समता को प्राप्त हुआ है उसे नाम और रूप हैं परन्तु वास्तव में वह ब्रह्म ही है।

(5.102) जो इस प्रकार समदृष्टि हुआ है उस पुरुष की पहचान के कुछ चिह्न भी हैं। श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! वे लक्षण हम संक्षेप से वर्णन करते है; सुनो।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ 5.20 ॥

(5.103) मृगजल की बाढ़ में जैसे पर्वत नहीं डिगते वैसे ही भला या बुरा अवसर प्राप्त होने से भी जिसे विकार उत्पन्न नहीं होता

(5.104) वही सच्चा है, वही तत्त्वतः समदर्शी है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे पाण्डुसुत! वही ब्रह्म है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ 5.21 ॥

(5.105) इसमें क्या आश्चर्य है कि जिसे आत्मस्वरूप छोड़ कर इन्द्रियसमूह की ओर लौटना ही नहीं वह विषयों का उपभोग नहीं करता?

(5.106) उसका अन्तःकरण सहज और अमर्याद आत्मसुख के आनन्द से भरा हुआ रहता है इसलिए वह बाहर की ओर पाँव नहीं डालता।

(5.107) कहो, चन्द्रविकासी कुमुद की पत्तल में जिस चकोर ने शुद्ध चन्द्रकिरणों को भोजन किया है वह क्या रेत के कण खावेगा?

(5.108) वैसे ही इसमें कहना ही क्या है कि जिसे आत्मसुख उत्पन्न हुआ है, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, उससे विषय सहज ही छूट जाते हैं।

(5.109) यों भी, तनिक ठीक विचार कर देखो तो इन विषयों के सुख में कौन फँसता है?

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ 5.22 ॥

(5.110) जिन्होंने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं किया है वे ही इन इन्द्रियों के विषयों से सुखी होते हैं। जैसे भूखे लोग दरिद्री लोग चूनी का भी सेवन करते हैं,

(5.111) अथवा, प्यास की पीड़ा से पीड़ित हुए मृग भ्रम से जल के आभास को जल समझ कर पथरीली जमीन पर आ पहुँचते हैं.

(5.112) वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप नहीं देखा, जिसे सर्वदा आत्मसुख की दरिद्रता बनी हैं, उसे ये विषय ही सुन्दर जान पड़ते हैं।

(5.113) नहीं तो विषयों में सुख है यह कहना ठीक नहीं। ऐसा हो तो संसार में विद्युत के प्रकाश से ही क्यों नहीं देखा जाता?

(5.114) यदि हवा, वर्षा और गर्मी का निवारण करने के लिए अभ्र की छाया से ही निर्वाह हो सके तो तिमंजिले मकान क्यों खड़े किये जाते हैं?

(5.115) अतएव विषयों में सुख समझना वृथा अज्ञान से जल्पना करना है। जैसे बचनाग को मधुर कहना,

(5.116) अथवा मंगल ग्रह को मंगल समझना, किंवा मृगजल को जल कहना, वैसे ही यह विषय-सम्बन्धी सुख का कथन वृथा है।

(5.117) और जाने दो, यह कहो कि सर्प के फन की छाया चूहे को कहाँ तक शीतल मालूम होगी?

(5.118) हे पाण्डव! मीन जैसे मांस का कौर न लीले तभी तक भला है वैसे ही निश्चय से सब विषयों के संग को भी जानो।

(5.119) हे किरीटी! इसे जो विरक्तों की दृष्टि से देखो तो यह पाण्डुरोग के समान दिखाई देता है।

(5.120) अतएव विषयभोग में जो सुख है उसे सम्पूर्ण दुःख ही जानो। परन्तु अज्ञानी क्या करें। बिना भोगे उनका निर्वाह नहीं होता।

(5.121) वे बेचारे भीतरी मर्म नहीं जानते इसलिए उन्हें विषय भोगने ही पड़ते हैं। कहो, क्या पीबरूपी कीचड़ के कीड़ो को कभी उसकी हीक आती है?

(5.122) उन दुःखियों को दुःख ही आत्मसुख है। वे विषयरूपी कीचड़ के दादुर, भोगरूपी जल के जलचर, उस कीचड़ अथवा जल को कैसे छोड़ सकते है?

(5.123) और यदि जीव विषयों के विषय से विरक्त हो जायँ तो जो दुःख की योनियाँ हैं वे क्या निरर्थक न हो जायँगी?

(5.124) अथवा गर्भवास इत्यादि संकट तथा जन्म-मरण के कष्ट इत्यादि की बाट (जिसमें जरा भी विश्राम नहीं हैं) कौन चलेगा?

(5.125) यदि विषयात्मक पुरुष विषयों को छोड़ देंगे तो महापाप कहाँ रहेंगे और जगत् में संसार का नाम झूठा न हो जावेगा?

(5.126) अतएव जो मिथ्या अविद्या-समूह है वह उन्होंने सच कर दिखाया है जिन्होंने विषयरूप दुःख को सुख जानकर स्वीकार किया है।

(5.127) इसलिए हे उत्तम योद्धा! विचार कर देखने से विषय निकृष्ट दिखाई देते है। तुम कभी इस मार्ग से भूल कर भी मत जाना।

(5.128) विरक्तजन इसको विष के समान जान कर त्याग देते हैं। उन आशा-रहित लोगों को विषयों में दिखाई देने वाले दुःखों की चाह नहीं रहती।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23॥

(5.129) और ज्ञानियों में तो निश्चय से विषयों की बात भी नहीं रहती। वे तो देह रहते हुए देह के विकार अपने अधीन कर लेते हैं।

(5.130) वे बाह्य विषयों का बिलकुल नाम भी नहीं जानते। उनके हृदय में एक सुख भरा रहता है।

(5.131) परन्तु उस सब सुख का भोग एक जुदी ही स्थिति में रह कर लिया जाता है। जैसे पक्षी फल का चुम्बन करते हैं वैसा यह भोग नहीं है। उसमें भोक्तृभाव का भी विस्मरण हो जाता है।

(5.132) उस भोग के समय एक ऐसी वृत्ति उठती है कि जो अहंकार का अंचल दूर कर सुख को दृढ आलिंगन देती है।

(5.133) उस आलिंगन से आप ही आप एक-रूपता हो जाती है। तब जल में मिला हुआ जल जैसे अलग नहीं दिखाई देता,

(5.134) अथवा आकाश में वायु मिल जाती है तो आकाश और वायु रूपी भेद का नाश हो जाता है वैसे ही उस सुख के समय सुख ही निज स्वरूप से रह जाता है।

(5.135) इस प्रकार द्वैत का नाम मिट जाता है। यदि यह कहा जाय कि इस समय एकता हो जाती है तो उस एकता का जाननेहारा साक्षी भी कौन रह जाता है?

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ 5.24 ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ 5.25 ॥

(5.136) इसलिए सब वर्णन रहने दो। जो अकथनीय है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? आत्मा ही स्वभावतः उस संकेत को पहचानेगा।

(5.137) जो इस सुख से मत्त हुए हैं, अपने स्वरूप में ही निमग्न रहते हैं, मैं समझता हूँ वे निखिल ब्रह्मानन्द से ही ढले हुए हैं।

(5.138) वे आनन्द के स्वरूप है, सुख के अंकुर हैं, अथवा मानो महाबोध के क्रीड़ास्थान हैं।

(5.139) वे विवेक के नगर हैं, अथवा परब्रह्म के स्वभाव हैं, अथवा ब्रह्मविद्या के अलंकार पहने हुए अवयव हैं।

(5.140) वे तत्व के सात्विक अंश हैं, अथवा चैतन्य के शरीर के अवयव हैं। "बहुत हुआ, एक-एक बात क्या वर्णन करते हो?

(5.141) तुम सन्तों की स्तुति में रमते हो तो तुम्हें कथा का स्मरण भी नहीं रहता, और निरालम्ब स्वरूप का प्रेमयुक्त वर्णन करते रहते हो,

(5.142) परन्तु अब उस रस की अधिकता रहने दो, ग्रन्थार्थरूप दीपक प्रकाशित करो, और साधुओं के हृदयरूपी मन्दिरों में मंगलरूपी प्रातःकाल करो।"

(5.143) इस प्रकार गुरु का अभिप्राय पाते ही निवृत्तिदास बोले — सुनो, श्रीकृष्ण ने कहा

(5.144) हे अर्जुन! जो अनन्त सुख के दह में डूब कर एकदम तले जा बैठे हैं और वहाँ स्थिर रह कर तद्रूप हो गये हैं,

(5.145) अथवा जिन्हें शुद्ध आत्मज्ञान के सहाय से अपने ही आत्मा में सब संसार प्रतीत होता है, वे हैं तो मनुष्य-देह-धारी तथापि खुशी से परब्रह्म रूप माने जा सकते हैं।

(5.146) जो वास्तव में सब से परे है, अथवा जो अविनाशी और सीमा-रहित है, जिस नगर में रहने का अधिकार केवल निष्काम जनों को है,

(5.147) जो महर्षियों में उन्नत है, विरक्तों के ही हिस्से में आता है, जो निःसन्देह जनों को निरन्तर ही बना है,

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ 5.26॥

(5.148) जिन्होंने अपना मन विषयों से जुदा कर जीत लिया है वे जिस स्थान में सोये हुए जागृत नहीं होते,

(5.149) ऐसा मोक्ष का स्थान, आत्मज्ञानियों का कारण, जो परब्रह्म है, वही हे पाण्डुकुमार! उपर्युक्त पुरुषों को समझो।

(5.150) यदि तुम पूछो कि वे ऐसे कैसे बन जाते हैं कि देह रहते ही ब्रह्मत्व को पहुँच जाते हैं, तो मैं उसका संक्षेप से वर्णन करता हूँ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ 5.27॥

(5.151) जो वैराग्य के आधार से विषयों को बाहर निकाल कर शरीर में मन को एकाग्र करते हैं,

(5.152) तथा जहाँ स्वभावतः (इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक) तीनों नाड़ियों का मिलाप होता है और जहाँ दोनों भौंहे मिलती है वहाँ जो उलटी दृष्टि लगा देते हैं.

(5.153) वे चिदाकाश में संचार करनेहारे योगी दाहिना और बायाँ भाग छोड़ कर चित्तसहित प्राण और अपान वायु को समान कर रखते हैं।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ 5.28॥

(5.154) गंगा नदी रास्ते के जिस भले-बुरे जल-सहित समुद्र में मिलती है वह जल जैसा अलग-अलग छाँटा नहीं जा सकता,

(5.155) वैसे ही हे अर्जुन! जब चिदाकाश में प्राण वा अपान वायु से मन का लय किया जाता है तब अन्य वासनाओं के विचार आप ही आप बन्द हो जाते हैं।

(5.156) जिस पर इस संसार का चित्र प्रतिबिम्बित होता है वह मनोरूपी परदा फट जाता है, और जैसे सरोवर सूख जाने से सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता,

(5.157) वैसे ही उस समय जब मूल मन ही नहीं रहता तब अहंभाव इत्यादि कहाँ रह सकते हैं? अतएव इस प्रकार अनुभव लेनेवाला देहसहित ब्रह्म हो जाता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 5.29॥

(5.158) पीछे हम कह चुके हैं कि जो देह सहित ब्रह्मत्व को पहुँचे हैं वे इसी मार्ग से गये हैं;

(5.159) और यम, नियम इत्यादि रूपी पर्वत को तथा अभ्यास के सागर को आक्रमण करके पार जा पहुँचे हैं।

(5.160) उन्होंने निज को उपाधि-रहित बना कर प्रपंच का अनुभव किया है और फिर वे सचमुच शान्ति-स्वरूप ही हो रहे हैं।

(5.161) इस प्रकार जब हृषीकेश ने योगमार्ग के अभिप्राय का वर्णन किया तब अर्जुन को, मार्मिक होने के कारण, सानन्द आश्चर्य हुआ।

(5.162) यह देख श्रीकृष्ण ने उसका भाव पहचाना और हँस कर पार्थ से कहा - क्या इस वचनों से तुम्हारा चित्त प्रसन्न हुआ?

(5.163) तब अर्जुन मे कहा कि हे पर-मनोगति के जाननेहारे! आपने मेरे मन का भाव ठीक पहचाना।

(5.164) मैं जो कुछ विचार कर पूछना चाहता हूँ वह आपने पहले ही जान लिया है। तो आप ने जो कुछ कहा है उसी का विस्तार से वर्णन कीजिए।

(5.165) जैसे गहरे पानी की अपेक्षा पाँव-उतार सुगम रहता है, वैसे ही आपने जो मार्ग बताया

(5.166) सो संसार में हमारे जैसे निर्बल मनुष्यों के लिए सांख्य योग की अपेक्षा सुलभ जान पड़ता है, परन्तु इस बात को स्वीकार हम कुछ काल के अनन्तर करेंगे।

(5.167) अतएव हे देव! एक बार पर्याय से इसी विषय का वर्णन कीजिए। विस्तार से हो तो भी कुछ हानि नहीं। साद्यन्त वर्णन कीजिए।

(5.168) तब श्रीकृष्ण बोले — हाँ, तुम्हें यह मार्ग भला मालूम होता है तो क्या अड़चन हैं, मैं कहता हूँ आनन्द से सुनो।

(5.169) हे अर्जुन! तुम श्रवण करते हो और श्रवण किये हुए तत्व का आचरण करने लिए उद्यत हो तो फिर हम उपदेश की क्यों कमी करें?

(5.170) श्रीकृष्ण का चित्त यों ही स्नेहयुक्त है, तिस पर भक्त का मिस हुआ है; फिर उस स्नेह की अद्भुतता का वर्णन कौन कर सकता है?

(5.171) उस कारुण्यरस की वृष्टि कहूँ किंवा नूतन प्रेम की सृष्टि कहूँ? किंबहुना, श्रीकृष्ण की उस कृपादृष्टि का मैं वर्णन ही नहीं कर सकता।

(5.172) क्योंकि वह दृष्टि मानों अमृत की ढली हुई थी, अथवा प्रेम ही पीकर मत्त हो गई थी। इसलिए अर्जुन के प्रेम में ऐसी फँस गई थी कि वहाँ से अलग होना भूल गई।

(5.173) इसका ज्यों-ज्यों अधिक वर्णन करेंगे त्यों-त्यों कथा का विषयान्तर होगा और तिस पर भी शब्दों से श्रीकृष्ण जी और अर्जुन के प्रेम का ठीक-ठीक वर्णन न हो सकेगा।

(5.174) इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो ईश्वर आप ही अपना माप नहीं कर सकता वह किसकी बुद्धि में आ सकता है?

(5.175) तथापि उपर्युक्त वचनों का अभिप्राय देखते, मुझे वह स्वभावतः प्रेमयुक्त मालूम हुआ; क्योंकि उसने आग्रह से कहा कि हे तात! सुनो।

(5.176) हे अर्जुन! जिस-जिस प्रकार से तुम्हारे चित्त को ज्ञान होगा उसी प्रकार से हम सविनोद निरूपण करेंगे।

(5.177) योग किस स्थिति का नाम है, उसका क्या उपयोग होता है, अथवा उसके लिए कौन अधिकारी है

(5.178) इत्यादि जो-जो बातें इस मार्ग के विषय में कही हैं उन सबों का हम वर्णन करेंगे।

(5.179) तुम चित्त देकर सुनो। तदनन्तर श्रीहरि ने जो कुछ कहा वह कथा आगे कही है।

(5.180) निवृत्तिदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने द्वैत न छोड़ते अर्जुन से योग का निरूपण किया उस कथा का हम वर्णन करते हैं।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां पञ्चमोऽध्यायः।

छठा अध्याय

(6.1) संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि फिर श्रीकृष्ण ने जो योगरूपी तत्व का निरूपण किया सो सुनो।

(6.2) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सहज लीला से ब्रह्मरस का भोजन दिया उसी समय वहाँ हम भी पाहुने बनकर पहुँच गये।

(6.3) इस भाग्य की महत्ता वर्णन नहीं की जाती। जैसे प्यासे को पानी दीजिए और वह उसका स्वाद लेकर देखे तो अमृत मालूम हो,

(6.4) वैसे ही हमारा तुम्हारा हाल हुआ है। क्योंकि मुख्य तत्व हमारे हाथ लग गया है। तब धृतराष्ट्र ने कहा, हम ने तुमसे यह बात नहीं पूछी।

(6.5) इन वचनों से संजय ने राजा का हृदय पहचान लिया कि उसे उस समय अपने पुत्रों की चिन्ता लग रही थी।

(6.6) यह जान कर संजय मन में हँसा और उसने कहा कि बूढ़ा मोह से पागल हो गया है; अभी तक जो संवाद हुआ वह बढ़िया हुआ,

(6.7) परन्तु यह बात कैसे हो सकती है कि जन्मान्ध देख सके? तथापि यह जान कर कि धृतराष्ट्र को क्रोध होगा संजय डरा।

(6.8) परन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद का लाभ होने से वह आप ही अपने चित्त में अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ।

(6.9) अब वह उस आनन्द से तृप्त हो अन्तःकरण का अभिप्राय प्रकट कर जो प्रेम से बोलेगा

(6.10) वही गीता में तत्त्वनिर्णयरूपी छठा अध्याय है। जैसे क्षीर समुद्र हाथ लगा है,

(6.11) वैसे ही जो सब गीतार्थ का सार है, जो विवेकरूपी समुद्र का परतीर है, अथवा जो योगरूपी सम्पत्ति का घर है,

(6.12) जो मूल प्रकृति का विश्रान्तिस्थान है, जहाँ वेदों का मौन हो जाता है, जहाँ से गीतारूपी बल्ली का अंकुर फूटता है,

(6.13) उस छठे अध्याय का वर्णन मैं आलंकारिक भाषा में करूँगा। उसे ध्यान देकर सुनिए।

(6.14) मेरे बोल यद्यपि अज्ञानी (प्राकृत) के हैं परन्तु मैं ऐसे मधुर शब्दों का प्रयोग करूँगा कि वे अमृत का भी शर्तिया पराभव करेंगे।

(6.15) उनकी मृदुता की तुलना से सप्त स्वरों के प्रकार भी हीन दिखाई देंगे। उनमें रत रहने की सुगन्ध भी तुच्छ हो जावेगी।

(6.16) उनकी सुरसता के लोभ से कानों को भी जीभ उत्पन्न होंगी और इन्द्रियों में आपस में कलह उत्पन्न होगी।

(6.17) यों तो शब्द श्रवण का विषय है परन्तु रसना कहेगी कि यह रस हमारा है। घ्राणेन्द्रिय को गन्ध विषय का भाव ज्ञात होता है, इसलिए यह भाषा सुगन्ध बन जावेगी।

(6.18) इस नवल भाषा-पद्यति को देखते ही नेत्रों को तृप्ति प्राप्त होगी। वे समझेंगे कि रूपविषय की खानि ही खुली है।

(6.19) जहाँ सम्पूर्ण पद समाप्त होगा वहाँ मन दौड़ कर बाहर आवेगा और उसे आलिंगन देने के लिए बाँहें फैलावेगा।

(6.20) इस प्रकार इन्द्रियगण अपने-अपने भाव के अनुसार इसे जानने का चेष्टा करेंगे परन्तु जैसे सूर्य सब जगत् को समान ही चेतना देता है वैसे ही यह भाषा की वाणी सब को समान ही बोध करेगी।

(6.21) उसी प्रकार इस भाषा की व्यापकता भी असाधारण है। देखनेवालों को और अर्थ जाननेवालों को उसमें चिन्तामणि के गुण दिखाई देते है।

(6.22) और क्या कहूँ, इस प्रकार भाषा की थालियाँ बनी है और उनमें ब्रह्मरस परोसा गया है। निष्काम लोगों के लिए मैंने यह कलेवा तैयार किया है।

(6.23) जो नित्य नूतन रहनेवाले आत्मज्योतिरूप दीपक के प्रकाश में इन्द्रियों के बिन जाने इस कलेवा का भोग लेगा उसी को इसका लाभ होगा।

(6.24) यहाँ श्रोताओं को श्रवणेन्द्रिय के सम्बन्ध से विरहित होना चाहिए। इसे मानसिक शरीर से भोगना चाहिए।

(6.25) इस भाषा का ऊपरी आच्छादन निकाल दिया जाय तो इससे ब्रह्मस्वरूप ही प्रकट होगा और अनायास सुख में सुख का भोग प्राप्त होगा।

(6.26) यदि उपर्युक्त मृदुता का लाभ हो, तो इस वाणी का उपयोग होगा; नहीं तो सब गूँगे-बहिरे की कथा हो जावेगी।

(6.27) परन्तु अब यह सब रहने दो; श्रोताओं को सावधान करने की कुछ आवश्यकता नहीं। क्योंकि वे सब कामना-रहित हैं, तथा स्वभावतः अधिकारी हैं।

(6.28) उन्होंने आत्मज्ञान की रुचि के हेतु स्वर्ग और संसार को निछावर कर डाला है। उनके सिवाय और कोई इस भाषा का माधुर्य नहीं जान सकता।

(6.29) जैसे कौवे चन्द्रमा को नहीं पहचानते वैसे ही सामान्य जन इस ग्रन्थ की महिमा नहीं जान सकते। और जैसे चन्द्रमा ही चकोर का खाद्य है

(6.30) वैसे ही यह ग्रन्थ ज्ञानियों का आश्रय है और अज्ञानियों के लिए पराया स्थल है। इसलिए विशेष कहने की तो कुछ आवश्यकता नहीं है

(6.31) तथापि प्रसंगानुसार मैंने जो कुछ कहा है उसके लिए सज्जनों को मुझे क्षमा करना चाहिए। अब श्रीकृष्ण ने जो निरूपण किया सो कहता हूँ।

(6.32) बुद्धि से उस निरूपण का आकलन होना कठिन है, अतएव वह शब्दों द्वारा कठिनता से प्रकट हो सकता है। परन्तु वह मुझे श्रीनिवृत्ति के कृपारूप दीपक के प्रकाश से दिखाई दे सकेगा।

(6.33) यदि इन्द्रियातीत ज्ञान के बल का लाभ हो तो जो वस्तु दृष्टि को प्राप्त नहीं हैं वह दृष्टि के बिना ही दिखाई दे सकती है;

(6.34) अथवा यदि दैवयोग से पारस हाथ लग जाय तो कीमिया बनानेवाले को भी न जुरनेहारा सुवर्ण लोहे से ही प्राप्त हो सकता है,

(6.35) उसी तरह यदि सद्गुरु की कृपा हो तो प्रयत्न करने से क्या प्राप्त नहीं होता? एवं ज्ञानदेव कहते हैं कि वह कृपा मुझ पर अपार है,

(6.36) इसलिए मैं निरूपण करता हूँ। मैं शब्दों से अरूप ब्रह्म का रूप प्रकट करूँगा और वह इन्द्रियों के परे है सही तथापि इन्द्रियों से उसका भोग करा दूँगा।

(6.37) सुनिए; तदनन्तर यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूपी छः श्रेष्ठ गुण जिसमें बसते हैं

(6.38) और इसलिए जो भगवान् कहाता है, वह निःसंगों का सँगाती पार्थ से बोला कि अब मेरी ओर चित्त दो।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ 6.1 ॥

(6.39) सुनो, संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। उन्हें जुदे मत मानो। साधारणतः विचार करने से वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं।

(6.40) दूसरा नाम केवल आरोप है, उसे छोड़ दो तो जो योग है वही संन्यास है। ब्रह्मदृष्टि से देखते दोनों में कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता।

(6.41) एक ही मनुष्य को जैसे जुदे-जुदे नामों से पुकारते हैं अथवा जैसे एक ही जगह जाने के लिए जुदे-जुदे मार्ग रहते है,

(6.42) अथवा, जैसे पानी स्वभावतः एक है परन्तु जुदे-जुदे घड़ों में भरा हुआ रहता है वैसी ही भिन्नता योग और संन्यास की जानो।

(6.43) हे अर्जुन! संसार में सब की यह सम्मति है कि योगी उसी को समझना चाहिए जो कर्म करके फल में अनुरक्त नहीं रहता।

(6.44) जैसे पृथ्वी सहज ही अहंबुद्धि के बिना वृक्ष इत्यादि उत्पन्न करती है परन्तु उनके बीजों की अपेक्षा नहीं करती

(6.45) वैसे ही सर्वत्र जो आत्मा व्याप्त है उसके आधार से तथा जाति के अनुरूप जिस अवसर पर जो कर्म प्राप्त हो

(6.46) वही उचित जान जो करता है, परन्तु शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता, एवं जिसकी बुद्धि कर्म करके फल की आशा तक नहीं पहुँचती

(6.47) वही संन्यासी है। हे पार्थ! सुनो, वास्तव में वही योगीश्वर है।

(6.48) अन्यथा जो नैमित्तिक उचित कर्म को बद्धक समझ कर छोड़ देता है और तत्काल दूसरा कर्म करने में प्रवृत्त होता है

(6.49) वह, जैसे एक लेप पोंछकर तुरन्त ही दूसरा लगाया जाय ऐसे, आग्रह के अधीन हो वृथा विवंचना में पड़ता है।

(6.50 पहले से जो स्वभावतः गृहस्थाश्रम का बोझा सिर पर है, वही बोझा वह संन्यास लेकर अधिक बढ़ाता है।

(6.51) अतएव श्रौत, स्मार्त, होम इत्यादि न छोड़ते कर्म की मर्यादा का उल्लंघन हो तो निज में ही सहज योगसुख प्राप्त होता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ 6.2 ॥

(6.52) सुनो, जो संन्यासी है वही योगी है — इस एकवाक्यता की पताका संसार में अनेक शास्त्रों ने फहराई है।

(6.53) उन्होंने अपनी अनुभवरूपी तुला से यह सत्य ठहराया है कि जहाँ त्याग किये हुए संकल्प का लोप होता है वहीं योग-साररूपी ब्रह्म की भेंट होती है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ 6.3 ॥

(6.54) अब हे पार्थ! यदि योगरूपी पर्वत के शिखर पर पहुँचना हो तो यह कर्ममार्गरूपी जीना मत छोड़ो।

(6.55) इस मार्ग के द्वारा यम-नियमरूपी आधारभूमि पर से आसनरूपी पगडण्डी पकड़ कर प्राणायाम की कगार से ऊपर चढ़ो।

(6.56) फिर प्रत्याहार मध्यभाग है, जहाँ बुद्धि के भी पैर फिसलते हैं और जिसका आक्रमण करते समय हठयोगी भी गिरने के डर से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं,

(6.57) तथापि अभ्यास के बल से उस प्रत्याहार के निरालम्ब आकाश में भी धीरे-धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जावेगा।

(6.58) इस प्रकार वायुरूप घोड़े पर सवार हो धारणा के मार्ग से चलते रहो जब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकल जाओ।

(6.59) तब फिर इस मार्ग से चलना बन्द हो जावेगा। प्रवृत्ति की इच्छा भी बन्द हो जावेगी। ब्रह्मानन्द की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एक में मिल जावेंगे।

(6.60) आगे चलना बन्द हो जावेगा और पिछला स्मरण भी रुक जावेगा। ऐसी समान भूमिका पर समाधि लग जावेगी।

(6.61) इस उपाय से योगारूढ हो जो अत्यन्त प्रबुद्ध हो जाता है उसके लक्षणों का हम निर्णय करते हैं, सुनो।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ 6.4 ॥

(6.62) जिसके इन्द्रियों के घर विषयों का आवागमन नहीं हैं, जो आत्मज्ञान की कोठरी में सोता है,

(6.63) सुख-दुःखरूपी शरीर से संघटित होते हुए भी जिसका मन जागृत नहीं होता, जो पास आये हुए विषयों का स्मरण भी नहीं करता,

(6.64) इन्द्रियगण कर्म में प्रवृत्त हों तथापि जो फल के हेतु की अन्तःकरण में कभी इच्छा नहीं करता,

(6.65) इतना बड़ा देह धारण करते हुए जो जागृत में भी निद्रित दिखाई देता है उसी को भली भाँति योगारूढ हुआ समझो।

(6.66) तब अर्जुन ने कहा, हे अनन्त! यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य होता है। अतएव कहिए, उस योगी को इस प्रकार की योग्यता कौन देता है?

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ 6.5 ॥

(6.67) तब श्रीकृष्ण ने हँसकर कहा कि क्या तुम्हारा यह प्रश्न आश्चर्यकारक नहीं है? इस अद्वैत में कौन किसे क्या दे सकता है?

(6.68) भ्रमरूप शय्या पर दृढ अज्ञानरूपी निद्रा आती है तब यह जन्ममृत्युरूपी दुःस्वप्न का भोग प्राप्त होता है।

(6.69) अनन्तर जब अकस्मात् चेत आता है तब वे सब बातें मिथ्या प्रतीत होती हैं। इस प्रकार जो सद्भाव उत्पन्न होता है वह भी निज में ही उत्पन्न होता है।

(6.70) हे धनंजय! फल यह हुआ कि हम मिथ्या देहाभिमान पर चित्त देकर आप ही अपना घात करते हैं।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6.6 ॥

(6.71) विचार कर इस अहंकार का त्याग किया जाए, और जो नित्य बना है वह ब्रह्मरूप प्राप्त किया जाय, तो हम आप ही अपना कल्याण सहज में कर लेंगे।

(6.72) नहीं तो जो इस सुशोभित शरीर को ही आत्मा समझता है वह कोसे के कीड़े के समान आप ही अपना वैरी है।

(6.73) लाभ के समय दुर्दैवी मनुष्य को कैसी अन्धत्व की इच्छा होती है जो वह आप ही अपनी खुली हुई आँखें मूँद लेता है।

(6.74) अथवा जैसे कोई भ्रम के कारण समझ ले कि मैं नहीं हूँ, मैं खो गया, और अन्तःकरण में ऐसा मिथ्या हठ किये रहे,

(6.75) तो यथार्थ में वह जो है सो ही है, तथापि क्या किया जाय, उसकी बुद्धि वैसी नहीं होती। देखो,,स्वप्न में लगे हुए घाव से क्या कोई सचमुच मरता है?

(6.76) तोते के शरीर के भार से उसे पकड़ने के लिए रक्खी हुई नली उलटी फिरती है, तब वह चाहे तो उड़ जाय, परन्तु उसके मन का सन्देह नहीं जाता.

(6.77) वह वृथा गर्दन ऐंठता है, छाती संकुचित कर नली को दबाता है, और उसे अपने पाँव के पंजे से दृढ खींचे रहता है।

(6.78) वह समझता है कि मैं निःसन्देह बाँधा गया हूँ। ऐसी भावना के खड्ड में पड़ते ही वह खुले पाँव के पंजे को और अधिक फँसाता है।

(6.70) इस प्रकार जो निष्कारण फँसता है उसे क्या कोई दूसरा बाँधता है? परन्तु चाहे उसे आधा काट डालो तो भी वह नली नहीं छोड़ता।

(6.80) अतएव, श्रीकृष्ण ने कहा कि वह आप ही अपना वैरी है जिसने अपना संकल्प बढ़ा रक्खा है तथा जो मिथ्या वस्तु के वश नहीं होता वही आत्मज्ञानी है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ 6.7 ॥

(6.81) अन्तःकरण को जीतनेहारे तथा सकल कामना के शमन करनेहारे उससे परमात्मा कुछ जुदी और दूरस्थ वस्तु नहीं है।

(6.82) जैसे सोने का मैल निकल जाय तो वह खरा सोना बना ही हुआ है, वैसे ही संकल्प का नाश होते ही जीव को ब्रह्मत्व ही प्राप्त है।

(6.83) जैसे घटाकाश का नाश हो तो उसे आकाश में मिल जाने के लिए किसी दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता

(6.84) वैसे ही जिसका मिथ्या देहाभिमान बिल्कुल नष्ट हो जाता है वह पहले से ही सब जगह भरा हुआ परमात्मरूप ही है।

(6.85) उसमें शीत और उष्ण के प्रवाह, सुख-दुःख के विचार, मान-अपमान के शब्द, इत्यादि बातों का समावेश नहीं होता।

(6.86) क्योंकि जैसे जिस मार्ग से सूर्य्य जाता है वह विश्वप्रदेश तेजरूप हो जाता है, वैसे ही वह जो वस्तु प्राप्त करता है तद्रूप ही हो जाता है।

(6.87) देखो, मेघों से निकली हुई वर्षा की धाराएँ जैसी समुद्र में गड़ी हुई जुदी नहीं रहतीं, वैसे ही योगीश्वर शुभाशुभ कर्म जुदे नहीं समझता।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8 ॥

(6.88) यह जो संसार-ज्ञानात्मक भाव है उसका विचार करते ही वह उसे मिथ्या जान पड़ता है, और ज्योंही विचार करता है त्योंही वह स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है।

(6.89) फिर यह तर्क करना कि मैं व्यापक हूँ कि अव्यापक, द्वैतभाव न रहने के कारण आप ही आप बन्द हो जाता है।

(6.90) इस प्रकार, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है उसे, यद्यपि वह देहधारी हो तथापि, योग्यता में परब्रह्म के तुल्य समझना चाहिए।

(6.91) जितेन्द्रिय वही है और योगयुक्त उसी को कहना चाहिए जो कभी ऐसा भेद नहीं करता कि यह छोटा और यह बड़ा है;

(6.92) जो मेरू पर्वत जैसा विशाल सोने का गोला और मिट्टी का ढेला दोनों को समान समझता है;

(6.93) और जो इतना निरिच्छ है कि ऐसे उत्तम और अमोल रत्न को, कि जिसके आगे पृथ्वी का मोल भी थोड़ा है, पत्थर के समान समझता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9 ॥

(6.94) फिर उसमें मित्र और शत्रु अथवा उदासीन और मित्र इत्यादि विचित्र और भिन्न भावों की कल्पना कैसे हो सकती है?

(6.95) उसे कौन कहाँ का मित्र है और कौन द्वेषी है? जिसे ज्ञान हो गया है कि मैं ही विश्व हूँ,

(6.96) उसकी दृष्टि में, हे किरीटी! क्या अधमोत्तम भेद रह सकता है? क्या पारस की कसौटी से सुवर्ण के उत्तम मध्यम भेद हो सकते है?

(6.97) वह कसौटी जैसे शुद्ध सुवर्ण ही को उत्पन्न करती है वैसे उस योगी की बुद्धि को चराचर में निरन्तर एकता ही प्रकट होती है।

(6.99) ऐसा जो उत्तम ज्ञान है वह सब उस पुरुष को प्राप्त हो गया है। इसलिए वह बाह्य चित्र-विचित्र रचना में नहीं फँसता।

(6.100) यदि पट की ओर दृष्टि दी जाय तो जैसे सम्पूर्ण तन्तु की सृष्टि दिखाई देती है वैसे ही उसके पास एकता के सिवाय दूसरी वार्ता ही नहीं रहती।

(6.101) जिसे ऐसी प्रतीति प्राप्त होती है, जिसे ऐसा अनुभव होता है वही समबुद्धि है। यह बात मिथ्या मत जानो।

(6.102) जिसका नाम तीर्थराज के तुल्य है, जिसके दर्शन से शान्ति उत्पन्न होती है, जिसके संग से भ्रान्त लोगों को भी ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है,

(6.103) जिनके वचन धर्म का जीवन हैं, जिसकी दृष्टि से महासिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, तथा स्वर्ग इत्यादि सुख जिसके खेल है,

(6.104) उसका यदि अकस्मात् भी चित्त में स्मरण हो तो वह स्मरण करनेहारे को अपनी योग्यता प्राप्त करा देता है। बहुत क्या कहें, उसकी स्तुति करना लाभदायक है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ 6.10 ॥

(6.105) जिसे ऐसे अद्वैत रूपी दिन का उदय हुआ है कि जो पुनः कभी अस्त नहीं होता, और जो निरन्तर अपने आप में निमग्न रहता है,

(6.106) हे पार्थ! जो इस प्रकार विवेकी है वही अद्वितीय है, क्योंकि तीनों लोकों में वही है जो परिवार-रहित है।

(6.107) श्रीकृष्ण ने, जहाँ तक उनसे हो सका वहाँ तक, सिद्धों के इस प्रकार असाधारण लक्षण वर्णन किये

(6.108) और कहा कि जो सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है, जो देखनेवालों की दृष्टि का प्रकाशक है, जिस प्रभु के संकल्प से विश्व की रचना होती है,

(6.109) ओंकाररूपी हाट में जो शब्दब्रह्मरूपी वस्त्र मिलता है वह भी जिसकी कीर्ति के सामने अल्प होता हुआ उसका आच्छादन करने के लिए बस नहीं होता,

(6.110) जिसके शरीर के तेज से सूर्य और चन्द्र के व्यापार की महिमा है, (तो फिर उसके बिना इस जगत् के प्रकाशित होने की वार्ता ही क्या है?)

(6.111) अजी जिसके केवल नाम के सामने गगन भी अल्प दिखाई देता है, उसका एक-एक गुण तुम कहाँ तक जान सकोगे?

(6.112) अतएव यह स्तुति रहने दो। हम नहीं कह सकते कि इस स्तुति के मिस से हमने किसके लक्षणों का वर्णन किया अथवा यह वर्णन ही क्यों किया?

(6.113) सुनो, द्वैत का जो निशान मिटा देती है वह ब्रह्मविद्या यदि व्यक्त कर दी जाय तो हे अर्जुन! प्रेम का माधुर्य्य चला जावेगा।

(6.114) इसी लिए हमने वैसा वर्णन नहीं किया। हमने प्रेम का भोग लेने के लिए एक पतले से परदे की आड़ रख कर मन को अलग-सा कर दिया।

(6.115) जो सोहंभाव में अटके हुए हैं, जो मोक्ष-सुख के लिए दीन हो रहे हैं उनकी दृष्टि का कलंक अपने जैसे भक्त के प्रेम को न लगने दो।

(6.116) कदाचित् भक्त का अहंकार चला जाय और वह मद्रूप हो जाय तो फिर मैं अकेला क्या करूँगा?

(6.117) फिर ऐसा कौन रहेगा कि जिसे देखकर हमारी दृष्टि जुड़ावे, अथवा जिसे हम मनमाना वार्तालाप कर सके, अथवा जिसे दृढ आलिंगन दे सके?

(6.118) यदि हमारा ऐक्य हो जाय तो अपने हृदय की उत्तम और मन में न समानेवाली बातें हम किनसे कहेंगे?

(6.119) इस प्रकार प्रेम की दीनता के वश हो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करने के बहाने अपने ही मन से मन को आलिंगन देने की चेष्टा की।

(6.120) यह बात सुनने में औघट जान पड़ती है परन्तु पार्थ को स्पष्ट श्रीकृष्ण-सुख की ढली हुई मूर्ति ही समझो।

(6.121) और तो क्या, जैसे बाँझ स्त्री को वृद्धापकाल में एक ही पुत्र होता है और फिर उस में जैसी मोह की प्रपंच-रचना प्रकट होने लगती है

(6.122) वैसा ही हाल श्रीकृष्ण का हुआ। यह बात मैं न कहता यदि मैं उनके प्रेम की अधिकता न देखता।

(6.123) देखो, प्रेम कैसी आश्चर्यकारक वस्तु है! कहाँ उपदेश और कहाँ युद्ध, परन्तु बीच में प्रेमियों का प्रेम ही प्रकट हो रहा है।

(6.124) प्रेम और लजावे नहीं, व्यसन और थकावे नहीं, भ्रम और भुलावे नहीं, तो फिर बात ही क्या रही?

(6.125) भावार्थ यह है कि अर्जुन मैत्री का आश्रयस्थान है, अथवा मानों सुख-शृंगार किये हुए मन का दर्पण है।

(6.126) इस प्रकार वह अत्यन्त पुण्य और पवित्र है, तथा संसार में भक्तिरूपी बीज बोने के लिए मानों एक उत्तम खेत है। इसलिए वह श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र हुआ है।

(6.127) अथवा आत्मनिवेदन के पूर्व जो सख्य नामक एक भूमिका है अर्जुन उसकी आश्रयभूत देवी है।

(6.128) वह श्रीकृष्ण को इस प्रकार प्यारा है कि उसके पास खड़े हुए स्वयं श्रीकृष्ण की स्तुति चाहे न की जाय पर सेवक की स्तुति अवश्य करनी चाहिए।

(6.129) देखो, जो प्रेम से पति की सेवा करती है और पति जिसका आदर करता है वह पतिव्रता, पति की अपेक्षा, क्या अधिक नहीं बखानी जाती?

(6.130) वैसे ही मेरे हृदय में अर्जुन की विशेष स्तुति करना ही भाता है। क्योंकि वही एक त्रिभुवन के भाग्य का अधिष्ठान हो रहा है।

(6.131) उसके प्रेम के वश से निराकार परमात्मा ने भी साकारता स्वीकारी है और स्वयं पूर्ण होते भी उसे उसकी उत्कण्ठा लग रही है।

(6.132) तब श्रोताओं ने कहा — "अहो भाग्य है! कैसी सुन्दर वाणी है! अजी आश्चर्य नहीं, भाषा हो तो ऐसी ही हो। मानों आकाश में अलंकाररूपी नाना प्रकार के रंग उठ रहे हैं।

(6.134) कैसी स्वच्छ ज्ञानरूपी चाँदनी चमकी है, और भावार्थरूपी शीतलता छा रही है, तथा श्लोकार्थरूपी कमलिनी सहज विकसित हो रही है!

(6.135) इससे मनोरथों की ऐसी बाढ़ हुई है कि निष्काम लोगों को भी कामना उत्पन्न होगी।" इस प्रकार श्रोतागण अन्तःकरण में आनन्दित हो डोलने लगे।

(6.136) यह देखकर निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर ने कहा — "ध्यान दीजिए। पाण्डवकुल में कृष्णरूपी एक अनोखे सूर्य का प्रकाश हो रहा है।

(6.137) उसे देवकी ने गर्भ में धारण किया, यशोदा ने कष्ट कर पालन किया, परन्तु निदान में वह पाण्डवों का उपयोगी हुआ।

(6.138) इसलिए कई दिनों तक सेवा करने का और फिर अवसर से विनती करने का कष्ट उस भाग्यवान अर्जुन को नहीं पड़ा।

(6.139) परन्तु यह बात रहने दो। अब शीघ्र कथा-निरूपण करता हूँ।" अर्जुन ने प्रेम से कहा कि हे देव! आपके वर्णन किये हुए सन्तों के लक्षण मुझमें नहीं है।

(6.140) यों तो इन लक्षणों के तात्पर्य के माप से मैं निश्चय से अल्प हूँ, तथापि सुनिए, मैं आपके वचनों से श्रेष्ठता पर सकता हूँ।

(6.141) यदि आप मन में लावें तो मैं ब्रह्म हो सकता हूँ। कुछ भी हो, आप जो कहें सो अभ्यास कर सकता हूँ।

(6.142) आपने न जाने किसका वर्णन किया परन्तु उसे सुनकर मेरे अन्तःकरण में उसकी श्लाघा उत्पन्न होती है, तो फिर वैसी योग्यता प्राप्त होने से कितना आनन्द होगा?

(6.143) क्या मैं ऐसा बन सकूँगा? हे गोस्वामी! क्या आप अपनी ओर से इतनी कृपा करेंगे? तब श्रीकृष्ण ने हँस कर कहां — "हाँ हाँ, करेंगे।"

(6.144) देखो, जब तक एक सन्तोष प्राप्त नहीं होता तभी तक सुखप्राप्ति के विषय में बहुतेरी कठिनता मालूम होती है। परन्तु सन्तोष प्राप्त होते ही क्या कभी सुख की न्यूनता रहती है?

(6.145) वैसे ही अर्जुन सर्वेश्वर जैसे समर्थ धनी का सेवक था इसलिए वह सहज ही ब्रह्म हो गया। वह कैसा भाग्यरूपी पकी हुई फसल के बोझ से झुक रहा है।

(6.146) जिसकी भेंट इन्द्रादि देवताओं को भी सहस्रावधि जन्मों में होना दुर्लभ है वह इस अर्जुन के अधीन हो गया है कि उसका एक शब्द भी विफल नहीं होने देता!

(6.147) अर्जुन ने जो ब्रह्म होने की इच्छा प्रकट की वह श्रीकृष्ण ने सुन ली।

(6.148) उन्होंने सोचा कि उसे ब्रह्मत्व के दोहद हो रहे हैं जिससे यह जाना जाता है कि इसकी बुद्धि के पेट में वैराग्य का गर्भ है।

(6.149) यों तो, इसके दिन पूरे नहीं हुए है, तथापि यह अर्जुन-वृक्ष वैराग्य-वसन्त की बहार के कारण सोहंभावरूपी बौर से झुक रहा है;

(6.150) एवं श्रीकृष्ण को यह निश्चय हुआ कि अर्जुन ऐसा विरक्त हो रहा है कि उसे मोक्ष-प्राप्ति-रूपी फल पाने में विलम्ब न लगेगा।

(6.151) वे जान गये कि जो जो तत्व यह ग्रहण करेगा सो आरम्भ करते ही इसे फलद्रूप होगा। इस लिए इसे जो अभ्यास बताया जाय वह वृथा न जावेगा।

(6.152) यह समझ कर उस समय श्रीहरि ने अर्जुन से कहा कि अब हम तुम्हें सब योगों में श्रेष्ठ योग बताते है, सो सुनो।

(6.153) उस मार्ग में संसार-रूपी वृक्ष के नीचे करोड़ो मोक्ष-फल बिछे हैं। उस मार्ग से श्रीशंकर अभी तक यात्रा कर रहे हैं।

(6.154) प्रथम योगीजन चिदाकाश में आड़े-टेढ़े मार्ग से ही गये थे। परन्तु वहाँ उनके अनुभवरूपी पाँव के चिह्न बन जाने से एक रास्ता बन गया।

(6.155) इसलिए उनके अनुगामी, और सब अज्ञानरुपी मार्गों को छोड़कर, इसी आत्मज्ञानरूपी सीधे मार्ग से दौड़ते चले।

(6.156-57) इसी मार्ग से साधक सिद्ध हो गये तथा तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ हो गये। यह मार्ग देखो तो भूख-प्यास भूल जाती है तथा रात और दिन नहीं जान पड़ते।

(6.158) चलते समय जहाँ पाँव पड़ जाय वहीं मोक्ष की खानि प्रकट हुई दिखाई देती है, तथा टेढ़े-मेढ़े जाने से भी स्वर्गसुख प्राप्त होता है।

(6.159) पूर्व दिशा की ओर मुँह करके निकलिए तो शान्तता से पश्चिम के घर पहुँच जाते हैं। हे धनुर्धर! इस मार्ग पर चलना ऐसा ही है।

(6.160) इस मार्ग से जिस गाँव को जाइए वह गाँव अपना ही बन जाते है। यह मैं क्या वर्णन करूँ, तुम्हें सहज ही मालूम हो जावेगा।

(6.161) तब पार्थ ने पूछा कि हे देव! तो फिर कब मालूम हो जावेगा? इस उत्कण्ठारूपी समुद्र में डूबे हुए मुझको आप बाहर क्यों नहीं निकालते?

(6.162) तब श्रीकृष्ण ने कहा, ऐसे अधीर वचन क्यों बोलते हो? हम स्वयं कहनेवाले ही थे कि इतने में तुमने प्रश्न किया।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ 6.11॥

(6.163) तो अब हम विशेष रीति से निरूपण करते है। परन्तु उसका उपयोग अनुभव से ही होगा। प्रथम ऐसा एक स्थान ढूँढ़ना चाहिए

(6.164) कि जहाँ समाधान की इच्छा से बैठते ही उठने की इच्छा न हो, जिसे देखते ही वैराग्य की दुगुनी बाढ़ हो;

(6.165) जिसे सन्तों ने बसाया हो, जो सन्तोष का सहकारी हो और मन को धैर्य का प्रोत्साहन देता हो;

(6.166) जहाँ रमणीयता निरन्तर ऐसी बढ़ी हुई हो कि अभ्यास ही स्वयंसाधक के वश हो जाय तथा अनुभव आप ही आप हृदय में आ बसे;

(6.167) जिसके समीप से निकलते ही हे पार्थ! नास्तिकों को भी श्रद्धा उत्पन्न होकर तपश्चर्या की इच्छा हो;

(6.168) जहाँ यदि कोई सकाम भी मार्ग चलते-चलते अकस्मात् पहुँच जाय तो उसे फिर लौटने का स्मरण न हो।

(6.169) इस प्रकार, ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए कि जो न रहनेहारे को रख ले, न भ्रमण करनेहारे को बैठा दे तथा वैराग्य को थपट कर जागृत करे;

(6.170) जिस देखते ही शृंगारियों को ऐसा मालूम हो कि बड़ा राज भी त्याग दें और वहीं शान्तता से बैठे रहे;

(6.171) जो उत्तम और निर्मल हो, एवं जहाँ ब्रह्मस्वरूप आँखों से प्रकट दिखाई देता हो।

(6.172) एक बात और देखनी चाहिए। वह स्थान साधकों से बसा हो परन्तु और लोगों के पाँवों की धूलि से मलिन न हुआ हो।

(6.173) वहाँ अमृत के समान जड़ से मीठे और सदा फलनेहारे वृक्ष सघन हो।

(6.174) डग डग पर पानी हो, जो वर्षा-काल को छोड़ सदा निर्मल रहे। निर्झर भी बहुत सुभीते के हो।

(6.175) घाम थोड़ा ही तपता हो तथा शीतल पवन अत्यन्त निश्चल और मन्द-मन्द बहती हो।

(6.176) प्रायः कहीं शब्द न होता हो, और वन ऐसा सघन हो कि श्वापदों का प्रवेश न हो सको तोते या भ्रमर भी वहाँ न हों।

(6.177) पानी के समीप रहनेहारे हंस हों, दो चार सारस हों, किसी समय कोयल भी आ बैठे,

(6.178) निरन्तर नहीं तथापि कुछ मोर भी आते जाते रहें तो हम ना नहीं कहते।

(6.179) परन्तु ऐसा स्थान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए। वहाँ कोई गुप्त मठ हो अथवा शिवालय हो।

(6.180) इन दोनों में से कोई एक — जिससे चित्त प्रसन्न हो - होना चाहिए और वहाँ प्रायः एकान्त में बैठना चाहिए।

(6.181) मतलब यह है कि ऐसा स्थान ढूँढ़ना चाहिए और यह परीक्षा करनी चाहिए कि वहाँ मन स्थिर होता है या नहीं। यदि होता हो तो वहाँ इस प्रकार आसन लगाना चाहिए

(6.182) कि ऊपर सुन्दर मृगचर्म हो, बीच में धुले हुए वस्त्र की तह हो और नीचे अग्र-सहित अत्यन्त कोमल कुश ऐसी व्यवस्थित रीति से बिछाये गये हों

(6.183) कि वे सहज ही समान मिल हुए और एक से रह सको

(6.184) कदाचित आसन ऊँचा हो जाय तो शरीर हिल जावेगा और नीचा हो तो भूमि के सम्बन्ध का दोष प्राप्त होगा।

(6.185) इसलिए ऐसा न होना चाहिए। आसन को समान रखना चाहिए। बहुत क्या कहें, आसन उपर्युक्त वर्णन के अनुसार होना चाहिए।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ 6.12 ॥

(6.186) फिर योगी को वहाँ एकान्त अन्तःकरण कर सद्गुरु का स्मरण-रूपी अनुभव लेना चाहिए।

(6.187) प्रेम से स्मरण करते ही सवाह्य अन्तःकरण सात्विक भावों से भर जाय, अहंकाररूपी जड़ता चली जाय,

(6.188) विषयों की विस्मृति हो जाय, हृदय में मनरूपी वस्त्र की तह बन जाय,

(6.189) ऐसी एकता जब तक सहज ही प्राप्त न हो जाय तब तक स्मरण करते रहना चाहिए। इस प्रकार के अनुभव-रहित आसन पर बैठना चाहिए।

(6.190) उस समय ऐसी प्रतीति होने लगती है कि शरीर ही शरीर को सँभालता है, तथा प्राण ही प्राण को सँभालता है,

(6.191) प्रवृत्ति पीछे फिरती है। समाधि इस पार ही रह जाती है। आसन पर बैठते ही सब अभ्यास सुकर हो जाते है।

(6.192) आसन की ऐसी महिमा है। अब हम आसन की विधि का वर्णन करते हैं, सुनो। जंघा को पिंडुली से मिला दो।

(6.193) पाँव के तलुए एक पर ड्योढ़ा कर गुदस्थान के मूल में स्थिर रख जोर से दबाओ।

(6.194) दहना पाँव नीचे रक्खो और वृषण से गुदस्थान तक जो रेखा है उसे उससे दबाओ। इस कृति में बायाँ पाँव आप ही ऊपर रहेगा।

(6.195) गुदा और शिश्न के बीच जो केवल चार अंगुल जगह है उसमें से दोनों ओर डेढ़ डेढ़ अंगुल छोड़ कर

(6.196) बीच में जो एक अंगुल रह जाती है वहाँ एड़ी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर तौल धरो।

(6.197) पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया न उठाया मालूम हो तथा दोनों घुटनों का भी तौल सँभालो।

(6.198) तब हे पार्थ! सम्पूर्ण शरीर का ढाँचा एड़ी के माथे पर स्थिर हो रहेगा।

(6.199) हे अर्जुन! यह मूलबन्ध का लक्षण है। इसे गौण वज्रासन कहते है।

(6.200) इस प्रकार जब मूलाधार का बन्ध सिद्ध होता है और अपान वायु का अधोमार्ग बन्द हो जाता है तब वह वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ 6.13 ॥

(6.201) हाथ द्रोणाकार किये हुए सहज ही बायें पाँव पर रहते हैं और बाहुमूल फूले हुए दिखाई देते हैं।

(6.202) बीच मे शरीरदण्ड स्थिर रहने के कारण शिरकमल भीतर घुसा हुआ मालूम होता है तथा नेत्रद्वार के किवाड़रूपी पलक बन्द होते से दिखते हैं।

(6.203) ऊपर की बिन्नियाँ नहीं हिलतीं तथा नीचे स्थिर बनी रहती है जिससे नेत्रों की अर्द्धोन्मीलित स्थिति हो जाती है।

(6.204) दृष्टि भीतर की ओर रहते हुए कुतूहल से बाहर पग डालती है, और नासाग्र तक आई हुई दिखाई देती है;

(6.205) तथा भीतर की दृष्टि भीतर ही रह कर बाहर नहीं निकलती इसलिए उस अर्द्धदृष्टि का निवास नासाग्र पर स्थिर हो जाता है।

(6.206) तब दिशाओं की भेंट लेना अथवा रूप देखने की बाट जोहना इत्यादि इच्छाएँ आप ही आप बन्द हो जाती हैं।

(6.207) कण्ठ सूखने लगता है। ठोड़ी कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती है और हृदय को जोर से दबाती है,

(6.208) और बीच में कण्ठमणि अदृश्य हो जाती है। इस प्रकार जो बन्ध बनता है उसे जालन्धर कहते हैं।

(6.209) नाभि ऊपर उठ आती है, पेट भीतर घुस जाता है और हृदय में हृदयकमल विकसता है।

(6.210) इस प्रकार नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर एक बन्ध बनता है उसे उड्डियान कहते हैं।

(6.211) शरीर के बाहरी अंग से जब इस प्रकार अभ्यास किया जाता है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ 6.14॥

तब भीतर मनोधर्म का ठाँव मिट जाता हैं,

(6.212) कल्पना बन्द हो जाती है, प्रवृत्ति शान्त हो जाती है, और शरीर, भाव तथा मन सहज ही विराम पाते हैं।

(6.213) क्षुधा क्या हुई, निद्रा कहाँ गई इत्यादि का विस्मरण हो जाता है और पुनः शीघ्र स्मरण नहीं होता।

(6.214) जो अपान वायु मूलबन्ध के द्वारा बन्द कर दी जाती है वह पीछे पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है,

(6.125) सन्ताप से मत्त हो जाती है, मनमानी जगह गरजती है, और ठहर ठहर कर मणिपुर (नाभि के तृतीय चक्र) से झगड़ने लगती है।

(6.216) अनन्तर यह तूफान शान्त होते ही वह सब पेट खोज डालती है और छुटपन का सड़ा हुआ कीच बाहर निकाल फेंकती है।

(6.217) वह केवल भीतर ही घिरी हुई नहीं रहती वरन कोठे में भी संचार करती है, तथा कफ और पित्त का ठाँव नहीं रहने देती।

(6.218) धातु के समुद्रों को उलट देती है। मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है और भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है।

(6.219) नाड़ियाँ छुड़ा देती है। अवयवों को ढीला कर देती है। इस प्रकार वह अपान-वायु साधकों को डराती है, परन्तु डरना नहीं चाहिए।

(6.220) वह व्याधि प्रकट करती है, परन्तु साथ ही उसकी नाश करती है। वह जलतत्त्व और पृथ्वीतत्त्व एक में सानती है।

(6.221) इतने में, हे धनुर्धर 1 दूसरी ओर आसन की उष्णता कुण्डलिनी नामक शक्ति को जागृत करती है।

(6.222) जैसे कोई नागिन का सँपोला कुंकुम में नहाया हो और गिण्डी मार कर सो रहा हो,

(6.223) वैसी ही यह छोटी-सी कुण्डलिनी साढ़े तीन गिण्डी मारकर नीचे मुँह किये हुए सर्पिनी सी सोई रहती है।

(6.224) विद्युत का बना हुआ कंकण अथवा अग्नि की ज्वालाओं की घरी अथवा घोंटे हुए सोने के पाँसे

(6.225) की सी उत्तम बँधी हुई और कसी हुई जो कुण्डलिनी छोटे से संकुचित स्थान में दबी हुई रहती है सो वज्रासन के दबाव से जाग जाती है।

(6.226) मानों कोई नक्षत्र उलट पड़ा हो, अथवा सूर्य्य का आसन छूट गया हो, अथवा चहुँओर तेज के बीच में से अंकुर फूटे हों,

(6.227) वैसी वह शक्ति, गिण्डी को छोड़ कौतुक से अँगड़ाई लेती हुई उठी हुई, नाभिस्थान पर दिखाई देती है।

(6.228) पहले ही उसे बहुत दिनों की भूख लगी रहती है, तिस पर जगाने का मिस हो जाता है। इसलिए वह आवेश से ठीक ऊपर की ओर मुँह फाड़ती है।

(6.229) हे किरीटी! हृदय-कमल के नीचे जो पवन भरी रहती है वह सब को चपेट लेती है।

(6.230) ऊपर नीचे मुँह की ज्वाला फैला कर माँस के कौर खाने लगती है।

(6.231) जो जो स्थल मांसल है वहाँ सहज ही कौर मिल जाते हैं। तदनन्तर एक-दो कौर हृदय के भी भर लेती है।

(6.232) फिर तलुवों और हथेलियों का भी भेद करती है। इस प्रकार वह हरएक अवयव की गाँठों को खोल लेती है।

(6.233) अधोभाग भी नहीं छोड़ती वरन् नख का भी सत्त्व निकाल देती है, और त्वचा को धोकर हड्डी के ढाँचे से जोड़ देती है।

(6.234) हड्डियों की नलियों का रस निकालती है. नसों के जाले धो डालती है, जिससे रोममूलों की बाह्य-बुद्धि बन्द हो जाती है।

(6.235) अनन्तर वह प्यासी कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समुद्र का घूँट पीती है, जिससे शरीर का हरएक भाग अत्यन्त शुष्क हो जाता है।

(6.236) नाक के छेदों में से जो हवा बारह अंगुल तक निकलती है उसे घिंचिया कर पीछे हटा वह फिर भीतर घुसाती है।

(6.237) तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है और ऊपर की नीचे उतरती है। और, जिस समय दोनों का मिलाप होता है तब चक्रों के केवल पुरजे ही बचते हैं।

(6.238) यों तो ये दोनों वायु तभी मिल जायँ परन्तु कुण्डलिनी क्षण भर व्यग्र हो मानों इनसे कहती है कि जाओ तुम्हारा यहाँ क्या है?

(6.239) इस प्रकार यह शरीर की सब पृथ्वीमय धातु खाकर कुछ नहीं बचने देती। अनन्तर जल का भाग भी पोंछ डालती है।

(6.240) इस प्रकार वह दोनों महाभूतों को खा डालती है तब पूर्ण तृप्त होती है और सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शान्त हो रहती है।

(6.241) और तृप्ति के सन्तोष से जो गरल मुँह से उगलती है उस अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है।

(6.242) भीतर से वह विष अग्निरूप हो निकलता है परन्तु सवाह्य शीतल करने लगता है। तब कहीं पहले गले हुए अवयव दृढ होने लगते है।

(6.243) जब कि नाड़ियों के मार्ग बन्द हो गये हैं, नवों प्रकार की वायु चलना बन्द हो गया है इसलिए शरीर के धर्म नहीं रहें है,

(6.244) इडा और पिंगला नाड़ियाँ एक में मिल गई हैं, तीनों गाँठें छूट गई और चक्रों की छहों कलियाँ खिल गई हैं,

(6.245) चन्द्र और सूर्य्य नामक जो कल्पित वायु है वे दीपक से भी खोजते नहीं मिलतीं,

(6.246) बुद्धि का विकास बन्द हो गया है और घ्राणेन्द्रिय में जो सुगन्धि रहती है, वह भी कुण्डलिनी के संग सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो गई है,

(6.247) उस अवस्था में ऊपर की ओर से चन्द्रामृत का सरोवर धीरे से कनिया कर कुण्डलिनी के मुँह में गिरता है।

(6.248) उससे नली में जो रस भर जाता है वह सब शरीर में फैलता है और प्राणवायु के योग से जहाँ का तहाँ सूख जाता है।

(6.249) तपाये हुए मोम के साँचे का मोम निकल जाने पर जैसे वह उसमें डाले हुए रस का ही बना रह जाता है,

(6.250) वैसे ही उस शरीर के रूप से मानों कान्ति ही अवतार लेती है और ऊपर से त्वचारूपी ओढ़नी ओढ़ लेती है।

(6.251) जैसे सूर्य मेघरूपी घूँघट काढ़े रहता है और फिर मेघ निकल जाने पर तेजस्वी दिखाई देता है

(6.252) वैसे ही ऊपर से जो शरीर का त्वचारूपी सूखा पपड़ा रहता है वह भुस की तरह झड़ जाता हैं।

(6.253) तब अवयवकान्ति की शोभा ऐसी दिखाई देती है कि मानों वह स्फटिक का ही हो; अथवा रत्नरूपी बीज में अंकुर निकले हों,

(6.254) अथवा सन्ध्याकाल के आकाश के रंग निकाल कर उन्हीं का वह शरीर बनाया गया हो; अथवा आत्मज्योति का लिंग ही स्वच्छ किया रक्खा हो;

(6.255) अथवा वह शरीर कुंकुम से भरा हुआ हो, आत्मरस से ढला हुआ हो, अथवा मैं समझता हूँ कि वह मूर्तिमान् शान्ति का ही स्वरूप हो;

(6.256) अथवा वह आनन्दरूपी चित्र की लिखावट हो, महासुख की प्रतिमा हो वा सन्तोषरूपी वृक्ष का रोपा स्थिर किया गया हो;

(6.257) अथवा वह सुवर्ण-चम्पक की कली हो, वा अमृत की मूर्ति हो, वा कोमलता के बरेजे में बहार आई हों;

(6.257) अथवा वह सुवर्ण-चम्पक की कली हो, वा अमृत की मूर्ति हो, वा कोमलता के बरेजे में बहार आई हों;

(6.258) अथवा शरद ऋतु की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब पल्लवित हुआ हो वा मूर्तिमान् तेज ही स्वयं आसन पर बैठा हुआ हो।

(6.259) कुण्डलिनी जब चन्द्रामृत पीती है तब ऐसा शरीर हो जाता है। कृतान्त भी उस देहाकृति से भय खाता है।

(6.260) वार्धक्य पीछे हटता है। यौवन की गाँठ खुल जाती है, और लुप्त हुई बालदशा फिर प्रकट होती है।

(6.261) उसकी आयु ही छोटी दिखाई देती है। वास्तव में उसके धैर्य की निरूपम महिमा बढ़ जाती है। बाल शब्द का अर्थ बालक नहीं, बल करना चाहिए।

(6.262) उस शरीर में ऐसे नये और उत्तम नख निकलते हैं मानों सुवर्ण-वृक्ष के पल्लवों में नित्य रत्नों की कलियाँ निकली हों।

(6.263) दाँत भी नये हो जाते हैं परन्तु बहुत छोटे-छोटे होते हैं, मानों दुतरफा हीरों की पंक्तियाँ बैठी हों।

(6.264) माणिक के कण जैसे सहज ही नोकदार होते है वैसे ही सब शरीर पर रोमों की नोकें उगती है।

(6.265) हथेलियाँ और तलुवे रक्तकमल के समान हो जाते हैं और नेत्र, क्या वर्णन करूँ, अत्यन्त स्वच्छ हो जाते हैं।

(6.266) पक्वदशा के कारण मोती के सीप में न समाने से जैसे सीप के ढकनों की सियन खुल जाती है

(6.267) वैसे ही उसकी दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह अर्द्धोन्मीलित रहती है परन्तु आकाश तक व्याप्त रहती है।

(6.268) शरीर सुवर्ण का हो जाता है, परन्तु वह वायु का लघुत्व रखता है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और जल के अंश नहीं रहते।

(6.269) उसे समुद्र का परतीर दिखाई देता है, स्वर्ग का मन्द शब्द सुन पड़ता है, और चींटी के भी मन का हाल मालूम हो जाता हैं।

(6.270) वह पवन के घोड़े पर सवार हो सकता है, जल पर चले तो उसके तलुवे नहीं भीगते। प्रसंगानुसार उसे ऐसी ही अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

(6.271) सुनो, प्राण का हाथ पकड़, हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के जीने से हृदय में पहुँची हुई,

(6.272-73) वह जगदम्बा कुण्डलिनी, जौ चैतन्यरूपी चक्रवर्ती की शोभा है, जिसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है, जो निराकार ब्रह्म का साकार शरीर है, जो परमात्मा शिव का सम्पुट है, जो ओंकार की केवल जन्मभूमि हैं,

(6.274) और क्या वर्णन करें, वह कुण्डलिनी बाला जब हृदय में प्रवेश करती है तब वह अनाहत ध्वनि करने लगती है।

(6.275) कुण्डलिनी के साथ ही बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इससे उस बुद्धि को वह ध्वनि धीरे से सुनाई देती है।

(6.276) वह ध्वनि ऐसी रहती है मानों घोषाकार कुण्ड में ध्वनि के चिह्न के आकार और ओंकार के रूप लिखे हुए हों।

(6.277) यह बात कल्पना से जानी जा सकती है। परन्तु उस समय कल्पना करनेहारा भी कहाँ रहता है? अतएव वहाँ काहे की ध्वनि हो रही है यह जान नहीं पड़ता।

(6.278) हे अर्जुन! मैं एक बात भूल गया। जब तक पवनतत्त्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में वाचा होती है, इसलिए वह गरजता है।

(6.279) जब उस अनाहतरूपी मेघ के कारण आकाश गरजने लगता है तब सहज ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है।

(6.280) सुनो, जो कमलगर्भ के आकार के समान है, जो दूसरा महदाकाश ही है, जहाँ चैतन्य अधर निवास करता है,

(6.281) उस हृदयरूपी भुवन में यह कुण्डलिनी परमेश्वरी मानों तेजरूपी कलेवा अर्पण कर देती है।

(6.282) बुद्धिरूपी शाक का इस प्रकार उत्तम नैवेद्य करती है कि द्वैत न दिखाई दे।

(6.283) कुण्डलिनी अपना तेज छोड़ देती है और केवल प्राणरूप हो रहती है। उस समय कैसी दिखाई देती है,

(6.284) मानों किसी पवन की पुतली ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की सारी उतार कर अलग रख दी हो;

(6.285) अथवा किसी दीपक की दृष्टि वायु से भिड़कर लुप्त हो गई हो; अथवा विद्युत चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो।

(6.286) इस प्रकार हृदय-कमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखाई देती है मानों सोने की शलाका हो; अथवा जैसे प्रकाशरूपी जल का झरना बहता हुआ आवे

(6.287) और हृदय-भूमि के दर्रे में एक दम समा जाये वैसे ही उस शक्ति का रूप शक्ति में ही लुप्त हो जाता है

(6.288) तथापि उसे शक्ति ही कहना चाहिए। अन्यथा उसे केवल प्राण ही समझो। उस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति ये नहीं रहते।

(6.289) अथवा मन का वश करना, वा पवन का आश्रय करना वा ध्यान का अभ्यास करना इत्यादि बातें नहीं रहती।

(6.290) यह भी नहीं रहता कि कोई कल्पना की जाय या कोई छोड़ दी जाय। इसे महाभूतों का स्पष्ट निर्मल रूप ही जानो।

(6.291) पिण्ड से पिण्ड का ग्रास जो नाथसम्प्रदाय का मर्म है वही अभिप्राय श्रीमहाविष्णु ने वर्णन किया।

(6.292) उसी ध्वनि की मानों गठरी छोड़ कर श्रोताओं को ग्राहक जान मैंने यथार्थरूपी वस्त्र की तह झटकार कर दिखाई है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ 6.15 ॥

(6.293) सुनिए, जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी (इतना सूक्ष्म हो जाता है कि) आँख में छिप सकता है।

(6.294) यों तो वह पहले के समान ही अवयव-सम्पन्न रहता है, परन्तु ऐसा दिखाई देता है मानो वायु का ही बना हुआ हो;

(6.295) अथवा कोई केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग किये हुए खड़ा हो; अथवा आकाश को ही कोई अवयव उत्पन्न हुआ हो।

(6.296) जब उसका शरीर इस प्रकार हो जाता है तब उसे खेचर कहते है। यह पद प्राप्त होते ही साधारण शरीरधारी लोगों में उसके चमत्कार दिखाई देते हैं।

(6.297) योगी कहीं से निकल जाय तो उसके पाँवों की जो रेखा बन जाती है वहाँ जगह जगह अणिमादिक सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं।

(6.298) परन्तु उससे हमें क्या कार्य है? हे धनंजय! यह जान लो कि देह के देह में पृथ्वी, आप और तेज, तीनों भूतों का इस रीति से लोप हो जाता है —

(6.299) हृदय में पृथ्वीतत्त्व को जलतत्त्व गला देता है, जल को तेज सुखा देता है, और तेज को वायुतत्त्व बुझा देता है।

(6.300) अनन्तर केवल वायुतत्त्व ही रह जाता है, परन्तु शरीर का आधार लिये रहता है। फिर कुछ काल के अनन्तर वह भी आकाश में जा मिलता है।

(6.301) उस समय उसे कुण्डलिनी नाम के बदले वायु नाम प्राप्त होता है। परन्तु जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में नहीं जा मिलती तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है।

(6.302) फिर वह जालन्धर-बन्ध छोड़ देती है, सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है, और गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुँचती है।

(6.303) ओंकार की पीठ पर पाँव देते हुए शीघ्रता से पश्यन्तीरूप सीढ़ी चढ़ जाती है।

(6.304) पश्चात्, जैसे सागर में सरिता वैसे ही ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्त्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है।

(6.305) फिर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर रह कर सोहंभावरूपी बाँहें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म में मिल जाती है।

(6.306) उस समय बीच का महाभूतों का परदा फट कर दोनों का सम्मेलन हो जाता है। उस ब्रह्मानन्द में गगनसमेत सब कुछ विलीन हो जाता है।

(6.307) समुद्र ही जैसे मेघों के मुख से निकल कर, नदीप्रवाह में बह कर, पुनः आप ही में मिल जाता है

(6.308) वैसे ही हे पाण्डुकुँवर! पिण्ड के मिस से मानों ब्रह्म ही ब्रह्मपद में प्रवेश करता है। ऐसी एकता हो जाती है

(6.309) उस समय यह विवेचना करने के लिए भी कोई नहीं बचता कि दूसरा कोई था या पहले से एक ही वस्तु बनी हुई है।

(6.310) गगन में गगन का लीन हो जाना जो बात है उसका जिसे अनुभव हो जाय वही पुरुष सिद्ध है।

(6.311) उस अनुभव की वार्ता वाणी के हाथ नहीं आती, जिससे संवादरूपी गाँव में प्रवेश किया जाय।

(6.312) हे अर्जुन! इस अभिप्राय को प्रकट करने का अभिमान करनेवाली वाणी भी दूर रह जाती है।

(6.313) भ्रुकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं होता। अकेले प्राण को भी गगन में जाते संकट होता है,

(6.314) और अनन्तर वह जब वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का नाश हो जाता है।

(6.315) अतएव महदाकाश के देह में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता तब शब्द कहाँ थाह लगे?

(6.316) तात्पर्य यह है कि यह वस्तु निश्चय से ऐसी स्पष्ट नहीं है कि शब्दों से वरणी जाय अथवा कानों से सुनी जाय।

(6.317) जब दैवयोग से कुछ अनुभव प्राप्त हो तब तुम आप ही यह वस्तु बन रहोगे।

(6.318) पश्चात् ज्ञातव्य कुछ न रहेगा। अतएव रहने दो। हे धनुर्धर! वही बात वृथा कहाँ तक कहें?

(6.319) इस प्रकार जब शब्दमात्र पीछे हटता है तब संकल्प की आयु समाप्त हो जाती है और वहाँ विचार की हवा का भी प्रवेश नहीं होता।

(6.320) जो उन्मानी अवस्था की शोभा है, तुर्य्या का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परमतत्त्व है.

(6.321) जो विश्व का मूल है, योगवृक्ष का फल है, जो आनन्द का केवल जीवन है,

(6.322) जो आकार की सीमा है, मोक्ष का एकान्त है, जिसमें आदि और अन्त लीन हो गये हैं,

(6.323) जो महाभूतों का बीज है, महातेज का तेज है, एवं हे पार्थ! जो मेरा निज स्वरूप है,

(6.324) वही यह चतुर्भुज आकार बना हुआ है, जिसकी शोभा मेरे भक्त-समुदायों के प्रति नास्तिकों का किया हुआ छल देखकर आविर्भूत होती है।

(6.325) वह महासुख अनिर्वाच्य है, परन्तु प्राप्ति तक जिन पुरुषों के प्रयत्नों की सीमा है वे स्वयं सुखरूप हो रहते हैं।

(6.326) हमारे बताये हुए इस साधन को जो शरीर से करते है वे निर्मल हो हमारी ही योग्यता के हो जाते हैं,

(6.327) और शरीर से ऐसे दिखाई देते है मानों परब्रह्मरूपी रस से देहाकृतिरूप साँचे में ढाले गये हों।

(6.328) यदि यह अनुभव हृदय में प्रकाशित हो तो सम्पूर्ण विश्व का लय हो जावेगा।

तब अर्जुन ने कहा — सत्य है,

(6.329) हे देव! आपने अभी जो उपाय बताया वह ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है, उसी से प्राप्ति होती है;

(6.330) इस अभ्यास से जो दृढ होते है वे निश्चय से ब्रह्मपद को पहुँचते हैं, इत्यादि जो आपने कहा सो मै समझ गया।

(6.331) हे देव! यह वर्णन सुनने से ही चित्त में ज्ञान उपजता है, तो फिर अनुभव प्राप्त होने पर तद्रूपता क्यों न होगी?

(6.332) अतएव इसमें कुछ असत्य नही हैं। परन्तु निमिष भर मेरी एक बात की ओर चित्त दीजिए।

(6.333) हे कृष्ण! आपने अभी जिस योग का निरूपण किया है वह मेरे मन में भली भाँति आ गया परन्तु योग्यता-हीन होने के कारण मैं उसका अभ्यास नहीं कर सकता।

(6.334) जितना मेरा स्वाभाविक शरीरबल है उतने से ही यदि यह योग सिद्ध हो सके तो आनन्द से मैं इसी मार्ग का अभ्यास करूँगा;

(6.335) अथवा हे देव! जैसा आप योग कहते हैं वैसा यदि मुझसे न बन सके तो तदनुरूप योग्यता के बिना जो कुछ हो सके वही पूछने की

(6.336) मेरे मन की इच्छा हुई है। इसलिए मैं प्रश्न करता हूँ, ध्यान दीजिए।

(6.337) आपने जिस साधन का निरूपण किया वह मैं सुन चुका। अभ्यास करने से क्या वह हर किसी को प्राप्त हो सकता है?

(6.338) अथवा वह ऐसी कुछ बात है कि जो योग्यता के बिना नहीं बन सकती?

तब श्रीकृष्ण ने कहा — हे धनुर्धर! यह क्या पूछते हो?

(6.339) अधिकार की सहायता के बिना क्या कोई साधारण कार्य भी सिद्ध हो सकता है? भला यह तो मोक्ष का विषय है,

(6.340) तथापि योग्यता जो कहाती है वह प्राप्ति के अधीन समझनी चाहिए। क्योंकि जो कार्य करते ही फलदायक होता है वही योग्यता के साथ किया गया समझा जाता है।

(6.341) इस मार्ग में कोई वस्तु सहज में मिलनेवाली नहीं है। परन्तु योग्यता की क्या कोई खानि रहती है?

(6.342) क्षणभर जो विरक्त हो, विहित धर्म में नियत हो, वही क्या व्यवस्थित अधिकारी नहीं कहा जा सकता?

(6.343) इस हिसाब से तुमको भी वह योग्यता प्राप्त है। इस प्रकार उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन का सन्देह दूर किया।

(6.344) और कहा, हे पार्थ! योग्यता की व्यवस्था इस प्रकार की होती है; परन्तु अव्यवस्थित मनुष्य को सर्वथा योग्यता नहीं रहती।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 6.16 ॥

(6.345) जो रसनेन्द्रिय के अधीन हो गया हो, अथवा जो जीव भाव से निद्रा का बिका हुआ हो, वह इस विषय में अधिकारी नहीं कहा जाता।

(6.346) जो हठ के बन्धन से क्षुधा और तृषा को बाँध देता है, आहार को मारकर तोड़ डालता है.

(6.347) निद्रा के रास्ते ही नहीं जाता, इस प्रकार जो हठ का अवतार ले व्यवहार करता है उसका शरीर ही उसकी नहीं रहता तब फिर योग कहाँ से उसका हो?

(6.348) इसलिए ऐसी भी इच्छा न होनी चाहिए कि विषयों का खूब सेवन किया जाय तथा वह भी उचित नहीं कि उनका सर्वथा निरोध कर दिया जाय।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ 6.17 ॥

(6.349) आहार का सेवन तो करना चाहिए परन्तु उसे युक्ति के माप से परिमित करना चाहिए। अन्य सब कर्मों का आचरण भी उसी रीति से करना चाहिए।

(6.350) परिमित शब्द बोलने चाहिए, गिने हुए डग चलने चाहिए, तथा निद्रा का आदर भी एक नियमित समय पर करना चाहिए।

(6.351) जागृति हो, तथापि परिमित होनी चाहिए। ऐसा करने से कफ-वातादि धातुओं की समता रहेगी और सुख उत्पन्न होगा।

(6.352) इस प्रकार इन्द्रियों को जब युक्ति के द्वारा खाद्य दिया जाता है, तब मन में सन्तोष की वृद्धि होती है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18 ॥

(6.353) बाहर की ओर जब योग की मुद्रा इस प्रकार रहती है तब भीतर ही भीतर सुख की वृद्धि होती है। इससे अभ्यास के बिना सहज ही योग का लाभ होता है।

(6.354) जैसे भाग्य का उदय होते ही उद्योग के बहाने सब सम्पत्ति अपने आप घर में प्राप्त हो जाती है

(6.355) वैसे ही युक्तिमान् मनुष्य कुतूहल से भी अभ्यास के मार्ग में प्रवृत्त हो तो उसके अनुभव को आत्मसिद्धिरूपी फल प्राप्त हो जाता है।

(6.356) इसलिए, हे पाण्डव! जिस भाग्यवान् को इस युक्ति का लाभ होता है वह मोक्ष के राज्यपद पर विराजता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ 6.19॥

(6.357) युक्ति से योग का मेल होकर जहाँ ऐसा उत्तम प्रयोग बन जाता है वहाँ जिसका मन क्षेत्र-संन्यास की रीति से स्थिर रहे

(6.358) उसे योगयुक्त समझो। और प्रसंगानुसार यह भी जानो कि उसे निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की उपमा दी जा सकती है।

(6.359) अब तुम्हारे मन की बात पहचान करे हम कुछ और भी कहते हैं सो अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

(6.360) तुम प्राप्ति की इच्छा रखते हो परन्तु अभ्यास में नियुक्त नहीं होते, तो कहो क्या योग की कठिनता से डरते हो?

(6.361) हे पार्थ! मन में ऐसा डर मत रक्खो। ये दुष्ट इन्द्रियाँ वृथा भय बताती हैं।

(6.362) देखो, जो आयुष्य को स्थिर करती है और समाप्त होते हुए जीवन को बचाती है, उस औषधि को जिह्वा क्या बैरी नहीं समझती?

(6.363) इसी प्रकार जो जो विषय कल्याण के लिए हितकारी हैं वै सर्वदा इन इन्द्रियों को दुःखकारी हैं। अन्यथा योग के समान सुलभ और क्या है?

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ 6.20 ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ 6.21 ॥

(6.364) इसलिए हमने जो आसन की दृढता सहित उत्तम अभ्यास बताया है उससे इन इन्द्रियों का निरोध — हो सका तो — होगा।

(6.365) सामान्यतः इस योग से ज्योंही इन्द्रियों का निग्रह होता है त्योंही चित्त आत्मस्वरूप की भेंट के लिए प्रवृत्त होता है,

(6.366) पीछे पलट कर ठहरता है, और आप अपनी ही ओर देखता है तो देखते ही पहचान जाता है कि यह तत्व मैं ही हूँ।

(6.367) पहचानते ही वह सुख के साम्राज्य पर बैठता है और फिर अपनी एकता में विलीन हो जाता है।

(6.368) और, जिसके परे और कुछ नहीं है, जिसे इन्द्रियाँ कभी नहीं जानती, वह वस्तु स्वयं आप ही हो रहता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ 6.22 ॥

(6.369) फिर मेरु पर्वत से भी बड़े देह-दुःख का दबाव आ पड़े तो भी उस बोझ से उसका चित्त नहीं दबता।

(6.370) अथवा शस्त्र से देह काटा जाय, अथवा आग में फेंक दिया जाय, तो भी महासुख में सोया हुआ उसका चित्त जागृत नहीं होता।

(6.371) इस प्रकार वह निज में प्रवेश कर स्थिर हो रहता है। वह देह की बाट नहीं जोहता। वह दूसरे ही सुख से एकरूप हो जाता है, इसलिए देह को भूल जाता है।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ 6.23 ॥

(6.372) जिस सुख की मधुरता से मन सुख का स्मरण ही भूल जाता है और संसार की उलझन तोड़ डालता है,

(6.373) जो सुख योग की शोभा है, सन्तोष का राज्य है, तथा जिस सुख के लिए ज्ञान का ज्ञातृत्व प्रवृत्त होता है

(6.374) वह सुख योग का अभ्यास करने से मूर्तिमान् दिखाई देने लगता है, और दिखाई देते ही योगी तद्रूप हो जाता है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ 6.24 ॥

(6.375) अब हे तात! इस योग का एक सुलभ मार्ग यह है कि संकल्प को पुत्रशोक ही अर्थात् संकल्प के पुत्र काम-क्रोधों का नाश किया जाय।

(6.376) संकल्प जो विषयों का लीन होना सुन ले, अथवा इन्द्रियों को निगृहीत स्थिति में देख ले, तो हृदय फाड़ कर अपने जीवन का नाश कर लेता है।

(6.377) यदि इस प्रकार वैराग्य प्राप्त करोगे तो संकल्प का आवागमन बन्द हो जावेगा और धैर्य के मन्दिर में बुद्धि सुख से निवास करेगी।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ 6.25 ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ 6.26 ॥

(6.378) धैर्य जब बुद्धि का आश्रय करता है तब वह बुद्धि मन को अनुभव के मार्ग से धीरे-धीरे लाकर ब्रह्मस्वरूप में स्थापित कर देती है।

(6.379) देखो, इस एक प्रकार से प्राप्ति हो सकती है। यह न हो सके तो दूसरे और सुलभ मार्ग है।

(6.380) अपने मन में ऐसा एक ही नियम कर लो कि जो निश्चय किया जाय उसका कभी उल्लंघन न करेंगे।

(6.381) यदि इतने ही से चित्त स्थिर हो जाय तो सहज ही कार्य हुआ, नहीं तो उसे खुला छोड़ दो।

(6.382) वह इस प्रकार मुक्त हो जहाँ-जहाँ जावेगा वहाँ-वहाँ से उक्त नियम उसे लौटा लावेगा। इस तरह चित्त को स्थिरता का अभ्यास हो जावेगा।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ 6.27 ॥

(6.383) पश्चात् कुछ काल में उस स्थिरता के बल से चित्त सहज ही आत्मस्वरूप के पास पहुँच जायगा,

(6.384) और उसे देखकर उससे मिल जायगा। उस समय अद्वैत में द्वैत डूब जायगा और उस एकता के प्रकाश से त्रैलोक्य प्रकाशित हो जायगा।

(6.385) आकाश में भिन्न दिखाई देनेवाला मेघ जब विलीन हो जाता है तब जैसे सब जगत् आकाश से ही भर जाता है

(6.386) वैसे ही चित्त का लय हो जायगा और सब ब्रह्मरूप ही हो रहेगा। ऐसी प्राप्ति इस उपाय से सहज में ही हो जाती है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ 6.28 ॥

(6.387) जो लोग संकल्परूपी सम्पत्ति का त्याग कर इस सुलभ योग-स्थिति का अनेक प्रकार से अनुभव लेते हैं

(6.388) वे सुख के साथ परब्रह्म में प्रवेश करते हैं। तब लवण जैसे जल को छोड़ना नहीं जानता

(6.389) वही स्थित उनके मेल के समय हो जाती है और संसार को ब्रह्मानन्दरूपी मन्दिर में महासुख की दिवाली दिखाई देती है।

(6.390) इस प्रकार अपने ही पाँव से उलटे चलना चाहिए। हे पार्थ! यदि यह बात आकलन नहीं होती, यदि यह उपाय नहीं बन सकती, तो दूसरा उपाय सुनो।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ 6.29 ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ 6.30 ॥

(6.391) इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मैं सकल देहों में हूँ; और वैसे ही यह सब जगत मुझमें ही है।

(6.392) इस प्रकार यह परस्पर मिला हुआ ऐसा ही भरा हुआ है। बुद्धि से इस बात का आकलन करना चाहिए।

(6.393) हे अर्जुन! सामान्यतः जो एकाग्र भावना से मुझे सब भूतों से अभिन्न जानकर भजता है,

(6.394) भूतों की अनेकता से जिसके अन्तःकरण में अनेकता नहीं उत्पन्न होती, जो केवल मेरी एकता ही जानता है,

(6.395-96) वह और मैं एक ही हूँ — यह कह बताना वृथा है, क्योंकि हे धनंजय! न कहते हुए भी वह मद्रूप ही है। दीपक और प्रकाश में जैसी एकता की स्थिति है वैसे ही वह मुझमें रहता है और मैं उसमे रहता हूँ।

(6.397) जैसे उदक के अस्तित्व के कारण रस का अस्तित्व है अथवा गगन की स्थिति के कारण अवकाश है, वैसे ही वह पुरुष मेरे रूप से रूप धारण करता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ 6.31॥

(6.398) हे किरीटी! जो मुझको सर्वत्र ऐसी एकता की दृष्टि से देखता है जैसे कपड़े में सूत एक ही रहता है; वैसी ही ऐक्य-दृष्टि से जिसने समझ लिया कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ,

(6.399) अथवा अलंकार कितने ही क्यों न हों पर सोना तो एक ही है - उसमें अनेकता नहीं है; इस प्रकार के ऐक्यरूप पर्वत की जिसने स्थिति बना ली है

(6.400) या जिसकी अज्ञान-निशा ऐसे अद्वैत प्रकाश से जगमगा उठी है, कि 'जितने पत्ते होते है, उतने पेड़ नहीं होते'

(6.401) उस, पंचभूतात्मक शरीर में आबद्ध रहने पर भी, अपने स्वरूप में आने के लिए बाधा क्योंकर होगी? क्योंकि अनुभव के द्वारा वह मेरी एकता को प्राप्त कर देता है।

(6.402) मेरी सब व्यापकता उसके अनुभव को प्राप्त है इसलिए वह न कहते तो स्वभावतः व्यापक हो जाता है।

(6.403) अतः वह शरीरी तो है परन्तु शरीर का सम्बन्धी नहीं — यह बात क्या शब्दों से कहने योग्य है जो वर्णन की जाय?

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ 6.32 ॥

(6.404) इसलिए हम संक्षेप से कहते है कि जो विशेष रीति से अथवा अपने ही समान सर्वदा चराचर को देखता है,

(6.405) जो सुख-दुःखादि मर्म अथवा शुभाशुभ कर्म ये दोनों मनोधर्म नहीं रखता,

(6.406) सम-विषम भाव और उनके समान जो अन्य विचित्र बातें हैं उन्हें जो अपने अवयव जैसा मानता है,

(6.407) एक-एक कहाँ तक कहें, जिसे सहज ऐसा ज्ञान हो गया है कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य मैं हूँ

(6.408) उसे एक देह भले ही हो, व्यवहार में भले ही उसे सुखी-दुखी कहा जाय, परन्तु हमें विश्वास है कि वह परब्रह्म है।

(6.409) इसलिए हे पाण्डव! समता की ऐसी उपासना करनी चाहिए कि निज में ही विश्व देखना चाहिए और आप ही विश्व बनना चाहिए।

(6.410) यह बात अनेक बार हम तुमसे इसलिए कहते है कि समदृष्टि से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ 6.33 ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ 6.34 ॥

(6.411) तब अर्जुन ने कहा — हे देव! आप हमें कृपया उपदेश देते हैं परन्तु इस मन के स्वभाव के सामने हमारी एक नहीं चलती।

(6.412) यह मन कैसा है, कितना बड़ा है, यह देखने जाइए तो हाथ नहीं लगता, परन्तु इसके व्यापार के लिए त्रैलोक्य की अल्प है।

(6.413) अतएव यह कैसे हो कि मर्कट को समाधि प्राप्त हो अथवा महावायु रोकने से रुक जाय।

(6.414) जो बुद्धि का क्षय करता है, निश्चय को टाला देता है, धैर्य से हाथ मिलाकर — धैर्य को दिलासा देकर — भागता है,

(6.415) जो विवेक को भुलाता है, सन्तोष को इच्छा उत्पन्न कराता है, और बैठे रहो तो भी दशों दिशाओं में घुमाता है,

(6.416) निरोध करने से जो और भड़कता है, संयम जिसका सहकारी होता है, वह मन क्या अपना स्वभाव छोड़ देगा?

(6.417) अतः उपर्युक्त कारण से यह हो ही नहीं सकता कि मन निश्चल रहे और हमें समदृष्टि का लाभ हो।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ 6.35 ॥

(6.418) तब श्रीकृष्ण ने कहा कि सत्य है। तुम जैसा कहते हो वैसी ही बात है। इस मन का स्वभाव चपल ही है।

(6.419) परन्तु यदि वैराग्य के आधार से इसे अभ्यास के मार्ग पर लगाया जाय तो कुछ काल के अनन्तर यह स्थिर हो सकता है।

(6.420) क्योंकि इस मन की एक बात अच्छी है कि इसे जिस मधुरता का चस्का लग जाता है उसमें यह लुब्ध हो रहता है। इसलिए इसे कुतूहल से आत्मानुभव का सुख ही बताते रहना चाहिए।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ 6.36 ॥

(6.421) यों तो यह बात हम भी नहीं मानते कि जिन्हें वैराग्य नहीं है, जो कभी अभ्यास की चेष्टा नहीं करते, उनसे यह मन वश में नहीं किया जाता?

(6.422) परन्तु यदि यम-नियम के मार्ग से न चला जाय, कभी वैराग्य का स्मरण न किया जाय, केवल विषयरूप जल में ही डूबकी ले रहा जाय,

(6.423) जन्मतः कभी मन को युक्ति की डोरी न बाँधी जाय कहो वह मन क्यों और कैसे निश्चल हो?

(6.424) इसलिए मन का निग्रह करने के लिए जो उपाय है उसका आरम्भ करो फिर देखें वह कैसे स्थिर नहीं होता।

(6.425) योग के जितने साधन है वे क्या सब मिथ्या है? परन्तु यह कहो कि आपसे अभ्यास नहीं हो सकता।

(6.426) शरीर में योग का बल हो तो मन कहाँ तक चपल हो सकता है? ये सब महत्तत्व इत्यादि क्या वश नहीं हो सकते?

(6.427) तब अर्जुन ने कहा — ठीक है, देव कहते हैं सो मिथ्या नहीं है। सचमुच योगबल से मनोबल की तुलना नहीं हो सकती।

(6.428) हमें इतने दिनों तक इसका विचार भी न था कि यह योग कैसा है और कैसे जाना जा सकता है। इसलिए हम मन को अजित समझते थे।

(6.429) हे पुरुषोत्तम! हमारे सम्पूर्ण आयुष्य में आज हमें आपके प्रसाद से योग का परिचय हुआ है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ 6.37 ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ 6.38 ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ 6.39 ॥

(6.430) तथापि हे स्वामी! मुझे एक और संशय होता है। उसका निवारण करने के लिए आपके समान कोई समर्थ नहीं है।

(6.431) इसलिए हे श्रीगोविन्द! मान लीजिए कि कोई एक पुरुष अभ्यास के बिना केवल श्रद्धा से मोक्षपद की प्राप्ति कर रहा था

(6.432) वह इन्द्रियरूपी ग्राम से निकल कर आत्मसिद्धिरूपी दूसरे नगर को जाने के लिए आस्था के मार्ग से निकला।

(6.433) परन्तु आत्मसिद्धि को न पहुँचा, और पलट कर भी न आ सका। बीच में ही उसके आयुष्यसूर्य्य का अस्त हो गया।

(6.434) जैसे असमय में आया हुआ मेघ कुछ पतला भी रहता है और कदाचित् ही आ जाता है परन्तु न टिकता है और न बरसता है

(6.435) वैसे ही उसकी दोनों बातें रह गई। क्योंकि प्राप्ति तो दूर ही रही और श्रद्धा के कारण अप्राप्ति अर्थात् इन्द्रियों के विषय भी छूट गए।

(6.436) इस प्रकार जो दोनों बातों से हाथ धो बैठता है और श्रद्धा के समुदाय में लीन हो जाता है, उसकी कौन गति होती है?

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ 6.40 ॥

(6.437) तब श्रीकृष्ण ने कहा — हे पार्थ! जिसे मोक्ष-सुख की आस्था है उसे क्या मोक्ष के सिवा कोई दूसरी गति है?

(6.438) परन्तु इतनी ही एक बात होती है कि उसे बीच में ही विश्रान्ति लेनी पड़ती है। किन्तु वह भी ऐसे सुख के साथ कि जो देवों को भी नहीं जुड़ता।

(6.439) सामान्यतः यदि अभ्यास के पाँव उठाता चलता तो आयुष्य-सूर्य्य के अस्त होने के पहले ही सोहंसिद्धि को पहुँच जाता।

(6.440) परन्तु उसका उसका वेग नहीं थी। इसलिए उसे विश्रान्ति आवश्यक हुई। इसके अनन्तर मोक्ष तो उसको रक्खा ही हुआ है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ 6.41 ॥

(6.441) सुनो, तुम्हें आश्चर्य मालूम होगा कि जिस इन्द्रपद को लोग अनेक कष्टों के अनन्तर प्राप्त कर सकते हैं, उसे यह मोक्ष की इच्छा करनेहारा पुरुष अनायास प्राप्त कर लेता है।

(6.442) अनन्तर वहाँ ये जो निष्फल न होनेवाले और अप्रतिम भोग होते हैं उन सबों का उपभोग लेते लेते उसका मन उकता जाता है;

(6.443) और स्वर्गभोग भोगते समय उसे नित्य यह पश्चात्ताप हुआ करता है कि हे श्रीभगवन्त! यह विघ्न क्यों अकस्मात् उपस्थित हुआ।

(6.444) अनन्तर वह संसार में जन्म लेता है परन्तु ऐसे कुल में कि जो सकल धर्म का विश्राम-स्थान हो। पूर्ण पुष्ट पौदे में से जैसे भरी हुई धान्य की बाल निकलती है वैसा वह योगी ऐश्वर्य के घर उत्पन्न होता है।

(6.445) जिस कुल के लोग नीतिमार्ग से चलते है, सत्य और पवित्र वाणी बोलते है, शास्त्र की दृष्टि से जो देखना चाहिए वही देखते है,

(6.446) वेद जिसकी जागती ज्योति है, जिसका व्यवहार स्वधर्म है, सारासार विचार जिसका मन्त्री है;

(6.447) जिस कुल में चिन्ता केवल ईश्वर को भजनेवाली पतिव्रता है, जिसकी ऋद्धि इत्यादि गृहदेवियाँ हैं,

(6.448) इस प्रकार आत्मपुण्य के संचय के कारण जिस कुल में सब सुखों की सम्पन्नता है उस सुखी कुल में वह योगभ्रष्ट पुरुष जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ 6.42 ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ 6.43 ॥

(6.449) अथवा जो ज्ञानरूप अग्नि में हवन करनेहारे हैं, जो परब्रह्मरूपी यज्ञ करनेहारे हैं, और जो महासुखरूपी क्षेत्र के वतनदार हैं;

(6.450) जो त्रिभुवन में आत्मप्राप्ति के सिंहासन पर विराजमान हो राज्य करते हैं, जो सन्तोष के वन में शब्द करनेहारे कोकिल हैं और

(6.451) जो नित्य फलनेहारे विवेकरूपी वृक्ष की जड़ में बैठे हैं, उन योगियों के कुल में उसका जन्म होता है।

(6.452) शरीर की छोटी सी अवस्था में ही उसे आत्मज्ञान का प्रातःकाल हो जाता है। जैसे सूर्योदय होते ही प्रकाश प्रकट हो जाता है

(6.453) वैसे ही अवस्था की बाट न जोहते, प्रौढ़ आयु के नगर को न जाते, बाल्यावस्था में ही उसे सर्वज्ञता जयमाल डालती है।

(6.454) उस बुद्धिदेवता के लाभ से उसके मन में सब विद्याएँ उत्पन्न होती हैं और मुख से सब शास्त्र आप ही आप निकलते हैं।

(6.455) हे पार्थ! इस प्रकार का जन्म — जिसके लिए देव भी सकाम हो सर्वदा जप-होम करते हुए स्वर्ग में रहते हैं,

(6.456) अमर भाट बनकर जिसके लिए मृत्यु लोक की स्तुति करते हैं — उस योगभ्रष्ट को प्राप्त होता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ 6.44 ॥

(6.457) और पहले जो उसकी सद्बुद्धि थी, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् उसके आयुष्य का अन्त हुआ था, वही बुद्धि उसे शीघ्र ही पुनः प्राप्त हो जाती है।

(6.458) तब, जैसे कोई भाग्यवान् तथा पायल[1]1 हो, और ऊपर से आँखों में दिव्यांजन लगाया हो तो उसे जैसे भूमि में गड़ा हुआ द्रव्य दिखाई देता है

---

[1] जो पैरों की ओर से पैदा हुआ हो — सिर के बल नहीं।

(6.459) वैसे ही जो कठिन अभिप्राय हैं, जो गुरु से ही प्राप्त होनेवाली बातें हैं, उन तक उसकी बुद्धि अभ्यास के बिना ही पहुँच जाती है।

(6.460) बलवान् इन्द्रियाँ मन के वश हो जाती है, मन तत्व से मिल जाता है और पवन सहज ही गगन से मिलने की चेष्टा करती है।

(6.461) इस प्रकार न जाने किस तरह अभ्यास स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाता है तथा समाधि उसके मन का घर पूछती चली आती है।

(6.462) वह ऐसा दिखाई देता है मानों योगस्थान की अधिदेवता हो; अथवा जगदुत्पत्ति की श्रेष्ठता हो; या वैराग्यसिद्धि की अनुभूति मूर्तिमती बनकर आई हो;

(6.463) अथवा वह संसार के मापने का माप हो, अथवा अष्टांग-योग-साहित्य का द्वीप हो; अथवा जैसे चन्दन कुछ अन्य नहीं सुगन्ध की ही मूर्ति है

(6.464) वैसे ही साधकदशा में ही ऐसा दिखाई देता है कि मानों सन्तोष का ही बना हो, अथवा सिद्धियों के भाण्डार से निकला हो।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ 6.45 ॥

(6.465) वह करोड़ों वर्षों के अनन्तर, सहस्रावधि जन्मों के प्रतिबन्धों का उल्लंघन करता हुआ आत्मसिद्धि के किनारे पहुँचा है।

(6.466) इसलिए सम्पूर्ण साधनसमूह सहज ही उसके पीछे चलते हैं। फिर वह विवेक के बने बनाये राज्य पर विराजमान होता है।

(6.467) तदनन्तर विवेक भी उसके विचार के वेग के पीछे रह जाता है और विचार के परे जो ब्रह्म है उसमें वह मिल जाता है।

(6.468) उस समय मन के मेघ विलीन हो जाते है। पवन की पवनता बन्द हो जाती है और आकाश आप ही अपनी ही जगह लीन हो जाता है।

(6.469) ओंकार की अर्द्धमात्रा का भी लय हो जाता है एवं उसे अनिर्वाच्य सुख प्राप्त होता है। अतएव उसके विषय में शब्द पहले ही से गूँगे हो रहे हैं।

(6.470) ऐसी ब्रह्मस्थिति सम्पूर्ण गतियों की गति है और उस निराकार की मूर्ति है, उसे वह प्राप्त कर चुकता है।

(6.471) वह कई पूर्वजन्मों में विक्षेपरूपी जल का मल स्वच्छ कर लेता है। इस कारण जन्म होते ही उसकी लग्नघटिका जल में डूब जाती

(6.472) और तद्रूपता के संग उसका विवाह हो वह अभिन्न हो रहता है। जैसे मेघ का लोप होते ही वह आकाशरूप हो रहता है

(6.473) वैसे ही जहाँ से विश्व उत्पन्न होता है और फिर जहाँ लीन हो जाता है सो वस्तु वह योगी, देह विद्यमान रहते ही, बन जाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ 6.46 ॥

(6.474) जिस लाभ की आशा से धैर्यरूपी भुजाओं का विश्वास रख कर्मनिष्ठ लोग सत्कर्मरूपी प्रवाह में घुसते हैं,

(6.475) अथवा जिस एक वस्तु के लिए ज्ञानी लोग ज्ञान का दृढ कवच पहन कर प्रपंच से युद्ध भूमि पर झगड़ते हैं,

(6.476) या जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके तपस्वी लोग उस तपोरूपी किले के टूटे हुए कगारे का आश्रय करते हैं कि जिसमें कोई आधार तो है नहीं और फिसलन काफी है;

(6.477) जो भजन करनेहारों का भज्य है, यज्ञ करनेहारों का याज्य हैं, एवं जो सर्वदा सब को पूज्य है.

(6.478) वह परब्रह्म जो साधकों का कारण और सिद्ध तत्त्व है, वह तत्त्व योगी स्वयं आप ही हो जाता है।

(6.479) अतएव कर्मनिष्ठों के लिए वह वन्दनीय है, ज्ञानियों के लिए जानने योग्य है, और तपस्वियों का मूल तपोनाथ है।

(6.480) जीव और परमात्मा के संगम से उसे मनोधर्म प्राप्त हुए हैं अतः वह यद्यपि शरीरी है तथापि उपर्युक्त महिमा पाता है।

(6.481) इसलिए, हे पाण्डुकुँवर! मैं तुमसे सदा यही कहता हूँ कि तुम अन्तःकरण से योगी बनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ 6.47॥

(6.482) अजी, जो योगी कहलाता है उसे देवों का देव जानो। वह मेरा सुखसर्वस्व है। मेरा जीवन हैं।

(6.483) भजक, भजन और भज्यरूपी जो सम्पूर्ण शक्ति-साधनत्रिपुटी है वह उसे अखण्डित अनुभव के द्वारा मद्रूप ही हो गई है।

(6.484) अतः उसकी और हमारी प्रीति को जो स्वरूप है वह, हे सुभद्रापति! ऐसा नहीं है कि उसका शब्दों से वर्णन किया जा सको

(6.485) उस एकाग्र प्रेम की तुलना के लिए उपमा चाहिए तो यह है कि मैं देह हूँ और वह आत्मा है।

(6.486) संजय ने कहा कि भक्तचकोरचन्द्र, गुणों के सागर, त्रिभुवन के एक ही नरेन्द्र श्रीकृष्ण जब इस प्रकार बोले,

(6.487) तब पार्थ को पहले से ही योग का निरूपण सुनने की जो आस्था था वह और दुगुनी बढ़ गई। यह बात श्रीकृष्ण समझ गये

(6.488) और साथ ही मन में सन्तुष्ट हुए कि अर्जुन मानों हमारे निरूपण के लिए एक दर्पण ही प्राप्त हुआ है। इस आनन्द से प्रफुल्लित हो वे जो और निरूपण करेंगे

(6.489) उसकी कथा आगे कही जाती है। उसमें शान्त रस प्रकट होगा और ज्ञानरूपी बीजों की गठरी खोल दी जायगी;

(6.490) जिन बीजों के लिए, सात्त्विकभावरूपी वृष्टि की सहायता से, आध्यात्मिक-ताप-रूपी ढेले तोड़ कर चतुरचित्त-रूपी क्यारियाँ तैयार की गई है,

(6.491) और सोने के समान उत्तम अवधानरूपी ऊभ मिली है। इसलिए श्रीनिवृत्तिदेव को ये ज्ञानबीज बोने की इच्छा हुई है।

(6.492) ज्ञानदेव कहते है कि सद्गुरु ने लीला से मुझे चोंगी बनाया है और मेरे माथे पर जो हाथ रक्खा है वह मानों उनका बीज ही बोना है।

(6.493) इसलिए इस मुख से जो जो निकलता है वह सन्तों के अन्तःकरण में सत्य ही प्रतीत होता है। परन्तु अब बहुत हुआ, श्रीकृष्ण ने जो कहा सो निवेदन करता हूँ।

(6.494) परन्तु उसे मन के कानों से सुनिए। उन शब्दों को बुद्धि के नेत्रों से देखिए और चित्त बदले में देकर मोल लीजिए।

(6.495) अवधान के द्वारा उन्हें हृदय के भीतर ले जाइए। वह वाणी सज्जनों की बुद्धि को रिझावेगी।

(6.496) वे शब्द स्वहित को जुड़ावेंगे, परिणाम को जीवन देंगे, और जीवों पर सुखरूपी पुष्पों की लक्षमाला समर्पित करेंगे।

(6.497) अब श्रीमुकुन्द ने अर्जुन से जो उत्तम संवाद किया उसका मैं वर्णन करता हूँ।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां षष्ठोऽध्याय।

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ 7.1 ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ 7.2 ॥

(7.1) सुनिए, फिर श्रीअनन्त ने पार्थ से कहा कि तुम अब योगयुक्त हो चुके।

(7.2) अब हम तुम्हें व्यवहार-ज्ञान समेत ज्ञान बताते हैं जिससे तुम मुझ सर्वव्यापी को ऐसे जान लोगे कि जैसे हथेली का रत्न।

(7.3) यदि तुम समझते हो कि यहाँ विज्ञान (व्यवहार-ज्ञान) का क्या काम है तो वास्तव में प्रथम वही जानना पड़ता है।

(7.4) फिर ज्ञान के समय तो ज्ञातृत्व के नेत्र बन्द हो जाते हैं। जैसे तीर पर टिकते ही नाव आगे नहीं चलती,

(7.15) वैसे ही जानने की क्रिया जहाँ प्रवेश नहीं करती, विचार आते ही पलट जाता है, जिसकी ओर तर्क की गति नहीं चलती,

(7.6) उसे हे अर्जुन! ज्ञान कहते हैं। और प्रपंच विज्ञान है, तथा प्रपंच में सत्य बुद्धि रखना अज्ञान जानो

(7.7) अब जिससे सब अज्ञान चला जाता है, वह विज्ञान निःशेष शुष्क हो जाता है, और स्वरूप ज्ञानमय हो जाता है,

(7.8) जिससे बोलनेहारे का दुःख नष्ट हो जाता है, जिससे छोटा बड़ा इत्यादि भेदभाव नहीं रहता,

(7.9) ऐसा जो गुप्त मर्म है उसका मैं शब्दों से वर्णन करता हूँ जिससे थोड़े में ही तुम्हारे मन की बहुत-सी इच्छा पूरी हो जावेगी।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ 7.3 ॥

(7.10) अजी, सहस्रावधि मनुष्यों में किसी एक को ही इस विषय में प्रीति उत्पन्न होती है और इन बहुत से प्रीतिवालों में कोई विरला ही ज्ञानी होता है।

(7.11) हे अर्जुन! जैसे इस भरे हुए त्रिभुवन में से अच्छे अच्छे पुरुष चुनकर लक्षावधि सेना तैयार की जाती है,

(7.12) परन्तु पश्चात् शस्त्र से अनेक शरीरों का संहार होने पर विजय-श्री के पद पर कोई एक ही मनुष्य बैठता है,

(7.13) वैसे ही करोड़ो लोग आस्था रूपी नदी की बाढ़ में प्रवेश करते हैं, परन्तु प्राप्ति के परतीर तक कोई विरला ही पहुँचता है।

(7.14) इसलिए यह पद सामान्य नहीं है। यह स्थिति बड़ी श्रेष्ठ है, परन्तु इसका वर्णन आगे करेंगे। अभी तो दूसरी बात सुनो।

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 7.4 ॥

(7.15) हे धनंजय! ध्यान दो। इस महत्तत्व इत्यादि रूप से माया ऐसी प्रतिबिम्बित हुई है जैसे शरीर की छाया।

(7.16) इसे प्रकृति कहते हैं। इसे अलग-अलग आठ प्रकार की जानो। इससे तीनों लोक उत्पन्न होते हैं।

(7.17) यदि तुम्हें सन्देह हो कि यह प्रकृति आठ प्रकार कैसी भिन्न है तो उसका विचार सुनो।

(7.18) ये आठ विभाग जुदे जुदे यों है — आप, तेज, आकाश, पृथ्वी, वायु, मन, बुद्धि और अहंकार।

> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ 7.5 ॥

(7.19) हे पार्थ! इन आठों की जो ऐक्यावस्था है वह हमारी श्रेष्ठ प्रकृति है। उसे जीव कहते है।

(7.20) वह अचेतन पदार्थों को जिलाती है, चेतना में चेतनता उत्पन्न करती है, मन से शोक और मोह की कल्पना कराती है।

(7.21) किंबहुना, बुद्धि में जानने की शक्ति उसके सान्निध्य से आती है तथा उसके अहंकाररूपी कौशल्य से जगत् की स्थिति है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ 7.6 ॥

(7.22) वह सूक्ष्म प्रकृति जब लीला से स्थूल प्रकृति से संयुक्त होती है तब भूत-सृष्टि की टकसाल शुरू होती है।

(7.23) तब चार प्रकार के सिक्के आप ही आप प्रकट होने लगते है, जो मोल में तो समान होते हैं, परन्तु अलग-अलग जाति के रहते हैं।

(7.24) जातियाँ चौरासी लाख हैं। और भी ऐसी अगणित जातियाँ हैं कि जिनके सिक्कों से आकाश के अन्तर्भुवन का भाण्डार भर जाता है।

(7.25) ऐसे एकसाँ पंचमहाभूतों के सिक्के बहुतेरे निकलते हैं। इस सम्पत्ति का हिसाब प्रकृति ही रखती है।

(7.26) क्योंकि वही इन सिक्कों पर चिह्न बना कर उनका विस्तार करती है, और अन्त में वही उन्हें गला डालती है। मध्यकाल में वही उन्हें कर्माकर्म के व्यवहार में प्रवृत्त करती है।

(7.27) पर यह रूपक रहने दो। स्पष्ट समझने योग्य वर्णन यों है कि नाम-रूप का विस्तार प्रकृति ही करती है।

(7.28) और, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि प्रकृति मुझमें बिम्बित है अतः मैं ही जगत् का आरम्भ, मध्य और अन्त हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ 7.7 ॥

(7.29) मृगजल का मूल खोजते आइए तो किरण नहीं केवल सूर्य ही है।

(7.30) हे किरीटी! इसी प्रकार इस प्रकृति से उत्पन्न हुई सृष्टि का जब लय होकर पर्यवसान होगा तब केवल मैं ही रह जाऊँगा।

(7.31) अतः यह जो उत्पन्न होना, दिखाई देना और फिर विलीन हो जाना है, सो मुझसे ही होता रहता है। जैसे सूत्र से मणियाँ बाँधी जाती है वैसे ही मैं इस विश्व को बाँधता हूँ।

(7.32) जैसे सुवर्ण की मणियाँ बनाई जाएँ और वे सोने के ही सूत में पिरोई जायँ वैसे ही मैंने अन्तर और बाह्य जगत् को थाँभा है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ 7.8 ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ 7.9 ॥

(7.33) अतएव जल में जो रस है, अथवा पवन में जो स्पर्श है, चन्द्र और सूर्य में जो प्रकाश है, वह मैं ही हूँ।

(7.34) वैसे ही मैं पृथ्वी में स्वभावतः शुद्ध सुगंध हूँ, गगन मे शब्द हूँ और वेदों में ओंकार हूँ।

(7.35) नर में जो नरत्व है, अहंकारियों में जो बल है वह पराक्रम मैं हूँ। यह मैं अपना सत्य स्वरूप बताता हूँ।

(7.36) तेज का अग्नि नामक जो ऊपरी आवरण है उसे अलग करते ही जो निजस्वरूप रह जाता है वह मैं हूँ।

(7.37) नानाविधि योनियों में जन्म लेकर प्राणी जो त्रिभुवन में अपनी अपनी उपजीविका के लिए व्यापार करते हैं,

(7.38) कोई पवन ही पीते हैं, कोई तृण खाकर जीते हैं, कोई अन्न के आधार पर रहते हैं; कोई जल के आश्रय से रहते हैं,

(7.39) ऐसे प्रत्येक प्राणी का प्रकृति के वश से, जो अलग-अलग जीवन दिखाई देता है, वह सर्वत्र अभिन्नतः एक मैं ही हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ 7.10 ॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ 7.11 ॥

(7.40) जो उत्पत्ति के समय ही आकाश के अंकुर से विस्तृत होता है, और जो अन्तकाल में ओंकार के अक्षरों का लय कर देता है,

(7.41) जब तक विश्वाकार रहता है तब तक जो विश्व के समान ही दिखाई देता है, और फिर महाप्रलय के समय बिलकुल नहीं रहता,

(7.42) ऐसा जो सहज अनादि है वह विश्वबीज मैं हूँ। यह मैं तुम्हारे हाथ में देता हूँ।

(7.43) हे पाण्डव! इसे जब तुम खुले-खुले आत्मानात्म-विचाररूपी गाँव में ले जाओगे तब इसका उत्तम उपयोग दिखाई देगा।

(7.44) परन्तु यह अनवसरोचित वाणी रहने दो। अब हम संक्षेप से कहते है कि तपस्वियों में जो तप है वह मेरा रूप जानो।

(7.45) बलवानों में जो अचल बल है वह मैं हूँ। बुद्धिमानों मे जो केवल बुद्धि रहती है वह मैं हूँ।

(7.46) प्राणियों में जो काम रहता है, जिससे अर्थ और अनन्तर श्रेष्ठ धर्म साध्य किया जाता है, सो आत्माराम श्रीकृष्ण कहते हैं, मैं हूँ।

(7.47) सामान्यतः जो यथार्थ में विकार उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियों के इच्छानुसार ही कर्म करता है परन्तु धर्म के विरुद्ध नहीं,

(7.48) जो निषेधरूपी आड़ा-टेढ़ा मार्ग छोड़कर विधि के मार्ग से नियमरूपी मशाल संग लिये चलता है,

(7.49) जिसके इस रीति से व्यवहार करने से ही धर्म की पूर्णता होती है और संसार को मोक्षरूपी तीर्थ का पट्टा प्राप्त होता है,

(7.50) जो वेदमहिमारूपी मण्डप पर कामसृष्टिरूप बेल का, जब तक कि उसके पल्लव कर्मफल से मोक्ष तक न पहुँच जायँ तब तक, विस्तार करता रहता है

(7.51) इस प्रकार नियम से चलनेहारा जो काम है और जो सब प्राणियों का बीज-रूप है वह — प्राणियों के नाथ श्रीकृष्ण कहते है — मैं हूँ।

(7.52) अब एक-एक कहाँ तक वर्णन करूँ, यह सब वस्तुसमुदाय मुझसे ही विस्तृत हुआ जानना चाहिए।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ 7.12 ॥

(7.53) यह जान लो कि जो सात्विक भाव है अथवा रज-तमादि गुण हैं, वे सब मेरे ही रूप से उत्पन्न हुए हैं।

(7.54) परन्तु यद्यपि वे मुझसे उत्पन्न हुए हैं, तथापि मैं उनमें नहीं हूँ, जैसे स्वप्नरूपी देह में जागृति नहीं डूबती।

(7.55) जैसे बीजकणिका दृढ और घने रस की ही बनी रहती है परन्तु उससे अंकुर के द्वारा काष्ठ उत्पन्न होता है,

(7.56) इसलिए क्या काष्ठ में बीजत्व नहीं है? वैसे ही यद्यपि मैं विकृत दिखाई देता हूँ तथापि मैं विकृत नहीं होता।

(7.57) गगन में मेघ उत्पन्न होते है परन्तु उनमें गगन सर्वथा नहीं रहता, अथवा मेघ से जो जल उत्पन्न होता है उसमें मेघ नहीं रहते,

(7.58) या उदक के घर्षण से प्रकट हो जो प्रकाश चमकता हुआ दिखाई देता है, उस विद्युत में क्या जल रहता है?

(7.59) कहो अग्नि से जो धुआँ उत्पन्न होता है उस धुएँ में क्या अग्नि रहती है? वैसे ही यद्यपि में विकृत दिखाई देता हूँ तथापि विकाररूप नहीं हूँ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ 7.13 ॥

(7.60) परन्तु पानी पर उपजी हुई सेवार जैसे पानी को आच्छादन कर लेती है, अथवा मेघ से जैसे आकाश वृथा लुप्त हो जाता है,

(7.61) अजी, स्वप्न मिथ्या कहलाता है, परन्तु नींद में जब वह दीखता है तब क्या मनुष्य को निज स्वरूप का स्मरण होता है?

(7.62) और तो क्या, आँख में ही जो जाला उत्पन्न होता है उससे क्या नेत्रों की देखने की शक्ति नष्ट नहीं हो जाती?

(7.63) वैसे ही यह मेरी त्रिगुणात्मक छाया विस्तृत हुई है, अथवा जवनिका समान मेरी ही ओट में पड़ी है।

(7.63) इसलिए प्राणीगण मुझे नहीं पहचानते। वे मेरे ही हैं, परन्तु जैसे जल से उत्पन्न हुए मोती जल में नहीं गलते वैसे वे मद्रूप नहीं होते।

(7.65) मिट्टी का घट बनाया जाय तो मिट्टी में मिलाते ही मिल जाता है परन्तु वही अग्नि में तपाया जाए तो भिन्न बन जाता है;

(7.66) वैसे ही सब प्राणी वास्तव में हैं तो मेरे ही अवयव परन्तु माया के कारण जीवदशा को प्राप्त हुए हैं।

(7.67) इसलिए मेरे होकर भी वे मद्रूप नहीं है। मेरे हैं तथापि मुझे नहीं पहचानते। अहन्ता और ममता के मद से वे विषयान्ध हो गये हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 7.14 ॥

(7.68) तो फिर, हे धनंजय! वे मेरी महत्तत्व आदि माया के पार हो कर मद्रूपता कैसे प्राप्त कर सकेंगे?

(7.69) जिस माया नदी में ब्रह्म-पर्वत की टूटी हुई कगार में से, प्रथम संकल्परूपी जल का स्रोत लगते ही, महाभूतरूपी छोटा-सा बुलबुला निकलता है;

(7.70) जो सृष्टि-विस्ताररूपी प्रवाह से बहती हुई, कालगति के वेग से कर्ममार्ग और निवृत्ति-मार्ग-रूपी ऊँचे तटों पर से बहती चली है;

(7.71) जो गुणरूपी मेघों की वृष्टि से भर कर मोहरूपी बाढ़ में यम-नियमों के नगर बहा ले जाती है;

(7.72) जो द्वेषरूपी भँवरों से भरी हैं; जिसमें मत्सररूपी मरोड़ लगते हैं और जिसमें प्रमाद इत्यादि महा-मीन चमकते हैं;

(7.73) जिसमें प्रपंचरूपी बाँक हैं, कर्माकर्मरूपी बाढ़ आती है, और जिसमें सुखदुःखरूपी लट्ठे तरंगते हुए बहते हैं;

(7.74) जिसमें रतिरूपी टापू पर काम की लहरें टक्कर खाती हैं, जिसमें चहुँओर जीवरूपी फेन का समूह दिखाई देता है;

(7.75) जिसमें अहंकार के प्रवाह में विद्या, धन और सामर्थ्यरूपी मदत्रय का उफान आता है और विषयरूपी लहरों के झकोरे ऊँचे उठते हैं

(7.76) और जिसमें उदय तथा अस्त की बाढ़ आने से जन्ममरणरूपी पत्थर गिरते हैं और पंचभूतात्मक बुलबुले उत्पन्न और विलीन होते रहते है

(7.77) उस नदी में सम्मोह और विभ्रमरूपी मछलियाँ धैर्यरूपी मांस लीलती हैं और आस्था के भँवर उठते है

(7.78) तथा भ्रान्ति के गँदले पानी से और आस्था की कीचड़ से भरे हुए रजोगुणरूपी प्रवाह के घर्राटे की गर्जना स्वर्ग तक पहुँचती है।

(7.79) उसमें तम के प्रवाह के विकट हैं; सत्त्वरूपी निश्चल दह भी बड़े-बड़े हैं; बहुत क्या कहें, यह माया-नदी दुस्तर है।

(7.80) उसकी जन्म-मरणरूपी बाढ़ से सत्यलोक के किले गल जाते हैं और ब्रह्माण्डरूपी पत्थर भी उसके आघात से गिर पड़ते हैं।

(7.81) उसके जलप्रवाह ने अभी तक स्थिरता नहीं पकड़ी है। इस प्रकार माया की बाढ़ को कौन पार कर सकेगा?

(7.82) यहाँ एक आश्चर्य यह है कि जो जो तरणोपाय करो सो सो अपाय ही होता है।

(7.83) कोई आत्मबुद्धि का अभिमान रख अपने बाहुबल से पार जाते हैं, तो उन्हें अपनी सुधि ही नहीं रहती। किसी को ज्ञानशक्ति के दह पर अभिमान ही लील लेता है।

(7.84) कोई तीनों वेदरूपी नाव पर बैठकर अहंभावरूपी पत्थर से टक्कर खाकर गर्वमीन के मुँह में सम्पूर्ण समा जाते हैं।

(7.85) कोई अवस्थाबल के सहाय से मदन के पीछे लगते हैं तो उन्हें विषयरूप मगर चबाकर फेंक देता हैं,

(7.86) और वे वार्धक्यरूपी तरंगों के मतिभ्रंशरूपी जालों में चहुँओर से फँस जाते है

(7.87) और शोकरूपी कगार पर जा गिरते है। क्रोध के भँवर में दबकर ऊपर उठते ही आपदारूपी गीध उन्हें नोच डालते हैं,

(7.88) फिर वे दुःखरूपी कीचड़ से भर जाते हैं और मरण की रेती में फँस जाते हैं। इस प्रकार जो काम के पीछे लगे रहते हैं उनका जीवन वृथा जाता है।

(7.89) कोई यजनक्रिया की पिटारी बाँध छाती से चिपटाते हैं; वे स्वर्ग-सुखरूपी कपाट में फँस कर रह जाते हैं।

(7.90) कोई मोक्षप्राप्ति की आशा से कर्मरूपी बाँहों का भरोसा करते हैं, परन्तु वे विधिनिषेधरूपी भँवरों में पड़ जाते हैं।

(7.91) वहाँ वैराग्य की नाव का प्रवेश नहीं होता, तथा विवेक की डोरी भी काम नहीं देती, परन्तु योग से कुछ पार पा सकते हैं। तथापि ऐसा क्वचित् ही होता है।

(7.92) इस प्रकार निज के बल से इस मायानदी के पार जाने को क्या उपमा दी जा सकती है?

(7.93) यदि अपथ्य करनेहारा रोग के वश कर सके, दुर्जन की बुद्धि साधुओं को वश कर सके, तथा विषयासक्त मनुष्य प्राप्त होती हुई सिद्धि को छोड़ सके,

(7.94) यदि न्यायसभा चोर से डर जाय, अथवा बनसी मछली को निगल जाय, अथवा डरपोक मनुष्य पिशाच को लौटा दे,

(7.95) हिरन का बच्चा जाल तोड़ सके, अथवा चिउँटी मेरु पर्वत का उल्लंघन कर सके, तो जीव भी मायानदी का पार देख सकेंगे।

(7.96) अतएव, हे पाण्डुसुत! सकाम मनुष्य से जैसे स्त्री नहीं जीती जाती, वैसे ही प्राणियों से यह मायामय नदी पार नहीं हो सकती।

(7.97) उन्होंने इस सहज में पार किया है जो सरल भाव से मुझे भजते हैं। उनके सामने इस मायानदी का जल इसी पार समाप्त हो जाता है।

(7.98) उन्हें सचमुच सद्गुरु तारक हैं। वे अनुभव के पीछे दृढता से लगे रहते हैं। उन्हें आत्मनिवेदनरूपी नाव मिल जाती है।

(7.99) वे अहंभाव के बोझे का त्याग कर विकल्परूपी लहरों को टाला देकर और अनुरागरूपी पानी का प्रवाह भी बचा कर निकल जाते हैं।

(7.100) उन्हें ऐक्यरूपी उतार भी बोधरूपी तारा दिखाई देता है। और उसके आधार पर वे निवृत्तिरूपी परतीर को जा पहुँचते हैं।

(7.101) वे वैराग्य के बाहुओं से तैरते हुए, सोहंभाव के बल से आगे बढ़ते हुए. अनायास निवृत्ति-तीर पर आ पहुँचते हैं।

(7.102) इस उपाय से जो मुझे भजते हैं, वे मेरी माया के पार जाते हैं। परन्तु ऐसे भक्त बिरले हैं, बहुतेरे नहीं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ 7.15 ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7.16 ॥

(7.103) और दूसरे जो अनेक हैं उनमें अहंकार का भूत संचार हुआ है इसलिए उन्हें आत्मज्ञान का विस्मरण होता है.

(7.104) और नियमरूपी वस्त्र की सुधि नहीं रहती, भविष्य अधोगति की लज्जा नहीं लगती, तथा वेद जिस बात का निषेध करता है वही वे करते हैं।

(7.105) देखो, हे पाण्डव! जिस लिए वे शरीररूपी ग्राम में आये हैं वह सम्पूर्ण कर्तव्य छोड़कर,

(7.106) वे इन्द्रियग्राम के राजमार्ग में अहंता और ममतारूपी जल्पना करके अनेक विकारों का समुदाय जमाते हैं।

(7.107) दुःख और शोक के जो घाव लगते हैं उसका उन्हें स्मरण भी नहीं होता। कहने का हेतु यह है कि उन्हें माया ने ग्रस लिया है

(7.108) इसलिए वे मुझे भूलते हैं। परन्तु कोई कोई जो अपने कल्याण की वृद्धि करते हैं वे मुझे चार प्रकार से भजते हैं।

(7.109) पहला भजनेहारा आर्त्त कहलाता है, दूसरे को जिज्ञासु कहते हैं, तीसरा अर्थार्थी और चौथा ज्ञानी है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ 7.17॥

(7.110) इनमें से जो आर्त्त है वह अपने दुःखनिवारण के हेतु भजता है, जिज्ञासु ज्ञान की इच्छा से भजता है, तीसरा अर्थप्राप्ति की इच्छा करता है,

(7.111) परन्तु चौथे को कुछ भी कार्य नहीं रहता। इसलिए भक्त उसी एक जो जानो जो कि ज्ञानी हो।

(7.112) क्योंकि उसके लिए ज्ञान के प्रकाश से भेदरूपी अन्धकार का नाश हो जाता है, और एकता के कारण वह मद्रूप हो जाता है तथापि वह भक्त भी बना रहता है।

(7.113) परन्तु दूसरों को स्फटिक पर जैसे क्षणभर जल का भास होता है, वैसा उस ज्ञानी का हाल नहीं होता। उसका वर्णन अद्भुत है।

(7.114) जैसे वायु जब आकाश में विलीन हो जाती है तब क्या वायुत्व अलग नहीं रहता? वैसे ही यद्यपि उसका ऐक्य हो जाता है तथापि "भक्त" संज्ञा नहीं जाती।

(7.115) यदि हिलाकर वायु देखी जाय तो आकाश से भिन्न दिखाई देगी, अन्यथा आकाश तो स्वभावतः वैसा ही बना रहता है,

(7.116) वैसे ही वह शरीर से कर्म करता है इससे भक्त जान पड़ता है परन्तु आत्मानुभव के कारण वह मद्रूप ही है।

(7.117) ज्ञान का उदय होने के कारण वह मुझे अपना आत्मा ही समझता है इसलिए मैं भी हर्षयुक्त हो उसे वैसा ही समझता हूँ।

(7.118) अजी जीव के परे का संकेत पाकर जो व्यवहार करना जानता है वह क्या देह की भिन्नता के कारण आत्मा से भिन्न हो सकता है?

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ 7.18 ॥

(7.119) अतएव अपने-अपने कल्याण के लोभ से हरएक भक्त मुझे भजता है, परन्तु मैं जिस पर प्रेम करता हूँ वह एक ज्ञानी ही है।

(7.120) देखो, दूध की आशा से जगत् गाय को डोरी से फाँसता है पर बछड़े का फन्दा डोरी के बिना ही कैसा बलवान् होता है!

(7.121) क्योंकि वह तन, मन, प्राण से उस गाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। उसे देखते ही वह कहता है कि यह मेरी माता है।

(7.122) इस प्रकार वह अन्याधाररहित है इसलिए गाय को भी उससे वैसी ही प्रीति होती है। अतएव श्रीकृष्ण ने सत्य कहा।

(7.123) अस्तु, फिर श्रीकृष्ण ने कहा कि और जिन भक्तों का हमने वर्णन किया वे सब हमें प्रिय हैं।

(7.124) परन्तु मुझे जानकर जो संसार में लौटना भूल जाते हैं. जैसे समुद्र को पहुँच कर नदी का लौटना बन्द हो जाता है

(7.125) वैसे ही अन्तःकरणरूपी गुहा में जन्म लेकर जिनकी अनुभवरूपी गंगा मुझमें आ मिलती है, वे मद्रूप हैं। इस बात का शब्दों से कहाँ तक विस्तार करूँ।

(7.126) वैसे भी जो ज्ञानी कहाता है वह केवल मेरा जीवन है। यह बात कहनी नहीं चाहिए, पर क्या किया जाय, पर न कहने की बात भी कह चुके।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ 7.19 ॥

(7.127) कारण वह ज्ञानी विषयरूपी विस्तीर्ण झाड़ी के काम-क्रोधरूपी संकटों से बच कर सद्वासना रूपी पहाड़ी पर पहुँचा हुआ है।

(7.129) हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन! वह साधुओं के संग सत्कर्म के सरल मार्ग से चलता है और अकर्म का आड़ा-टेढ़ा मार्ग छोड़ देता है।

(7.129) सैकड़ों जन्म तक उसी मार्ग का प्रवासी होते हुए वह आस्था की खड़ाऊँ भी नहीं पहनता, तो फिर फलहेतु की कौन गणना करे।

(7.130) इस प्रकार उसे शरीरसंयोग की रात्रि में अकेले चलते-चलते आप ही आप कर्मक्षयरूपी प्रकाश का प्रातःकाल हो जाता है।

(7.131) और गुरुकृपारूप उषःकाल प्रकाशित होते ही तथा ज्ञानरूपी कोमल धूप निकलते ही उसकी दृष्टि में समतारूपी ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है।

(7.132) उस समय जिस ओर वह देखे वहाँ उसे एक मैं ही दिखाई देता हूँ।

(7.133) बहुत क्या कहूँ, सर्वत्र उसे मेरे सिवाय और कुछ नहीं दिखाई देता। जैसे दह के घट डूबते ही उसके अन्तर-बाह्य जल ही हो रहता है।

(7.134) वैसे ही वह मुझमें है और मैं उसके अन्तर-बाह्य हूँ। यह बात वाणी से बताई जाने योग्य नहीं है।

(7.135) अतएव रहने दो। इस प्रकार वह ज्ञान की पूँजी प्राप्त करता है और उसे व्यापार में लगा कर विश्व को अपना लेता है

(7.136) तथा ऐसे स्वानुभव के भाव की मूर्ति ही बन जाता है कि "यह समस्त जगत् श्रीवासुदेव का ही रूप है।" इसलिए वही भक्तों में श्रेष्ठ और वही ज्ञानी कहलाता है।

(7.137) हे धनुर्धर! जिनके अनुभव की दुकान में चराचर को स्थान मिलता है ऐसे महात्मा दुर्लभ हैं।

(7.138) पर हे किरीटी! दूसरे ऐसे बहुत है जिनका भजन केवल भोग के लिए है, और जिनकी दृष्टि आशारूपी अन्धकार से मन्द हो गई है

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ 7.20 ॥

(7.139) और फल की इच्छा रखने के कारण जिनके हृदय में काम प्रवेश करता है तथा उसके संसर्ग के कारण जिनका ज्ञानरूपी दीपक बुझ जाता है।

(7.140) इस प्रकार वे अन्तर-बाह्य अन्धकार में जा गिरते हैं, जिससे मेरे पास रहते हुए भी मुझे भूल जाते हैं और सब प्रकार से अन्य देवताओं का आराधन करते हैं।

(7.141) पहले ही वे प्रकृति के दास रहते है, ऊपर से भोगों के लिए दीन रहते हैं, इससे लोलुपता के कारण कैसे कौतुक के साथ भजते हैं।

(7.142) कैसे नियम से चलते हैं! कितनी पूजा-सामग्री इकट्ठी करते है! और कैसे विधिपूर्वक विहित वस्तुएँ समर्पण करते हैं!

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ 7.21 ॥

(7.143) परन्तु जो मनुष्य किसी अन्य देवताओं को भजने की इच्छा करता है उसकी सम्पूर्ण इच्छा पूर्ण करनेहारा मैं हूँ।

(7.144) देखो, देव और देवी मैं ही हूँ, परन्तु उसका ऐसा निश्चय नहीं रहता। वह उनमें अलग-अलग भाव रखता है

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ 7.22 ॥

(7.145) तथा वह उस श्रद्धा से युक्त हो कार्यसिद्धि होने तक उन देवताओं का उचित रीति से आराधन करने में प्रवृत्त होता है

(7.146) जो जैसी भावना करता है उसे वैसा ही फल मिलता है, परन्तु ये सब बातें मेरे ही कारण होती हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ 7.23 ॥

(7.147) फिर भी वे भक्त मुझको नहीं जानते क्योंकि वे कल्पना के बाहर नहीं जाते। अतएव उन्हें नाश होनेवाले कल्पित फल मिलते हैं।

(7.148) किंबहुना, ऐसा भजन संसार का ही साधन है। और फलभोग तो स्वप्नरूप है जो केवल क्षणभर ही दिखाई देता है।

(7.149) इसे अलग कर दो तो फिर कोई भी देवी प्यारी हो तथापि उसका पूजन करने से उन भक्तों को देवत्व ही प्राप्त होता है।

(7.150) जो तन-मन-प्राण से मेरा ही अनुसरण करते हैं वे देह का अन्त होने पर मद्रूप हो जाते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ 7.24 ॥

(7.151) परन्तु प्राणी ऐसा नहीं करते; वृथा अपने हित की हानि करते हैं। वे चुल्लू भर पानी में तैरने की चेष्टा करते हैं।

(7.152) अमृत के समुद्र में डुबकी मारते समय क्या मुँह में दाँती भींच लेनी चाहिए और मन में क्या किसी डावर के पानी का स्मरण करना चाहिए!

(7.153) ऐसा क्यों करना चाहिए? अमृत में प्रवेश कर मरने की अपेक्षा सुख से अमृत में अमृत होकर क्यों न रहना चाहिए?

(7.154) और, हे धनुर्धर! फलहेतु का पिंजरा छोड़कर अनुभवरूपी पंखों की सहायता से चिदाकाश का स्वामी क्यों न हो रहना चाहिए?

(7.155) जो वस्तु ऐसी ऊँची है कि उसमें अपने इच्छानुसार उड़ने के लिए मनमाने विचार का लाभ हो सकता है,

(7.156) इस मापी न जानेवाली वस्तु को मापने की चेष्टा क्यों करनी चाहिए? निराकार को साकार क्यों मानना चाहिए? सिद्ध रहते हुए भी साधन करते हुए जीवन का अन्त क्यों करना चाहिए?

(7.157) परन्तु हे पाण्डव! विचार करने से मालूम होता है कि उक्त कथन इस जीव को विशेषतः नहीं भाता।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ 7.25 ॥

(7.158) बीच में आदिमाया का परदा होने से ये लोग अन्धे बन गये हैं। अतएव ये मुझे प्रकाशरूपी दिन के बल नहीं देख सकते।

(7.159) अन्यथा क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसमें कि मैं नहीं हूँ? ऐसा कौन-सा पानी है जो रस से रहित हो?

(7.160) पवन किसे नहीं स्पर्श करती? आकाश कहाँ नहीं समाया हुआ है? इस प्रकार एक मैं ही सब जगत् में भरा हुआ हूँ।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ 7.26 ॥

(7.161) जो प्राणी पूर्व में हो गये हैं वे मद्रूप ही हो रहे हैं और जो वर्तमान में है वे भी मैं ही हूँ;

(7.162) अथवा जो आगे होनेवाले हैं वे भी मुझसे भिन्न नहीं है। ये केवल शब्द ही हैं, अन्यथा वस्तुतः न कुछ होता है न जाता है।

(7.163) रस्सी पर दिखाई देनेवाले सर्प की, काला, कौड़िया इत्यादि गणना कोई नहीं करता, वैसे ही भूतमात्र मिथ्या होने के कारण उनकी भी गणना नहीं हो सकती।

(7.164) हे पाण्डुसुत! मैं सर्वदा ऐसा अखण्ड हूँ तथापि इन प्राणियों को जो संसार जान पड़ता है उसका कारण जुदा है।

(7.165) उसी का अब हम थोड़ा-सा निरूपण करते हैं; सुनो। जब अहंकार और तनु से प्रीति लग जाती है

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ 7.27 ॥

(7.166) तब उनसे एक इच्छा नामक कुँवारी उत्पन्न होती है। उसे कामरूपी तारुण्य प्राप्त होते ही द्वेष के संग उसका विवाह हो जाता है।

(7.167) उन दोनों से जन्म लेकर जो द्वन्द्वमोह प्रकट होता है उसे उसका दादा अहंकार पालन कर छोटे से बड़ा करता है।

(7.168) वह सदा धैर्य का विरोधी रहता है और इतना बलवान होता है कि नियम के वश नहीं होता और जन्म से ही आशारस से पुष्ट हो तुन्दिल होता है।

(7.169) हे धनुर्धर! वह असन्तोषरूपी मदिरा से मत्त होकर विषयरूपी कोठरी में विकृति के संग पड़ा रहता है।

(7.170) उसने शुद्धभाव के मार्ग में विकल्परूपी काँटे बिछा दिये हैं और कुमार्ग के आड़े-टेढ़े रास्ते निकाल दिये हैं।

(7.171) इससे प्राणीगण भ्रम में पड़ जाते हैं। अतएव वे संसाररूपी जंगल में पड़े हैं और दुःख के बोझे के नीचे दबे हुए हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28 ॥

(7.172) इन निष्फल विकल्परूपी तीक्ष्ण काँटों को देखते हुए जो पुरुष मतिभ्रम को पास ही नहीं आने देते,

(7.173) जो सरल एक-निष्ठारूपी डगों से उन काँटों की नोकें रगड़कर महापातरूपी जंगल नाँघ जाते हैं,

(7.174) वे पुण्यरूपी दौड़ लगाते हुए मेरे पास पहुँचते हैं। बहुत क्या कहें, वे रास्ते के वधिकों से बच जाते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29 ॥

(7.175) और भी, हे पार्थ! जो आस्थापूर्वक ऐसी चेष्टा करते हैं कि जन्ममरण की कहानी ही बन्द हो जाय,

(7.176) उनके एक बार प्रयत्न करते ही सम्पूर्ण परब्रह्मरूपी फल हाथ लगता है; वह ऐसा पका हुआ होता है कि उसमें से पूर्णतारूपी रस टपकता रहता है।

(7.177) तब फिर सब जगत् में कृतार्थता भरी दिखाई देती है, आत्मज्ञान का कौतुक पूर्ण हो जाता है।

(7.178) हे धनंजय! जिसके व्यापार की पूँजी मैं ही हूँ उसे इस प्रकार अध्यात्म का लाभ होता है।

(7.179) उसे साम्यरूपी ब्याज मिलता है, उसका ऐक्यरूपी असामी-समूह बढ़ता है तथा भेदरूपी दीनता से कभी उसकी भेंट नहीं होती।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30 ॥

(7.180) जिन्होंने मुझ पंचभूतात्मक साकार को अनुभवरूपी हाथों से पकड़कर अधिदैव जीवात्मा को स्पर्श किया है,

(7.181) जिनको ज्ञानशक्ति के बल से मैं अधियज्ञ परमात्मा दिखाई देता हूँ, वे शरीर के वियोग से विरही नहीं होते।

(7.182) यों तो आयुष्य की डोरी टूटते समय प्राणियों को जो व्याकुलता होती है, उसे देख न मरनेवालों के चित्त मे भी क्या प्रलय नहीं हो जाता?

(7.183) परन्तु जो मेरे स्वरूप को पहुँच गये हैं वे देहान्त की व्याकुलता के समय भी, न जाने क्यों, मुझे नहीं भूलते।

(7.184) सामान्यतः यही समझो कि जो ऐसे निपुण हैं वही अन्तःकरणयुक्त योगी हैं।

(7.185) इस शब्दरूपी गंगाजली के नीचे अर्जुन को अवधान की अंजलि न बताई गई। क्योंकि वह उस समय क्षणभर कुछ और सोच रहा था।

(7.186) वे ब्रह्मप्रतिपादक वचनरूपी फल नाना अर्थरूपी रस से भरे हुए थे और भावरूपी सुगन्ध से महक रहे थे।

(7.187) ऐसे वे श्रीकृष्णरूपी वृक्ष के वचनफल जब सहजकृपारूपी मन्द वायु के झकोरे से अर्जुन के श्रवणरूपी पल्ले में अकस्मात् जा पड़े

(7.188) तो ऐसे दिखाई दिये कि मानों सिद्धान्त के ही बने हुए हों, अथवा ब्रह्मरस के समुद्र में डूबाये हुए हों और परमानन्द में धुले हुए हों।

(7.189) ऐसी निर्मल सुन्दरता देखकर अर्जुन के ज्ञान-क्षेत्र विस्मयरूपी अमृत के घूँट लेने लगे।

(7.190) ऐसी सुख-सम्पत्ति प्राप्त होते ही वह स्वर्ग को भी बिराने लगा और उसके हृदय में गुदगुदी होने लगी।

(7.191) इस प्रकार जब ऊपर की उत्तमता से सुख बढ़ने लगा तब उसे रस का स्वाद लेने की इच्छा हुई।

(7.192) जल्दी से उसने उन वचनफलों को अनुमानरूपी हथेली पर लेकर एकदम अनुभवरूपी मुख में डालना चाहा।

(7.193) परन्तु जब सुभद्रापति अर्जुन ने देखा कि वे फल न तो विचाररूपी रसना से दबते हैं और न हेतुरूपी दाँतों से टूटते हैं तब उसने उन्हें मुँह से न लगाया।

(7.194) वह आश्चर्ययुक्त हो कहने लगा कि ये तो जल में दीखनेहारे तारागण हैं। इन अक्षरों की सुगमता से मैं कैसा फँसा!

(7.195) ये वास्तव में शब्द नहीं, आकाश के परत हैं। यहाँ हमारी मति डूबे तो भी थाह न लगे।

(7.196) तो फिर और कहीं से जानने की बात ही क्या हैं? इस प्रकार जी में सोच कर अर्जुन ने फिर से श्रीकृष्ण की ओर दृष्टि की;

(7.197) और विनती की कि अजी, ये सातों ही शब्द अनास्वादित हैं, यह बड़ा अचरज है।

(7.198) यो तो अवधान की तीव्रता रहे तो अनेक सिद्धान्तों के अनुभव क्या श्रवण के ही बल से ज्ञात हुए बिना रह सकते हैं?

(7.199) परन्तु सम्प्रति हे देव! मेरा हाल वैसा नहीं हुआ। मैंने अक्षरों का समुदाय देखा और मेरे विस्मय के जी में भी विस्मय हुआ।

(7.200) कान के झरोखे में से आपके शब्दरूपी किरण हृदय में प्रकाशने नहीं पाये कि चमत्कार से मेरा अवधान बन्द हो गया

(7.201) और अब मुझे इन शब्दों का अर्थ जानने की इच्छा हुई है। यह कहने में समय व्यतीत करना भी मैं सह नहीं सकता। इसलिए हे देव! जल्दी से निरूपण कीजिए।

(7.202) इस प्रकार पिछली समालोचना कर अगले अभिप्राय की ओर दृष्टि देकर तथा बीच में अपनी इच्छा प्रदर्शित कर,

(7.203) (पूछने की कुशलता देखिए कि) अर्जुन मर्यादा का सीमा उल्लंघन नहीं होने देता, तथापि श्रीकृष्ण के हृदय को आलिंगन देने की चेष्टा कर रहा है।

(7.204) अजी, श्रीगुरु से जब प्रश्न किया जाय तब कैसा सावधान रहना चाहिए, इसका सम्पूर्ण मर्म एक अर्जुन ही जानता है।

(7.205) अब उसका प्रश्न और उस पर सर्वज्ञ श्रीहरि का उत्तर संजय कैसे प्रेम से वर्णन करेंगे!

(7.206) उस कथा का ठेठ भाषा में वर्णन होगा। उस पर ध्यान दीजिए। जैसे कानों के पूर्व दृष्टि को ही लाभ होता है,

(7.207) जैसे बुद्धि की जिह्वा से शब्दों का सार चखने के पहले ही अक्षरों की शोभा इन्द्रियों को मोह लेती है,

(7.208) देखो, घ्राणेन्द्रिय मालती की कलियों को उसकी सुगन्धि लेकर पहचानती गै परन्तु नेत्र क्या उसकी ऊपरी शोभा से पहले ही सुखी नहीं हो जाते?

(7.209) वैसे ही इस भाषा की शोभा से इन्द्रियाँ मानों राज्य करेंगी और फिर धीरे से सिद्धान्तरूपी नगर प्राप्त करेंगी।

(7.210) ऐसे उत्तम और अनिर्वचनीय वचन सुनिए। मैं श्रीनिवृत्ति का दास ज्ञानदेव निवेदन करता हूँ।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां सप्तमोऽध्यायः।

आठवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ 8.1 ॥

(8.1) फिर अर्जुन ने कहा — हे महाराज! सुनिए मैंने जो कुछ पूछा उसका निरूपण कीजिए।

(8.2) मुझे समझाइए कि ब्रह्म कौन है, कर्म किस वस्तु का नाम है, अथवा अध्यात्म किसे कहते हैं.

(8.3) अधिभूत कैसा होता है, और संसार में अधिदैवत कौन है। ऐसा निरूपण कीजिए कि ये बातें मैं स्पष्ट समझ सकूँ।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ 8.2 ॥

(8.4) हे देव! अनुमान से कुछ जान नहीं पड़ता कि अधियज्ञ क्या है और वह इस देह में कौन है;

(8.5) और भी, हे शार्ङ्गपाणि! जिन्होंने अपने अन्तःकरण का नियमन किया है उन्हें देहत्याग के समय जो आपका ज्ञान हो जाता है वह किस प्रकार से होता है, सुनाइए।

(8.6) देखो, जो भाग्यवान् चिन्तामणिरत्नों के मन्दिर में सोया हुआ हो वह जो शब्द नींद में बर्राता है वे भी विफल नहीं जाते,

(8.7) वैसे ही अर्जन के मुख से उक्त वचन निकलते ही देव ने कहा कि तुमने जो पूछा उसे अच्छी तरह सुनो।

(8.8) अर्जुन कामधेनु का बछड़ा है और कल्पतरु के मण्डप में बँधा है। इसलिए मनोरथसिद्धि उसके लाभ का इच्छा करे तो कुछ आश्चर्य नहीं।

(8.9) श्रीकृष्ण जिसे कोप कर मारते हैं उसे परब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त होता है; फिर जिसे वे कृपा कर उपदेश करें, उसे कैसे न हो?

(8.10) हम कृष्णरूप हो जायँ तो हमारा अन्तःकरण भी कृष्णरूप हो जावेगा और हमारे संकल्प के आँगन में सिद्धियाँ आश्रय लेंगी।

(8.11) परन्तु ऐसा जो प्रेम है वह अर्जुन में ही निस्सीम है, अतएव उसके मनोरथ सर्वदा सफल होते हैं।

(8.12) इसी लिए यह जानकर कि अर्जुन यह मनोगत पूछेगा, श्रीकृष्ण ने उत्तररूप भोजन पहले से ही परोस कर रक्खा है।

(8.13) जो बालक स्तनपान करता है उसकी भूख माता को ही लगती है। अन्यथा, क्या वह मुँह से माँगता है और फिर माता उसे दूध पिलाती है?

(8.14) उसी प्रकार, कृपालु गुरु के विषय में यह बात कुछ अद्भुत नहीं है। परन्तु अब रहने दो। देव ने क्या कहा सो सुनिए।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ 8.3 ॥

(8.15-16) फिर सर्वेश्वर, श्रीकृष्ण ने कहा कि इस छिद्रयुक्त शरीर में जो वस्तु हुई है और कभी नहीं झिरती यों तो जो सूक्ष्म दिखाई देती है परन्तु स्वभावतः शून्य नहीं हैं, जो इतनी विरल है मानों आकाश के अंचल से छानी गई हो,

(8.17) और जो उस प्रपंच ज्ञान की खोल में हिलोरने से भी नहीं टपकती उसे वस्तु को परब्रह्म कहते हैं।

(8.18) यद्यपि आकार उत्पन्न होते हैं तथापि उस वस्तु को जन्म-धर्म नहीं लगते। आकार का लोप होता है तथापि उसका कभी नाश नहीं होता।

(8.19) इस प्रकार अपनी सहज स्थिति से रहनेहारी जो उस परब्रह्म की नित्यता है उसे, हे सुभद्रापति! अध्यात्म कहते हैं;

(8.20) तथा निर्मल गगन में जैसे किसी समय, न जाने कैसे, रंग-बिरंग अभ्रपटल छा जाते है,

(8.21) वैसे ही उस अत्यन्त शुद्ध निराकार रूपी अधिष्ठान पर महत्तत्व इत्यादि ब्रह्माण्ड के भूतभेदात्मक आकार दिखाई देने लगते हैं।

(8.22) कल्पनातीत ब्रह्मस्वरूपिणी धरती पर आदिसंकल्प के अंकुर फूटते हैं और साथ ही उनमें ब्रह्माण्ड के आकार की बहार आ जाती है।

(8.23) उनमें परस्पर एक दूसरे का अन्तर देखो तो बीजों से ही भरा हुआ दिखाई देता है और उनमें उत्पन्न होनेवाले और नाश होनेवाले जीवों की गणना नहीं की जाती।

(8.24) फिर उस ब्रह्माण्ड के अनेक अंश असंख्यात आदिसंकल्प उपजाते हैं। किंबहुना, इस प्रकार बहुतेरी सृष्टि बढ़ती जाती है।

(8.25) तथापि, दूसरा कोई नहीं, सर्वत्र एक परब्रह्म हो भरा हुआ रहता है और अनेकता की मानों बाढ़ आती है,

(8.26) परन्तु चराचर सम-विषम भावों की न जाने कैसे व्यर्थ रचना करता है। उसे उत्पन्न करनेहारी योनियाँ के भी लक्षावधि प्रकार दिखाई देते हैं।

(8.27) जीवभाव के और भी अनेक अंकुरों की कुछ मर्यादा नहीं है, और यदि यह देखा जाय कि यह सब किससे उत्पन्न होता है तो मूल अव्यक्त है;

(8.28) एवं मुख्य कर्ता दिखाई नहीं देता और निदान का हेतु भी कुछ नहीं रहता, परन्तु बीच में कार्य ही अपने आप बढ़ता रहता है।

(8.29) इस प्रकार, कर्ता के बिना ही प्रकट होनेवाला जो अव्यक्त में आकार का निपजना है उस व्यापार को कर्म कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ 8.4 ॥

(8.30) अब जो अधिभूत कहलाता है वह भी संक्षेप से समझाते हैं। अभ्र जैसे उत्पन्न होता और विलीन हो जाता है,

(8.31) वैसे ही जिसका अस्तित्व मिथ्या और न होता सत्य है; पंचमहाभूत आपस में मिलकर जिसका रूप बनाते हैं,

(8.32) जो भूतमात्र का आश्रय बन रहता है और भूतों के संयोग से जो दिखाई देता है, परन्तु उनके वियोग के समय जिसके नाम-रूप इत्यादि का नाश हो जाता है,

(8.33) उसे अधिभूत कहते है। अब अधिदैवत अर्थात् पुरुष उसे जानो जो प्रकृति की सम्पादित सम्पत्ति का भोग लेता है,

(8.34) जो बुद्धि का द्रष्टा है,. जो इन्द्रियरूपी देश का राजा है, जो देह के अस्तमान के समय संकल्परूपी पक्षियों का वृक्ष है,

(8.35) जो परमात्मा ही है परन्तु भिन्न दिखाई देता है, क्योंकि वह अहंकाररूपी निद्रा में सोया हुआ है और स्वप्न की चेष्टा से सन्तोषी वा दुःखी होता है।

(8.36) जिसे स्वभावतः जीव नाम से पुकारते हैं उसे इस पंचायतन का अधिदैवत जानो।

(8.37) हे पाण्डुकुँवर! अब इस शरीररूपी नगर में जो शरीरभाव का लय करता है वह अधियज्ञ मैं हूँ।

(8.38) अन्य जो अधिभूत और अधिदेव हैं वे भी सब निश्चय से मैं ही हूँ, परन्तु अच्छा सुवर्ण यदि हीन सुवर्ण से मिलाया जाय तो क्या हलके मोल का नहीं हो जाता?

(8.39) वास्तव में उस सुवर्ण की उत्तमता मलीन नहीं होती और वह हीन सुवर्ण के अंश में ही नहीं मिल जाता, तथापि जब तक उसके सम्बन्ध से रहता है तब तक उसे हलके ही मोल का कहना चाहिए;

(8.40) वैसे ही ये सम्पूर्ण अधिभूत इत्यादि जब तक अविद्या के अंचल से ढँके हुए हैं तब तक इन्हें भिन्न समझना चाहिए।

(8.41) वही जो अविद्या की परदा हट जाय और भेदभाव की सीमा मिट जाय और फिर यदि कहो कि वे एक में मिल गये तो क्या वे यथार्थ में अलग थे?

(8.42) बालों की गुँडेली पर स्फटिक का टुकड़ा रख दो तो बाह्यतः देखने से दरका हुआ काँच दिखाई देता है,

(8.42) परन्तु बाल हटा लिये जायँ तो दरार न मालूम कहाँ चली जाती है। तब क्या दरके हुए दिखाई देनेवाले स्फटिक को कोई राँज कर जोड़ देता है?

(8.44) नहीं, वह तो वैसा ही अखण्ड बना हुआ है, परन्तु केवल संग के कारण भिन्न दिखाई देता था। वही संग हटा लेने से फिर वह ज्यों का त्यों हो जाता है।

(8.45) वैसे ही अहंभाव निकल जाय तो ऐक्य तो पहले से ही बना है। यही ऐक्य जहाँ यथार्थतः होता है वही अधियज्ञ मैं हूँ।

(8.46) अजी, हमने जो कहा था कि सब कर्म से उत्पन्न होते हैं वह जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर कहा था,

(8.47) वही इन सम्पूर्ण जीवों का विश्रामस्थान नैष्कर्म्य-सुख का निधान है। हे पार्थ! वही हम स्पष्ट बताते हैं।

(8.48) पहले वैराग्यरूपी ईंधन डालकर, प्रदीप्त किये हुए इन्द्रियरूपी अग्नि में विषयरूप द्रव्यों की आहुति दे, तब

(8.49) वज्रासनरूपी पृथ्वी का शोधन करके शरीररूपी मण्डप में मूलबन्धमुद्रारूपी उत्तम वेदी बनाई जाती है।

(8.50) उस पर इन्द्रियनिग्रहरूपी अग्नि के कुण्ड में इन्द्रियद्रव्यों के और बड़े-बड़े योगमन्त्रों के द्वारा यजन किया जाता है।

(8.51) फिर मन और प्राण का निग्रह ही जो हवनश्री का समारम्भ है उससे धूम्ररहित ज्ञानाग्नि सन्तुष्ट की जाती है।

(8.52) इस प्रकार यह सब सामग्री ज्ञान में अर्पण की जाती है और ज्ञान ज्ञेय में विलीन हो जाता है। पश्चात् जो ज्ञेय ही पूर्ण निजस्वरूप से बच रहता है।

(8.53) उसका नाम अधियज्ञ है। इस प्रकार जब सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने निरूपण किया तब अर्जुन तो महाबुद्धिमान् था, वह बात उसके बुद्धिगत हो गई।

(8.54) यह जानकर देव ने कहा — हे पार्थ! भले सुन रहे हो! कृष्ण के इन वचनों से अर्जुन को बहुत आनन्द हुआ।

(8.55) देखो, बालक की तृप्ति से तृप्त होना अथवा शिष्य की कृतार्थता से कृतार्थ होना एक माता अथवा सद्गुरु ही जानते है।

(8.56) अतएव अर्जुन के पहले श्रीकृष्ण के ही हृदय में सात्विक भावों की इतनी भीड़ बच गई थी कि वह उसमें समा न सकी। परन्तु देव ने जानबूझ कर उसका निग्रह किया।

(8.57) और फिर ऐसे कोमल और सरस वचन कहे कि मानों परिपक्व सुख की सुगन्ध हो, अथवा शान्त अमृत की तरंगें हो।

(8.58) उन्होंने कहा — हे श्रोताओं के राजा, हे तात धनंजय! सुनो, इस प्रकार जब माया जल कर रह जाती है तब उसे जलानेवाला ज्ञान भी जल जाता है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ 8.5 ॥

(8.59) अजी, अभी हमने जिसका वर्णन किया, जिसे अधियज्ञ बखाना, जो सबका आदि-कारण है, उस मुझको अन्तकाल के समय जानकर,

(8.60) देह मिथ्या समझकर, जैसे आकाश से भरा हुआ मठ आकाश में ही रहता है वैसे जो आप ही आत्मस्वरूप हो रहते हैं;

(8.61) जिन्हें अनुभवरूपी मध्य घर में निश्चयरूपी कोठरी मिल जाती है इसलिए जो बाहर निकलने का स्मरण ही नहीं करते;

(8.62) इस प्रकार जो अन्तर-बाह्य भरी हुई एकता से मद्रूप हुए रहते है। उनके बाह्य भूतों के पाँचों आवरण बिन जाने ही गिर पड़ते हैं।

(8.63) ये आवरण साबित रहते है तब भी उनकी ओर उनका चित्त नहीं रहता तो उनके पतन से उन्हें क्या संकट हो सकता है? उनके अनुभवरूपी पेट का पानी भी नहीं हिलता।

(8.64) उनकी प्रतीति मानों ऐक्य से ढाल कर अविनाशिता के हृदयरूपी साँचे में ढाली हुई है और मानों पूर्णानन्दरूपी समुद्र में धोई गई है इसलिए मलिन नहीं होती।

(8.65) अथाह पानी में घट डुबाया जाय तो अन्तर-बाह्य पानी से भर जाता है और फिर यदि दैवगति से वह फूट जाय तो क्या पानी का नाश हो जाता है?

(8.66) अथवा साँप केंचुली छोड़ता है या गरमी होने के कारण वस्त्र निकाल फेंक दिया जाता है तो क्या कुछ अवयवों में टूट-फूट होती है?

(8.67) वैसे ही नाश इस ऊपरी आकार का होता है। अन्यथा, वस्तु तो भरी ही हुई है। वही बुद्धि से ज्ञात हो जाने पर बुद्धि क्योंकर व्याकुल हो सकती है?

(8.68) अतएव, जो मुझे अन्तकाल के समय इस प्रकार जानते हुए देह का त्याग करते हैं वे मत्स्वरूपी हो जाते है

(8.69) साधारणतः यही नियम है कि प्रायः जब मरण छाती पर आ गिरता है तब अन्तःकरण जिसका स्मरण करे वही बन जाता है।

(8.70) जैसे कोई दीन हो वायुगति से दौड़ते दौड़ते दो ही डग में अकस्मात् कुएँ में गिर पड़े

(8.71) तो उसके गिरने के पूर्ण उसका पतन रोकने के लिए वहाँ कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती, इससे वह गिर ही पड़ता है

(8.72) वैसे ही मृत्यु के क्षण में जो वस्तु जीव के सामने आ खड़ी हो उसी के रूप में जीव का मिल जाना अवश्यम्भावी है।

(8.73) मनुष्य जागृत रहता है तब जो ध्यान और भावना करता है वही आँख लगने पर स्वपन् में देखता है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ 8.6 ॥

(8.74) वैसे ही जीवित अवस्था में मन में जो इच्छा रह जाती है वही मरण के समय विशेषतः होती है।

(8.75) एवं मरण के समय जो जिस वस्तु का स्मरण करता है सो उसी गति को प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ 8.7 ॥

इसलिए तुमको सदा मेरा ही स्मरण करना चाहिए।

(8.76) आँखों से जो देखो, अथवा कानों से जो सुनो, मन से जिसकी भावना करो, अथवा वाणी से जो बोलो,

(8.77) सो सब अन्तर-बाह्य मद्रूप ही कर डालना चाहिए। फिर स्वभावतः सर्वदा मैं ही बना रह जाऊँगा।

(8.78) हे अर्जुन! ऐसा निश्चय हो जाने पर यद्यपि देह का नाश हो तथापि वास्तव में मृत्यु नहीं होती। तो फिर संग्राम करने से तुम्हें क्या भय है?

(8.79) यदि तुम यथार्थतः अपना मन और बुद्धि मेरे स्वरूप में समर्पित कर दो तो अवश्य ही मुझे प्राप्त कर लोगे।

(8.80) यदि तुम्हें सन्देह होता हो कि यह बात कैसे हो सकती है तो पहले अभ्यास कर देखो और फिर न हो तब क्रोध करो।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ 8.8 ॥

(8.81) इस प्रकार के अभ्यास से योग चित्त का हितकारी होता है। अजी, उपाय के बल से पंगु भी पर्वत पर चढ़ जाता है;

(8.82) वैसे ही निरन्तर उत्तम अभ्यास से चित्त को परमपुरुष की टेव लगा दो, फिर चाहे शरीर रहे अथवा जाय।

(8.83) जो चित्त अनेकों गतियों को पहुँचता है वह यदि आत्मा का अंगीकार कर ले तो फिर इसका कौन स्मरण करेगा कि देह गया कि है?

(8.84) नदी का प्रवाह धों धों करता हुआ जब समुद्र में मिलता है, तब क्या वह घुमकर देखता है कि पीछे क्या हो रहा है?

(8.85) नहीं, वह तो समुद्र ही बन रहता है। वैसे ही जहाँ चित्त ज्ञानस्वरूप हो जाता है, जहाँ जन्म-मरण बन्द हो जाते हैं, जो वस्तु परमानन्द-स्वरूप है,

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ 8.9॥

(8.86) – जिसकी स्थिति आकाररहित है, जिसे जन्म अथवा मरण नहीं है, जो सर्वत्र व्यापक हो देख रहा है,

(8.87) जो आकाश से भी पुराना है, जो परमाणु से भी सूक्ष्म है, जिसके सान्निध्य के कारण जगत् हलचल करता है,

(8.88) जो सब जगत् को उत्पन्न करता है, जो सब जगत् का जीवन है, जो ऐसा अचिन्त्य है कि उससे शास्त्र का अनुमान भी डरता है,

(8.89) जैसे दीमक कभी अग्नि नहीं खाती, अथवा प्रकाश में कभी अँधेरा नहीं घुस सकता (वैसे ही जिसका अनुमान नहीं हो सकता), जो बाह्य-दृष्टि के लिए दिन-दोपहर ही अन्धकार के समान है,

(8.90) जो निर्मल सूर्यकिरणों की राशि के समान है, ज्ञानियों को जिसका नित्य उदय है और जिसमें अस्तमान का ना ही नहीं है,

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ 8.10 ॥

(8.91) उस परिपूर्ण ब्रह्म को पहचान कर जो मरणकाल प्राप्त होने के समय एकाग्र चित्त से उसका स्मरण करता है,

(8.92) बाह्यतः पद्मासन लगा कर, उत्तराभिमुख बैठकर, हृदय में कर्मयोग का सुख भरे हुए

(8.93) अन्तर्याम में एकाग्र चित्त से और स्वरूप-प्राप्ति के प्रेम से तत्काल स्वयं निज में मिलने के लिए

(8.94) जो अभ्यास से प्राप्त किये हुए योग के द्वारा सुषुम्ना के मध्य मार्ग से अग्निचक्र से ब्रह्मरन्ध्र की ओर जाता है,

(8.95) जिसके शरीर और चैतन्य का सम्बन्ध ऊपरी ही दिखाई देता है, किन्तु प्राण आकाश में प्रवेश करता है,

(8.96) और मन की स्थिरता से धैर्य-युक्त होते हुए, भक्ति की भावना से भरा हुआ, योगबल से व्याप्त हो सजधज कर

(8.97) जो जड़ाजड़ को विलीन करता है, भ्रुकुटी में प्रवेश करता है, और जैसे घण्टानाद घण्टे में ही लीन हो जाता है.

(8.98) अथवा जैसे घट के नीचे ढका हुआ दीपक न जाने कब कहाँ जाता है उसी प्रकार हे पाण्डव! जो शरीर छोड़ देता है

(8.99) वह केवल परब्रह्म, जिसे परमपुरुष कहते हैं, और जो मेरा निजधाम है वही हो रहता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥
8.11 ॥

(8.100) सब ज्ञानों के सीमारूपी आत्मज्ञान की खानि जो ज्ञानीजन हैं वे जिसे अपनी मति के अनुसार अक्षर कहते हैं;

(8.101) जो वास्तव में एक ऐसा आकाश है कि प्रचण्ड वायु से भी नहीं टूटता; (अन्यथा, मेघ होता तो कैसे टिक सकता?)

(8.102) और जो वस्तु बुद्धिगत होती है वह ज्ञान से परिमित हो जाती है, इसलिए जो वस्तु ज्ञात नहीं होती वह स्वभावतः अक्षर कहाती है,

(8.103) अतएव जो वेदार्थ-ज्ञानी पुरुष हैं वे जिसे अक्षर कहते हैं; जो प्रकृति के परे है — परमात्मरूप है;

(8.104) और जो पुरुष विषयों का विष खाली कर सब इन्द्रियों को प्रायश्चित देकर देहरूपी वृक्ष के नीचे बैठे हैं,

(8.105) वे इस प्रकार विरक्त हो जिसकी निरन्तर बाट जोह रहे हैं; जो सर्वदा निष्काम पुरुषों का इष्ट है;

(8.106) जिसकी इच्छा के सम्मुख वे बेचारे ब्रह्मचर्यादि संकटों की परवाह नहीं करते और निष्ठुर हो इन्द्रियों को दीन कर डालते हैं;

(8.107) ऐसा जो दुर्लभ और अगाध स्थल है; वेद जिसके तीर पर ही डूब कर रह गये हैं;

(8.108) वह पद उन पुरुषों को प्राप्त होता है जो उपर्युक्त रीति से लय को प्राप्त होते है। हे पार्थ! यही स्थिति फिर एक बार हम वर्णन करते हैं।

(8.109) अर्जुन ने कहा — हे स्वामी! मैं यही कहनेवाला था इतने में आप ने सहज कृपा की। तो अब इसका वर्णन कीजिए।

(8.110) परन्तु अत्यन्त सुलभ शब्दों से कहिए। तब त्रिभुवन के दीपक श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि तुम्हारा अधिकार क्या हम नहीं जानते? हम संक्षेप से कहेंगे, सुनो।

(8.111) ऐसा यत्न करना चाहिए कि मन को बाहर की ओर आने की टेव सर्वथा टूट जाय और वह हृदयरूपी दह में डूबा रहे।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूध्न्यार्धायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 8.12 ॥

(8.112) परन्तु यह बात तभी हो सकती है जब निरन्तर सब इन्द्रियद्वारों में संयमरूपी किवाड़ बन्द किये गये हों।

(8.113) तभी मन हृदय में बन्द हो सहज में स्थिर रह सकेगा, जैसे कि हाथ-पैर लूले हो जायँ तो मनुष्य कभी घर नहीं छोड़ सकता।

(8.114) इस प्रकार हे पाण्डव! चित्त स्थिर होने पर प्राण को ओंकाररूप बना कर क्रम क्रम से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना चाहिए।

(8.115) वहाँ धारणा के बल से उसे इस प्रकार स्थिर रखना चाहिए कि आकाश में मिला या न मिला मालूम न हो। ओंकार की तीनों मात्राएँ जब तक अर्द्धमात्रा में न विलीन हो जावें

(8.116) तब तक वह वायु आकाश में स्थिर रखनी चाहिए। फिर जैसे ऐक्यावस्था के समय ओंकार बिम्ब में ही विराजमान रहता है

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ 8.13॥

(8.117) वैसे ही जब ओंकार का भी स्मरण बन्द हो जाता है और उसी समय प्राण भी निकल जाता है तब ओंकार के परे जो ब्रह्मानन्द-स्वरूप है वही बच रहता है।

(8.118) अतएव, एक प्रणव ही जिसका नाम है, ऐसा जो एकाक्षर ब्रह्म, जो मेरा स्वरूप है उसका स्मरण करते हुए

(8.119) जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकार से देह का त्याग करता है वह निश्चय से मुझे प्राप्त कर लेता है, जिसकी प्राप्ति के सिवाय और अधिक कोई लाभ नहीं है।

(8.120) हे अर्जुन! इस पर यदि तुम यह कहो कि अन्तकाल में यह स्मरण कैसे हो सकता है,

(8.121) इन्द्रियगणों को कष्ट हो रहा है, जीवन का सुख डूब रहा है, अन्तर-बाह्य मृत्यु के चिह्न प्रकट हो रहे हैं,

(8.122) उस समय कौन आसन डाल सकता है, कौन इन्द्रियों का निरोध कर सकता है, तथा किसका अन्तःकरण ओंकार का स्मरण कर सकता है?

(8.123) ऐसी आशंका को मन में स्थान मत दो, क्योंकि नित्य मेरी सेवा करनेवालों का निदान में, मैं ही सेवक बन जाता हूँ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 8.14 ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ 8.15 ॥

(8.124) जो पुरुष विषयों को तिलांजलि दे प्रवृत्ति के पाँवों में बेड़ी ठोक मुझे हृदय में रख भोगते हैं,

(8.125) पर भोग की अतृप्ति के कारण क्षुधा आदि की भी भेंट नहीं लेते तो चक्षु आदि रंकों की क्या कथा;

(8.126) वे जो निरन्तर एकाग्र हो अन्तःकरण में मुझसे युक्त हो मेरे स्वरूप में ही व्याप्त होकर मेरी भक्ति करते हैं,

(8.127) देहावसान के समय यदि वे मेरा स्मरण करें और मैं उन्हें प्राप्त न होऊँ तो वह उपासना ही क्या हुई?

(8.128) कोई दीन मनुष्य संकट में पड़ा अकुला कर "दौड़ो दौड़ो" चिल्लावे तो उसका दुःख दूर करने के लिए क्या मैं नहीं दौड़ जाता?

(8.129) फिर यदि भक्तों की भी वही दशा हो तो कोई भक्ति की उत्कट कामना ही क्यों करें! इसलिए ऐसी बात ही मत कहो।

(8.130) भक्त ज्योंही मेरा स्मरण करते हैं त्योंही, स्मरण करते ही, मैं उनके पास पहुँचता हूँ! परन्तु उसके स्मरण का उपकार भी मेरा जी सह नहीं सकता।

(8.131)अतः मैं निज को इस प्रकार ऋणी देखकर, उनसे उऋण होने के लिए, भक्तों के देहान्त के समय उनकी सेवा करता हूँ।

(8.132) उन सुकुमारों को शरीर की विकलतारूप हवा न लग जाय, इसलिए मैं उन्हें आत्मज्ञानरूपी पिंजरे में रखता हूँ

(8.133) और उनपर अपने स्मरण की शान्त और ठण्डी छाया करता हूँ। इस प्रकार मैं उन्हें इस संचित बुद्धि का स्मरण करा देता हूँ कि "मैं नित्य हूँ।"

(8.134) इसलिए मेरे भक्तों को शरीरत्याग के समय संकट कभी नहीं होता। अपने सेवकों को मैं अपनी ओर सुख से ले आता हूँ।

(8.135) उनके बाह्य-शरीर का आच्छादन निकाल कर मिथ्या अहंकार की धूल झाड़ कर शुद्ध वासना के द्वारा मैं उन्हें निज में मिला लेता हूँ।

(8.136) और, भक्तों को भी देह से विशेष तादात्म्य नहीं रहता इसलिए उसे छोड़ते उन्हें कुछ विरह नहीं मालूम पड़ता।

(8.137) अथवा देहान्त के समय वे यह भी नहीं सोचते कि मैं जाऊँ और उन्हें निजस्वरूप को ले आऊँ। क्योंकि वे पहले ही से मुझमें मिले हुए रहते हैं।

(8.138) उनका अहंकार शरीररूपी जल में आत्मरूपी चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में आत्मारूपी चन्द्रिका का निवास तो चन्द्र में ही रहता है।

(8.139) इस प्रकार जो निरन्तर मुझ से युक्त हैं उन्हें मैं सर्वदा सुलभ हूँ। इसलिए शरीर छोड़ते समय वे निश्चय से मद्रूप हो जाते हैं।

(8.140) और जो क्लेशरूपी वृक्षों का बगीचा है, जो आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक तापों की अँगीठी है, जो मृत्युरूपी कौए के लिए मानों बलि डाला गया है,

(8.141) जो दारिद्रय उत्पन्न करनेवाला और मृत्यु के भय को बढ़ानेवाला है, जो सकल दुःखों की पूर्ण पूँजी है,

(8.142) जो दुर्मति का मूल है, जो कुकर्म का फल है, जो भ्रान्ति की केवल स्वरूप है,

(8.143) जो संसार के बैठने का स्थान है, जो विकारों का बगीचा है, जो सकल रोगों की परोसी हुई थाली है,

(8.144) जो काल की जूँठी खिचड़ी है, जो आशा के शरीर का ढाँचा है, जो स्वभावतः जन्म-मरण के आवागमन का रास्ता है,

(8.145) जो भ्रम से भरा हुआ, विकल्प से ढाला हुआ किंबहुना बिच्छुओं की खँव (खत्ती) है,

(8.146) जो व्याघ्र का क्षेत्र है, जो वेश्या का मित्र है, जो विषयों को जानने का उत्तम मन्त्र है,

(8.147) जो डाकिनी के प्रेम का स्थान है, और विषरूपी ठण्डे पानी का घूँट है, जो साहु-चोर का विश्वसनीय सहवासी है,

(8.148) जो कोढ़ी का आलिंगन है, जो महाविषैले सर्प की मृदुता के समान है, जिसका स्वभाव बहेलिये के गायन जैसा है,

(8.149) जो शत्रु की पहुनई है, दुर्जन का आदर है, और क्या कहें, जो अनर्थों का समुद्र है,

(8.150) जो स्वप्न में देखा हुआ स्वप्न अथवा मृगजल का विस्तृत वन अथवा जो धुएँ के रज का ढाला हुआ गगन है,

(8.151) ऐसा जो यह शरीर है उसे मेरे अपार स्वरूप से एक हो जानेवाले पुरुष पुनः नहीं पाते।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 8.16 ॥

(8.152) अन्यथा ब्रह्मत्व का घमण्ड करनेवाले पुरुष पुनर्जन्म के चक्करों से नहीं बचते; पर जैसे मृत मनुष्य का पेट नहीं दुख सकता,

(8.153) अथवा जागृत होने पर स्वप्नरूपी बाढ़ में कोई नहीं डूब सकता वैसे ही जो मुझे प्राप्त होते हैं वे संसार में लिप्त नहीं होते।

(8.154) और जगदाकार का शिखर, चिरस्थायियों में श्रेष्ठ, त्रैलोक्यरूपी पर्वत की सीमा जो ब्रह्मभुवन है,

(8.155) जहाँ एक पहर दिन तक एक इन्द्र का आयुष्य नहीं टिकता और एक दिन में एकदम चौदह इन्द्रों की पंक्ति उठ जाती है,

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ 8.17 ॥

(8.156) जब युगों की हजार चौकड़ियाँ व्यतीत होती हैं, तब जहाँ वास्तव में एक दिन होता है तथा हजार चौकड़ियों की एक रात होती है,

(8.157) जहाँ इतने बड़े दिन-रात होते हैं, वहाँ उन (दिन-रातों) को वे ही भाग्यवान् देखते हैं जिनका क्षय नहीं होता; – वे स्वर्गस्थ चिरंजीव हैं।

(8.158) वहाँ और देवताओं की प्रतिष्ठा का विशेष वर्णन क्या किया जाय? मुख्य इन्द्र की ही दशा देखो कि दिन में चौदह हो जाते है।

(8.159) ब्रह्मा के आठों पहरों को जो अपने नेत्रों से देख रहे है उन्हें अहोरात्रविद् कहते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ 8.18 ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ 8.19 ॥

(8.160) उस ब्रह्मभुवन में जब दिन निकलता है उस समय निराकार में से विश्व इतनी बाहुल्यता से प्रकट होता है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती।

(8.161) पश्चात् जब दिन के चारों प्रहर निकल जाते हैं तब यह आकार-समुद्र सूखने लगता है और फिर प्रातःकाल होते ही वैसा भर जाता है।

(8.162) शरद्काल के आरम्भ में मेघ जैसे आकाश में विलीन हो जाते हैं और ग्रीष्म ऋतु के अन्त में जैसे फिर प्रकट होते हैं,

(8.163) वैसे ही ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में यह भूतसृष्टि का समुदाय प्रकट होकर हजार वर्षों की अवधि पूर्ण होने तक बना रहता है।

(8.164) पश्चात् जब रात्रि का समय होता है तब विश्व अव्यक्त में लीन हो जाता है और एक छोटा-सा युग-सहस्र व्यतीत होने पर फिर वैसा ही प्रकट होता है।

(8.165) कहने का मतलब यह कि जगत् का प्रलय और उत्पत्ति इस ब्रह्मभुवन के दिन-रात में ही होती है।

(8.166) उसकी श्रेष्ठता इतनी है कि वह सृष्टि के बीज का भाण्डार है और जन्म-मरण के माप की सीमा है।

(8.167) और हे धनुर्धर! यह त्रैलोक्य जो उस ब्रह्मभुवन का ही विस्तार है सो ब्रह्मा का दिन उदय होते ही एकदम रचा जाता है;

(8.168) पश्चात् रात्रि का समय आते ही आप ही आप लीन हो जाता है, अर्थात् स्वभावतः जहाँ का तहाँ साम्यता को प्राप्त हो जाता है।

(8.169) जैसे वृक्षत्व बीजत्व को प्राप्त हो अथवा मेघ गगनरूप हो जाय वैसे ही अनेकत्व जहाँ समा जाता है उसे साम्य कहते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ 8.20 ॥

(8.170) तब न्यूनाधिक भाव कुछ नहीं दिखाई देते। इसलिए पदार्थमात्र का नाम भी नहीं रहता। जैसे दूध दही हो जाय तो उसका नाम-रूप नहीं रहता।

(8.171) वैसे ही आकार के नाश के संग जग के जगत्व का भी नाश हो जाता है, परन्तु जहाँ से उत्पन्न हुआ था वहाँ वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

(8.172) अतः उसे स्वभावतः अव्यक्त कहते हैं। और जब वह आकार को प्राप्त होता है तब उसी को व्यक्त कहते हैं। ये नाम तो एक दूसरे के सूचक हैं, वास्तव में है दोनों ही नहीं।

(8.173) जब चाँदी गलाई जाती है तब उसके आकार को पासा कहते हैं, और फिर जब उसके अलंकार बनाये जाते हैं तब वह घनाकार नष्ट हो जाता है।

(8.174) ये दोनों बातें जैसी एक ही साक्षिभूत चाँदी में होती हैं, वैसे ही व्यक्त और अव्यक्त दोनों विचार ब्रह्म के ही है।

(8.175) परन्तु ब्रह्म न व्यक्त है न अव्यक्त, न नित्य है न विनाशी, किन्तु इन दोनों भावों के परे अनादिकाल से सिद्ध है।

(8.176) वह विश्वमय बना हुआ है, परन्तु जैसे अक्षर मिटा देने से अर्थ नहीं मिटाया जा सकता, वैसे ही विश्व का नाश होने से उसका नाश नहीं होता।

(8.177) देखो, तरंगें उत्पन्न होती है और विलीन होती हैं परन्तु जल अखण्ड बना रहता है, वैसे ही ब्रह्म जो अविनाशी है वह भूतमात्र के अभाव से नष्ट नहीं होता।

(8.178) अथवा अलंकार गला देने से जैसे सुवर्ण नहीं गल जाता वैसे ही जीवाकार की मृत्यु होने पर भी जो अमर रहता है,

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ 8.21 ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ 8.22 ॥

(8.179) जिसे कौतुक से अव्यक्त कह देने से उसकी स्तुति नहीं होती, क्योंकि वह मन और बुद्धि के हाथ ही नहीं आता,

(8.180) आकार को प्राप्त होने से भी जिसकी निराकारता नहीं बिगड़ती और आकार के लोप होने से जिसकी नित्यता का भी भंग नहीं होता,

(8.181) अतएव जिसे अक्षर कहते हैं, और ऐसे वर्णन से ही जिसका ज्ञान हो सकता है, जिसके परे कुछ विस्तार नहीं दिखाई देता, उसे परमगति कहते हैं।

(8.182) वह सम्पूर्ण इस देहरूपी नगर में सोते हुए पुरुष के समान हैं, क्योंकि वह न कोई व्यापार कराता है न करता है।

(8.183) यों तो जो शरीर के व्यापार हैं उनमें से एक भी बन्द नहीं रहता। दसों इन्द्रियरूपी मार्ग चलते ही रहते हैं।

(8.184) विषयरूपी पैंठ खुलकर मन का चौरस्ता तैयार होता है और वहाँ जीव को सुखदुःखरूपी उत्तम हिस्सा मिलता है।

(8.185) परन्तु जैसे राजा सुख से सोया हो तथापि देश के व्यापार बन्द नहीं होते और प्रजा अपने अपने इच्छानुसार व्यापार करती है,

(8.186) वैसे ही बुद्धि का जानना, मन का संकल्प-विकल्प करना, इन्द्रियों का क्रिया करना, वायु का स्फुरण,

(8.187) आदि सब शरीर-क्रियाएँ किसी के चलाये बिना ही भली भाँति चलती रहती हैं। जैसे कि सूर्य्य किसी को नहीं चलाता तथापि लोग उसके प्रकाश में चलते रहते हैं

(8.188) वैसे ही हे अर्जुन! इस शरीररूपी पुर में मानों सोते रहने के कारण जिसे पुरुष कहते हैं,

(8.189) और प्रकृतिरूपी पतिव्रता के एकपत्नी-व्रत में निमग्न रहने के कारण भी जो पुरुष कहा जा सकता है,

(8.190) वेद की व्यापक बुद्धि जिसका आँगन भी नहीं देखती; जो आकाश का भी आच्छादन है

(8.191) ऐसा जान कर योगी जिसे परात्पर कहते हैं; जो एकनिष्ठता का घर खोजता आ पहुँचता है;

(8.192) काया, वाचा और मन से दूसरी बात न जाननेहारे एकनिष्ठ भक्तों का जो उत्तम पका हुआ खेत हैं;

(8.193) हे पाण्डव! जो इस त्रैलोक्य को ही सत्य भाव से पुरुषोत्तम माननेहारे आस्तिक पुरुष का आश्रय है;

(8.194) जो निरहंकारों की महत्ता का रूप है; जो निर्गुणों का ज्ञान है; जो निःस्पृह पुरुषों का सुख का राज्य है;

(8.195) तो सन्तोषीजनों के लिए परोसी हुई थाली है; जो संसार की चिन्ता न करनेहारे शरणागतों की माता है; जहाँ जाने के लिए भक्ति को सरल मार्ग मिल जाता है;

(8.196) इस प्रकार एक एक बात कह कर व्यर्थ क्या तूल खींचूँ परन्तु हे धनंजय! जिस पद को जाते ही मनुष्य तद्रूप बन जाता है';

(8.197) जैसे ठण्डी हवा की लहर से गरम पानी ठण्डा हो जाता है, अथवा सूर्य्य के सामने जाने से अन्धकार प्रकाश बन जाता है,

(8.198) वैसे ही हे पाण्डव! संसार जिस गाँव को जाते ही सम्पूर्ण मोक्षमय हो जाता है;

(8.199) जैसे अग्नि में डाला हुआ ईंधन अग्निमय हो जाता है और फिर काष्ठत्व सर्वदा जुदा नहीं हो सकता,

(8.200) अथवा जैसे कितनी ही बुद्धिमत्ता की चेष्टा की जाय तथापि शंकर की फिर से ईख नहीं बन सकती,

(8.201) लोहे का सुवर्ण बन जाना एक पारस के किये हो सकता है, परन्तु ऐसी कौन-सी वस्तु है जो उस नष्ट लोहत्व को फिर से बना दे?

(8.202) अतएव जैसे घी का फिर से सर्वथा दूध नहीं बन सकता, वैसे ही जिसे प्राप्त करने पर पुनर्जन्म नहीं होता,

(8.203) वह मेरा परम और सच्चा निजधाम है। यह हम तुमसे अपना आन्तरिक मर्म प्रकट करते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ 8.23 ॥

(8.204) इसे और एक रीति से सुलभता से जान सकते हैं। देह छोड़ते समय योगी जिसमें मिल जाते हैं उसी को मेरा गुह्य-स्वरूप जानो।

(8.205) परन्तु यदि अकस्मात् ऐसा हो कि असमय में देहत्याग हो तो फिर देह धारण करना अवश्य होता है।

(8.206) किन्तु शुद्ध काल में देह छोड़ने से देहान्त होते ही योगी ब्रह्म हो जाते हैं, अन्यथा अनवसर से देह छोड़ने से पुनः जन्म लेते हैं।

(8.207) इस प्रकार जो सायुज्यता और पुनर्जन्म दो अवसर हैं उनका हम तुमसे प्रसंगानुसार वर्णन करते हैं।

(8.208) हे सुभट! सुनो, मृत्यु का नशा चढ़ते ही पाँचों तत्व अपने अपने मार्ग से निकल जाते हैं।

(8.209) ऐसा प्रयाणकाल आते समय बुद्धि को भ्रम न ग्रस ले, स्मरण अन्धा न हो जाय, मन नष्ट न हो जाय,

(8.210) सम्पूर्ण प्राणसमुदाय मरने के समय चंगा दिखाई दे और, अनुभवित ब्रह्मभाव को लिपटाये रहे,

(8.211) इस प्रकार सावधानता सहित सायुज्यता की प्राप्ति और मरण पर्यन्त का निर्वाह तभी हो सकता है, जब अग्नि का सहाय हो।

(8.212) देखो, दीपक की ज्योति यदि हवा अथवा पानी से बुझ जाय तो अपनी दृष्टि रहते भी क्या उसे देख सकती है?

(8.213) वैसे ही मरण-समय के वायुप्रकोप से जब अन्तर्बाह्य देह कफ से व्याप्त हो जाता है और अग्नि का तेज बुझ जाता है,

(8.214) तब प्राण के प्राण नहीं रहते तो बुद्धि रहकर क्या करेगी? एवं अग्नि के बिना देह में चेतना नहीं रह सकती।

(8.215) अजी, शरीर में से यदि अग्नि चली जाय तो वह शरीर नहीं, गीली कीचड़ ही है। ऐसे अवसर पर योगी वृथा अँधेरे में अपना अन्त का समय खोजते रहते हैं।

(8.216) और पिछली सब बातों का स्मरण किया जाय अथवा देहत्याग कर स्वरूप में मिल जाने की चेष्टा की जाय,

(8.217) तो उस शरीर के कफ की कीचड़ में चेतना ही डूब जाती है और अगली पिछली बातों का स्मरण ही नष्ट हो जाता है।

(8.218) इस प्रकार, जैसे पृथ्वी में रक्खा हुआ द्रव्य दिखाई न देते ही हाथ का दीपक बुझ जाय वैसे ही पहला किया हुआ अभ्यास मृत्यु आने के पूर्व ही नष्ट हो जाता है।

(8.219) अब यह सब रहने दो। यह जान लो कि ज्ञान का मूल अग्नि है और मृत्यु के समय सम्पूर्ण बल अग्नि का ही रहता है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ 8.24 ॥

(8.220) हृदय में अग्नि की ज्योति का प्रकाश हो, बाह्यतः शुक्लपक्ष हो, और दिन हो, और उत्तरायण के छः महीनों में से कोई महीना हो;

(8.221) ऐसी सब बातों का सुयोग पा कर जो ब्रह्मविद् देह छोड़ते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं।

(8.222) हे धनुर्धर! सुनो, इस काल में इतनी सामर्थ्य है। इस प्रकार मोक्ष को पहुँचने का यह सरल मार्ग है।

(8.223) इसमें अग्नि पहली सीढ़ी है, ज्योतिर्मय दूसरी, दिन तीसरी, शुक्लपक्ष चौथी,

(8.224) और उत्तरायण के छः मास ऊपर का ज़ीना है। इससे योगी सायुज्यतारूपी भुवन में पहुँच जाते हैं।

(8.225) इसे उत्तम काल जानो। इसे अर्चिरादि, अर्थात् सूर्यकिरण द्वारा जाने का मार्ग कहते हैं। अब जो अयोग्य समय है उसका भी प्रसंग से वर्णन करते हैं।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ 8.25 ॥

(8.226) मृत्यु के समय वात और कफ की अधिकता से अन्तःकरण अन्धकार से भर जाता है,

(8.227) सब इन्द्रियाँ लकड़ी बन जाती है; स्मृति भ्रान्ति में डूब जाती है; मन पागल हो जाता है; प्राण घुट जाते हैं;

(8.228) अग्नि का अग्नित्व निकल जाता है, और सब धूम्रमय हो जाता है जिससे शरीर की चेतना प्रकट होना बन्द हो जाता है;

(8.229) जैसे चन्द्र के आगे घन और सजल मेघ आवें तो न अँधेरा रहता है न उजेला किन्तु कुछ धुँधला प्रकाश पड़ता है

(8.230) वैसे ही जीवित ऐसा स्तब्ध हो जाता है कि न मृत्यु होती है और न चेतना ही रहती है, और आयु मृत्युमर्य्यादा का समय हेरती रहती है।

(8.231) जब मन, बुद्धि और इन्द्रियों के चहुँओर धूम के समूह की ऐसी भीड़ लग जाती है तब जन्मभर कष्ट से प्राप्त किये हुए सह लाभों का अन्त हो जाता है।

(8.232) हाथ का ही लाभ चला जाता है तो दूसरे लाभों की बात ही क्या! मृत्यु के समय ऐसी दशा हो जाती है।

(8.233) इस प्रकार तो देह के भीतर की स्थिति हो, और बाहर कृष्ण पक्ष हो, रात हो, दक्षिणायन के छः महीनों में से कोई महीना हो,

(8.234) ऐसे पुनर्जन्म के सम्पूर्ण साधन जिसकी मृत्यु के समय इकट्ठे मिल जाते हैं उसे आत्मप्राप्ति की कथा कैसे सुनाई दे सकती है?

(8.235) ऐसी जिसकी मृत्यु होती है उसे योगी होने के कारण चन्द्रलोक तक तो जाना ही पड़ता है, परन्तु वहाँ से पलट कर वह फिर संसार में जन्म लेता है।

(8.236) हे पाण्डव! हमने जो अयोग्य काल कहा वह यही है और यही जन्म-मरणरूपी गाँव का धूम्रमार्ग है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ 8.26 ॥

(8.237) दूसरा जो अर्चिरादि मार्ग है वह बसा हुआ और सुलभ है;,साथ ही उत्तम और सुगम मोक्ष तक बना हुआ है।

(8.238) इस प्रकार ये दोनों आदिमार्ग, जिनमें एक सीधा और एक आड़ा-टेढ़ा है, हमने तुमसे कहे हैं।

(8.239) क्योंकि अपने कल्याण के हेतु उत्तम और अधम मार्ग देखकर चलना चाहिए, सत्य और मिथ्या को पहचानना चाहिए, और हित और अहित जानना चाहिए।

(8.240) देखो, अच्छी खासी नाव में बैठा हुआ क्या कोई अथाह पानी में कूदता है, अथवा उत्तम मार्ग जानता हुआ क्या कोई जंगल में घुसता है?

(8.241) जो विष और अमृत को पहचानता है वह क्या अमृत का त्याग कर सकता है? वैसे ही जो सीधा रास्ता जानता है वह आड़े-टेढ़े मार्ग से नहीं जाता।

(8.242) अतएव सामने आये हुए भले-बुरे की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा करने से कोई अकालिक संकट नहीं आ सकता;

(8.243) अन्यथा देहान्त के समय इन मार्गों की अत्यन्त कठिन भ्रान्ति उत्पन्न होती है, जिससे जन्म भर का किया हुआ अभ्यास वृथा हो जाता है।

(8.244) यदि अर्चिरादि मार्ग छूट जाय और अकस्मात् योगी धूम्रमार्ग में पड़ जाय तो उसे संसारमार्ग में जुता हुआ फिरता ही रहना पड़ता है।

(8.245) इन बड़े-बड़े कष्टों की ओर ध्यान दे योगी इनसे कैसे दूर हो सकते हैं, सो एक बार बताने के लिए हमने दोनों योगमार्ग उत्तम रीति से स्पष्ट किये हैं।

(8.246) एक से ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है और एक से पुनर्जन्म प्राप्त होता है; परन्तु देहान्त के समय दैवगति से जो जिसे प्राप्त हो जाय सो सही।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ 8.27 ॥

(8.247) उस समय अपने इच्छानुसार बात नहीं हो सकती। कुछ भी हो, कोई बात एकाएक कैसे हो सकती है? देह का त्याग कर ब्रह्मरूप होना उस मार्ग से ही हो सकेगा।

(8.248) परन्तु "शरीर रहे अथवा जावे हम तो केवल ब्रह्म ही हैं, क्योंकि रस्सी पर जो मिथ्या सर्पत्व दिखाई देता है वह रस्सी के ही कारण है;

(8.249) पानी क्या कभी सोचता है कि मुझमें लहरें हैं या नहीं? वह जब देखो तब जैसा का तैसा पानी ही बना है,

(8.250) तरंगों के पैदा होने से न उसका जन्म होता है, और न उनके लोप से उसका अन्त होता है" इस प्रकार विचार करके जो देहधारी शरीर रहते हुए भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं

(8.251) उनमें शरीर का कुछ नाम भी नहीं रहता, तो फिर उन्हें मृत्यु कब और कैसे हो सकती है?

(8.252) और उन्हें मार्ग खोजने की भी क्या आवश्यकता है? देश, काल, इत्यादि सब बातें वे स्वयं ही हो तो कौन कहाँ से कहाँ जावेगा?

(8.253) अजी, जब घट फूट जाता है तब वहाँ के आकाश की गति सरल ही होती है, और ऐसी गति हो तभी वह गगन में मिल सकता है अन्यथा नहीं।

(8.254) और भी देखो, सच तो यह है कि नाश आकार का होता है और आकाश तो घटत्व के पहले से ही गगन में बना है।

(8.255) इस प्रकार के ज्ञान के सुख से उन सोहंशब्दयोगियों को योग्यायोग्य मार्ग ढूँढ़ने का संकट नहीं पड़ता।

(8.256) इस लिए हे पाण्डुसुत! तुम्हें योगयुक्त होना चाहिए। उससे साम्यता सर्वदा आप ही आप बनी रहेगी।

(8.257) फिर चाहे जहाँ, चाहे जिस काल में, देह रहे अथवा जावे, परन्तु नित्य बन्धरहित ब्रह्मभाव में कुछ अन्तर नहीं होता।

(8.258) ऐसा योगी कल्प के आदि में जन्मों के वश नहीं होता, कल्पान्त की मृत्यु में डूब नहीं जाता, और बीच में स्वर्ग तथा संसार की सुन्दरता में भी नहीं फँसता।

(8.259) यह ज्ञान जिस योगी को होता है वही इस ज्ञानमार्ग की सरलता जानता है। क्योंकि वह विषयोपभोगों को लातों से ढकेल कर सीधा निजरूप को पहुँचता है।

(8.260) इन्द्रादि देवों का राज्य जिन सर्वस्वसुखों के कारण प्रसिद्ध है उन्हें वह त्याज्य समझकर दूर फेंक देता है।

> वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
> अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥
> 8.28 ॥

(8.261) जो पुण्य वेद के अध्ययन से प्राप्त होता है, अथवा यज्ञरूपी खेत में पकता है, अथवा तप, दान, इत्यादि बातों से जिस सर्वस्व का लाभ होता है

(8.262) उस सम्पूर्ण पुण्य का बाग़ीचा यद्यपि फल की बहार से भर जाय तो भी वह उस निर्मल परब्रह्म की बराबरी नहीं कर सकता।

(8.263) जो सुख नित्यानन्द की उपमा की तुलना से कुछ कम नहीं दिखाई देता; और देखो, जिस सुख के लिए वेद, यज्ञ इत्यादि साधन हैं;

(8.264) जो न कभी विकृत होता है और न समाप्त होता है; जो भोगनेहारे की इच्छा के अनुसार पूर्ति करता है; और जो महासुख का सम्बन्धी भ्राता ही है;

(8.265) दृष्टि को सुखकारी होने के कारण जहाँ प्रारब्ध जा बैठता है, जो सौ यज्ञ करने से भी साध्य नहीं होता;

(8.266) उसे योगीश्वर — जो दिव्यदृष्टि की युक्ति के द्वारा कुतूहल से — देखते हैं तो वह उन्हें हलके मोल का दिखाई देता है।

(8.267) हे किरीटी! उस सुख की सीढ़ी बनाकर योगी परब्रह्म-पद पर चढ़ते हैं।

(8.268) जो स्थावर-जंगमों के एकभाग्य हैं, जो ब्रह्मदेव और शंकर द्वारा पूजनीय हैं, जो योगियों के उपभोग करने योग्य भोगधन हैं.

(8.269) जो सकल कलाओं की कला हैं, जो परमानन्द की मूर्ति हैं, जो जगत् के जीव के जीवन हैं,

(8.270) जो सर्वज्ञता के हृदय हैं, जो यादवों के कुल के दीपक हैं, उन श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार निरूपण किया।

(8.271) ज्ञानदेव कहते हैं कि यह कुरुक्षेत्र का वृत्तान्त संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं। वही कथा और आगे सुनिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां अष्टमोऽध्यायः।

नवाँ अध्याय

(9.1) सुनिए, मैं स्पष्ट प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि आप इस कथा की ओर केवल अवधान ही दे, तो सब सुखों के पात्र हो जावेंगे।

(9.2) यह बात मैं गर्व से नहीं कहता। आप सर्वज्ञों के समाज में, ध्यान देने के लिए, मेरी प्रेम की विनती है।

(9.3) क्योंकि यदि आप जैसे श्रीमान् नैहर हों तो हठ करनेवालों के हठ भी पूर्ण होते हैं और मनोरथों के भी मनोरथ सफल हो जाते हैं।

(9.4) आपकी दृष्टि की आर्द्रता से प्रसन्नतारूपी बागीचों में मानों बहार आई है और मैं जो थका हुआ हूँ सो वहाँ की छाया देखकर उसमें लोटपोट हो रहा हूँ।

(9.5) हे प्रभु! आप सुखरूपी अमृत के दह हैं इसलिए हमें मनमानी शीतलता का लाभ हो सकता है। परन्तु यदि मैं ढिठाई करते डरूँ तो शान्तता कैसे हो?

(9.6) बालक के तोतले शब्दों का अथवा टेढ़े-मेढे चलने का कुतूहल कर माता आनन्दित होती है,

(9.7) अतएव किसी प्रकार मुझ पर आप सन्तों का प्रेम हो, इस बड़ी उत्कण्ठा से मैं आपसे प्रेम की ढिठाई कर रहा हूँ।

(9.8) अन्यथा आप जैसे सर्वज्ञ श्रोतागण के सामने निरूपण करने की योग्यता है ही क्या? सरस्वती के पुत्र को क्या किसी दूसरे के पास पाठ लेकर विद्या सीखनी पड़ती है?

(9.9) देखिए, जुगनू कितना ही बड़ा हो तथा वह कुछ भी करे वह सूर्य्य के प्रकाश में नहीं चमक सकता। ऐसी कौन-सी रसोई है जो अमृत की थाली में परोसने के योग्य हो?

(9.10) अजी, चन्द्रमा का पंखा हिलाना, अथवा नाद को गाना सुनाना, अथवा अलंकारों को गहना पहनाना, ये बातें कैसे हो सकती है?

(9.11) कहिए, सुगन्ध स्वयं और क्या सूँघ सकता है? समुद्र और कहाँ नहा सकता है? अथवा ऐसा और कौन-सा विस्तार है जहाँ यह सम्पूर्ण आकाश समा जाय?

(9.12) उसी प्रकार ऐसी वक्तृता कौन कर सकता है जिससे आपके अवधान की तृप्ति हो, जिसे आप उत्तम कहें, जिससे आपको आनन्द हो?

(9.13) परन्तु विश्व को प्रकाशित करनेवाले सूर्य्य की आरती क्या हाथ की बनाई बत्तियों से नहीं की जाती? अथवा समुद्र को भी क्या चुल्लूभर पानी से अर्घ्य नहीं दिया जाता?

(9.14) हे प्रभु! आप शंकर की मूर्ति हैं और मैं दुर्बल आपसे प्रेम की याचना करता हूँ, इसलिए मेरे शब्द यद्यपि निर्गुण्डी ऐसे उग्र हों तथापि आप उनका स्वीकार करेंगे।

(9.15) बालक पिता की थाली में जा बैठे और पिता को ही जिमाने लगे तो पिता आनन्द से तुरन्त मुँह आगे करता है,

(9.16) वैसे ही मैं बाल-बुद्धि से यदि आपसे विनोद करता हूँ, तथापि प्रेम का गुण ऐसा है कि उससे आपको सन्तोष हो।

(9.17) अपने अपनाये हुए का आप सन्तों को बहुतेरा प्रेम है इसलिए आपको मेरी ढिठाई का बोझा नहीं मालूम होता।

(9.18) अजी, बालक के मुँह का झटका लगे ही माता और अधिक पन्हाती है। अत्यन्त प्रेमी मनुष्य क्रोध से प्रेम और दुगुना बढ़ता है।

(9.19) अतएव मुझ बालक के वचनों से आपकी निद्रित दयालुता प्रकट हुई है और यह जानकर ही मैंने बोलने की चेष्टा की है।

(9.20) अन्यथा क्या चाँदनी पाल में पकाई जा सकती है, अथवा क्या वायु के चलने के लिए कोई मार्ग बनाया जा सकता है,? अजी, आकाश को कोई खोल में कैसे रख सकता है।

(9.21) सुनिए, पानी पतला नहीं किया जा सकता, माखन में मथानी नहीं डाली जा सकती। वैसे ही जिसे देखकर व्याख्यान लज्जित हो लौट जाता है,

(9.22) और रहने दीजिए, स्वंय वेद निःशब्द हो जिस खाट पर शान्त हो सोते हैं, उस गीतार्थ को भाषा में कहने की योग्यता कैसे हो सकती है?

(9.23) परन्तु मुझे यह भी धैर्य इसी एक आशा से हुआ है कि इस धैर्य द्वारा आप जैसों का प्रेमास्पद बनूँ।

(9.24) अतएव, अब चन्द्र से भी शीतल, अमृत से भी अधिक जीवनदाता, जो आपका अवधान है, उसमे मेरे मनोरथों की तृप्ति कीजिए।

(9.25) क्योंकि, जब आपकी दृष्टि की वर्षा हो तभी मेरी बुद्धि में सकलार्थरूपी सम्पत्ति पकेगी, नहीं तो यदि आप उदासीन रहें तो मेरे ज्ञान का अंकुर सूख जावेगा।

(9.26) सुनिए, वक्तृत्व को यदि अवधानरूपी चारा मिले तो साधारणतः अक्षरों को सिद्धान्तरूपी तोंदे फूटती हैं,

(9.27) अर्थ शब्द की बाट जोहता है, एक अभिप्राय से दूसरा उत्पन्न होता जाता है, और बुद्धि पर भावरूपी पुष्पवृष्टि होती रहती है।

(9.28) यदि संवादरूपी अनुकूल वायु बहे तो हृदयाकाश में वक्तृत्वशक्ति भर जाती है, परन्तु यदि श्रोता अनवधानी हो तो बना बनाया रस गल जाता है।

(9.29) अजी, चन्द्रकान्तमणि पसीजती है, परन्तु उसकी युक्ति चन्द्र के ही हाथ है। अतः श्रोता के बिना वक्ता वक्ता ही नहीं है।

(9.30) परन्तु चावलों को क्या खानेवालों से यों विनती करनी पड़ती है कि हमारा अंगीकार कीजिए? पुतलियों को क्या नचानेवाले की प्रार्थना करनी पड़ती है?

(9.31) क्या वह पुतलियों के उपकारार्थ उन्हें नचाता है, अथवा अपनी विद्या की कला बढ़ाता है? अतएव हमें इस खटपट से कार्य ही क्या है?

(9.32) तब श्रीगुरु ने कहा, कुछ हानि नहीं। तुम्हारी सम्पूर्ण स्तुति हमें स्वीकृत हुई, अब श्रीकृष्णदेव का निरूपण सुनाओ।

(9.33) तब निवृत्तिदास आनन्द से 'बहुत अच्छा' कहकर कहने लगे, सुनिए, श्रीकृष्ण ने कहा —

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ 9.1 ॥

(9.34) हे अर्जुन! यह आदि बीज जो मेरे हृदय के अन्तःकरण का गुह्य है सो मैं तुम्हें फिर बतलाता हूँ।

(9.35)यदि तुम सोचते हो कि इस प्रकार मैं अपने हृदय फोड़ कर यह गुह्य क्यों प्रकट कर रहा हूँ,

(9.36) तो हे बुद्धिमान्! सुनो। तुम केवल आस्था की मूर्ति हो और हमारे किये हुए निरूपण की अवज्ञा करना नहीं जानते;

(9.37) इसलिए हम चाहते हैं कि हमारा गुह्य चाहे प्रकट हो जाय, न कहने की बात भी चाहे कह दी जाय, पर हमारे हृदय की वस्तु तुम्हारे हृदय में अवश्य जा बसे।

(9.38) अजी थनों में दूध भरा रहता है सही, पर उसका मीठा आस्वाद थनों को नहीं मिलता। यदि एकनिष्ठ प्रेम करनेहारा वत्स मिले तो गौ उसी की इच्छा पूर्ण करती है।

(9.39) कोठी में से बीज निकाल कर यदि तैयार की हुई भूमि में बोया जाय तो क्या वह बिखरा-बिथरा कहा जा सकता है?

(9.40) इसलिए यदि कोई प्रसन्न अन्तःकरण का हो, और शुद्धबुद्धि हो, निन्दा करनेहारा न हो, और एकनिष्ठ प्रेम करनेहारा हो, तो गुह्य भी आनन्द से उस पर प्रकट कर देना चाहिए।

(9.41) सम्प्रति इन गुणों से युक्त तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है, इसलिए यद्यपि यह हमारा गुह्य है तथापि तुमसे छिपाया नहीं जा सकता।

(9.42) अब हमारे इसे बारम्बार गुह्य कहते हुए तुम्हें उकताहट मालूम हुई होगी, इसलिए हम विज्ञान सहित उस बात का निरूपण करते हैं।

(9.43) परन्तु वह इस प्रकार छानकर कहते हैं कि जैसे सत्य और असत्य बातें मिली हुई हों और परीक्षा से स्पष्ट कर अलग कर दी जायँ;

(9.44) अथवा जैसे राजहंस चोंच की सँड़सी से दूध और पानी अलग अलग कर देता है, वैसे ही हम तुम्हें ज्ञान और विज्ञान अलग अलग कर बतावेंगे।

(9.45) जैसे वायु के प्रवाह से पड़ा हुआ भूसा उड़ जाता है और साथ ही धान्य के कणों की ढेरी लग जाती है,

(9.46) वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति के साथ ही मनुष्य संसार को संसार के हवाले कर मोक्षलक्ष्मी के सिंहासन पर जा बैठता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ 9.2 ॥

(9.47) वह ज्ञान सुविद्या के नगर में श्रेष्ठ आचार्य के पद पर विराजमान है। वह सब गुह्यों का स्वामी है, सब पवित्र वस्तुओं का राजा है;

(9.48) धर्म का निजधाम है, उत्तमों में श्रेष्ठ है। उसकी प्राप्ति होने पर जन्मान्तर का काम ही नहीं रहता।

(9.49) वह गुरु के मुख से अल्पसा निकलता हुआ दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह हृदय में सिद्ध ही रहता है और आप ही आप प्रत्यक्ष प्राप्त होने लगता है।

(9.50) वैसे ही उसकी भेंट के लिए सुख की सीढ़ी बनाकर चढ़ने से वह सुख भोगनेहारे के गले अवश्य ही आ लगता है।

(9.51) वरंच उसकी प्राप्ति के इस पार की सीमा पर भी चित्त सुख से भरा स्थिर रहता है। इस प्रकार वह सुलभ और सुगम है और इसके अतिरिक्त परब्रह्मरूप है।

(9.52) अजी, इस ज्ञान की एक बात और है। यह एक बार प्राप्त होने पर फिर न्यून नहीं होता और अनुभव से यह न कुछ घटता है और न कभी मलिन होता है।

(9.53) इस पर हे तर्क करनेहारे! तुम्हें ऐसी आशंका हो सकती है कि इतनी बड़ी वस्तु लोगों से कैसे बची रह सकती है;

(9.54) जो एक रुपया सैकडे के ब्याज के लिए जलती हुई आग में कूदते हैं वे अनायास प्राप्त होनेवाले इस प्रकार के निज के माधुर्य को कैसे छोड़ देते हैं;

(9.55) यदि यह ज्ञान पवित्र और रमणीय है, तथा सुलभ और सुगम्य है, तथा सुखकारक और धर्मयुक्त है, और निज में ही प्राप्त होता है;

(9.56) इस प्रकार यदि यह सम्पूर्ण आनन्ददायक है, तो लोगों के हाथों से कैसे बचा रहा है? इसमे सन्देह नहीं कि यह आशंका का स्थल है, परन्तु इस आशंका को दूर कर दो।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ 9.3 ॥

(9.57) देखो, दूध पवित्र और मधुर रहता है, केवल त्वचा की एक तह की ओट में भरा रहता है, परन्तु किलनी दूध नहीं पीती केवल रक्त ही पीती है।

(9.58) अथवा भौंरे और दादुर दोनों एक ही जगह बसते हैं, परन्तु कमल की रज का सेवन भौंरे करते हैं और दादुरों के लिए केवल कीचड़ ही रहती है।

(9.59) अथवा अभागे के घर में द्रव्य से भरे हुए हजारों हण्डे गड़े हों तथापि वह वहाँ बैठा हुआ उपास करता है, अथवा दरिद्रता में दिन काटता है।

(9.60) वैसे ही सब सुखों के विश्रान्तिस्थान मुझ राम के हृदय में रहते हुए भ्रान्त लोगों को विषयों की इच्छा होती है।

(9.61) आँखों में विस्तृत मृगजल देखकर जैसे अमृत का घूँट उगल दिया जाय, अथवा सीप के लोभ से जैसे गले में बँधा हुआ पारस फोड़ दिया जाय,

(9.62) वैसे ही वे बेचारे अहंकार और ममता की लबड़-सबड़ के कारण मुझ तक नहीं पहुँचते इसलिए जन्म और मरणरूपी दोनों तीरों के बीच डूबकी खाते रहते हैं।

(9.63) अन्यथा मैं कैसा हूँ, जैसा कि मुँह से सामने का सूर्य। परन्तु अस्त होना वा अदृश्य होना यह जो सूर्य की न्यूनता है सो कभी मुझमें नहीं है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ 9.4 ॥

(9.64) क्या यह सम्पूर्ण जग ही विस्तार से नहीं हुआ है? जैसे दूध जमाया जाय तो वही दही है,

(9.65) अथवा बीज ही जैसे वृक्ष हो जाता है, अथवा सुवर्ण ही अलंकार हो जाता है, वैसे ही मुझ एक का ही विस्तार यह जगत् है।

(9.66) अव्यक्त दशा में यह जमा हुआ है और ही विश्वाकार होते ही मानों पिघल जाता है। इस प्रकार निराकार ब्रह्म त्रैलोक्यरूप से साकार हुआ है।

(9.67) महत्तत्व से लेकर देह तक ये सम्पूर्ण भूतमात्र मुझमें ही प्रतिबिम्बित हैं। जैसे जल में फेन रहता है

(9.68) परन्तु उस फेन में जैसे जल नहीं दिखाई देता, अथवा स्वप्न की अनेकता जैसे जागृत होने पर नहीं रहती,

(9.69) वैसे ही ये भूतमात्र जो मुझमें प्रतिबिम्बित हैं उनमें मैं नहीं हूँ। इन उपपत्तियों का हम तुमसे पहले वर्णन कर चुके हैं।

(9.70) इसलिए कही हुई बात को फिर अधिक कहना ठीक नहीं। अतएव अब रहने दो। इतना ही कहे देता हूँ कि अपनी दृष्टि का प्रवेश मेरे स्वरूप में करो।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ 9.5 ॥

(9.71) कल्पना-रहित होकर यदि मेरी प्रकृति के परे का भाव देखोगे तो यह बात भी मिथ्या मालूम होगी कि मुझमें भूतात्मक जगत् है, क्योंकि, मैं ही तो सर्व हूँ।

(9.72) परन्तु सङ्कल्प की सन्ध्या के समय क्षणभर बुद्धि के नयन अन्धे से हो जाते हैं, इसलिए अखण्डित वस्तु भी अँधेरे में भिन्न भूतरूपी दिखाई देती है।

(9.73) किन्तु जब उस संकल्परूपी सन्ध्याकाल का लोप हो जाता है, तब अखण्डित स्वरूप ही रह जाता है, जैसे सन्देह जाते ही रस्सी का सर्पत्व भी मिट जाता है।

(9.74) भूमि के भीतर से क्या घड़ों-गगरों के स्वयंसिद्ध अंकुर निकलते है? वे तो कुम्हार की बुद्धि से उत्पन्न होते हैं;

(9.75) अथवा समुद्र के पानी में क्या तरङ्गों की खाने रहती हैं? वह क्या वायु का भिन्न भिन्न कार्य नहीं है?

(9.76) कपास के पेट में क्या कपड़े की सन्दूक भरी रहती है? वह तो केवल पहननेहारे की दृष्टि से ही कपड़ा कहलाता है।

(9.77) यद्यपि सुवर्ण अलंकार बन जाता हैं, वे बाह्यतः पहननेहारे की भावना के अनुसार ही होते हैं।

(9.78) कहो, प्रतिध्वनि से जो शब्द उठता है अथवा दर्पण में जो रूप दिखाई देता है, वह पहले से ही वहाँ मौजूद रहता है या सचमुच में हमारे बोलने वा देखने से होता है?

(9.79) वैसे ही मेरे इस निर्मल स्वरूप में जो पदार्थों की कल्पना स्थापित करता है उसी के सङ्कल्प के कारण पदार्थों का आभास होता है।

(9.80) यदि उस कल्पना स्थापित करनेहारी प्रकृति का अन्त हो जाय तो साथ ही भूताभास लुप्त हो जाता है और एकसा मेरा शुद्धस्वरूप ही बच रहता है।

(9.81) और जाने दो, अपने ही आसपास चक्कर फिरने से जैसे गिरिकन्दर घूमते दिखाई देते हैं, वैसे ही अपनी ही कल्पना के कारण अखण्ड ब्रह्म की जगह भूतमात्र दिखाई देते हैं।

(9.82) वही कल्पना छोड़कर देखो तो मैं सब पदार्थों में हूँ और सब पदार्थ मुझमें हैं। यह बात स्वप्न में भी आने योग्य नहीं।

(9.83) और ये बातें भी कि मैं ही भूतमात्र का धारण करनेहारा हूँ अथवा मैं भूतमात्र में रहनेहारा हूँ, संकल्प सन्निपात की हैं।

(9.84) अतएव हे प्रियोत्तम! इस प्रकार, मैं विश्व का आत्मा हूँ जो इस मिथ्या भूतग्राम में सर्वदा भावना करने योग्य है।

(9.85) जैसे सूर्य की किरणों के आधार पर अवास्तव मृगजल दिखाई देता है वैसे ही मेरे अधिष्ठान पर सब भूतमात्र दिखाई देता है और वह मेरी ही भावना करता है।

(9.86) इस प्रकार मैं भूतमात्र का उत्पन्न करनेहारा हूँ तथापि उन सबों से अभिन्न हूँ, जैसे प्रभा और सूर्य दोनों एक ही हैं।

(9.87) अब तुम हमारा ऐश्वर्ययोग अच्छी तरह देख चुके! अब कहो, क्या इसमें प्राणियों के भेद का कुछ सम्बन्ध है?

(9.88) तात्पर्य यह कि यथार्थ में प्राणी मुझसे भिन्न नहीं हैं और मुझे भी कभी प्राणियों से भिन्न मत मानो।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ 9.6 ॥

(9.89) देखो, गगन जितना बड़ा है उतना ही बड़ा गगन में मिला हुआ पवन भी हो रहता है, परन्तु वह जैसे हिलाये जाने से सहज में भिन्न दिखाई देता है — अन्यथा वह गगन ही है,

(9.90) वैसे ही प्राणिगण मुझमें कल्पना करने से ही दिखाई देते हैं। कल्पना न रहते नहीं दिखाई देते। उस समय सब मैं ही मैं हो रहता हूँ।

(9.91) नाश और उत्पत्ति कल्पना के ही सम्बन्ध से होती है। कल्पना के लोप से नाश होता है और कल्पना उत्पन्न होते ही उत्पत्ति होती है।

(9.92) यदि कल्पना करनेहारा न रहे तो उत्पत्ति और नाश कहाँ रह सकते हैं? इसलिए पुनः मेरा ऐश्वर्ययोग देखो।

(9.93) इस अनुभवज्ञानरूपी समुद्र में मुझको एक तरंग बना लो। फिर चराचर में जहाँ देखो तहाँ तुम्हीं भर रहोगे।

(9.94) देव ने पूछा, इस ज्ञान का प्रकाश तुम्हें प्राप्त हुआ या नहीं? तुम्हारा द्वैतरूपी स्वप्न अब मिथ्या हो गया कि नहीं?

(9.95) तथापि यदि कदाचित् फिर से बुद्धि को कल्पना की नींद आ जाय तो स्वप्न में पड़ते ही अभेदज्ञान चला जावेगा,

(9.96) इसलिए अब हम तुम्हारा ऐसा सत्य मर्म प्रकट करते हैं कि जिससे निद्रा का मार्ग ही मिट जाय और सब कुछ ज्ञानरूप ही दिखाई दे।

(9.97) इसलिए हे धैर्यवान धनुर्धर, हे धनंजय! अच्छी तरह सुनो। सब प्राणियों की उत्पत्ति और संहार माया करती है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ 9.7 ॥

(9.98) जिसका नाम प्रकृति है और जो हमने तुम्हें दो प्रकार की बताई हैं — एक आठ प्रकार के भेदोंवाली और दूसरी जीवरूप।

(9.99) माया का सब विषय तुम पहले सुन ही चुके हो, इसलिए अब बारम्बार क्या वर्णन करें?

(9.100) तथापि मेरी इस प्रकृति के कारण महाकल्प के अन्त में सब प्राणी अव्यक्त में एकरूप हो जाते हैं।

(9.101) ग्रीष्म की अधिकाई के समय तृण जैसे बीज समेत भूमि में विलीन हो जाता है,

(9.102) अथवा जब वर्षाकाल का आडम्बर निकल जाता है और गुप्त शरद-काल प्रकट होता है तब जैसे मेघसमूह आकाश का आकाश में लुप्त हो जाता है,

(9.103) अथवा आकाश के पोलेपन में जैसे वायु शान्त हो लुप्त हो जाती है, किंवा जैसे तरंगों का स्वरूप जल में लीन हो जाता है,

(9.104) अथवा जागृति के समय स्वप्न हुआ जगत् कल्पान्त के समय प्रकृति में मिल जाता है।

(9.105) अब, जो कहा जाता है कि कल्प के आरम्भ में मैं ही जगत् को उत्पन्न करता हूँ उसके विषय में भी सत्य विवेचन सुनो।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ 9.8 ॥

(9.106) हे किरीटी! मैं स्वभावतः इस प्रकृति को आश्रय देता हूँ। जैसे तन्तु के समुदाय रूपी वस्त्र में बुनावट ही रहती है,

(9.107) और इस बुनावट के आधार से जिस तरह एक छोटा चारखाना तैयार होते होते थान तैयार होते हैं, वैसे ही जब मैं स्वभावतः इस प्रकृति को आश्रय देता हूँ तब पंचभूतात्मक आकार के रूप से प्रकृति ही उत्पन्न होती है।

(9.108) जैसे जामन के संग से दूध भी जमने लगता है वैसे ही प्रकृति भी सृष्टिरूप हो जाती है।

(9.109) बीज को जल का सान्निध्य प्राप्त हो तो वही जैसे शाखा और उपशाखारूप हो जाता है वैसे ही इन प्राणिमात्रों की उत्पत्ति मेरे कारण ही होती है।

(9.110) अजी, यह बात निश्चय से सत्य है कि नगर राजा का बसाया है परन्तु वास्तव में क्या के हाथों को कष्ट होता है?

(9.111) वैसे ही मैं प्रकृति को आश्रय देता हूँ। वह किस प्रकार है? जैसे जो स्वप्न देखनेहारा है वही फिर जागृति में प्रवेश करे

(9.112) तो स्वप्न से जागृति में आने से हे पाण्डुसुत! क्या पाँवों को पीड़ा होती है? अथवा स्वप्न में रहना क्या कोई प्रवास करना है?

(9.113) इन सब बातों का अभिप्राय क्या है? इनका यह अर्थ है कि इस सृष्टि की रचना के लिए मुझे कुछ नहीं करना पड़ता।

(9.114) जैसे राजा के आश्रय से रहनेवाली प्रजा अपने अपने मतलब के व्यापार करती रहती है, वैसा ही मेरा और प्रकृति का सम्बन्ध है। कर्म करनेहारी प्रकृति ही है।

(9.115) देखो, पूर्णचन्द्र की भेंट होते ही समुद्र में ज्वार-भाटा भर जाता है, हे किरीटी! उस समय क्या चन्द्र को कोई श्रम होता है?

(9.116) लोहा जड़ है परन्तु चुम्बक के पास रहने से उसे गति प्राप्त होती है। परन्तु चुम्बक का पास रहना क्या कोई कष्ट उठाना है?

(9.117) बहुत क्या कहूँ, इस प्रकार ज्योंही मैं अपनी प्रकृति का अंगीकार करता हूँ, त्योंही एकदम सृष्टि उत्पन्न होने लगती है।

(9.118) हे पाण्डव, यह जो सम्पूर्ण प्राणि-समुदाय है सो प्रकृति के अधीन है, जैसे कि बीत से बेल और पल्लव उत्पन्न करने के लिए भूमि ही समर्थ है

(9.119) अथवा जैसे शरीरसंग ही बाल, तरुण इत्यादि अवस्थाओं का कारण है, अथवा जैसे आकाश की मेघमाला वर्षा के लिए कारण है,

(9.120) अथवा स्वप्न का कारण जैसे निद्रा है, वैसे ही हे नरेन्द्र! इस अशेष भूत-समुद्र की स्वामिनी प्रकृति है।

(9.121) स्थावर और जंगम का, स्थूल और सूक्ष्म का, बहुत क्या कहें, इस सब भूतग्राम का मूल प्रकृति ही है।

(9.122) इसलिए प्राणियों का उत्पन्न करना, अथवा जो उत्पन्न हुए है, उनका प्रतिपाल करना आदि कार्य हमसे सम्बन्ध नहीं रखते।

(9.123) जैसे चन्द्रमा जल में चन्द्रिका की वेला के विस्तार का कार्य स्वयं न कर दूर रहता है, वैसे ही जिन्हें मेरी प्राप्ति हो जाती है, वे सब कर्मों से दूर रहते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ 9.9 ॥

(9.124) देखो, समुद्र में जो पानी की लहरें छूटती हैं उन्हें जैसे लवण का घाट रोक नहीं सकता वैसे ही सब कर्मों का अन्त मुझमें ही होने के कारण वे कर्म क्या मुझे बाँध सकते हैं?

(9.125) धुएँ की रजों का पिंजरा क्या बहती हुई वायु को थाँभ सकता है? अथवा सूर्यबिम्ब में क्या अँधेरा प्रवेश कर सकता है?

(9.126) और रहने दो, पर्वत के हृदय में जैसे वर्षा की धाराएँ नहीं चुभ सकतीं वैसे ही प्रकृति का कर्म-समूह मुझे नहीं लग सकता।

(9.127) यों तो इ प्रकृति के कार्यों में एक मैं ही भरा हुआ हूँ ऐसा समझना चाहिए। परन्तु उदासीन के समान मैं न कुछ करता हूँ न कराता हूँ।

(9.128) जैसे घर में रक्खा हुआ दीपक न किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है न किसी को निवारण करता है और यह भी नहीं जानता कि कौन क्या व्यापार करता है —

(9.129) वह जैसा साक्षिभूत है, तथापि घर के व्यापार में प्रवृत्ति का कारण है — वैसे ही प्राणियों के कर्मों से उदासीन रहता हुआ मैं प्राणियों में व्याप्त हूँ।

(9.130) बहुतेरी उपपत्तियों के साथ यही एक अभिप्राय मैं तुमसे बारम्बार कहाँ तक करूँ? हे सुभद्रापति! एक बार इतना ही जान लो कि

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ 9.10 ॥

(9.131) जैसे सूर्य मनुष्यों के सम्पूर्ण व्यापारों का केवल निमित्त ही रहता है वैसे ही हे पाण्डुसुत! जगत् की उत्पत्ति का मैं निमित्त कारण हूँ।

(9.132) अथवा इस जगत् के विषय में ऐसी विचार-पद्धति भी हो सकती है कि प्रकृति के मेरा आश्रय लेने के कारण चराचर की उत्पत्ति होती है, अतएव मैं इसका कारण हूँ।

(9.133) अब इस सत्य प्रकाश की सहायता से मेरे ऐश्वर्ययोग की ओर देखो तो दिखाई देगा कि मुझ में प्राण है परन्तु मैं प्राणियों मे नहीं हूँ।

(9.134) और यह संकेत कभी मत भूलो कि प्राणिगण तो मुझमें हैं पर मैं प्राणियों में नहीं हूँ।

(9.135) यह हमारा गुह्यसर्वस्व है परन्तु तुम्हें खोल कर बताया है। अब इन्द्रियों के किवाड़ बन्द कर इसका हृदय में उपभोग लो।

(9.136) जब तक यह मर्म हाथ नहीं आता तब तक हे पार्थ! भुस में मिले हुए कणों के समान मेरा सत्य स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता।

(9.137) यों तो अनुमान के द्वारा निश्चय से जान पड़ा सा मालूम होता है परन्तु मृगजल की आर्द्रता से क्या भूमि भीगती है?

(9.138) जल में जो जाली फैली हुई रहती है उसमें चन्द्रबिम्ब अटका हुआ सा दिखाई देता है परन्तु तीर पर निकाल कर झटकारने से बिम्ब कहो कहाँ चला जाता है?

(9.139) वैसे ही अनुभव की आँखें शब्दों के वाचा-बल से वृथा फँसती हैं। परन्तु ज्ञान के समय उसकी सत्यता नहीं जान पड़ती।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ 9.11 ॥

(9.140) बहुत क्या कहें, सचमुच में संसार का डर मालूम होता हो और मेरी प्राप्ति की इच्छा हो तो इस विचार-पद्धति को जतन से ध्यान में रखना चाहिए।

(9.141) नहीं तो दृष्टि में पीलिया छा जाने से मनुष्य जैसे चाँदनी भी पीली समझता है वैसे ही मेरे निर्मल स्वरूप में दोष दिखाई देते हैं।

(9.142) अथवा ज्वर से मुँह दूषित हो गया हो तो दूध भी जैसे विष के समान कड़वा लगता है, वैसे ही लोग मुझ अमानुष को मनुष्य समझते हैं।

(9.143) इसलिए हे धनंजय! बारम्बार यही विनती है कि इस अभिप्राय को मत भूलो। उसे स्थूल दृष्टि से देखना वृथा है।

(9.144) मुझे स्थूल दृष्टि से देखना ही वास्तव में अज्ञान है। स्वप्न के अमृत से कोई अमर नहीं होता।

(9.145) यों तो मूढ़ जन स्थूल दृष्टि से मुझे भली भाँति जानते हैं, परन्तु वह जानना ज्ञान की ओट में जा बैठना है।

(9.146) जैसे — नक्षत्र के प्रतिबिम्ब में रत्न-बुद्धि रखा आशा-पूर्वक जल में घुसने से हंस का घात हो जाता है;

(9.146) गंगा समझ कर मृगजल के समीप पहुँचने से क्या फल होता है, बबूल को कल्पतरु समझ कर सेवा करने से क्या लाभ?

(9.147) सर्प को दूसरा नीलमणि का हार समझ कर जैसे उसका ग्रहण किया जाय, अथवा जैसे रत्न समझ कर सफ़ेद पत्थर चुने जायँ,

(9.148) अथवा द्रव्य का निधान प्रकट हुआ समझ कर खैर के अंगारों को कोई अंचल में भर ले, अथवा परछाई न पहचान कर सिंह कुएँ में कूद पड़े,

(9.150) वैसे ही इस निश्चय से, कि प्रपंच में मैं हूँ, जो उसमें निमग्न हो जाते हैं वे मानों चन्द्र समझ कर जल में फैली हुई चन्द्र की प्रभा का ही ग्रहण करते हैं।

(9.150) इस प्रकार उनका निश्चय वृथा जाता है। जैसे को कोई काँजी पिये और परिणाम अमृत का देखने जाय

(9.152) वैसे ही कोई विनाशी स्थूलाकार में श्रद्धायुक्त चित्त से मुझ अविनाशी को देखे तो मैं कैसे दिखाई दे सकता हूँ!

(9.153) अजी, क्या पश्चिम समुद्र को जाने के लिए पूर्व दिशा के मार्ग से जाते हैं? अथवा हे सुभट! क्या भुस कूटने से धान्य हाथ लगता है?

(9.154) वैसे ही क्या इस विकृत स्थूल को जानने से से मैं — जो केवल हूँ — जाना जा सकता हूँ? क्या फेन पीने से जल पीने का फल हो सकता है?

(9.155) तात्पर्य यह कि मोहयुक्त भावना के कारण भ्रम से यह समझते हैं कि संसार ही मैं हूँ तो वे संसार के जन्म-कर्म भी मुझे लगा देते हैं।

(9.156) मुझ अनामक का नाम रख देते हैं, मुझ अक्रिय को कर्म में लगा देते हैं, और मुझ विदेह को उत्पत्ति इत्यादि देह-कर्म लगा देते है;

(9.157) मुझ निराकार का आकार मान लेते है, उपाधि-रहित को सुख-साहित्य अपर्ण करते हैं और मैं जो कर्तव्य तथा अकर्तव्य से रहित, उसे व्यवहार, आचार इत्यादि लगा देते हैं;

(9.158) मुझ वर्णहीन का वर्ण, गुणातीत के गुण, चरण-रहित के चरण, और हस्त-रहित के हाथ मान लेते हैं।

(9.159) मैं जो मापा नहीं जा सकता उसका माप करते हैं, और जो मैं सर्वगत हूँ उसे एकदेशीय बना देते हैं। जैसे शय्या पर सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अरण्य देखता है,

(9.160) वैसे ही वे मुझ श्रवण-रहित को कान, नयन-रहित को नेत्र, गोत्र-रहित को गोत्र और अरूप को रूप देते हैं;

(9.161) अप्रकट को प्रकट करते हैं;, अदुःखी को दुःखी की और आत्मतृप्त के लिए तृप्ति की भावना करते है;

(9.163) मुझ अनाच्छादित पर आच्छादन मानते हैं. मैं जो अलंकारों से परे हूँ, उसे भूषण पहनाते है, और मैं जो सबका कारण हूँ उसका भी कोई कारण मानते हैं;

(9.163) मैं जो स्वयं हूँ उसकी मूर्ति बनाते है, मैं जो सदा सिद्ध हूँ उसकी प्रतिष्ठा करते हैं, और मैं जो निरन्तर बना हुआ हूँ उसका आवाहन और विसर्जन करते हैं;

(9.164) सर्वदा स्वयंसिद्ध रहनेवाले मुझ एकरूप में बाल, तरुण, वृद्ध आदि सम्बन्ध जोड़ देते हैं;

(9.165) मुझ अद्वैत को द्वैत समझते हैं; मुझ अकर्ता को कर्ता और अभोक्ता को भोग लेनेहारा समझते हैं;

(9.166) मुझ अकुटुम्बी के कुल का वर्णन करते हैं; मैं जो नित्य हूँ उसके मरण से दुःखी होते हैं; मै जो सर्वान्तर्यामी हूँ उसे शत्रु, मित्र इत्यादि समझते हैं;

(9.167) मैं जो आत्मानन्द में निमग्न हूँ उसमे अनेक सुखों की इच्छा की भावना करते हैं; और मैं जो सर्वत्र समान रहता हूँ उसे एकदेशी समझते हैं।

(9.168) मैं ही एक सब चराचर का आत्मा हूँ परन्तु वे यों प्रसिद्ध करते हैं कि मैं किसी का पक्ष लेता हूँ और किसी को कोप कर मारता हूँ।

(9.169) बहुत क्या कहूँ, ऊपर जो प्रकृत्युत्पन्न मनुष्यधर्म वर्णन किये उन्हीं को वे मेरा स्वरूप समझते हैं। उनका ऐसा उलटा ज्ञान है!

(9.170) जब तक कोई एक आकार सामने देखते हैं तब तक वे उसे इस भाव से भजते हैं कि यह देव है और जब टूट जाता है तब उसे यह समझ कर फेंक देते हैं कि यह देव नहीं है।

(9.171) इस प्रकार वे मुझे मनुष्यरूप समझते हैं। अतएव उनका ज्ञान ही सच्चे ज्ञान की आड़ करता है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ 9.12 ॥

(9.172) इसलिए उनका जन्म लेना वृथा समझो। जैसे बिना वर्षा के मेघ अथवा मृगजल की तरंगें केवल दूर से ही देखने की होती हैं;

(9.173) अथवा जैसे खिलौने के सवार या बाजीगरी के अलंकार, या गन्धर्व-नगर के कोट दिखाई देते हैं,

(9.174) सरपत जैसे सीधा बढ़ता जाता है परन्तु उसमे फल नहीं लगता और भीतर से पोला रहता है, अथवा बकरी के गले में जैसे स्तन होते हैं

(9.175) वैसे ही उन मूर्खों का जीवन वृथा है और उनके किये हुए कर्म को भी धिक्कार है, जैसे सेमर का फल, जो न लेने के लिए उपयोगी होता है न देने को

(9.176) जो कुछ वे पढ़ते हैं वह वानर से तोड़े गये नारियल के अथवा अन्धे के हाथ लगे हुए मोती के समान है।

(9.177) बहुत क्या कहें, उनके सीखे हुए शास्त्र छोटी-सी लड़की के हाथ में दिये हुए शस्त्र के अथवा अपवित्र मनुष्यों को सिखाये हुए बीजमन्त्रों के समान हैं।

(9.178) और जो चित्त को अधीन नहीं रखते उनका सब ज्ञान और जो कुछ अभ्यास किया हो वह सब वृथा जाता है।

(9.179) जो प्रकृतिरूपी तमोगुणी राक्षसी है, जो सुबुद्धि को ग्रस लेती है, और जो निशाचरी विवेक का निशान मिटा देती है,

(9.180) वे उसी के वश हो जाते हैं, इसलिए चिन्तारूपी गुहा में जाकर उस तामसी के मुँह में जा पड़ते हैं —

(9.181) जिस मुँह में आशा की लार से भरी हुई हिंसारूपी जीभ लटकती है जो असन्तोषरूपी मांस के गोले निरन्तर चबाती रहती है

(9.182) तथा अनर्थ-रूपी कान तर ओंठ चाटते हुए जो बाहर निकलती है, जो मुँह मानों प्रमादरूपी पर्वत की गुहा बन रहा हो,

(9.183) जिसकी द्वेषरूपी दाढ़े ज्ञान को खसखस चबाकर पीस डालती हैं और जिसकी अस्थि और चमड़ा मूर्खों की स्थूल बुद्धि का आच्छादन कर लेता है।

(9.184) ऐसी राक्षसी-प्रवृति के मुख में जो प्राणि बलि हो पड़ते हैं वे भ्रान्ति-रूपी कुण्ड में डूब जाते हैं।

(9.185) अतः तम के गड्ढे में पड़े हुए वे विचार के हाथ नहीं लगते। और क्या वर्णन करें, वे अन्त में कहाँ जाते हैं उसका हमें कुछ ज्ञान नहीं।

(9.186) इसलिए यह निष्फल कथा रहने दो। मूर्खों का वर्णन कहाँ तक किया जाय। व्यर्थ तूल बढ़ाने से वाणी ही दुखेगी।

(9.187) ऐसा जब देव ने कहा तब अर्जुन ने कहा, बहुत अच्छा बस कीजिए। फिर श्रीकृष्ण ने कहा कि अब जहाँ वाणी को विश्राम मिलता है वह कथा सुनो।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.13 ॥

(9.188) मैं जिनके निर्मल मन में क्षेत्रसंन्यासी होकर रहता हूँ, जिन सोये हुए पुरुषों की वैराग्य सेवा करता है,

(9.189) जिनकी श्रद्धा के सद्भाव में धर्म राज्य करता है, जिनका मन विवेक का जीवन है,

(9.190) जो ज्ञानरूपी गंगा में नहाये हैं, पूर्णता-रूपी भोजन कर तृप्त हुए हैं, जो शान्ति रूपी वृक्ष में उत्पन्न हुए नूतन पल्लव हैं,

(9.191) जो ब्रह्मरूपी परिणाम के निकले हुए अंकुर हैं, जो धैर्य-मण्डल के खम्भे हैं, जो आनन्दरूपी समुद्र में डुबाकर भरे हुए कुम्भ हैं,

(9.192) जिनको भक्ति जहाँ तक प्राप्त हो गई है कि वे मोक्ष को भी 'पीछे हट' ऐसा कहते हैं, जिनकी क्रीड़ाओं में भी नीति जागृत दिखाई देती है,

(9.193) जिन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियों में शान्ति के अलंकार पहने हैं, जिनका चित्त मुझ व्यापक का आच्छादन बन गया है,

(9.194) ऐसे जो महानुभाव दैवी प्रकृति के भाग्य-रूप हैं, जो मेरा सम्पूर्ण स्वरूप जानते हैं,

(9.195) तथापि जो महात्मा बढ़ते हुए प्रेम से मेरा भजन करते हैं, परन्तु जिनका मनोधर्म द्वैत का स्पर्श भी नहीं करता,

(9.196) वे हे पाण्डव! मद्रूप ही होकर मेरी सेवा करते हैं। परन्तु और भी नया वर्णन करता हूँ, सुनो।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.14 ॥

(9.197) प्रेम से हरिकीर्तन कर नाचते हुए उन्होंने प्रायश्चित का व्यापार बन्द कर डाला है। क्योंकि उन्होंने पाप का नाम ही मिटा दिया हैं;

(9.198) यम और दम की अवस्था दान कर डाला है; तीर्थों के ठाँव ही मिटा दिये हैं और यमलोक का सम्पूर्ण व्यवहार बन्द कर दिया है।

(9.199) यम कहता है हम क्या नियमन करें, दम कहता है हम किसका दमन करे, तीर्थ कहते हैं हम क्या खावें, पाप तो औषधि को भी नहीं।

(9.200) इस प्रकार वे मेरे नाम के घोष से संसार के दुःखों का नाश कर डालते हैं और सब जगत् को महासुख से लबालब भर देते हैं।

(9.201) प्रातःकाल बिना ही वे प्रकाश देते हैं, अमृत के बिना ही जीवन देते हैं, और योग के बिना ही आँखों को कैवल्य दिखाते हैं।

(9.202) परन्तु वे यह भेद नहीं रखते कि वह राजा है और यह रंक, यह नहीं विचारते कि यह छोटा है और यह बड़ा; वे तो सम्पूर्ण जगत् के लिए एक ही आनन्द की बाड़ी ही बन जाने हैं।

(9.203) वैकुण्ठ को कभी कोई एक-आध ही जाता है, परन्तु वे सर्वत्र वैकुण्ठ ही बना देते हैं। इस प्रकार नाम-भजन की महिमा से वे विश्व को प्रकाशित कर देते हैं।

(9.204) सूर्य अपने तेज से वैसा ही उज्ज्वल है, परन्तु उसमें अस्त होना एक दोष है। चन्द्र एक-आध ही बार सम्पूर्ण होता है, परन्तु वे भक्त सदा पूर्ण हैं।

(9.205) मेघ उदार है, परन्तु वह भी रीता हो जाता है इसलिए वह उनकी उपमा के लिए ठीक नहीं। वे निःसन्देह कृपायुक्त शिवमूर्ति हैं

(9.206) जिनकी वाचा के सामने मेरा नाम, जिसके एक बार मुँह में आने के लिए औरों को सहस्रावधि जन्म तक सेवा करना पड़ती है, निरन्तर प्रेम से नाचता रहता है।

(9.207) वह मैं कदाचित् वैकुण्ठ में न रहूँ, एक बार सूर्यबिम्ब में भी न दिखाई दूँ, तथा योगियों के मनों का भी मैं उल्लंघन कर जाऊँ,

(9.208) परन्तु हे पाण्डव! जो मेरे नाम का अत्यन्त घोष करते रहते हैं उनके पास खोजने से मैं अवश्य मिलूँगा।

(9.209) वे मेरे गुणों से कैसे तृप्त हुए रहते हैं! कैसे देश और काल को भूल जाते हैं! कीर्तन-सुख से कैसे स्वयं अपने में ही सुखी होते है!

(9.210) कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्द इन शुद्ध नामों से ग्रथित किये और आत्मा तथा अनात्मा के विचार से भरे हुए प्रबन्ध को कैसे स्पष्ट और उच्च स्वर से गाते हैं!

(9.211) और क्या वर्णन किया जाय! हे पाण्डुकुँवर! इस प्रकार कोई मेरे गुणानुवाद गाते हुए चराचर में घूमते हैं,

(9.212) और कोई बड़े यत्न से पंचप्राणों को और मन को जीत कर

(9.213) बाह्यतः यम-नियमों की बाड़ी लगाकर भीतर वज्रासन-रूपी किला बनाते हैं और वहाँ प्राणायाम के चलते हुए यन्त्र जमाते हैं;

(9.214) और कुण्डलिनी के प्रकाश में मन और पवन की सहायता से चन्द्रामृत (सत्रहवीं कला) के सरोवर को अधीन कर लेते हैं।

(9.215) तब प्रत्याहार अपना पराक्रम दिखाता है, विकारों की वाचा बन्द कर देता है और इन्द्रियों को बाँध कर हृदय में ले जाता है।

(9.216) फिर धारणा-रूपी घुड़सवार डटकर महाभूतों को इकट्ठा करते हैं और संकल्प की चतुरंग सेना (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) का नाश कर डालते हैं।

(9.217) तुरन्त ही ध्यान जीत जीत कहता हुआ डंका बजाता है और तन्मयता-रूपी एकछत्र चमकता दिखाई देता है।

(9.218) और समाधि-लक्ष्मी के सिंहासन पर निःशेष आत्मानुभव-रूपी राज्यसुख का ऐक्य के रस से राज्याभिषेक होता है।

(9.219) हे अर्जुन! मेरा भजन इस प्रकार गहन है। अब और भी कई मेरा ही भजन करते हैं सो सुनो।

(9.220) दोनों छोर तक वस्त्र में जैसे एक ही तन्तु ही होता है, वैसे ही वे चराचर में मेरे सिवाय कुछ नहीं जानते.

(9.221) ब्रह्मा से लेकर मशक तक जो कुछ बीच में है उस सब को मेरा ही स्वरूप समझते हैं,

(9.222) और बड़ा या छोटा नहीं समझते, सजीव निर्जीव नहीं देखते; जो वस्तु देखते हैं उसे मेरा ही स्वरूप समझकर दण्डवत् करते हैं!

(9.223) वे अपनी उत्तमता मन में नहीं लाते, सामने आये हुए की योग्यता-अयोग्यता नहीं छानते, एकदम वस्तुमात्र के सामने नमन करना ही पसन्द करते हैं।

(9.224) जैसे ऊँचे स्थान से पानी गिरे तो वह नीचे की ओर ही बहने लगता है वैसे ही भूतमात्र को देखते ही उन्हें नमस्कार करना उनका स्वभाव ही रहता है।

(9.225) अथवा फले हुए वृक्ष की शाखाएँ जैसे भूमि की ओर स्वभावतः झुकी हुई रहती हैं, वैसे ही वे सम्पूर्ण प्राणिमात्र को नमन करते रहते हैं।

(9.226) वे निरन्तर गर्व-रहित रहते हैं। विनय ही उनकी सम्पत्ति है और उसे वे जय जय मन्त्र से मुझे समर्पित करते रहते हैं।

(9.227) नमन करते करते उनके मान और अपमान (के भाव) चले जाते हैं इससे वे अकस्मात् मद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार निरन्तर मुझ में मिले हुए वे मेरी भक्ति करते हैं।

(9.228) हे अर्जुन! यह एक श्रेष्ठ भक्ति का वर्णन हुआ। अब जो ज्ञानयज्ञ से मेरी भक्ति की जाती है, उसका वर्णन सुनो।

(9.229) परन्तु हे किरीटी! उस भजन की युक्ति तुम जानते ही हो, क्योंकि उसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

(9.230) तब अर्जुन ने कहा — हाँ जी सच है, यह देव की कृपा ही है, परन्तु अमृत के परोसे को क्या कोई बस कह सकता है!

(9.231) इन वचनों से श्रीकृष्ण उसे उत्सुक जानकर आनन्दित चित्त से झूमने लगे।

(9.232) और कहने लगे कि हे पार्थ! शाबाश! यों तो अब कहने का कुछ कारण नहीं है, परन्तु तुम्हारी उत्सुकता मुझे और अधिक कहने के लिए प्रवृत करती है।

(9.233) तब अर्जुन ने कहा — यह क्या बात है? चकोर के बिना क्या चाँदनी नहीं रह सकती? जगत् को शीतल करना तो उसका स्वभाव ही है।

(9.234) चकोर केवल अपनी इच्छा से जैसे चन्द्र की ओर चोंच करते हैं, उसी प्रकार हे देव, हे कृपासिन्धु! हम भी थोड़ी सी विनती करते हैं।

(9.235) अजी, मेघ अपनी श्रेष्ठता से ही जग की पीड़ा दूर करते हैं अन्यथा उनकी वर्षा के सामने चातक की तृष्णा कितनी-सी रहती है?

(9.236) एक ही चुल्लू भरने की इच्छा क्यों न हो, परन्तु उसके लिए जैसे गंगा को जाना ही पड़ता है, वैसे ही इच्छा थोड़ी हो या बहुत, तथापि देव को निरूपण करना ही चाहिए।

(9.237) तब देव ने कहा — ठहरो, हमें जो सन्तोष हुआ है उस पर स्तुति की कुछ आवश्यकता नहीं रही।

(9.238) तुम्हारा भली भाँति ध्यान देना ही हमारे वक्तृत्व का सहायक हो रहा है। इस प्रकार उसका उत्साह बढ़ाकर श्रीहरि ने अपनी वक्तृता का आरम्भ किया।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ 9.15 ॥

(9.239) ज्ञानयज्ञ उसे कहते हैं कि जहाँ आदि-संकल्प ही यज्ञ-स्तम्भ है, पंचमहाभूत मण्डप है, द्वैत पशु है,

(9.240) पाँचों महाभूतों के जा विशेष गुण अथवा इन्द्रियाँ और प्राण हैं वही यज्ञ की सामग्री है, अज्ञान घृत है,

(9.241) और मन-बुद्धि रूपी कुण्ड में ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है। वहाँ साम्य को ही सुन्दर वेदी जानो।

(9.242) विवेक-युक्त बुद्धि की कुशलता ही मन्त्र हैं, विद्या की महिमा और शान्ति स्रुक् और स्रुवा हैं, और जीव यज्ञ करनेहारा है।

(9.243) वह अनुभवरूपी पात्र से विवेकरूपी महामन्त्र के द्वारा ज्ञानाग्निहोत्र करके भेद का नाश करता है।

(9.244) तब अज्ञान समाप्त हो जाता है और यज्ञ करनेहारा और यजन-क्रिया का भेद नहीं रहता और जीव एकरस रूपी अवभृथ में नहाता है।

(9.245) तब भूत, विषय और इन्द्रियाँ अलग अलग नहीं दिखाई देतीं, आत्मबुद्धि के कारण सब कुछ एक ही जान पड़ता है।

(9.246) हे अर्जुन! जागृत होने पर मनुष्य को जैसे ज्ञान हो जाता है कि जो विचित्र सेना स्वप्न में दिखाई दे रही थी वह निद्रा के वश हो मैं ही बन गया था,

(9.247) तथा वह सेना यथार्थ में सेना नहीं थी, किन्तु वह सब अकेला मैं ही बना था' वैसे ही वह ज्ञानी मनुष्य सब विश्व में एकत्व ही मानता है।

(9.248) फिर वह भाव भी नहीं रहता कि यह जीव है; ब्रह्मा पर्यन्त उसे परमात्म-ज्ञान ही भर जाता है। इस प्रकार कोई ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी भक्ति करते हैं।

(9.249) अथवा यद्यपि जगत् अनादि और भिन्न भी है क्योंकि पदार्थ एक दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं और नाम-रूप, इत्यादि भी अलग अलग हैं.

(9.250) अतएव विश्व भिन्न भिन्न है, तथापि उन भक्तों का ज्ञान भिन्न नहीं होता। जैसे अवयव जुदे जुदे होते हैं तथापि वे एक ही शरीर के होते हैं,

(9.251) अथवा शाखाएँ छोटी बड़ी होती हैं परन्तु एक ही वृक्ष की होती हैं; किरणें बहुतेरी तो होती हैं परन्तु वे जैसे एक ही सूर्य की होती हैं,

(9.252) वैसे ही व्यक्ति अनेक हैं, नाम जुदे जुदे हैं और वृत्तियाँ अलग अलग हैं — पर उन्हें भिन्न भूतों में मुझ अभिन्न का ही ज्ञान होता है।

(9.253) हे पाण्डव! इस भिन्नता से वे भक्त उत्तम ज्ञानयज्ञ करते हैं क्योंकि वे अभिन्नता के ज्ञान को जानते हैं।

(9.254) अथवा उन्हें ऐसा बोध हो जाता है कि जिस समय जिस स्थान में जो कुछ दिखाई देता है वह मेरे सिवा कुछ नहीं हैं।

(9.255) देखो, बुलबुला जहाँ जाय वहाँ उसे एक ही जल ही रहता है और वह गले अथवा रहे तथापि जल में ही रहता है;

(9.256) अथवा पवन से परमाणु उड़ते हैं तो वे पृथ्वीत्व से जुदे नहीं होते है और फिर नीचे गिरते हैं तो भी पृथ्वी पर ही रहते है;

(9.257) वैसे ही उन्हें ऐसी प्रतीति हो जाती है कि चाहे जिस भावना से कुछ भी उत्पन्न हो अथवा नष्ट हो तथापि वह सब मैं हूँ।

(9.258) अजी, जितनी मेरी व्याप्ति है उतनी ही उनकी प्रतीति है। इस प्रकार वे बहुधाकार विश्व में मद्रूप होकर ही व्यवहार करते हैं।

(9.259) हे धनंजय! जैसे यह सूर्यबिम्ब चाहे जिनके सम्मुख है वैसे ही वे सर्वदा इस विश्व के सम्मुख रहते हैं।

(9.269) हे अर्जुन! जैसे वायु आकाश के सर्वांग में भरी हुई रहती है वैसे ही उनके ज्ञान में भीतर-बाहर का भेद नहीं रहता;

(9.261) तथा मैं जितना सम्पूर्ण हूँ वही प्रमाण उनके सद्भाव का है। इससे हे पाण्डव! उन्हें कुछ न करते हुए मेरा भजन हो जाता है।

(9.262) यों तो वास्तव में मैं ही सब कुछ हूँ, में उपासना कब और किसने नहीं की है? परन्तु ज्ञान के सिवा मेरी अप्रतीति का ही ठौर है अर्थात् जिन्हें मैं अप्राप्त हूँ उनकी उपासना, मेरा यथार्थ ज्ञान न होने से, बन्द सी हो गई है।

(9.263) परन्तु अधिक वर्णन रहने दो। ऐसे उचित ज्ञानयज्ञ का यजन करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं उनका यह वर्णन हुआ।

(9.264) यह सब कर्म निरन्तर सब ओर से मुझ एक को ही पहुँचता है। परन्तु मूर्ख जन नहीं जानते इसलिए वे मुझे नहीं प्राप्त होते।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 9.16 ॥

(9.265) जो इस ज्ञान का उदय हो तो यह प्रतीति होगी कि जो मुख्य वेद हैं वह मैं ही हूँ और वह जिस विधान का वर्णन करते हैं वह यज्ञकर्म भी मैं ही हूँ;

(9.266) और उस कर्म से जो उत्तम और अंगोपांग-सहित सम्पूर्ण यज्ञ प्रकट होता है वह भी हे पाण्डव! मैं ही हूँ।

(9.267) स्वाहा मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, सोमवल्ली इत्यादि नाना प्रकार की ओषधियाँ मैं हूँ, घृत और समिधा मैं हूँ, मन्त्र और होमद्रव्य मैं हूँ;

(9.268) ऋत्विज मैं हूँ, जिनमें यज्ञ किया जाय वह अग्नि भी मेरा ही स्वरूप है, और जिन जिन वस्तुओं का हवन किया जाय सो भी मैं ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ 9.17 ॥

(9.269) जिसके सम्बन्ध द्वारा अष्टधा प्रकृति से जगत् जन्म लेता है वह पिता मैं हूँ।

(9.270) अर्द्धनारी-नटेश्वर के स्वरूप में जैसे जो पुरुष है सोई नारी है, वैसे ही मैं चराचर की माता भी हूँ।

(9.271) और जग उत्पन्न होकर जहाँ रहता है जिससे उसका जीवन बढ़ता है वह भी वस्तुतः मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(9.272) ये दोनों प्रकृति-पुरुष जिस अन्तःकरण-रहित स्वरूप में जन्म लेते हैं वह इस विश्व का पितामह त्रिभुवन में मैं ही हूँ।

(9.273) हे सुभट! सब ज्ञान के मार्ग जिस गाँव की ओर जाते हैं, वेदों के चौरस्ते में जो जानने योग्य कहलाता है,

(9.274) जहाँ नाना मताभिमानियों की समझ पट जाती है, परस्पर शास्त्रों की पहचान हो जाती है, भूले हुए ज्ञान जहाँ आकर मिल जाते हैं, जो पवित्र कहलाता है,

(9.275) ब्रह्मरूपी बीज का जो अंकुररूप है, तथा परापश्यन्ती इत्यादि वाचाओं की ध्वनि के आकार का घर जो ओंकार है वह भी मैं ही हूँ।

(9.276) उस ओंकार के पेट में अकार उकार और मकार सहित सब अक्षर रहते हैं, जो उत्पत्ति के साथ ही तीनों वेदों सहित उठ खड़े हुए हैं।

(9.277) एतावता श्रीआत्माराम श्रीकृष्ण ने कहा कि ऋक्, यजु, साम तीनों मैं ही हूँ, एवं मैं ही वेद की वंशपरम्परा हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ 9.18 ॥

(9.278) यह सम्पूर्ण चराचर जगत् जिस प्रकृति में समाया हुआ है वह थक कर जहाँ विश्राम लेती है वह निदान की गति मैं हूँ

(9.279) और जिससे प्रकृति जीवन धारण करती है, जिसके अधिष्ठान से विश्व को उत्पन्न करती है, जो इस प्रकृति में आकर गुणों को भोगता है,

(9.280) वह विश्वलक्ष्मी का भर्त्ता हे पाण्डुसुत! मैं ही हूँ। मैं इस सम्पूर्ण त्रैलोक्य का स्वामी हूँ।

(9.281) आकाश सर्वत्र बसे, वायु क्षण भर भी चुप न बैठे, अग्नि जले, जल बरसे,

(9.282) पर्वत अपनी बैठक न छोड़े, समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करे, पृथ्वी प्राणियों को धारण करे, इत्यादि सब मेरी ही आज्ञा है।

(9.283) मेरे बुलाने से वेद बोलते हैं, मेरे चलाने से सूर्य चलता है तथा प्राण जो जगत् के चलने का कारण है वह भी मेरे हिलाने से हिलता है।

(9.284) मेरी आज्ञा से ही काल प्राणियों को ग्रसता है। हे पाण्डुसुत! ये सब जिसके अनुचर हैं,

(9.285) जो इस प्रकार समर्थ है, वह जगत् का नाथ मैं हूँ, तथा गगन जैसा जो साक्षिभूत है वह भी मैं ही हूँ।

(9.286) हे पाण्डव! इन नाम-रूपों के साथ जो सर्वत्र भरा है तथा आप ही जो इन नाम-रूपों का जीवन है,

(9.287) जैसे तरंगें जल की ही होती है और तरंगों में ही जल होता है वैसे ही सर्वत्र बसता है वह वसति-स्थान मैं हूँ।

(9.288) जो अन्यता से मेरी शरण लेता है उसका जन्म-मरण मैं दूर करता हूँ, इसलिए शरणागतों का आश्रय एक मैं ही हूँ।

(9.289) मैं ही एक, अनेक होकर अलग अलग स्वभावानुसार जीवित जगत् के प्राण द्वारा व्यवहार करता हूँ।

(9.290) समुद्र या गड्ढे का भेद मन में न लाते हुए सूर्य जैसे चाहे जहाँ प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही मैं ब्रह्मा से लेकर सब प्राणियों का मित्र हूँ।

(9.291) हे पाण्डव! मैं ही इस त्रिभुवन का जीवन हूँ। सृष्टि के नाश और उत्पत्ति का कारण मैं हूँ।

(9.292) बीज शाखाओं को उत्पन्न करता है और फिर वृक्षत्व बीज में समा जाता है, वैसे ही सब कुछ संकल्प से ही उत्पन्न होता है और अन्त में संकल्प में ही मिल जाता है।

(9.293) इस प्रकार जगत् का बीज संकल्प जो अव्यक्त और वासनारूप है वह कल्पान्त के समय जहाँ जा पड़ता है वह स्थान मैं हूँ।

(9.294) जब ये नाम-रूप लय पाते हैं, रंग और आकार मिट जाते हैं, जाति भेद नहीं रहते, आकार नहीं रहते,

(9.295) तब संकल्प और वासना के संस्कार फिर से आकार की रचना के हेतु जहाँ अमर हो रहते हैं वह घर मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ 9.19 ॥

(9.296) मैं जब सूर्य का वेश धर तपता हूँ तब यह जगत् सूखता है, और फिर जब इन्द्र होकर बरसता हूँ तब फिर हरा भरा हो जाता है।

(9.297) अग्नि जिस लकड़ी को जलाती है वह लकड़ी जैसे अग्नि हो जाती है वैसे ही देखो मरने और मारनेवाला मेरी ही स्वरूप है;

(9.298) एवं जो जो मृत्यु के हिस्से में आता है वह मेरा ही रूप है, तथा जो नहीं मरता वह भी स्वभावतः मैं ही हूँ।

(9.299) अब बहुत क्या कहें, एक बार यही पूर्णतः समझ लो कि व्यक्त और अव्यक्त सब मद्रूप ही है।

(9.300) हे अर्जुन! ऐसा कौन-सा स्थान है जहाँ मैं नहीं हूँ? परन्तु प्राणियों का कैसा दुर्भाग्य है कि वे मुझे नहीं देख सकते!

(9.301) जैसे तरंगें बिना पानी के सूख रही हों, अथवा सूर्य की किरणें बिना दीपक के दीख न सकती हों, वैसे ही आश्चर्य है कि वे मैं होते हुए मद्रूप नहीं होते।

(9.302) यह जगत् अन्तर्बाह्य मुझसे ही भरा है, निःशेष मेरा ही ढला हुआ है, परन्तु प्राणियों का कर्म कैसा विपरीत होता है जो वे कहते हैं कि मैं नहीं हूँ!

(9.303) जो अमृत के कुएँ में गिरे तथापि बाहर निकाले जाने की इच्छा करे उस अभागे को क्या किया जाय?

(9.304) हे किरीटी! कौर भर अन्न के लिए दौड़ता हुआ अन्धा अन्धेपन के कारण जैसे पाँव से लगे हुए चिन्तामणि को ठुकरा देता है

(9.305) वैसे ही कोई ज्ञान की त्याग कर चला जाय तो उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है। सारांश, ज्ञान के सिवाय कुछ भी किये हुए का फल नहीं होता।

(9.306) अन्धे को गरुड़ के पंख हो तो उसे उनसे क्या लाभ? वैसे ही ज्ञान के सिवाय सत्कर्म के श्रम वृथा होते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
9.20॥

(9.307) हे किरीटी! देखो जो आश्रमधर्म का व्यवहार करने के कारण आप ही विधिमार्ग की कसौटी बन जाते हैं,

(9.308) जिनके कुतूहल-पूर्वक यज्ञ करते समय तीनों वेदों का माथा डोलता है, और फल सहित कर्म जिनके सामने ही खड़ा है,

(9.309) ऐसे जो यज्ञ में सोमपान करनेवाले दीक्षित हैं, जो आप ही यज्ञ का स्वरूप हैं, उन्होंने पुण्य के नाम से पाप ही जोड़ा है, ऐसा समझो।

(9.310) क्योंकि वे तीनों वेद जानकर, सैकड़ों यज्ञ करके मुझ याज्य को भूलकर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा करते हैं।

(9.311) जैसे कोई अभागा कल्पतरु के नीचे बैठा हुआ झोली को गाँठ लगा दे और अनन्तर भीख माँगने के लिए निकले,

(9.312) वैसे ही वे सौ यज्ञों से मेरा यजन कर स्वर्ग-सुख की इच्छा करते हैं। वह पुण्य क्या वास्तव में पाप नहीं है?

(9.313) अतएव मुझे छोड़ स्वर्ग की प्राप्ति अज्ञानी का पुण्य-मार्ग है। ज्ञानी उसे विघ्न समझते है।

(9.314) यों भी यथार्थ में नरक के दुःखों की दृष्टि से ही स्वर्ग को सुख कहते हैं; अन्यथा निर्दोष नित्यानन्द तो केवल मेरा ही स्वरूप है।

(9.315) और, हे अर्जुन! मेरी ओर आते समय ये स्वर्ग और नरक नामक दो प्रकार के आड़े-टेढ़े चोरों के रास्ते लगते हैं।

(9.316) पुण्यरूपी पाप से स्वर्ग को पहुँचते हैं, तथा पापरूपी पाप से नरक को जाते हैं। परन्तु जिस मार्ग से मुझे पहुँचते हैं वह शुद्ध पुण्य है।

(9.317) फिर हे पाण्डुसुत! मुझ में रहते हुए जिसके कारण मुझसे वंचित रहना पड़े उसे पुण्य करनेहारी जीभ के टुकड़े क्यों नहीं हो जाते?

(9.318) परन्तु हाल में यह रहने दो। सुनो, वे दीक्षित उक्त प्रकार से मेरा यजन करके स्वर्ग-भोग की याचना करते हैं।

(9.319) जो ऐसा पापरूप पुण्य है, जिससे कि मैं नहीं प्राप्त होता, उसके प्राप्त होते की बड़ी अभिलाषा के साथ ऐसे स्वर्ग को जाते हैं

(9.320) जहाँ कि अमरत्व का सिंहासन है, ऐरावत जैसा वाहन है, और अमरावती राजधानी का नगर है;

(9.321)जहाँ महासिद्धि के भाण्डार हैं, अमृत के कोठे हैं; जिस गाँव में कामधेनु के झुण्ड के झुण्ड हैं;

(9.322) जहाँ देव चाकर बन सेवकाई करते हैं, चहुँओर चिन्तामणि की धरती है, कल्पवृक्षों के क्रीड़ोपवन हैं;

(9.323) जहाँ गन्धर्व गायन करते हैं, रम्भा जैसा नृत्य करनेहारी है, और उर्वशी जिनमें मुख्य है, ऐसी विलासिनी स्त्रियाँ हैं;

(9.324) जहाँ शय्या पर सोइए तो मदन सेवा करता है; जहाँ चन्द्र आँगन सींचता है और पवन जैसे दौड़नेवाले आज्ञाकारी नौकर उपस्थित रहते हैं;

(9.325) स्वयं बृहस्पति जिनमें मुख्य हैं ऐसे स्वस्तिश्री इत्यादि वचनों से आशीर्वाद देनेवाले जहाँ ब्राह्मण हैं; तथा जहाँ बहुतेरे स्तुतिपाठक देवता रहते हैं;

(9.326) जहाँ लोकपालों की मालिका में बैठनेवाले सरदार हैं तथा उच्चैःश्रवा नामक इन्द्र का घोड़ा भी जहाँ के कोतवालों के घोड़ों के सामन अल्प है।

(9.327) अब अधिक वर्णन रहने दो। जब तक पुण्य का लेश रहता है तब तक इन्द्र-सुख के समान ऐसे बहुतेरे भोग वे भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ 9.21 ॥

(9.328) परन्तु ज्योंही पुण्य की सीढ़ी चढ़ चुकते है त्योंही इन्द्रत्व का तेज उतरने लगता है और वे पलट कर मृत्युलोक में आने लगते हैं।

(9.329) जैसे वेश्या का भोग लेते लेते जब सब द्रव्य ख़र्च हो जाता है तो फिर उसकी देहली नहीं खूँदी जाती वैसे ही, क्या वर्णन करूँ, उन दीक्षितों को भी लज्जास्पद स्थिति हो जाती है;

(9.33) एवं मुझ सर्वदा रहनेवाले को भूलकर जो पुण्य के द्वारा स्वर्ग की इच्छा करते है उनका अमरत्व वृथा हो जाता है और अन्त में उन्हें मृत्युलोक ही प्राप्त होता है।

(9.331) फिर वे माता की उदररूपी गुहा में विष्ठा की ऊभ में पककर तथा नौ मास तक उबल कर जनम जनम कर मरते हैं।

(9.332) अजी, स्वप्न में द्रव्य हाथ आता है परन्तु जागृत होते ही सब लुप्त हो जाता है, वैसे ही इन यज्ञ-कर्ताओं का स्वर्गसुख समझना चाहिए।

(9.333) हे अर्जुन! वेदयज्ञ भी हो तथापि मुझे न जानने से ऐसे वृथा जाता है जैसे कोई धान्य को छोड़ भुस ही उड़ाता रहो

(9.334) यों एक मेरे बिना ये वेदोक्त धर्म निष्फल हैं। इसलिए तुम और चाहे कुछ भी न जानो पर मुझे जान लो। इसी से तुम सुखी होगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ 9.22 ॥

(9.335) जो सम्पूर्ण मनोभावों से मुझे चित्त अर्पण करते हैं, जैसे गर्भ का गोला कोई भी व्यापार नहीं जानता

(9.336) वैसे ही जिन्हें मेरे बिना और कुछ भला नहीं दिखाई देता, और जिन्होंने अपने जीवन को मद्रूप ही कर लिया है,

(9.337) ऐसे जो एकनिष्ठ चित्त से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भक्ति करते हैं, उनकी मैं भी सेवा करता हूँ।

(9.338) वे जिस समय एकाग्र चित्त से मेरे भजन में लगते हैं उसी समय मुझे भी उनकी चिन्ता उत्पन्न होती है।

(9.339) उनका जो जो कार्य हो वह सब मुझे ही करना पड़ता है। जैसे पक्षिनी पंख न फूटे हुए बच्चों के जीवन के लिए ही अपना जीवन रखती है,

(9.340) अपनी भूख-प्यास नहीं जानती और उस चिरौंटे की हित ही उस माता का कार्य रहता है, वैसे ही जो प्राणों-सहित मेरा अनुसरण करते हैं उनका सब कुछ कार्य मैं ही करता हूँ।

(9.341) उन्हें मेरे सायुज्य की इच्छा हो तो मैं उनका वही हेतु पूर्ण करता हूँ, अथवा सेवा की इच्छा हो तो प्रेम सम्मुख रख देता हूँ।

(9.342) इस प्रकार वे मन में जो जो भाव रखते हैं वह मैं बारम्बार पूर्ण करता हूँ और उन्हें दी हुई वस्तु की रक्षा भी मैं ही करता हूँ।

(9.343) हे पाण्डव! जिनके सब भावों का मैं आश्रय हूँ उनका इस प्रकार सब योगक्षेम मुझी को करना पड़ता है।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ 9.23॥

(9.344) उपर्युक्त के सिवाय और भी कई सम्प्रदाय हैं। परन्तु वे मुझे समष्टिरूप से नहीं जानते क्योंकि वे अग्नि, इन्द्र, सूर्य और सोमों के प्रीत्यर्थ यजन करते हैं।

(9.345) यह भी वास्तव में मेरा ही यजन है क्योंकि यह जो सम्पूर्ण विश्व हो सो मैं ही हूँ। परन्तु वह मेरे भजन का सरल मार्ग नहीं, आड़ा-टेढ़ा मार्ग है।

(9.346) देखो, वृक्ष के शाखा-पल्लव क्या एक ही बीज के नहीं होते? परन्तु पानी लेना जड़ का काम है, सो वह जड़ ही में दिया जाता हैं।

(9.347) अथवा ये जो दसों इन्द्रियाँ हैं सो यद्यपि एक ही देह की हैं और इनके सेवन किये हुए विषय एक ही जगह पहुँचते हैं

(9.248) तथापि उत्तम रसोई बना कर कान में कैसे भरी जा सकती है, फूल लाकर आँखों से कैसे सूँधे जा सकते हैं?

(9.349) रस का सेवन मुख से ही करना चाहिए, सुगन्ध नाक से ही सूँघनी चाहिए, वैसे ही मेरा यजन मेरे प्रीत्यर्थ ही करना चाहिए।

(9.350) मुझे न जानकर जो भजन करता है सो वृथा बहकना है। इसलिए कर्म के नेत्र-रूप जो ज्ञान है वह निर्दोष होना चाहिए।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ 9.24 ॥

(9.351) और भी हे पाण्डुसुत! देखो, इन सम्पूर्ण यज्ञों के उपचारों का भोक्ता मेरे अतिरिक्त कौन है?

(9.352) मैं सब यज्ञों का आदिकारण हूँ और मैं ही इस यजन का परिणाम हूँ। परन्तु वे दुर्बुद्धि जन मुझे भूल कर अनेक देवों का भजन करते हैं।

(9.353) गंगा का जल देव-पितरों के प्रीत्यर्थ जैसे गंगा में ही छोड़ा जाता है वैसे ही वे मेरा मुझको ही देते हैं परन्तु भिन्न भिन्न भावों से देते हैं।

(9.354) इसलिए हे पार्थ? वे सर्वथा मुझे नहीं पाते और मन मे जो आस्था रखते हैं वहीं पहुँचते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ 9.25 ॥

(9.355) जो मन, वाचा और इन्द्रियों से देवों के ही निमित्त भजन करते हैं वे शरीर छोड़ने के साथ ही देवरूप हो जाते हैं।

(9.356) अथवा जिनके चित्त पितरों के व्रत धारण करते हैं उन्हें जीवन समाप्त होते ही पितृत्व प्राप्त होता है।

(9.357) अथवा क्षुद्र देवता इत्यादि भूत ही जिनके परम-दैवत हैं, जो जारण-मारण कर्मों से उनकी भक्ति करते हैं,

(9.358) उन्हें देहरूपी जवनिका हटते ही भूतत्व की प्राप्ति होती है एवं उनके संकल्पानुसार ही उनके कर्म उन्हें फल देते हैं!

(9.359) परन्तु जो नेत्रों से मुझे ही देखते हैं, कानों से मुझे ही सुनते हैं, मन से मेरा ही चिन्तन करते हैं, वाचा से मेरा ही वर्णन करते हैं,

(9.360) जो सर्वांग से सर्वत्र मुझे ही नमस्कार करते हैं, दान-पुण्य इत्यादि जो कुछ करते हैं, वह मेरे ही उद्देश्य से,

(9.361) जो मेरा ही अध्ययन करते हैं, जो अन्तर्बाह्य मुझसे ही तृप्त हुए हैं, जिनका जीवन मेरे ही हेतु है,

(9.362) जो ऐसा अभिमान रखते हैं कि हम हरि के गुणानुवाद वर्णन करने लिए जन्मे हैं, जो एक मेरे ही लोभ के कारण जगत् में लोभी बने हैं,

(9.363) जो मेरी ही इच्छा से सकाम हैं, मेरे प्रेम से सप्रेम हैं, और मेरे ही भ्रम से सभ्रम हो जगत् की ओर नहीं देखते,

(9.364) जो शास्त्रों से मेरे ही ज्ञान का उपार्जन करते हैं, जो मन्त्रों से मेरी ही प्राप्ति करते हैं, इस प्रकार जो सम्पूर्ण क्रियाओं से मेरा भजन करते हैं

(9.365) वे वास्तव में मृत्यु के इस पार मुझमें मिल जाते हैं, तो फिर मृत्यु होने पर और दूसरा ओर कैसे जावेंगे?

(9.366) अतएव जो मेरा यजन करनेहारे हैं, जिन्होंने सेवा के मिस से निज को मुझे ही समर्पित कर दिया है, उनकी मुझसे ही एकता हो जाती है।

(9.367) हे अर्जुन! आत्मसमर्पण किये बिना मेरे लिए प्रेम नहीं उत्पन्न होता। मैं किसी उपचार से वश नहीं होता।

(9.368) इस विषय में जो निज को ज्ञानी समझता है वही अज्ञानी है, जो बड़प्पन बघारता है वह उसकी न्यूनता है, और जो निज को कृतार्थ हुआ कहता है उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ रहता।

(9.369) अथवा हे किरीटी! यज्ञ, दान इत्यादि अथवा तप की जो प्रतिष्ठा है वह आत्मसमर्पण के सामने एक तृण की भी बराबरी नहीं रखती।

(9.370) देखो, ज्ञानबल में क्या कोई वेदों से श्रेष्ठ है? अथवा क्या कोई शेष से भी बड़ा वक्ता है?

(9.371) परन्तु वह भी मेरी शय्या के नीचे दब रहता है। और, वेद तो नेति नेति कह कर हट जाते हैं। इस विषय में सनकादिक भी पागल बन गये हैं।

(9.372) तपस्वियों का विचार कीजिए तो शंकर के तुल्य कौन है परन्तु वे भी अभिमान छोड़ कर मेरा चरणतीर्थ माथे पर धरते है।

(9.373) अथवा सम्पन्नता में लक्ष्मी के समान कौन है जिसके घर में श्री जैसी दासियाँ हैं?

(9.374) वे खेल में जो घरौंदे हैं उन्हें अमरपुर कहा जा सकता है तथा क्या सचमुच में इन्द्र इत्यादि देवता उनकी गुड़ियाँ नहीं है?

(9.375) जब वे अप्रसन्न हो उन घरौंदों को तोड़ डालती हैं तब महेन्द्र के रंक रहो जाते हैं. वे जिस वृक्ष की ओर देखने लगती हैं वही कल्पवृक्ष बन जाता है।

(9.376) जिनके घर की दासियों की ऐसी सामर्थ्य है उस मुख्य नायिका लक्ष्मी की भी यहाँ कुछ प्रतिष्ठा नहीं।

(9.377) हे पाण्डव! वह तो सब भावों से सेवा करके अभिमान को छोड़, पाँव पखारने की अधिकारिणी हुई है।

(9.378) इस लिए प्रतिष्ठा दूर छोड़ देनी चाहिए और विद्वत्ता सम्पूर्ण भूल जानी चाहिए। जगत् में जब अल्पत्व प्राप्त हो तभी मेरे सान्निध्य का लाभ होता है।

(9.379) अजी सूर्य की दृष्टि के सम्मुख चन्द्र का भी लोप हो जाता है, तो फिर खद्योत भला अपने प्रकाश से क्या प्रतिष्ठा पा सकता है?

(9.380) वैसे ही जहाँ लक्ष्मी की भी प्रतिष्ठा नहीं चलती, जहाँ शंकर का तप भी पूरा नहीं पड़ता, वहाँ अन्य प्राकृत अज्ञानी जन मुझे कैसे जान सकते हैं?

(9.381) इसलिए शरीर का अभिमान छोड़ना चाहिए। मुझ पर से सब गुणों का रोई-नोन उतार कर सम्पत्ति के अभिमान की भी निछावर कर देनी चाहिए।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 9.26 ॥

(9.382) चाहे कोई भी और कैसा भी फल हो परन्तु अत्यन्त प्रेम के उल्लास से मुझे अर्पण करने के निमित्त

(9.383) भक्त मेरे सम्मुख लाता है तो मैं दोनों हाथ पसारता हूँ और डण्ठल भी न तोड़ते प्रेम से उसका सेवन करता हूँ।

(9.384) अजी, भक्ति से यदि मुझे एक फूल भी दिया जाय तो वह वास्तव में मुझे सूँघना चाहिए, परन्तु मैं मुँह में ही डाल लेता हूँ।

(9.385) और रहने दो; फूल की तो बात ही क्या है, प्रेम का एक पत्ता भी हो तो वह ताज़ा भी न हो अथवा कितनी भी सूखा हुआ हो

(9.386) परन्तु यदि मैं उसे सब भावों से भरा हुआ देख लूँ तो जैसे भूखा व्यक्ति अमृत से तृप्त होता है वैसे वह पत्ता भी मैं उतने ही सन्तोष से खाने लगता हूँ।

(9.387) ऐसा भी हो सकता है कि किसी को पत्ते भी न मिले परन्तु पानी की तो कहीं कमी नहीं होती।

(9.388) जल चाहे जहाँ मुफ्त ही, बिना ही मेहनत किये, प्राप्त है। वही जो किसी ने मनोभाव से मुझे चढ़ा दिया

(9.389) तो मैं समझता हूँ कि उसने मेरे लिए वैकुण्ठ से भी ऊँचे मन्दिर और कौस्तुभ से भी निर्मल अलंकार समर्पित कर दिये,

(9.390) अथवा मेरे लिए क्षीरसमुद्र जैसे मनोहर और अपार दूध के शय्यास्थान निर्मित कर दिये,

(9.391) अथवा कर्पूर, चन्दन, अगर इत्यादि पदार्थों जैसा सुगन्ध का महामेरु लगा कर दीपमाला के बदले मानों सूर्य से ही मेरी आरती की;

(9.392) अथवा मुझे गरुड़ जैसे वाहन, कल्पतरु जैसे बागीचे, और कामधेनु जैसी गायें चढ़ा दीं;

(9.393) अथवा मुझे ऐसे बहुतेरे पक्वान्न परोस दिये जो अमृत से भी सुरस हों। इस प्रकार मैं भक्तों की दी हुई पानी की बूँद से सन्तुष्ट होता हूँ।

(9.394) यह क्या वर्णन करूँ, हे किरीटी! तुमने अपनी आँखों से देखा है कि मैंने तन्दुलों के लिए सुदामा के वस्त्र की गाँठें खोली हैं,

(9.395) एवं मैं एक भक्ति ही जानता हूँ। उसमें मैं छोटा-बड़ा नहीं देखता। कोई भी हो, हम केवल भाव के पाहुने हैं।

(9.396) और पत्र-पुष्प-फल ये बातें केवल भजन के बहाने हैं। अन्यथा हमें निष्कलंक भक्तिरूपी तत्व ही चाहिए।

(9.397) इसलिए हे अर्जुन! सुनो, तुम एक बुद्धि को ही अपने अधीन कर लो और अपने मनोमन्दिर में कभी मेरी विस्मृति न होने दो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 9.27 ॥

(9.398) जो जो व्यापार करो, अथवा जो भोग भोगो, अथवा जिन नानाविध यज्ञों का यजन करो,

(9.399) अथवा जब कभी किसी सत्पात्र को दान दो, अथवा सेवकों को वेतन दो, या तप इत्यादि साधन और व्रत करो तो

(9.400) वह सब कर्म जैसे जैसे स्वभावतः उत्पन्न होता जाय वैसे वैसे भक्तिसहित मेरे प्रीत्यर्थ करते जाओ।

(9.401) परन्तु अपने अन्तःकरण में उन कर्मों की स्मृति भी न रहने दो। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्म मुझे समर्पित करो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.28 ॥

(9.402)फिर जैसे अग्निकुण्ड में डाले हुए बीज अंकुरदशा से वंचित हो जाते हैं, वैसे ही मुझे अर्पण किये हुए शुभाशुभ कर्म निष्फल हो जावेंगे।

(9.403) अजी, कर्म बच रहें तो ही उनके सुखदुःखरूपी फल आते हैं और उन्हें भोगने के लिए शरीर में जन्म लेना पड़ता है।

(9.404) परन्तु वे कर्म जब मुझे समर्पित कर दिये गये तो समझ लो कि जन्म-मरण तत्काल मिट गये और जन्म के संग अगले कष्ट भी नहीं रहो

(9.405) अतएव हे अर्जुन! इस प्रकार हमने तुम्हें सुलभ संन्यास की ऐसी युक्ति बतलाई है कि जिससे शीघ्र ही आत्मानुभव हो जाता है।

(9.406) इस युक्ति की बदौलत तुम इस देह के बन्धन में न पड़कर, सुख-दुःख के समुद्र में न डूब कर, मुझ सुखरूप में अनायास ही मिल जाओगे।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ 9.29॥

(9.407) वह मैं कैसा हूँ — पूछो तो मैं सर्वदा सब भूतों में समान हूँ और मुझमें अपना-पराया भाव नहीं है।

(9.408) जो मुझे ऐसा जानकर, अहंकार का घर मिटाकर, कर्म करके अन्तःकरण से मेरा भजन करते हैं

(9.409) वे शरीर से व्यापार करते हुए दिखाई तो देते हैं परन्तु शरीर में नहीं रहते किन्तु मुझमें रहते हैं और मैं सम्पूर्ण उनके हृदयों में रहता हूँ।

(9.410) जैसे बड़ का वृक्ष विस्तार-समेत अपने बीज में रहता है और बीजकण जैसे बड़ में रहता है,

(9.411) वैसे ही हम में और उनमें परस्पर बाह्य नामों का ही अन्तर है, अन्यथा अन्तःस्थ वस्तु के विचार से वे मद्रूप ही हैं।

(9.412) और पराये माँग कर लाये हुए अलंकारों की जैसे शरीर पर केवल दिखावट ही होती है वैसे ही वे उदासीनता से देह धरते हैं।

(9.413) वायु के साथ ही सुगन्ध निकल जाने पर फूल जैसे डण्ठल में ही निर्गन्ध पड़ जाता है वैसे ही उनका देह केवल आयुष्य की मुट्ठी में रहता है,

(9.414) और जो सब अहंकार है वह मेरी भक्ति को प्राप्त होने से मुझ में ही आ मिलता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ 9.30 ॥

(9.415) भजन के ऐसे प्रेम-भाव के कारण जो फिर से शरीर नहीं पाते वे किसी भी जाति के रह सकते हैं।

(9.416) और हे सुभट! देखने में किसी का आचरण वस्तुतः परले सिरे का खराब हो, परन्तु यदि उसने अपना जीवन भक्ति के मार्ग में समर्पित कर दिया हो —

(9.417) अजी, मृत्यु के समय की मति के अनुसार अगली गति होती है इसलिए जिसने अपना जीवन निदान में भक्ति के अर्पण कर दिया हो —

(9.418) तो वह यद्यपि प्रथम दुराचारी भी हो तथापि उसे सर्वोत्तम ही जानो। जैसे जो बड़ी बाढ़ में डूबे और बिना मरे निकल आवे।

(9.419) तो वह जीता हुआ किनारे पर पहुँच गया इसलिए उसका डूबना वृथा हो जाता है वैसे ही अन्त में भक्ति करने से पूर्वकृत पाप भी मिट जाते हैं।

(9.420) क्योंकि यद्यपि दुष्कृति भी हो तथापि वह पश्चात्ताप-रूपी तीर्थ में नहाता है और नहाकर सर्व भावों से मुझ में प्रवेश करता है,

(9.421) इससे उसका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी कुलीनता निर्मल हो जाती है और जन्म का फल उसी को प्राप्त होता है।

(9.422) वह मानों सब कुछ पढ़ चुका, सब तप तप चुकता और अष्टांग योग का अभ्यास कर चुका।

(9.423) बहुत क्या हे पार्थ! वह सर्वथा सब कर्मों के पार उतर चुका। जिसकी आस्था निरन्तर मेरे लिए ही होती है,

(9.424) जिसने सम्पूर्ण मन और बुद्धि के व्यापार से एक-निष्ठारूपी पिटारा भर कर हे किरीटी! मुझ में ही रख दिया है —

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ 9.31 ॥

(9.425) वह फिर कुछ काल के अनन्तर मेरे समान होता है ऐसा न समझो। अजी, जो अमृत में रहे उसके पास मृत्यु कैसे आ सकती है?

(9.426) जिस समय में सूर्योदय नहीं होता उसी समय को रात्रि कहते हैं; वैसे ही जो मेरी भक्ति के बिना किया जाय वही क्या महापाप नहीं है?

(9.427) अतएव हे पाण्डुपुत्र! ज्योंही उसके चित्त को मेरा सान्निध्य होता है त्योंही वह तत्त्वतः मत्स्वरूप हो जाता है।

(9.428) दीपक से दीपक लगाया जाय तो पहला दीपक कौन-सा है यह जैसे जान नहीं पड़ता, वैसे ही जो सर्व भावों से मुझे भजता है वह मद्रूप ही हो रहता है।

(9.429) फिर जो मेरी नित्यशान्ति है वही उसकी दशा हो जाती है, और जो मेरी कान्ति है वही उसकी हो जाती है। किंबहुना वह मेरे ही जी से जीवन धारण करता है।

(9.430) हे पार्थ! इस विषय में बारम्बार वही बात कहाँ तक कहूँ? यदि मेरी प्राप्ति की इच्छा हो तो भक्ति को मत भूलो।

(9.431) अजी, कुल की शुद्धता के पीछे न लगो, कुलीनता की प्रशंसा मत करो, विद्वत्ता की वृथा अभिलाषा मत करो,

(9.432) अथवा रूप और तारुण्य से मत्त न हो, या सम्पत्ति का गर्व मत करो। एक मेरा भाव न हो तो ये सब बातें व्यर्थ हैं।

(9.433) बिना दानों के, छूछे भुट्टे घने लगे हों, अथवा सुन्दर नगर वीरान पड़ा हो, तो किस काम का?

(9.434) अथवा जैसे सरोवर सूख गया हो, जंगल में दुःखी की दुःखी से ही भेंट हो, अथवा वृक्ष जैसे वन्ध्या फूलों से फूला हो,

(9.435) वैसे ही सब सम्पत्ति अथवा कुल और जाति की श्रेष्ठता है। जैसे अवयव-सहित शरीर हो परन्तु जीव न हो,

(9.436) वैसे ही नाश हो उस जीवन का जिसमें कि मेरी भक्ति नहीं है। अजी, पृथ्वी पर क्या पाषाण नहीं रहते?

(9.437) अजान के पेड़ की सघन छाया को निषिद्ध मान सज्जन जैसे उसका त्याग कर देते हैं, वैसे ही पुण्य भी अभक्त का त्याग कर चले जाते हैं।

(9.438) निमकौड़ियों की बहार से नीम यदि झुक जाय तो उसका कौवों को ही सुकाल होता है वैसे ही भक्तिहीन मनुष्य पापों के लिए ही बढ़ता है।

(9.439) अथवा खपरे में छः रस परोस कर चौराहे में रक्खे जायँ तो जैसे कुत्तों के ही उपयोगी होते हैं

(9.440) वैसे ही भक्तिहीनों का जीवन है जो स्वप्न में भी सुकृत नहीं जानते, जिससे वे मानों संसार के दुःखों के लिए थाली परोस रखते हैं।

(9.441) अतएव उत्तम कुल होने की आवश्यकता नहीं। जाति शूद्र की भी हो और शरीर चाहे पशु का भी प्राप्त हो, तथापि कुछ हानि नहीं है।

(9.442) देखो, मगर के पकड़े हुए हाथी ने अकुला कर ऐसे प्रेम से मेरा स्मरण किया कि वह मेरे सन्निद्ध पहुँच गया और उसका पशुत्व भी दूर हो गया.

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ 9.32॥

(9.443) अजी, जिनका नाम लेना भी अनुचित है, जो सब अधमों में अधम हैं, उन पाप-योनियों में भी जिनका जन्म हुआ हो,

(9.444) जो पापोत्पन्न मूढ चाहे पत्थर जैसे मूर्ख हो, परन्तु मुझमें सर्वभावों से दृढ हो,

(9.445) जिनकी वाचा से मेरे गुणानुवाद निकलते हो, जिनकी दृष्टि मेरा ही रूप भोगती हो, जिनका मन मेरा ही संकल्प धारण करता हो,

(9.446) जिनके श्रवण मेरी कीर्ति से रीते न रहते हों, मेरी सेवा ही जिनके सर्वांगों का अलंकार है,

(9.447) जिनका ज्ञान विषयों को नहीं जानता, जिनका ज्ञातृत्व मुझ एक को ही जानता हो, जो इस प्रकार का लाभ हो तो ही जीवन समझते हैं, अन्यथा मरण;

(9.448) हो पाण्डव! जो सब प्रकार से अपने सब भाव सजीव रखने के हेतु मुझको ही जीवन समझते हो,

(9.449) वे चाहे पापयोनि भी हो, चाहे वेद पढ़े हुए न हो, परन्तु मुझसे तुलना करते हुए उनकी योग्यता में कुछ न्यूनता नहीं रहती। ।

(9.450) देखो, भक्ति की सम्पन्नता से दैत्यों ने देवों को हीनता में डाल दिया है। जिसकी महिमा के लिए मैंने नृसिंहरूप धारण किया

(9.451) उस प्रह्लाद की मुझसे तुलना की जाय, तो वही श्रेष्ठ दिखाई देता है क्योंकि जो वस्तुएँ मैं उसे देना चाहूँ वे सब उसे उपलब्ध थी।

(9.452) यों तो दैत्य का कुल था, परन्तु उसकी श्रेष्ठता की बराबरी इन्द्र भी नहीं कर सकता। अतएव इस विषय में अकेली भक्ति ही शोभा देती है और जाति अप्रमाण है।

(9.453) राजाज्ञा के अक्षरों का सिक्का जिस एक चमड़े पर पड़ता है उस चमड़े से सब वस्तुएँ मिल सकती हैं;

(9.454) एवं सोना-चाँदी प्रमाण नहीं है परन्तु राजाज्ञा ही समर्थ है। वही एक चमड़ा प्राप्त हो जाने से सम्पूर्ण सोना-चाँदी मोल मिल सकता है।

(9.455) वैसे ही उत्तमता तभी मिलती है, सर्वज्ञता तभी शोभती है जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से भर जाती हैं।

(9.456) अतएव कुल, जाति और वर्ण सब वृथा हैं। हे अर्जुन!संसार में मेरी भक्ति से ही कृतार्थता होती है।

(9.457) चाहे जिस भाव से हो, परन्तु मन का प्रवेश मुझमें होना चाहिए; और यदि यह बात हो जाय तो पिछले कर्म सब वृथा हो जाते हैं।

(9.458) जैसे छोटे छोटे नाले तभी तक नाले कहाते हैं जब तक गंगा के जल तक नहीं पहुँचते; वहाँ पहुँचते ही वे केवल गंगारूप हो जाते हैं।

(9.459) अथवा खैर-चन्दन इत्यादि काष्ठों का भेद तभी तक होता है जब तक वे इकट्ठे करके अग्नि में नहीं डाले जाते;

(9.460) वैसे ही क्षत्रिय-वैश्य-स्त्री अथवा शूद्र अन्त्यज इत्यादि जातियाँ तभी से भिन्न हैं जब तक मुझे नहीं प्राप्त होती।

(9.461) पर जब वे प्रेम से मुझमें मिल जाती हैं तब जाति और व्यक्ति का कुछ भी निशान नहीं बच रहता मानों लवण के कण समुद्र में मिला दिये गये हों।

(9.462) नद-नदियों के नाम तभी तक हैं, उनका पूर्व और पश्चिम के मार्ग से बहना तभी तक है, जब तक वे सब समुद्र में नहीं मिल जाती।

(9.463) वैसे ही किसी भी मिस से चित्त यदि मुझमें प्रवेश कर ले, तो उतने से ही वह अपने आप मद्रूप हो जाता है।

(9.464) अजी पारस फोड़ने से लिए भी, यदि लोहे का पारस से स्पर्श कराया जाय, तो स्पर्श करते ही वह सोना हो जावेगा।

(9.465) देखो, पति के मिस से वृजपत्नियों के अन्तःकरण मुझ से मिलते ही क्या मत्स्वरूप नहीं हो गये?

(9.466) अथवा भय के बहाने क्या कंस ने, अथवा निरन्तर वैर के मिस से क्या शिशुपाल इत्यादिकों ने मुझे प्राप्त नहीं कर लिया?

(9.467) अजी हे पाण्डव! सगोत्र होने के कारण ही यादवों को, और ममता के कारण वसुदेव इत्यादिकों को मेरा सायुज्य प्राप्त हुआ है।

(9.468) नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक औ सनत्कुमारों को जैसे में भक्ति से प्राप्त हूँ

(9.469) वैसे ही गोपिकाओं को विषय-बुद्धि में, कंस को भय से, और शिशुपाल इत्यादि घातकों को उनके अलग-अलग मनोधर्मों से प्राप्त हूँ।

(9.470) अजी, मैं एक निदान का स्थान हूँ। मेरी प्राप्ति चाहे जिस मार्ग से हो सकती हैं; भक्ति से, अथवा विषयों की विरक्तता से अथवा वैर से।

(9.471) अतएव हे पार्थ! मुझमें प्रवेश करने के लिए संसार में साधनों की न्यूनता नहीं है।

(9.472) और चाहे जिस जाति में जन्म हो, और भक्ति हो अथवा विरोध हो, परन्तु भक्त अथवा वैरी मेरा ही हो।

(9.473) अजी, किसी भी प्रकार से यदि मेरी भक्ति हो तो वास्तव में मद्रूपता का ही लाभ होता है।

(9.474) इसलिए हे अर्जुन! पापयोनि अथवा वैश्य, शूद्र या स्त्री मेरा भजन करने से सब मेरे ही घर पहुँचते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ 9.33 ॥

(9.475) तो फिर सब वर्णों में जो श्रेष्ठ हैं, स्वर्ग जिनकी जागीर है, मन्त्र-विद्या के भवनरूप जो ब्राह्मण हैं,

(9.476) जो पृथ्वीतल के देव हैं, जो तप के मूर्तिमान अवतार हैं, जो सब तीर्थों के भाग्यरूप उदय हुए हैं,

(9.477) जिनके पास निरन्तर यज्ञ की बस्ती है, जो वेदों के कवच हैं, जिनकी दृष्टि की गोद में मंगल की वृद्धि होती है,

(9.478) जिनकी आस्था की आर्द्रता से सत्कर्म का विस्तार होता है, और जिनके संकल्प से सत्य जीवन धारण करता है,

(9.479) जिनके आशीर्वचन से अग्नि को आयुष्य प्राप्त होता है, अतएव जिन्हें समुद्र ने भी अपना जल समर्पित किया है, जिनकी प्रीति के लिए

(9.480) मैंने लक्ष्मी को हटा कर दूर कर दिया, और जिनकी चरणरज धारण करने के लिए मैंने कौस्तुभ निकालकर हाथ में लिया, छाती का गड्ढा खुला रक्खा है,

(9.481) और हे सुभद्र! मैं अपनी शान्ति की रक्षा करने के लिए जिनकी लात का चिह्न अभी तक हृदय पर धारण किये रहता हूँ,

(9.482) हे सुभट! जिनका क्रोध, काल, अग्नि और रुद्र का वसतिस्थान है, और जिनके प्रसाद से सिद्धियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं,

(9.483) ऐसे पवित्र और पूज्य जो ब्राह्मण हैं और मेरे विषय में अतिज्ञानी हैं वे मुझे प्राप्त कर लेंगे, इसमें कहना ही क्या है?

(9.484) देखो, चन्दन के शरीर को स्पर्श की हुई वायु से आसपास के जो नीम के पेड़ सुगन्धित हो जाते हैं, देवों के मस्तकों के लिए उनके मुकुट बनाये जाते हैं,

(9.485) तो फिर ऐसा कैसे हो सकता है कि स्वयं चन्दन ही वह योग्यता न रखता हो अथवा इस बात की सत्यता के लिए क्या कुछ समर्थन करने की आवश्यकता है?

(9.486) वैसे ही यदि शीतलता की इच्छा से शंकर आधे ही चन्द्रमा को निरन्तर शिर पर धरते हैं,

(9.487) तो फिर जो चन्द्र से भी बढ़कर है ऐसा चन्दन स्वभावतः सर्वांग में क्यों न लगाया जावे?

(9.488) अथवा जिसका अनुगमन करने से रास्ते पर बहता हुआ पानी भी अनायास समुद्र बन जाता है, उस गंगा को, समुद्र के अतिरिक्त, क्या कोई अलग गति होती है?

(9.489) अतएव राजर्षि हो अथवा ब्राह्मण, जो पुरुष मुझी को गति मति और शरण देनेहारा जानते हैं उनके लिए निश्चय से मुक्ति मैं ही हूँ और भुक्ति भी मैं ही हूँ।

(9.490) अतएव जिसमें सैकड़ों छेद हैं ऐसी नाव में बैठकर बेफ्रिक क्यों रहना चाहिए? शस्त्रों की वर्षा हो रही हो तो शरीर खुला क्यों रहना चाहिए?

(9.491) शरीर पर पत्थर गिर रहे हों तो ढाल क्यों न आगे करनी चाहिए? रोग से व्याप्त होने पर औषधि से उदासीन क्यों रहना चाहिए?

(9.492) जहाँ चहुँओर दावाग्नि जल रही है वहाँ से क्यों न निकल भागना चाहिए उसी प्रकार सुख-दुःखयुक्त मृत्युलोक में आकर मेरा भजन क्यों न करना चाहिए?

(9.493) अजी, मुझे न भजने को तुम्हारे पास बल ही क्या है? क्या घर में भोगों की निश्चिन्तता हो गई है,

(9.494) अथवा इन प्राणियों को विद्या, तारुण्य अथवा सुख का भरोसा है?

(9.495) उपभोग की जितनी वस्तुएँ हैं वे केवल शरीर के चंगेपन पर निर्भर हैं; और शरीर तो काल के मुख में पड़ा है।

(9.496) जिसमें बहुतेरा दुःखरूपी माल छूटा हुआ पड़ा है और मृत्युरूपी माल के बोझे के बोझे आ रहे हैं ऐसी मृत्युलोकरूपी हाट में तो व अन्त में चलते चलते पहुँचे हैं।

(9.497) तो फिर हे पाण्डुसुत! यहाँ जीवन को सुख देनेहारा सौदा कैसे मिलेगा? क्या राख फूँकने से दिया बल सकता है?

(9.498) अजी विषरूपी कन्द पीस कर जो रस निचोड़ा जाय उस अमृत कहकर सेवन करने से अमरत्व प्राप्त करना जैसा सुख-दायक होगा

(9.499) वैसा ही विषय का सुख है। वह केवल परम दुःख है। परन्तु क्या किया जाय? मूर्ख लोग इसका सेवन किये बिना नहीं रहते।

(9.500) मृत्युलोक का सब सुख ऐसा है जैसे कि अपना ही सिर काट कर अपने पाँव के घाव पर बाँधना।

(9.501) अतएव मृत्युलोक की सुख की कथा कौन श्रवणों से सुन सकता है? अंगारों की शय्या पर कौन सुख से सो सकता है?

(9.502) जिस लोक का चन्द्र क्षयरोगी है, जहाँ अस्त होने के लिए ही सूर्य उदय होता है, दुःख जहाँ सुख का स्वरूप लेकर जगत् का छल करता है,

(9.503) जहाँ मंगल के अंकुरों के संग ही अमंगल का आच्छादन आ गिरता है, और मृत्यु जहाँ उदररूपी घर में रक्खे हुए गर्भ को भी खोजने पहुँच जाती है,

(9.504) जो वास्तव में नहीं है उसकी चिन्ता कराती है और साथ ही उसे यमदूतों के द्वारा उठवा ले जाती है, और कहाँ ले गई सो भी जान नहीं पड़ता;

(9.505) अजी, जहाँ सम्पूर्ण मार्गों की जाँच कर देखो तो भी मृत्यु से लौटा हुआ कोई मनुष्य दिखाई नहीं देता, सब मृतों की ही कथाएँ जहाँ के पुराण हैं,

(9.506) जहाँ की अनित्यता की महिमा का वर्णन यदि ब्रह्म के आयुष्य तक किया जाय तो भी पूर्ण न होगा.

(9.507) ऐसा जहाँ का रहन-सहन है, उस लोक में जिन्होंने जन्म लिया है उनकी निश्चिंतता देखकर आश्चर्य मालूम होता है!

(9.508) इहलोक और परलोक की प्राप्ति के लिए उनकी गाँठ से कौड़ी नहीं निकलती, परन्तु जहाँ सर्वथा हानि है वहाँ वे कोटयवधि द्रव्य खर्च करते हैं।

(9.509) जो बहुतेरे विषयविलासों में फँसा हुआ है उसे वे सुखी समझते हैं तथा जो लोभ के बोझे से दबा जाता है उसे ज्ञानी कहते हैं।

(9.510) जिसकी आयु कम होती है, बल और बुद्धि घट जाती है, उसे बड़ा समझ कर उसके चरणों से लगते हैं।

(9.511) परन्तु भीतर से आयुष्य कम हो रहा है इसका कुछ दुःख ही नहीं करते।

(9.512) प्रत्येक जन्मदिन को पुरुष काल के ही अधीन होता जाता है, परन्तु वे आनन्द से उसकी वर्षगाँठ मनाते और ध्वजा-पताका उड़ाते हैं।

(9.513) अजी वे 'मर' शब्द भी नहीं सहते, और मरने पर रोते हैं, परन्तु मूर्खता से जो हाथ की आयुष्य जा रही है उसकी परवाह ही नहीं करते।

(9.514) मेंढक को लीलने के लिए साँप उद्यत खड़ा है तथापि मेंढक जैसे जीभ से मक्खियाँ पकड़ कर खाता रहता है वैसे ही मनुष्य अत्यन्त लोभ से तृष्णा को बढ़ाते हैं।

(9.515) हाय हाय, यह कैसी निकृष्ट स्थिति है! इस मृत्युलोक में सब कुछ उलटा है! हे अर्जुन! यद्यपि तुमने यहाँ अकस्मात् जन्म लिया है

(9.516) तथापि यहाँ से झटपट अलग हो निकलो। भक्ति के मार्ग पर चलो जिससे तुम्हें मेरा अविनाशी निजधाम प्राप्त हो जावेगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ 9.34 ॥

(9.517) तुम अपना मन मद्रूप कर दो, मेरे भजन में प्रेम रक्खो, सर्वत्र मुझ एक को ही नमस्कार करो।

(9.518) जो मेरी ही ओर ध्यान रखकर निःशेष संकल्प को जला देता है उसको मेरा निर्मल यजन करनेहारा करते हैं।

(9.519) इस प्रकार मुझसे सम्पन्न होगे तो मेरे स्वरूप को पहुँचोगे, यह अपने अन्तःकरण की बात मैं तुमसे कहे देता हूँ।

(9.520) अजी, हमने जो अपना गुह्य सब से छिपा कर रक्खा है उसे प्राप्त कर सुखरूप हो रहो।

(9.521) इस प्रकार साँवले परब्रह्म ने — भक्तों के मनोरथों के कल्पवृक्ष श्रीकृष्ण ने — कथन किया और संजय में वर्णन किया।

(9.522) यह सुनकर वृद्ध धृतराष्ट्र चुपचाप बैठा रहा, जैसे कि भैंसा नदी की बाढ़ में से न उठ कर बैठा रहता है।

(9.523) तब संजय ने माथा हिलाया और कहा कि यहाँ अमृत की वर्षा हो गई परन्तु यह धृतराष्ट्र यहाँ रहता हुआ भी मानों दूसरे गाँव को गया था।

(9.524) तथापि यह हमारा दाता है, इसलिए ऐसा कहने से वाचा दूषित होगी। क्या किया जाय, इसका स्वभाव ही ऐसा है।

(9.525) परन्तु मेरे बड़े भाग्य की कथा कहने के लिए मुनिराज श्रीव्यासदेव ने मुझे नियुक्त किया।

(9.526) इस प्रकार बड़ी कठिनाई से और दृढ निश्चय से बोलते हुए संजय को ऐसा सात्त्विक भाव उत्पन्न हुआ कि वह अपने में न समा सका।

(9.527) उसका चित्त चकित हो स्थिर हो गया, वाचा जहाँ की तहाँ स्तब्ध हो गई, पाँव से शिखा तक रोमांच हो गया,

(9.528) आधी खुली हुई आँखों से आनन्द-जल बरसने लगा और अन्तःस्थ सुख की तरंगों के कारण बाह्य-शरीर काँपने लगा।

(9.529) उसके सब रोममूलों में स्वेद के निर्मल बिन्दु भर गये जिससे वह ऐसा दिखाई देता था मानों मोतियों की जाली पहने हो।

(9.530) इस प्रकार महासुख के प्रेम से जब जीवदशा का आकुंचन होने लगा तब उसने व्यास का सौंपा हुआ कार्य करना बन्द कर दिया।

(9.531) और श्रीकृष्ण के वचन की ध्वनि जब कानों में पड़ी तब मानों उसने देहस्मृतिरूपी गरम भूमि तैयार की,

(9.532) और आँखों के आँसू पोंछने लगा, शरीर का स्वेद पोंछने लगा और धृतराष्ट्र से कहने लगा कि सुनिए —

(9.533) अब श्रीकृष्ण के वचन मानों निर्मल बीज हैं और संजय सात्त्विकभाव का तैयार किया हुआ खेत है। अतएव अब श्रोताओं को सिद्धान्तरूपी फसल का सुकाल होगा।

(9.534) अजी, ध्यान दीजिए और आनन्द की राशि पर जा बैठिए। बड़े भाग्य ने श्रवणेन्द्रियों को जयमाल डाली है;

(9.535) एवं निवृत्ति के दास ज्ञानदेव कहते हैं कि सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण अर्जुन को जो विभूतियों के स्थल बतावेंगे सो सुनिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां नवमोऽध्यायः।

दसवाँ अध्याय

(10.1) हे निर्मल बोध करने में चतुर, हे विद्यारूपी कमल के विकास करनेहारे, हे परा-प्रकृति स्त्री से विलास करनेहारे! आपको नमस्कार है।

(10.2) हे संसाररूपी अन्धकार के नाश करनेहारे सूर्य, हे अगणित श्रेष्ठ सामर्थ्यवान्, अति तूर्यावस्था के साथ विलास की लीली करनेहारे! आपको नमस्कार है।

(10.3) हे सकल जगत् के पालन करनेहारे, हे कल्याणरूपी रत्न के निधान, हे सज्जन रूपी वन के चन्दन, हे आराधन करने योग्य स्वरूप! आपको नमस्कार है।

(10.4) हे ज्ञानियों के चित्तरूपी चकोर के चन्द्र, आत्मानुभवियों के नरेन्द्र, हे वेदों के ज्ञान के समुद्र, हे मदन का गर्व हरनेहारे, आपको नमस्कार है।

(10.5) हे प्रेमियों के भजन के पात्र, हे संसाररूपी हाथी का गण्डस्थल फोड़नेहारे, हे विश्व की उत्पत्ति के स्थान श्रीगुरुराज! आपको नमस्कार है।

(10.6) आपके अनुग्रहरूपी गणेश जो आपका प्रसाद दे तो बालक का भी सब विद्याओं में प्रवेश हो सकता है।

(10.7) गुरु की उदार वाचा जो अभय वचन दे तो नवरसामृत के समुद्र की थाह लग सकती है।

(10.8) अजी, आपके प्रेमरूपी सरस्वती यदि गूँगे का स्वीकार करे तो वह भी बृहस्पति से ग्रन्थ रचने की प्रतिज्ञा कर सकता है।

(10.9) बहुत क्या, जिस पर आपकी कृपादृष्टि हो अथवा जिसके माथे पर आपका हस्तकमल रक्खा जाय वह जीव हो तो भी शंकर की समता प्राप्त कर सकता है।

(10.10) ऐसा जिस महिमा का कार्य है उसका मैं किस वाचा-बल से वर्णन करूँ? सूर्य के शरीर को क्या उबटन लग सकता है?

(10.11) कल्पवृक्ष के ऊपर फुलवारी कहाँ से हो सकती है? क्षीरसागर को काहे की पहुनई की जा सकती है? कपूर किस सुगन्ध से सुगन्धित किया जा सकता है?

(10.12) चन्दन को काहे का लेप किया जाता सकता है? अमृत को कैसे राँधा जा सकता है? आकाश के ऊपर मण्डप बनाना कैसे हो सकता है

(10.13) वैसे ही श्रीगुरु की महिमा का आकलन करने का साधन कहाँ है? यही जान कर मैं चुपचाप नमन करता हूँ।

(10.14) यदि विद्या की सम्पन्नता के कारण श्रीगुरु की सामर्थ्य का वर्णन करने जाऊँ तो वह ऐसा होगा जैसे मोतियों को अभ्रक की पुट देना।

(10.15) अथवा जैसे उत्तम सोने को चाँदी का मुलम्मा दिया जाय वैसे ही मेरी स्तुति के वचन होंगे। अतएव चुपचाप चरणों पर माथा रखना ही भला है।

(10.16) फिर श्रीज्ञानेश्वर कहते है कि हे स्वामी! आपने बड़ी कृपादृष्टि की जो मैं इस कृष्णार्जुन-संवादरूपी संगम में प्रयाग का (अक्षय) वट बन गया।

(10.17) पूर्वकाल में दूध माँगते ही उपमन्यु के सामने शंकर ने जैसे सम्पूर्ण क्षीरसमुद्र की कटोरी रख दी,

(10.18) अथवा रूठे हुए ध्रुव को वैकुण्ठ लोक के नायक श्रीविष्णु ने जैसे ध्रुपपदरूपी मिठाई देकर प्रेम से समझा दिया,

(10.19) वैसे ही आपने यह कृपा की है जो ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठ है, जो सब शास्त्रों की विश्रान्ति का स्थान है उस भगवद्गीता को मैं (ओवी छन्द में) गा रहा हूँ।

(10.20) जिस वाणीरूपी वन में फिरते हुए कभी किसी अक्षर को फल का प्राप्त होना नहीं सुनो गया उस वाणी को ही आपने विचाररूपी कल्पलता बना दिया है।

(10.21) जो केवल देहबुद्धि ही थी उसे आपने आनन्दरूपी भाण्डार की कोठरी बना दिया है और मन को गीतार्थरूपी क्षीरसागर में जलशय्या प्राप्त करा दी है।

(10.22) ऐसे एक एक आपके अपार अनुग्रह हैं; उनका वर्णन करना मैं क्या जानूँ; तथापि आपके अपार अनुग्रह हैं; जिनका वर्णन किया है, उसके लिए क्षमा कीजिए।

(10.23) अब आपकी कृपा के प्रसाद से मैंने भगवद्गीता के पूर्वार्ध का (ओवी छन्द में) प्रेम से वर्णन किया।

(10.24) पहले अध्याय में अर्जुन का विषाद और दूसरे में निर्मलयोग का, सांख्यबुद्धि का भेद दिखाकर, वर्णन किया।

(10.25) तीसरे में केवल कर्म की महिमा बखानी। चौथे में उसी का ज्ञान सहित वर्णन किया और पाँचवें में योगतत्त्व प्रतिपादन किया।

(10.26) छठे में वही योगतत्त्व आसन से लेकर जहाँ जीव और आत्मा एक होते हैं वहाँ तक स्पष्ट प्रकट किया।

(10.27) और भी योग की जो स्थिति है तथा योगभ्रष्टों की जो गति होती है उस सब का प्रतिपादन भी छठे अध्याय में किया।

(10.28) फिर सातवें में प्रकृति का उपक्रम और परिहार तथा पुरुषोत्तम के चार प्रकार के भजनों का वर्णन किया।

(10.29) अनन्तर सातों प्रश्नों का उत्तर और देहान्त समय की चित्तशुद्धि इत्यादि सब वाक्यनिर्णय आठवें अध्याय में किया है।

(10.30) फिर जितना कुछ अभिप्राय असंख्यात वेदों में प्रकट हुआ है उतना एक लक्ष श्लोकयुक्त महाभारत ग्रन्थ में कहा है;

(10.31) और जो कुछ उस महाभारत में है सो सब कृष्णार्जुन-संवाद में मौजूद है, और जो अभिप्राय गीता के सात सौ श्लोकों में है वह एक नवें अध्याय में ही प्रकट है।

(10.32) अतएव नवें अध्याय के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करने के लिए वेद भी डरते हैं, फिर मैं वृथा क्यों अभिमान करूँ?

(10.33) अजी, गुड और शक्कर के डेले यद्यपि एक ही रस के बँधे हुए रहते हैं तथापि जैसे उनकी मधुरता के स्वाद भिन्न भिन्न रहते हैं

(10.34) वैसे ही गीता के कोई अध्याय ब्रह्मस्वरूप का जानकर उसका प्रतिपादन करते हैं, कोई अपनी ही जगह से ब्रह्मस्वरूप

का निर्देश करते हैं, और कोई जानने का प्रयत्न करते हुए जानने के गुण-सहित ब्रह्मरूप हो गये हैं।

(10.35) ऐसे ये गीता के अध्याय हैं, परन्तु नवाँ अध्याय अवर्णनीय है। उसका मैंने जो वर्णन किया है वह हे प्रभु! आपकी ही सामर्थ्य है।

(10.36) अजी, जैसे किसी के अँगौछे ने सूर्य का काम दिया, किसी ने सृष्टि पर सृष्टि रची, किसी ने समुद्र में पत्थर के द्वारा सेना पार उतारी,

(10.37) किसी ने सूर्य का खड़ा कर दिया, किसी ने चुल्लू में समुद्र भर लिया, वैसे ही आपने मुझ गूँगे से अनिर्वाच्य ब्रह्म का निरूपण करवाया है।

(10.38) परन्तु यह सब रहने दीजिए। यहाँ वही हाल हुआ है कि श्रीराम और रावण का युद्ध कैसा हुआ, तो जैसे मानों श्रीराम और रावण ही युद्ध में भिड़े हों;

(10.39) वैसे ही मैं कहता हूँ कि नवें अध्याय में जो श्रीकृष्ण के वचन हैं वे नवें अध्याय जैसे ही हैं। यह निर्णय वही तत्त्वज्ञ जानता है जिसके हाथ गीतार्थ आ गया है।

(10.40) इस प्रकार पहले नवों अध्यायों का मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया; अब ग्रन्थ के उत्तरखण्ड का आरम्भ होता है उसे सुनिए।

(10.41) जिसमें अर्जुन को श्रीकृष्ण अपनी मुख्य और गौण विभूतियों का वर्णन करेंगे वह सुन्दर तथा सरस कथा मैं वर्णन करता हूँ।

(10.42) इसमें भाषा की उत्तमता से शान्तरस शृंगार को जीत लेगा, और पद अलंकार शास्त्र के आभूषण बन रहेंगे।

(10.43) मूल संस्कृत ग्रन्थ से भाषा की ठीक तुलना की जाय तो चित्त में अभिप्राय की पैठ

होते ही यह न जान पड़ेगा कि मूलग्रन्थ कौन है।

(10.44) जैसे शरीर की सुन्दरता के कारण शरीर ही आभूषणों का अलंकार बन जाता है तब यह नहीं जान पड़ता कि किसने किसको सुशोभित किया है

(10.45) वैसे ही यह समझ लीजिए कि संस्कृत और भाषा एक ही भावार्थरूपी निर्मल सुखासन पर प्रेम से शोभा देंगी।

(10.46) भावों के रूप का उदय होते ही रसवृत्ति की वर्षा होने लगेगी, और चातुर्य कहेगा कि हमारी बड़ी प्रतिष्ठा हुई।

(10.47) इस प्रकार भाषा का लावण्य लूट कर रस तरुण होंगे और उनसे इस अननुमेय गीता-तत्त्व की रचना की जायगी।

(10.48) अनन्तर, चराचर के श्रेष्ठ गुरु, ज्ञानियों के चित्त के चमत्कार, यादवेश्वर श्रीकृष्ण ने निरूपण का आरम्भ किया।

(10.49) निवृत्ति के ज्ञानदेव कहते हैं कि श्रीहरि ने कहा — हे अर्जुन! सब प्रकार से तुम्हारा अन्तःकरण भला-चंगा है।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ 10.1 ॥

(10.50) हमने अभी जो निरूपण किया उससे हमने तुम्हारे अवधान की परीक्षा की तो इसको, न्यून नहीं, भला-पूरा पाया।

(10.51) घट में पहले थोडा-सा पानी डालते हैं और वह चूता न हो ते फिर इसे भरते हैं, वैसे ही हमने तुम्हें थोडा-सा निरूपण सुनाया तो अब और भी सुनाने की इच्छा हुई है।

(10.52) अकस्मात् आये हुए नये मनुष्य के कुछ द्रव्य सुपुर्द कर दिया जाय और वह ईमानदार दिखाई दे तो जैसे उसे भण्डारी बना देते हैं वैसे ही, हे किरीटी! तुम अब मेरे निज धाम बन गये हो।

(10.53) इस प्रकार उस सर्वेश्वर ने अर्जुन की ओर देखकर ऐसे प्रेमातिरेक से कहा जैसे कि पर्वतों को देखकर मेघ भर आता है।

(10.54) कृपालुओं के राजा श्रीकृष्ण कहने लगे कि हे अर्जुन! सुनो, पहले कहा हुआ अभिप्राय ही हम फिर से कहते हैं।

(10.56) हर साल खेत बोया जाय और फसल की बाढ़ दिखाई दे तो कृषि करने से उकताना नहीं चाहिए।

(10.56) जैसे बारम्बार तपाने से सोने के कस की योग्यता अधिक बढ़ती है इसलिए हे पाण्डुसुत। सोना शुद्ध करना ही सब को भाता है,

(10.57) वैसे ही हे पार्थ! तुम पर कुछ उपकार नहीं है — हम अपने ही स्वार्थ के हेतु फिर से बोल रहे हैं।

(10.58) जैसे बालक को अलंकार पहनाइए तो उन्हें बालक क्या जाने, परन्तु उसका सुख-समारम्भ माता की दृष्टि ही भोगती है,

(10.59) वैसे ही ज्यों ज्यों तुम्हारा सम्पूर्ण हित तुमको ज्ञात हो त्यों त्यों हमारा सुख दुगुना बढ़ता है।

(10.60) अब हे अर्जुन! यह आलंकारिक भाषा जाने दो। स्पष्ट यह है कि हमें तुमसे प्रेम है इसलिए हम तुमसे बोलते हुए नहीं अघाते।

(10.61) केवल इसीलिए हमें वही वही बात कहनी पड़ती है। अस्तु, अब अन्तःकरण से ध्यान दो।

(10.62) हे मार्मिक! मेरे परम श्रेष्ठ वचन सुनो जो मानों अक्षरों के अलंकार धारण किये हुए परब्रह्म ही तुम्हें आलिंगन देने के लिए आये हैं।

(10.63) हे किरीटी! तुम मुझे वस्तुतः नहीं जानते। अजी, मैं जो हूँ वही यह विश्व है।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ 10.2 ॥

64) मुझे जानने के विषय में वेद गूँगे हो गये हैं, मन और प्राण पंगु हो गये हैं, और सूर्य चन्द्र बिना ही रात के अस्त हो गये हैं।

(10.65) अजी, पेट का गर्भ जैसे अपनी माता की अवस्था नहीं जानता वैसे ही समस्त देव भी मुझे सर्वथा नहीं जानते।

(10.66) और जलचरों को जैसे समुद्र का प्रमाण दिखाई नहीं देता, मशक जैसे आकाश का उल्लंघन नहीं कर सकते, वैसे ही महर्षियों का ज्ञान भी मुझे नहीं जान सकता।

(10.67) मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, किससे कब उत्पन्न हुआ हूँ, इन बातों का निर्णय करते हुए कल्प बीत गये हैं।

(10.68) क्योंकि महर्षियों का, इन देवों का और सब प्राणिमात्र का आदि-कारण मैं ही हूँ। इसलिए हे पाण्डव! मुझे जानना अघटित है।

(10.69) पर्वत से उतरा हुआ जल यदि फिर पर्वत पर चढ़े, वृक्ष बढते बढ़ते यदि जड़ को पहुँच जाय तभी मुझसे उत्पन्न हुआ जगत् मुझे जान सकेगा;

(10.70) अथवा यदि बड़ के अंकुर में सम्पूर्ण वटवृक्ष हाथ लगे, यदि तरंग में समुद्र भरा जा सके, यदि परमाणु में यह भूगोल समा जाय,

(10.71) तभी मुझसे उत्पन्न हुए प्राणियों को, महर्षि अथवा देवों को, मुझे जानने के लिए अवकाश हो सकता है (अर्थात् तभी वे मुझे जान सकते हैं)।

(10.72) तथापि यदि कदाचित् कोई बाह्य-प्रवृत्ति छोड़ कर सब इन्द्रियों की ओर पीठ फेर दे,

(10.73) अथवा प्रवृत्त भी हो तो तुरन्त ही पलट आवे, तो वह देह का पीछे छोड़ महाभूतों के शिखर पर चढ़ सकता है,

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ 10.3॥

(10.74) – और वहाँ स्थिर रह कर निर्मल आत्मप्रकाश में अपने नेत्रों से मेरा अजत्व देख सकता है।

(10.75) जो पुरुष मुझे ऐसा जान लेता हैं कि मैं आरम्भ से भी परे हूँ और सब लोकों का महेश्वर हूँ

(10.76) वह पत्थरों में पारस है। रसों में जैसा अमृत है, वैसा ही मनुष्यों में वह है — उसे मेरा ही अंश जानो।

(10.77) वह चलता हुआ ज्ञान का प्रतिबिम्ब है। उसके अवयव सुख के अंकुर हैं, और लौकिक दृष्टि से जो उसका मनुष्यत्व दिखाई देता है वह केवल भ्रम है।

(10.78) अजी अकस्मात् कपूर में हीरा जा पड़े और ऊपर से पानी हो तो जैसे वह पहचाना नहीं जाता,

(10.79) वैसे ही यद्यपि मनुष्यलोक में वह मनुष्य लौकिक दिखाई देता हो। तथापि वह प्रकृति के दोष की वार्ता भी नहीं जानता।

(10.80) उससे डर कर पाप स्वयं भाग जाते हैं। मुझे जाननेहारे का संकल्प वैसे ही छोड़ देते हैं जैसे कि जलते हुए चन्दन का सर्प।

(10.81) ऐसा मेरा ज्ञान कैसे हो जाता है, यह कल्पना यदि तुम्हारे चित्त में हो तो सुनो कि मैं कैसा हूँ और मेरे धर्म कैसे हैं।

(82) वे मेरे धर्म अलग अलग भूतों में प्रकृति के समान होकर सम्पूर्ण जगत् में बिखरे हुए हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ 10.4 ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ 10.5 ॥

(10.83) उनमें प्रथम बुद्धि जानो, और फिर ज्ञान जो निःसीम है, निर्मोहता जो सहनशीलता की सिद्धि है, क्षमा, सत्य,

(10.84) फिर मनोनिग्रह और इन्द्रियनिग्रह, सुख-दुःख जो जगत् में व्यापार करते हैं, और हे अर्जुन! जन्म और नाश जो जगत् में हो रहे हैं;

(10.85) और हे पाण्डुसुत! भय और निर्भयता, अहिंसा और समानता, सन्तोष और तप

(10.86) तथा दान, यश और अपयश आदि जो भाव सर्वत्र प्राणियों में दिखाई देते हैं वे मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।

(10.87) जैसे प्राणी भिन्न हैं वैसे ही ये भाव भी अलग अलग जाना। कोई मेरे ज्ञान के समय उत्पन्न होते हैं और कोई अज्ञान के,

(10.88) जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनों सूर्य के ही कारण होते हैं। प्रकाश सूर्य के उदय के समय होता है और अन्धकार अस्त के समय।

(10.89) मेरा ज्ञान अथवा अज्ञान प्राणियों के भावों का फल है। अतएव भावों के कारण ही प्राणियों में विषमता दिखाई देती है।

(10.90) इस प्रकार हे पाण्डुकुँवर! यह सम्पूर्ण जीव-सृष्टि मेरे भावों से बँधी हुई समझो।

(10.91) अब इस सृष्टि के जो पालक हैं, जिनके अधीन हो लोक व्यवहार करते हैं, उन ग्यारह भावों का और वर्णन कर बताते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ 10.6 ॥

(10.92) सम्पूर्ण गुणों से श्रेष्ठ, महर्षियों में ज्ञानी, जो कश्यप इत्यादि प्रसिद्ध सात ऋषि हैं,

(10.93) और जो मुख्य चौदह मनुओं में से स्वायम्भुव इत्यादि चार श्रेष्ठ मनु हैं,

(10.94) ऐसे ये ग्यारह भाव हे धनुर्धर! सृष्टि के व्यापार के लिए मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं।

(10.95) जब लोकों की स्थिति भी नहीं हुई थी, जब इस त्रिभुवन की कुछ रचना भी न हुई थी, महाभूतों का समुदाय भी जब कुछ न करता हुआ स्तब्ध था,

(10.96) तभी ये ग्यारह भाव उत्पन्न हो गये थे। फिर इन्होंने लोकों की रचना की और उनमें मनुष्य श्रेष्ठ बनाये।

(10.97) अतएव ये ग्यारह ही राजा हैं और अन्य सब जग इनकी प्रजा है। इस प्रकार यह विश्वविस्तार मेरा ही समझना चाहिए।

(10.98) देखो, आरम्भ में केवल एक बीज रहता है, फिर वही अंकुररूप से फूटकर पौधा बन जाता है, तने में शाखाओं के अंकुर निकलते हैं,

(10.99) और अनेक शाखाओं से अनेक उपशाखाएँ फूटती हैं और उपशाखाओं में पल्लव और पत्ते फूटते हैं।

(10.100) पल्लवों से फूल और फल होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वृक्ष बनता है। परन्तु विचार कर देखने से वह सब केवल बीज ही है।

(10.101) वैसे हो पहले मैं एक ही हूँ। फिर उसी मुझसे मन उत्पन्न हुआ। उससे सात ऋषि और चार मनु उत्पन्न हुए।

(10.102) इन्होंने लोकपाल उत्पन्न किये। लोकपालों ने अनेक लोकों की रचना की और उन लोकों से सब प्रजा उत्पन्न हुई।

(10.103) इस प्रकार इस विश्व में वास्तव में मैं ही विस्तृत हुआ हूँ। परन्तु भाव के द्वारा जब कोई ऐसा समझ ले तब न!

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 10.7 ॥

(10.104) और हे सुभद्रापति! ये भाव मेरी विभूतियाँ हैं और जगत् इनकी व्याप्ति से भरा है।

(10.105) अतएव इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर चिउँटी तक मेरे सिवाय दूसरी वस्तु नहीं है।

(10.106) यह जो यथार्थ में जाने उसको ज्ञान की जागृति होती है। इसलिए उसे भले बुरे भेद का स्वप्न दिखाई नहीं देता।

(10.107) वह मुझे और मेरी विभूतियों का और विभूतियों के आश्रय में रहनेवाले सब व्यक्तियों को योग के अनुभव द्वारा एक ही मानता है।

(10.108) इसलिए इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इस महायोग के द्वारा वह अन्तःकरण से मुझमें मिल जाता है। वह निश्चय से कृतार्थ हो चुकता है।

(10.109) क्योंकि हे किरीटी! वह मुझे उक्त प्रकार की अभेददृष्टि से भजता है, अतः उस भजन में उसे मेरी ही प्राप्ति होती है।

(10.110) अतएव अभिन्नता से जो भक्तियोग किया जाता है उसमें निःसन्देह कुछ न्यूनता नहीं रहती। अथवा यदि अभ्यास करते करते भक्तियोग बन्द हो जाय तो भी कुछ हानि नहीं होती। यह बात हम छठे अध्याय में कह चुके हैं।

(10.111) यह अभिन्नता किस प्रकार की है सो जानने की यदि तुम्हारे अन्तः-करण में इच्छा हुई हों तो सुनो। हम वर्णन करते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ 10.8 ॥

(10.112) हे पाण्डव। इस सब जगत् का जन्म मुझसे ही होता है और इसका सब निर्वाह भी मुझसे ही होता है।

(10.113) अनेक तरंग-मालाओं का जन्म जल में ही होता है, और उन तरंगों का आश्रय तथा जीवन भी जल ही होता है।

(10.114) यों सब प्रकार से उन्हें जैसे जल एक है, वैसे ही इस विश्व में मेरे सिवाय कुछ नहीं है। (115) इस प्रकार मुझे व्यापक जानकर जो — चाहे जहाँ — मेरा भजन करते हैं, परन्तु सच्ची उत्कण्ठा से और प्रेमभाव से करते हैं, तथा

(10.116) जैसे वायु आकाश रूप हो आकाश में ही संचार करती है वैसे ही जो देश, काल, वर्तमान सबको मुझसे अभिन्न जान कर मुझे भजते हैं,

(10.117) वे आत्मज्ञानी त्रिभुवन में सुख से खेलते हुए मुझ जगद्रूप का मन में धर कर

(10.118) जो जो प्राणी मिले उसे भगवन्त ही मानते हैं। इस प्रकार सर्वत्र भगवद्रूप मानना ही मेरा भक्तियोग है यह निश्चय जानो।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 10.9 ॥

(10.119) वे भक्त चित्त से मद्रूप हो जाते हैं, मुझसे ही उनके प्राण सन्तुष्ट रहते हैं, और ज्ञानरूपी भ्रम के कारण वे जन्म-मरण भूल जाते हैं

(10.120) तथा उस ज्ञान के नशे में वे परस्पर संवादसुख के सन्तोष से नाचते हैं; आपस में ज्ञान का ही लेन-देन करते हैं।

(10.121) जैसे दो सरोवर पास पास हों तो उनकी तरंग उछलती हुई आपस में मिल जाती हैं, और तरंग` ही मानों तरंगों की आश्रयभूत मन्दिर बन जाती हैं

(10.122) वैसे ही एक दूसरे के सम्मेलन से उन भक्तों की आनन्द-तरंगों की वेणी बन जाती है और उसमें ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप हो। ज्ञान के ही अलंकार पहनता है।

(10.123) जैसे सूर्य सूर्य की आरती करे, अथवा चन्द्र चन्द्र को आलिंगन दे, अथवा दो समान प्रवाह ही मिल जाये,

(10.124) वैसे ही उनकी एकरूपता का प्रयाग बन जाता है और उसमें सात्विक भाव कचरा-सा बहता है। वे मानो संवादरूपी चौराहे में स्थापित किये हुए गणेश हो जाते हैं

(10.125) और महासुख के अतिरेक द्वारा देहरूपी गाँव के बाहर आकर मेरी प्राप्ति के तृप्तिसूचक उद्गारों से गरजने लगते हैं।

(10.126) गुरु-शिष्यों के एकान्त में जो एकाक्षरी मन्त्र कहा जाता है उसी का वे तीनों जगतों में चहुँओर मेघ के समान गर्जना कर कहते हैं।

(10.127) जैसे कमल की कली विकसित होने पर मकरन्द को हृदय में नहीं रख सकती और राव-रंक को आमोद की भेंट दे देती है

(10.128) वैसे ही विश्व में वे मेरा वर्णन करते हैं, कथा के सन्तोष से कथा में ही भूल जाते हैं, और उसी भूल में तन-मन से रममाण हो जाते हैं।

(10.129) इस प्रकार प्रेम की अधिकाई के कारण जो दिन और रात नहीं जानते, जिन्होंने मेरा पूर्ण सुख पा लिया है,

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10.10 ॥

(10.130) – उन्हें हे अर्जुन! हम जो कुछ देना चाहें उसका उत्तमोत्तम भाग पहले ही प्राप्त हो जाता है।

(10.131) क्योंकि हे सुभट! वे जिस मार्ग से निकलते हैं उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष आड़े-टेढ़े रास्ते मालूम होते हैं।

(10.132) इसलिए वे जो प्रेम करते हैं वही हमारा देना समझो। परन्तु वह हमारा देना भी उन्हीं के अधीन हों रहता है।

(10.133) तथापि इतना अवश्य है कि हमारा काम यह रहता है कि उनका वह सुख अधिक बढ़ता रहें और उस पर काल की दृष्टि न पड़े।

(10.134) है किरीटी! खेलते हुए लाड़ले बालक को प्रेम की दृष्टि से आच्छादन कर माता जैसे उसके पीछे-पीछे दौड़ती है,

(10.135) बालक जो जो खिलौना चाहे वह उसके सामने सोने का बनाकर रखती है, वैसे ही मैं भक्ति के मार्ग का पोषण करता रहता हूँ।

(10.136) जिस मार्ग के पोषण से वे भक्त सुख से मुझे प्राप्त कर लें उसी का पोषण करना मुझे विशेषतः भाता है।

(10.137) अजी भक्तों का हमारी प्रीति है और हमें उनके अनन्य भाव की इच्छा है, क्योंकि हमारे घर प्रेमियों का दुकाल है।

(10.138) देखा, हमने स्वर्ग और मोक्ष उत्पन्न किये और ये दोनों मार्ग उनके अधीन कर दिये, और निदान में लक्ष्मी-सहित हमने अपना शरीर भी उन्हें समर्पित कर दिया।

(10.139) और अहन्ता के विरहित जो एक सुख है वह उन प्रेमियों के लिए जतन कर वैसा ही नूतन बना रक्खा है।

(10.140) यहाँ तक हे किरीटी! हम निज का परित्याग कर भक्त का अंगीकार करते हैं। ये बातें कहने के योग्य नहीं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ 10.11 ॥

(10.141) अतएव जिन्होंने मेरा प्रेम अपने जीवन का आश्रय कर लिया है, जो मेरे सिवाय और सब मिथ्या मानते हैं,

(10.142) उनका शुद्ध तत्व-ज्ञान मानों कपूर की मशाल बन जाता है और मैं मशालची बनकर उनके आगे आगे चलता हूँ;

(10.143) और अज्ञान की रात में जो तम का समुदाय घिर आता है उसका नाश कर हटा देता हूँ और नित्य प्रकाश कर देता हूँ।

(10.144) भक्तों के प्रियोत्तम श्री पुरुषोत्तम जब इस प्रकार बोले तब अर्जुन ने मनोभाव से कहा कि मैं तृप्त हो गया।

(10.145) अजी सुनिए, आपने यह संसाररूपी कचरा उड़ा दिया। हे प्रभु! मैं जन्म-मरण से मुक्त हो चुका।

(10.146) मैंने अपना जन्म आज अपनी ही आँखों से देख लिया। मेरा जीवन मेरे हाथ आ गया सा मालूम होता है।

(10.147) आज मेरा आयुष्य सफल हो चुका। मेरे दैव का भाग्योदय हुआ जो मुझपर देव के मुख से ऐसे वचनों की कृपा हुई।

(10.148) अब इन वचनों के प्रकाश से मेरा अन्तर्बाह्य अन्धकार मिट गया। अतएव मुझे आपका यथार्थ स्वरूप दिखाई दे रहा है।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ 10.12 ॥

(10.149) हे जगन्नाथ! आप परब्रह्म हैं और इन महाभूतों के पवित्र और परम विश्रान्ति के स्थान हैं।

(10.150) आप तीनों देवों के परम दैवत हैं, आप पच्चीसवें पुरुष हैं, आप मायाभाव के परे के दिव्यस्वरूप हैं ।

(10.151) हे स्वामी! आप अनादिसिद्ध हैं जो जन्मभावों के वश नहीं होते, आपको अब हमने पहचान लिया।

(10.152) हम निश्चय से जान चुके कि आप इस कालरूप यन्त्र के चालक हैं, आप जीवकला के मुख्य देवता हैं, आप ब्रह्माण्ड के आश्रयभूत हैं।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ 10.13 ॥

(10.153) इस अनुभव की सत्यता और एक प्रकार से सिद्ध होती है। पूर्व में ऋषीश्वरों ने आपका ऐसा ही वर्णन किया है।

(10.154) परन्तु उस वर्णन की यथार्थता मेरा अन्तःकरण आज देख रहा है, और यह सब आपकी कृपा ही के कारण।

(10.155) अन्यथा नारद मुनि निरन्तर हमारे यहाँ आते थे और ऐसे ही वचनों से गीतों में आपका वर्णन करते थे परन्तु हम उसका अर्थ न जानकर केवल गीतसुख ही सुनते रहते थे।

(10.156) अजी, अन्धों के नगर में यदि सूर्य आप ही आप प्रकट हो तो उन्हें सबेरा घाम ही मालूम होगा। उन्हें प्रकाश कैसे दिखाई देगा?

(10.157) देवर्षि तो आत्मज्ञान गाते थे, परन्तु हमारी समझ में उनके रागों की ऊपरी मधुरता ही आती थी, और ज्ञान कुछ हाथ नहीं लगता था।

(10.158) असित और देवल ऋषि के मुख से भी मैंने आपका ऐसा ही वर्णन सुना है, परन्तु तब मेरी बुद्धि विषयरूपी विष से सनी हुई थी।

(10.159) विषयविष की महिमा ही ऐसी है कि मधुर परमार्थ कडुवा लगता है और कडुवा विषय अन्तःकरण में मधुर मालूम होता है।

(10.160) दूसरों की क्या कहूँ, स्वयं व्यासदेव मन्दिर में आकर आपका सम्पूर्ण स्वरूप सर्वदा वर्णन करते थे।

(10.161) परन्तु जैसे कोई अँधेरे में चिन्तामणि देखकर उसे इस बुद्धि से फेंक दे कि वह चिन्तामणि नहीं है और अनन्तर सूर्योदय के समय उसे पहचाने,

(10.162) वैसे ही व्यासादिकों के वचन मेरे सन्निद्ध मानों तत्त्वज्ञानरूपी रत्नों की खानें थीं, परन्तु हे कृष्ण! आप सूर्य के बिना में उनकी उपेक्षा कर रहा था।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ 10.14 ॥

(10.163) परन्तु अब आपके वचनरूपी सूर्यकिरणों का विकास होने से, ऋषियों ने जो मार्ग वर्णन किये थे उन सब की अपरिचितता दूर हो गई।

(10.164) अजी, उनके वचन ज्ञान के बीज हैं। और वे मेरे हृदय-रूपी भूमि में गहरे पड़े हुए थे। उन पर आपकी कृपा की आर्द्रता प्राप्त हुई इसलिए मुझे इस एक-वाक्यतारूपी फल का लाभ हुआ

(10.165) हे अनन्त! नारदादिक सन्तों के वचनरूपी नदियों का मैं संवाद-सुखरूपी समुद्र बन गया हूँ।

(10.166) हे प्रभु! इस सम्पूर्ण जन्म में मैंने जितने उत्तम पुण्य किये हों उनका, हे सद्गुरु! आपकी उपस्थिति में कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

(10.167) यों तो बड़ों बूढ़ों के मुख से मैं सर्वदा आपके गुणानुवाद कानों से सुनता था, परन्तु जब तक एक आपने कृपा न की तब तक मुझे कुछ ज्ञान नहीं हुआ।

(10.168) भाग्य अनुकूल रहे तभी किये हुए उद्यम सर्वदा सफल होते हैं; इसी तरह जब गुरुकृपा हो। तभी श्रवण किये हुए और पढ़े हुए की सार्थता होती है।

(10.169) अजी, माली जन्म भर वृक्षों का सींचता है और जी से अधिक श्रम करता है परन्तु फल की भेंट तभी होती है जब वसन्त प्राप्त हो।

(10.170) अजी, विषमज्वर जब उतार पर हो तभी मीठी वस्तु मीठी मालूम होने लगती है। औषधि मधुर तभी कहाती है जब शरीर को आरोग्य हो,

(10.171) अथवा इन्द्रिय, वाचा और प्राण होने की सार्थता तभी है जब चैतन्य आकर इनमें संचार करे।

(10.172) इसी तरह, किसी ने वेद-शास्त्रों का आलोचन किया है, अथवा योग आदि का अभ्यास किया है, ऐसा तभी समझा जा सकता है जब श्रीगुरु अनुकूल हो।

(10.173) इस प्रकार अनुभव के आये हुए नशे में अर्जुन श्रद्धान्वित हो अनेक प्रकार नाचने लगा, और कहने लगा कि हे देव! आपके वचन मुझे स्वीकृत हुए;

(10.174) और हे कैवल्यपति! मुझे सचमुच ऐसी प्रतीति हो गई कि आप देवों और दानवों की बुद्धि से जानने-योग्य नहीं हैं।

(10.175) है देव! यह बात मेरी बुद्धि में निश्चय-पूर्वक जम गई कि आपके वचनों का अनुभव होते हुए जो अपने ही ज्ञान से आपको जानने की चेष्टा करे वह आपको कभी नहीं जान सकता।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ 10.15 ॥

(10.176) आकाश अपना विस्तार जैसे आप ही जाने, अथवा पृथ्वी की घनता जैसे पृथ्वी ही जाने,

(10.177) वैसे ही हे लक्ष्मीपति! अपनी सर्व-शक्ति से अपने को आप ही जान सकते हैं। वेदादिकों की मति की प्रतिष्ठा वृथा है।

(10.178) अजी, दौड में मन को पिछलाना कैसे हे सकता है? पवन को कोई बगल में कैसे पकड सकता है? बाहों से तैर कर माया कैसे पार की जा सकती है?

(10.179) ऐसा ही आपका ज्ञान है; अतएव उसे कोई भी नहीं जानता। आपका ज्ञान आपके ही योग्य है।

(10.180) अजी, आपको आप ही जानते हैं, और दूसरे को उपदेश करने के लिए आप ही समर्थ हैं। तो अब एक बार हमारी सुनने की अभिलाषा पूरी कीजिए।

(10.181) सुनिए, हे प्राणियों के उत्पन्न करनेहारे, हे संसाररूपी गज के सिंह, हे सकल देव-देवताओं के पूज्य, हे जगन्नायक!

(10.182) यद्यपि हम आपकी महिमा देख रहे हैं, तथापि हम आपके पास भी खड़े रहने के योग्य नहीं हैं। परन्तु इस दीनता के कारण यदि हम आपसे विनती करने के लिए डरें तो हमें दूसरा उपाय ही नहीं है।

(10.183) चहुँओर समुद्र और नदियाँ भरी हों तथापि चातक के लिए वे शुष्क हैं। क्योंकि जब मेघ से बिन्दु गिरे तभी उसे पानी प्राप्त होता है।

(10.184) वैसे ही श्रीगुरु सर्वत्र हैं, परन्तु हे कृष्ण! हमारी गति आप ही हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ 10.16 ॥

(10.185) अजी, आपकी विभूतियाँ तो सभी है परन्तु जिनमें आपकी दिव्य शक्ति व्याप्त है वही बताइए।

(10.186) जिन विभूतियों से हे अनन्त! आप इन सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त हैं, उनमें से मुख्य मुख्य के नाम लेकर प्रकट कीजिए।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ 10.17 ॥

(10.187) अजी, मैं आपको किस रूप का समझूँ? क्या समझ कर सर्वदा आपका चिन्तन करूँ? यदि सब ही आप हैं ऐसा कहूँ, तो ध्यान नहीं हो सकता।

(10.188) इसलिए पहले आपने जैसे अपने भावों का संक्षेप से वर्णन किया था वैसे ही एक बार अब विस्तार से कहिए।

(10.189) जिन जिन भावों में आपका चिन्तन करते हुए मुझे कष्ट न हो सो अपना योग मुझे स्पष्ट कर बताइए,

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ 10.18 ॥

(10.190) – और मैंने जो विभूतियाँ पूछीं उनका वर्णन कीजिए। हे भूतपति! यदि आप कहें कि वही बार बार क्या वर्णन करें,

(10.191) तो हे जनार्दन! यह बात मन में ही न आने दीजिए। साधारण अमृतपान का भी `बस करो, रहने दे' नहीं कहा जाता।

(10.192) जो कालकूट का भ्राता है, जिसे मृत्यु के डर से देवों ने पिया है तिस पर भी दिन में

चौदह इन्द्र हो जाते हैं,

(10.193) ऐसा जो क्षीरसमुद्र का एक रस है जिसमें अमृतत्व का मिथ्या आभास मालूम होता है, उसकी मधुरता भी इन्कार नहीं करने देती।

(10.194) उस तुच्छ वस्तु की मधुरता की यहाँ तक महिमा है। फिर यह तो वास्तव में परमामृत है

(10.195) जो बिना ही मन्दराचल को हिलाये, और बिना ही क्षीरसमुद्र को मथे, स्वभावतः अनादि काल से उपस्थित है;

(10.196) जो न बहता है, न गलता है, न जमता है; जिस में न रस न सुगन्ध दिखाई देती है, और जो नित्यसिद्ध है, – चाहे जिसे स्मरण से ही प्राप्त हो सकता है;

(10.197) जिसका वर्णन सुनते ही संसार मिथ्या हो जाता है, निज को जबरदस्ती नित्यता प्राप्त होने लगती है,

(10.198) जन्म-मृत्यु की वार्ता बिलकुल ही मिट जाती है, और अन्तर्बाह्य महासुख की वृद्धि होने लगती है;

(10.199) और जिसका यदि दैवगति से सेवन किया जाय तो सेवन करनेहारा तद्रूप हो रहता है वह परमामृत आप मुझे दे रहे हैं अतः मेरा चित्त ना नहीं कह सकता।

(10.200) आपका तो नाम ही हमें प्यारा है, तिस पर आपकी प्रत्यक्ष भेंट हुई है तथा आपके सहवास का लाभ हुआ है, और इसके अलावा आप आनन्द से सुख की बातें कह रहें हैं।

(10.201) अतः यह सुख काहे के समान है, यह मुझसे सन्तोष के कारण कहा नहीं जाता। परन्तु मैं यह चाहता हूँ कि आप अपने मुख से फिर से वही वचन कहें।

(10.202) अजी, सूर्य क्या कभी बासी हुआ है? अग्नि क्या कभी अपवित्र कही जा सकती है? अथवा नित्य बहनेहारा गंगा-जल भी क्या बासी हो सकता है?

(10.203) आपने अपने मुख से जो वचन कहें वे हमें नादब्रह्म के ही रूप दिखाई देते हैं; अथवा आज हम मानों चन्दनवृक्ष के फूलों की सुगन्ध ले रहे हैं।

(10.204) पार्थ के इन वचनों से श्रीकृष्ण सर्वांग-सहित डोलने लगे और बोले कि अर्जुन अब भक्ति और ज्ञान का घर बन गया है।

(10.205) ऐसी प्रतीति के सन्तोष में प्रेम का हिलोरता हुआ प्रवाह आयास से थाँभ कर श्रीअनन्त ने क्या कहा सो सुनिए।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ 10.19 ॥

(10.206) वे मानों चित्त से यह भूल गये कि मैं ब्रह्मदेव का पिता हूँ, और कहने लगे "बाबा पाण्डुसुत! शाबाश!"

(10.207) अर्जुन को बाबा कहने में हमें कुछ आश्चर्य का कारण नहीं मालूम होता। क्या शरीर से वे नन्द के लड़के नहीं हैं?

(10.208) परन्तु सम्प्रति ये वचन प्रेम की अधिकता से निकले हैं। फिर श्रीकृष्ण ने कहा, हे धनुर्धर! सुनो।

(10.209) हे सुभद्रापति! तुमने जो विभूतियाँ पूछीं वे संख्या में इतनी हैं कि — हैं तो वे सब मेरी पर — मेरी बुद्धि से भी उनकी गणना नहीं हो सकती।

(10.210) जैसे कोई अपने आप ही शरीर के रोम नहीं गिन सकता वैसे ही ये मेरी विभूतियाँ मुझसे अगणनीय हैं।

(10.211) मैं कैसा हूँ, कितना हूँ, यह मैं आप ही स्पष्ट नहीं जान सकता। इसलिए जो विभूतियाँ मुख्य मुख्य नामों से प्रसिद्ध हैं उन को सुनो।

(10.212) हे किरीटी! जिन्हें जानने से सब विभूतियों का ज्ञान हो सकेगा, जैसे बीज मुट्ठी में आने से वृक्ष ही करगत हुआ सा होता है,

(10.213) अथवा बाग़ीचा हाथ लगने से फल और फूल आप ही आप प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही इन विभूतियों के देखने से सम्पूर्ण विश्व देखा सा हो चुकता है।

(10.214) यों तो हे धनुर्धर! यथार्थ में मेरे विस्तार का अन्त नहीं है। गगन के समान अपार वस्तु भी मुझमें बसती है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ 10.20॥

(10.215) घूँघरवाले बाल धारण करनेहारे, हे धनुर्विद्या के शंकर! सुनो, मैं हर एक प्राणी का आत्मा हूँ।

(10.216) भीतर की ओर मैं भूतमात्र के अन्तःकरण में हूँ और बाहर की ओर उन पर मेरा ही आच्छादन है। आदि में मैं हूँ, अन्त में मैं हूँ, और मध्य में भी मैं ही हूँ।

(10.217) जैसे मेघों के लिए नीचे-ऊपर और अन्तर्बाह्य एक आकाश ही है, और वे आकाश में ही उत्पन्न होते और उसी में रहते हैं,

(10.218) और अनन्तर जब विलीन होते हैं तब आकाशरूप ही हो रहते हैं, वैसे ही प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश मैं हूँ।

(10.219) इस प्रकार मेरा विस्तार और मेरी व्यापकता मेरे विभूति-योग के द्वारा जान ले। हृदय को श्रवणरूप कर बारम्बार सुनो।

(10.220) अब हे सुभद्रापति! जो विभूतियाँ बताने की हमने प्रतिज्ञा की थी उनका वर्णन करना रहा है। वे मुख्य मुख्य विभूतियाँ सुनो।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ 10.21 ॥

(10.221)इतना कह कर उन कृपावन्त श्रीकृष्ण ने कहा कि बारह आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, तथा प्रकाशमान पदार्थों में मैं किरण-युक्त सूर्य हूँ।

(10.222) श्रीशार्ङ्गी कहते हैं कि मरुद्गणों की कक्षा में मैं मरीचि हूँ। आकाश के तारागणों में मैं सूर्य हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ 10.22 ॥

(10.223) गोविन्द कहते हैं कि वेदों में जो सामवेद है वह मैं हूँ; देवों में जो मरुद्वन्धु महेन्द्र है वह मैं हूँ।

(10.224) इन्द्रियों में ग्यारहवाँ जो मन है वह मुझे ही समझे। और प्राणियों में स्वभावतः जो जीवन-कला है वह मैं हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ 10.23 ॥

(10.225) सम्पूर्ण रुद्रों में मदन के शत्रु जो शंकर हैं, सो मैं हूँ; इस में कुछ सन्देह मत रक्खो।

(10.226) श्रीअनन्त कहते हैं कि यक्ष और राक्षसगणों में शंकर का मित्र जो धनवान कुबेर है वह मैं हूँ।

(10.227) आठों वसुओं में जो अग्नि है वह मैं हूँ और शिखरवान् पर्वतों में सब से ऊँचा जो मेरु है वह मैं हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ 10.24 ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ 10.25 ॥

(10.228) जो इन्द्र का सहायक, सर्वज्ञता का आदिपीठ, और पुरोहितों में श्रेष्ठ है वह बृहस्पति मैं हूँ। (229) हे महामति! तीनों

लोकों के सेनापतियों में मैं वह कार्तिकस्वामी हूँ जो शंकर के वीर्य और अग्नि के संग से, कृत्तिका के पेट से उत्पन्न हुआ है।

(10.230) सम्पूर्ण सरोवरों में जलराशि जो समुद्र है वह मैं हूँ, महर्षियों में तपोराशि जो भृगु है वह मैं हूँ।

(10.231) वैकुण्ठविलासी श्रीकृष्ण कहते हैं कि सम्पूर्ण वाचाओं में जिस सत्य का व्यवहार है वही एक सत्य अक्षर मैं हूँ।

(10.232) इस लोक में सम्पूर्ण यज्ञों में जो कर्मयोग-द्वारा ओंकारादि से उत्पन्न होता है वह जपयज्ञ में हूँ।

(10.233) नाम का जपरूपी यज्ञ श्रेष्ठ है। उससे स्नानादि कर्मों की बाधा नहीं हे सकती। नाम से धर्माधर्म पवित्र होते हैं, और वेदों में कहा है कि नाम परब्रह्म है।

(10.234) लक्ष्मी के कान्त कहते हैं कि पर्वतों में पुण्यवान और पूज्य जो हिमालय है वह मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ 10.26 ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ 10.27 ॥

(10.235) कल्पवृक्ष और पारिजातक तथा चन्दन भी गुणों में बड़े विख्यात हैं तथापि इन वृक्षमात्रों में जो अश्वत्थ है वह मैं हूँ।

(10.236) हे पाण्डव! देवर्षियों में जो नारद हैं सो मुझे ही समझना चाहिए। सब गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ।

(10.237) हे ज्ञानवन्त! इन सम्पूर्ण सिद्धों में मैं कपिलाचार्य हूँ और प्रसिद्ध घोडों में मैं उच्चैःश्रवा नामक इन्द्र का घोडा हूँ।

(10.238) राजाओं के भूषणरूपी हाथियों में, हे अर्जुन! जो देवों के मन्थन-समय क्षीरसागर से उत्पन्न हुआ था वह, ऐरावत मैं हूँ।

(10.239) मनुष्यों में जो राजा है, संकल लोक जिसकी प्रजा हो सेवा करते हैं वह मेरी विशेष विभूति है।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ 10.28 ॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ 10.29 ॥

(10.240) हे धनुर्धर। सब हथियारों मैं मैं वज्र हूँ जो सौ यज्ञ करके कृतार्थ होनेहारे इन्द्र के हाथ में रहता है।

(10.241) श्रीकृष्ण कहते हैं कि गौओं मैं जो कामधेनु है वह मैं हूँ, जन्म देनेहारों में जो मदन है वह मैं हूँ।

(10.242) हे कुन्तीसुत! सर्पकुल का नायक वासुकी मैं हूँ और सम्पूर्ण नागों में में अनन्त हूँ।

(10.243) श्रीअनन्त कहते हैं कि जलचरों में जो पश्चिम दिशा का स्वामी वरुण है वह मैं हूँ।

(10.244) और मैं यथार्थ कह रहा हूँ कि सम्पूर्ण पितृगणों में जो पितृदेवता अर्यमा है वह मैं हूँ।

(10.245) जग के जो शुभाशुभ लिखनेहारे, प्राणियों के मन का खोज लेनेहारे और कर्मानुसार भोगों के देनेहारे हैं

(10.246) उन शासन करनेहारों में जो यम है, जो कर्म का साक्षिभूत धर्म है, वह मैं हूँ। इस प्रकार श्रीरमापति आत्माराम ने निरूपण किया और फिर कहा —

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ 10.30 ॥

(10.247) अजी दैत्यों के कुल में जो प्रह्लाद है वह मैं ही हूँ। इसी कारण वह दैत्यस्वभाव के समुदाय में लिप्त नहीं हुआ।

(10.248) श्रीगोपाल ने कहा कि हरण करनेहारों में जो महाकाल है, वह मैं हूँ। श्वापदों में जो व्याघ्र है वह मैं हूँ।

(10.249) पक्षीजातियों में जो गरुड है वह मैं हूँ इसीलिए वह मुझे पीठ पर ले जा सकता है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।

झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ 10.31 ॥

(10.250) हे धनुर्धर! इस विस्तृत पृथ्वी पर जो एक घड़ी भी न लगा, एक ही उड़ान में सातों समुद्र की प्रदक्षिणा कर सकते हैं

(10.251) उन सब वेगवान पदार्थों में जो पवन है वही मैं हूँ। हे पाण्डुसुत! सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में मुझे श्रीराम समझो,

(10.252) जिसने संकटस्थ धर्म का पक्ष ले त्रेतायुग में केवल एक धनुष के ही सहाय से विजयलक्ष्मी का अपनी ही ओर — एकमार्गी — कर लिया,

(10.253) और अनन्तर सुसमय-रूपी पर्वत पर खड़े हो आकाश में जयघोष करते हुए प्राणियों के हाथ प्रतापी रावण की मस्तकपंक्ति का बलि दिया,

(10.254) जिस ने देवों को सम्मान प्राप्त करा दिया, धर्म का जीर्णोद्धार किया और सूर्यवंश में मानों जो सूर्य ही उत्पन्न हुआ

(10.255) वह शस्त्र धारण करनेहारों में जो एक रमाकान्त श्रीरामचन्द्र हैं वह मैं हूँ। पुच्छवान् जलचरों में मैं मकर हूँ।

(10.256) सम्पूर्ण प्रवाहों में जो भगीरथ की लाई हुई गंगा है, जिसे जह्नु पी गया और फिर उसने जाँघ फाड़ कर जिसे बाहर निकाला,

(10.257) जो सम्पूर्ण जलप्रवाहों में त्रिभुवन की मुख्य नदी है सो हे पाण्डुसुत वह जाह्नवी मैं हूँ।

(10.258) इस प्रकार अलग-अलग सृष्टि में एक एक विभूति का नाम लूँ तो सहस्र जन्मों तक वे आधी भी न गिनी जायँगी।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ 10.32 ॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ 10.33 ॥

(10.259) सम्पूर्ण नक्षत्र चुन लेने की इच्छा अन्तःकरण में उपजे तो जैसे आकाश की ही पोटरी बाँधनी चाहिए,

(10.260) अथवा पृथ्वी के परमाणुओं की गणना करनी हो तो समग्र भूगोल बगल में दाबना चाहिए, वैसे ही यदि मेरा विस्तार देखना हो तो मुझे ही जान लेना चाहिए।

(10.261) जैसे शाखाओं-सहित फूल और फल सब एकदम समेटना चाहो तो जड़ उखाड़कर हाथ में लेना आवश्यक है

(10.262) वैसे ही मेरी विशेष विभूतियाँ यदि सम्पूर्ण जानना चाहो ते एक मेरा शुद्धस्वरूप ही जान लेना आवश्यक है;

(10.263) अन्यथा मेरी अलग अलग विभूतियाँ कितनी और कहाँ तक सुनोगे। इसलिए हे महामति! एकदम यह जान लो कि सभी मैं हूँ।

(10.264) हे किरीटी! मैं सम्पूर्ण सृष्टि के आदि में, मध्य में, और अन्त में हूँ जैसे कि पट में तन्तु सर्वत्र समान भरा रहता है।

(10.265) मुझे ऐसा व्यापक जान लो तो फिर विभूतियों के भेद से क्या काम है! परन्तु यह तुम्हारा अधिकार नहीं है, इसलिए रहने दे।

(10.266) हे सुभद्रापति! तुमने विभूतियाँ पूछीं अतएव वे ही सुन लो। विद्याओं में जो अध्यात्मविद्या है वह मैं हूँ।

(10.267) अजी, बोलनेवालों में मैं वह वाद हूँ, जो सब शास्त्रों की एकवाक्यता कर कभी बन्द नहीं होता,

(10.268) जो मर्यादित करने से और बढ़ता है, जिससे सुननेवालों का तर्क और भी प्रबल होता है तथा जिससे बोलनेहारों की मधुर वक्तृताएँ प्रेरित होती हैं।

(10.269) इस प्रकार श्रीगोविन्द ने कहा कि प्रतिपादन करनेहारों में में वाद हूँ, और अक्षरों में जो शुद्ध अकार है वह मैं हूँ।

(10.270) और सुनो, समासों में जो द्वन्द्व है वह मैं हूँ। मशक से लेकर ब्रह्मदेव पर्यन्त सबका ग्रास करनेहारा मैं हूँ।

(10.271) जो मेरू-मण्डल प्रभृति सब पदार्थों-सहित पृथ्वी का पिघला डालता है और प्रलय-काल की समुद्र-स्थिति का भी जहाँ के तहाँ सोख डालता है,

(10.272) जो प्रलय के तेज से लिपट जाता है, पवन का निःशेष निगल है, और हे किरीटी! आकाश जिसके पेट में समाया हुआ है,

(10.273) ऐसा जो अपार काल है, – लक्ष्मी के संग क्रीडा करनेहारे श्रीकृष्ण कहते है कि — वह काल मैं हूँ तथा सृष्टि का संगठन कर रचनेहारा भी मैं हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ 10.34 ॥

(10.274) और, उत्पन्न हुए भूतों की रक्षा भी मैं ही करता हूँ। मैं ही सबका जीवन हूँ, और निदान में जब इनका संहार करता हूँ तब मृत्यु भी ही बनता हूँ।

(10.275) अब स्त्रीकक्षा में सात विभूतियाँ और हैं, उनका भी मैं प्रेम से वर्णन करता हूँ सो सुनो। (276) हे अर्जुन! नित्य नूतन जो कीर्ति है वह मेरी मूर्ति है, और औदार्यसहित जो सम्पत्ति है वह भी मुझे ही जानो।

(10.277) और न्याय के सुखासन पर चढ़कर विवेक के मार्ग से जो वाचा चलती है वह भी मैं हूँ।

(10.278) पदार्थ देखते ही जो मेरा स्मरण करा दे वह स्मृति भी निश्चय से मैं हूँ।

(10.279) आत्महित का अपाय न करनेहारी जो बुद्धि है वह मैं हूँ। संसार में मैं धृति हूँ, तथा त्रिभुवन में जो क्षमा है वह मैं हूँ।

(10.280) संसाररूपी हाथी के विदारण करनेहारे सिंह-श्रीकृष्ण ने कहा कि स्त्रीगणों में ये मेरी सात शक्तियाँ हैं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ 10.35 ॥

(10.281) श्रीरमापति ने कहा कि हे प्रियोत्तम! वेदों के समुदाय में जो बृहत्साम हैं

(10.282) वह मैं हूँ। और यह निश्चय जाना कि सब छन्दों में जिसे गायत्री छन्द कहते हैं वह मेरा स्वरूप है।

(10.283) शार्ङ्गधर कहते हैं कि मासों में जो मार्गशीर्ष है वह मैं हूँ, और ऋतुओं में पुष्पों की खानि जो वसन्त है वह मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ 10.36 ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ 10.37 ॥

(10.284ः हे विद्वान्! छल करनेहारों में कुशल जो द्यूत है वह भी मैं इस लिए यद्यपि वह खुली हुई चोरी है तथापि उसका निवारण न करना चाहिए।

(10.285) सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों में जो तेज है वह मैं हूँ, ओर सम्पूर्ण कर्मफलों में मैं विजय हूँ।

(10.286 देवों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि व्यापारों में वह व्यापार मैं हूँ जिससे न्याय निर्मल दिखाई दे।

(10.287) सात्विक लोगों में मैं सत्त्व हूँ। यादवों मैं जो श्रीमन्त हैं वह मैं हूँ।

(10.288) जो देवकी और वसुदेव से उत्पन्न हुआ, जो गोपियों के हेतु गोकुल में गया सो मैं हूँ; जिसने पूतना का स्तनपान कर उसके प्राण हर लिये;

(10.289) बाल्यावस्था की कली न खुली थी तभी जिसने पृथ्वी दैत्यरहित कर डाली और हाथ में पर्वत धारण कर इन्द्र की महिमा की माप कर डाली;

(10.290) जिसने कालिन्दी के हृदय में सलने-वाला दुःख मिटा दिया; जिसने जलते हुए गोकुल की रक्षा की और बछड़ों के विषय में ब्रह्मा को पागल बना दिया;

(10.291) जिसने बाल्यावस्था के प्रथम भाग में ही कंस जैसे बड़े बड़े महापुरुषों का तत्काल सहज ही नाश कर दिया —

(10.292) ये बातें कहाँ तक वर्णन करें, तुमने भी ये सब सुनी हैं — तात्पर्य यह कि यादवों में ऐसा मेरा यही स्वरूप है।

(10.293) सोमवंशी पाण्डवों में मुझे अर्जुन जानो। इसलिए हमारे पारस्परिक प्रेम में त्रुटि नहीं होती।

(10.294) तुम संन्यासी का भेष धर कर हमारी भगिनी का चुरा कर ले गये तथापि हमारे मन में भेद उत्पन्न नहीं हुआ। तुम और हम दोनों एकरूप हैं।

(10.295) यादवों के राजा श्रीकृष्ण ने और भी कहा कि मुनियों में मैं व्यासदेव हूँ और कवीश्वरों में जो धैर्य का आश्रयस्थान शुक्राचार्य है वह मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ 10.38 ॥

(10.296) अजी, दमन करनेहारों में अनिवार्य जो दण्ड है वह मैं हूँ जो कि चिउँटी से लेकर ब्रह्मा तक सब को नियत समय पर प्राप्त होता है।

(10.297 सार और असार का निश्चय करनेहारे और धर्मज्ञान का पक्ष लेनेवाले ऐसे सम्पूर्ण शास्त्रों में जो नीतिशास्त्र है वह मैं हूँ.।

(10.298 हे सुहृद अर्जुन! सब गूढ़ बातों में मैं मौन हूँ। इसलिए न बोलनेवाले के सामने ब्रह्मदेव भी अज्ञानी बन जाता है।

(10.299) अजी, ज्ञानियों में जो ज्ञान है वह मैं हूँ। अब और रहने दे। इन विभूतियों का कुछ पार नहीं दिखाई देता।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ 10.39 ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ 10.40 ॥

(10.300) हे धनुर्धर! चाहे वर्षा की धाराओं की गणना हो सके, अथवा पृथ्वी के तृण और अंकुरों की गणना कर ली जाय

(10.301) परन्तु जैसे महासमुद्र की तरंगों की गिनती नहीं हे सकती वैसे ही मेरे चिह्नों की भी थाह नहीं;

(10.302) एवं जो 75 मुख्य विभूतियों का वर्णन किया वह उद्देश भी मुझे वृथा हुआ सा मालूम होता है।

(10.303) क्योंकि अन्य विभूति-विस्तारों की सर्वथा गिनती नहीं हो सकती। इससे तुम कहाँ तक सुनोगे और हम कहाँ तक वर्णन करें।

(10.304) इसलिए हम एक ही बार तुम्हें अपना मर्म बताये देते हैं कि सब प्राणांकुरों से जो बीजविस्तार दिखाई देता है वह मैं हूँ।

(10.305) अतएव छ्वाटा-बड़ा न कहना चाहिए, ऊँचा-नीचा भाव छोड़ देना चाहिए और सब वस्तुमात्र को मद्रूप ही समझना चाहिए।

(10.306) तथापि मैं और एक साधारण चिह्न बतलाता हूँ जिससे हे अर्जुन! तुम मेरी विभूतियाँ जान लो।

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ 10.41 ॥

(10.307) हे धनंजय! जहाँ जहाँ सम्पत्ति और दया दोनों आ बसती हैं उन्हें मेरे अंश जाना।

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 10.42 ॥

(10.308) अथवा गगन में बिम्ब एक हो रहता है परन्तु जैसे उसकी प्रभा त्रिभुवन में फैलती है वैसे ही मुझ एक की ही आज्ञा सब जगत् पालता है।

(10.309) ऐसे मुझ एक का अकेला मत समझे। ऐसा मैं निर्धनता का नाम भी नहीं जानता। कामधेनु के साथ क्या उसकी सामग्री बँधी चलती है?

(10.310) उससे तो चाहे जब कोई जो कुछ माँगे वह एकदम उत्पन्न करने लगती है, वैसे ही जगत् के सब ऐश्वर्य मुझ एक में भरे हुए रहते हैं।

(10.311) ऐसा जो मैं हूँ उसे पहचानने का यही लक्षण है कि है प्राज्ञ! जगत् जिसकी आज्ञा की वन्दना करता है उसे ही मेरा अवतार जाना।

(10.312) `यह साधारण है और यह विशेष है` ऐसे भेद करना महापाप है क्योंकि एक मैं ही निःशेष विश्वरूप हूँ,

(10.313) तो फिर मध्यम और उत्तम भेदों की कल्पना कैसे हो सकती है व्यर्थ अपनी बुद्धि को भेद का कलंक क्यों लगाना चाहिए।

(10.315) घी को क्यों मथना चाहिए? अमृत को राँध कर क्यों आधा करना चाहिए? अजी वायु का क्या दाहिना-बायाँ भाग होता है?

(10.315) सूर्यबिम्ब का पेट और पीठ देखने की धुन में अपनी दृष्टि का भी नाश हो जावेगा। वैसे ही मेरे स्वरूप के विषय में सामान्य और विशेष की बात नहीं है सकती।

(10.316) इसके अलावा इन अलग अलग विभूतियों से मुझ अपार की गणना कहाँ तक करोगे? इसलिए हे सुभद्रापति! अधिक क्या कहा जाय, इस प्रकार जानना रहने दे।

(10.317) मेरे एक अंश से यह जगत् व्याप्त है, अतएव भेदरहित हो समानता रख सर्वत्र एक समझ कर मेरा भजन करो।

(10.318) इस प्रकार जब ज्ञान-रूपी वन के वसन्त, विरक्तों के एकान्त, श्रीमान श्रीकृष्णदेव बोले

(10.319) तब अर्जुन ने कहा — हे स्वामी! आपने यह अनुचित कहा कि भेद कोई एक वस्तु है और हम जो उस से भिन्न हैं से हमका उसे छोड़ना चाहिए।

(10.320) अजी, सूर्य क्या जगत् से कहता है कि तुम अँधेरे का दूर हटा दो? परन्तु आपको अविचारी कहना छोटे मुँह बड़ा कौर लेना है।

(10.321) आपका नाम ही किसी भी समय जिनके मुख से निकलता है, अथवा कान से सुन पड़ता है, उनके हृदय से भेद निश्चय से भाग जाता है।

(10.322) तो फिर जब मेरे देव ने हाथ पर पानी छोड़ आप सम्पूर्ण परब्रह्म का ही मुझे अर्पण किया है तो कौन कहाँ और काहे का भेद देखेगा?

(10.323) अजी, चन्द्रबिम्ब के अन्तर्गृह में प्रवेश करने पर भी क्या उष्णता लगेगी? परन्तु हे शार्ङ्गधर आप श्रेष्ठ हैं, इससे चाहे आप इस प्रकार कहें।

(10.324) इसपर देव ने स्वभावतः सन्तुष्ट होकर अर्जुन का हृदय से लगा लिया और कहा कि तुम हमारे वचनों पर क्रोध न करो।

(10.325) हमने जो तुम्हें भेद की रीति से विभूतियों का वर्णन कर बताया वह अभेदबुद्धि से तुम्हारे अन्तःकरण में प्रतीत हुआ कि नहीं,

(10.326) यही देखने के लिए हम क्षणभर बाह्यतः कुछ बोलते रहे। अब मालूम हुआ कि विभूतियों का ज्ञान तुम्हें उत्तम हो गया।

(10.327) तब अर्जुन ने कहा कि यह आप ही जानें, परन्तु मुझे तो सब विश्व आपसे भरा हुआ दिखाई देता है।

(10.328) हे राजा! उस अर्जुन का ऐसी अनुभव की योग्यता प्राप्त हो गई। संजय के इन वचनों पर धृतराष्ट्र चुपचाप ही रहा।

(10.329) तब संजय ने दुःखित अन्तःकरण से मन में कहा कि कुछ आश्चर्य नहीं कि यह धृतराष्ट्र इस लाभ का खो रहा है। मैं समझता था कि यह अन्तःकरण का चंगा होगा परन्तु यह तो भीतर से भी अन्धा है।

(10.330) अस्तु, अर्जुन ने इस प्रकार अपने कल्याण की वृद्धि की। परन्तु इस पर भी उसे और एक उत्कण्ठा उत्पन्न हुई।

(10.331) उसने चाहा कि यही हृदय की अन्तर्प्रतीति बाहर नेत्रों के सन्मुख प्रकट हो। उसकी बुद्धि यह इच्छा ले उठी

(10.332) कि मैं सम्पूर्ण विश्वरूप का इन्हीं दोनों आँखों से आलिंगन कर लूँ। वह भाग्यवान् था इसी लिए इतना बड़ा अभिलाष कर सका।

(10.333) आज वह कल्पवृक्ष की शाखा बन रहा है, इसलिए उसमें बन्ध्या फूल नहीं फूलते। जो जो वह मुँह से कहता है सो श्रीकृष्ण सत्य ही कर बताते हैं।

(10.334) जो प्रह्लाद के वचनों के हेतु स्वयं विष भी बन गये वे परमात्मा अर्जुन का सद्गुरु प्राप्त हुए हैं।

(10.335) इसलिए ज्ञानदेव कहते हैं कि अर्जन उनसे विश्वरूप पूछने की किस प्रकार चेष्टा करेंगे, उस कथा का हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां दशमोऽध्यायः।

ग्यारहवाँ अध्याय

(11.1) अब इसके उपरान्त एकादश अध्याय में शान्त और अद्भुत दोनों रसों से भरी हुई कथा कही है, जिसमें पार्थ का विश्वरूप की भेंट होती है

(11.2) तथा जिसमें शान्त रस के घर में अद्भुत रस की पहुनई हुई है और अन्य रसों का उसकी पंक्ति का सन्मान मिला है।

(11.3) अजी, दूलह और दुलहिन के विवाह के समारम्भ में जैसे बरातियों का भी कपड़े और अलंकार पहनाये जाते हैं वैसे ही इस भाषारूपी पालकी में सब रसों को शोभा प्राप्त हो रही है।

(11.4) परन्तु उनमें शान्त और अद्भुत इतने उत्तम हैं कि वे नेत्रों से ऐसे दिखाई देते हैं कि मानों विष्णु और शंकर प्रेम से आलिंगन कर रहे हों

(11.5) अथवा अमावस्या के दिन जैसे सूर्य और चन्द्र के बिम्ब समान ही मिल जाते हैं, वैसे ही इस अध्याय में रसों की एकता हो गई है।

(11.6) जैसे गंगा और यमुना के प्रवाह मिल जाते हैं वैसे ही यह भी रसों का प्रयाग बन गया है। इसी लिए जगत् इससे पवित्र हुआ है।

(11.7) इसमें गीतारूपी सरस्वती गुप्त है, और दोनों रसों के प्रवाह प्रकट हैं। अतएव हमें यह ठीक त्रिवेणी ही प्राप्त हुई है।

(11.8) ज्ञानदेव कहते हैं कि मेरे श्रीगुरु ने इस तीर्थ में श्रवण के द्वारा प्रवेश करना सुलभ कर दिया है।

(11.9) इसके संस्कृतरूपी कठिन तीर (किनारे) छाँट कर भाषा के शब्द-सोपान बना दिये हैं जो धर्म के निधान हैं।

(11.10) इससे हर कोई प्रेम से इस त्रिवेणी में नहा सकता है, विश्वरूपी प्रयाग माधव का दर्शन ले सकता है और तद्द्वारा संसार का तिलांजलि दे सकता है।

(11.11) अस्तु, इसमें मूर्तिमान् रस-भावों की ऐसी बहार आई है कि श्रवणसुख का मानों राज्य ही मिला सा मालूम होता है।

(11.12) इनमें से शान्त और अद्भुत प्रकट हैं और अन्य रसों की भी महिमा दिखाई देती है। परन्तु यह उपमा भी अल्प है! इसमें स्पष्ट मोक्ष-सुख ही प्राप्त होता है।

(11.13) ऐसा यह ग्यारहवाँ अध्याय श्रीकृष्ण के निज का विश्रान्तिस्थान है। परन्तु अर्जुन भाग्यवानों का राजा है जो यहाँ भी आ पहुँचा।

(11.14) परन्तु यहाँ केवल अर्जुन ही को पहुँचा क्यों कहा जाय? आज चाहे जिसे यहाँ पहुँचने का सुकाल हो गया है, क्योंकि गीतार्थ भाषा में हो गया है।

(11.15) इसलिए मेरी विनती सुनिए। आप सज्जन मेरी ओर ध्यान दें।

(11.16) यद्यपि आप सन्तों की सभा में ढिठाई करना योग्य नहीं है तथापि आप मुझे प्रेम से बालक समझिए।

(11.17) अजी तोते का आप ही पढाते हैं और उसके पढ़ते ही माथा डुलाते हैं। अथवा बालक से कराये हुए कौतूहल से क्या माता का सन्तोष नहीं होता?

(11.18) इसी प्रकार मैं जो जो कहता हूँ वह हे प्रभु! सब आप ही का सिखाया हुआ है। इसलिए हे देव! आप अपने ही वचन सुनिए।

(11.19) यह विद्यारूपी मधुर पेड़ आपने ही लगाया है। अब अवधानरूपी अमृत से सींच कर इसकी वृद्धि कीजिए,

(11.20) तो यह रस-भावरूपी फूलों से फूलेगा, अनेक अर्थरूपी फलों की बहार से फलेगा और

आपके निमित्त जगत् को सुखकारी होगा।

(11.21) इन वचनों से सन्तों को आनन्द हुआ। वे बोले, वाह! शाबाश हमें बहुत सन्तोष हुआ है। अब अर्जुन ने क्या कहा सो वर्णन करो।

(11.22) तब श्रीनिवृत्ति के दास ज्ञानेश्वर ने कहा — अजी, कृष्ण और अर्जुन का संवाद वर्णन करना मैं साधारण मनुष्य भला क्या जानूँ, परन्तु वह आप ही करवाते हैं।

(11.23) अजी, वन के पत्ते खानेवाले वानरों ने लंकेश्वर रावण का पराभव कर दिया! अथवा अकेले अर्जुन ने क्या ग्यारह अक्षौहिणियाँ नहीं जीत लीं?

(11.24) अतएव समर्थ जो करें सो न हो, यह बात चराचर में नहीं हो सकती। उसी प्रकार आप मुझसे निरूपण करवा रहे हैं।

(11.25) अब सुनिए, मैं श्रीवैकुण्ठपति श्रीकृष्ण के मुख से निकला हुआ गीता-भाव वर्णन करता हूँ।

(11.26) गीता-ग्रन्थ अत्यन्त श्रेष्ठ है, जिसमें वेदों के प्रतिपाद्य देव स्वयं श्रीकृष्ण वक्ता हैं

(11.27) उसकी महिमा का क्या वर्णन किया जाय? उसे श्रीशंकर की बुद्धि भी आकलन न कर सकी। अतएव जीवभाव से उसका वन्दन करना ही भला है।

(11.28) अब अर्जुन ने विश्वरूप के दर्शन का हेतु मन में रख कर संवाद का कैसा उपक्रम किया सा सुनिए।

(11.29) उसे ऐसा अनुभवजन्य पतियारा हो। गया था कि यह सब जगत् सर्वेश्वर ही है; वह बाह्य नेत्रों से प्रत्यक्ष दिखाई दे

(11.30) यही उसके अन्तःकरण की इच्छा थी। परन्तु यह बात देव से पूछते हुए उसे संकट मालूम हुआ। क्योंकि विश्वरूप गुह्य है। वह कैसे पूछा जाय?

(11.31) उसने सोचा कि जा बात पहले कभी किसी भक्त ने नहीं पूछी उसके लिए सहसा `मुझे दिखाइए` कैसे कह दूँ!

(11.32) मैं इनका बड़ा मित्र हूँ सही, पर क्या लक्ष्मी से भी प्रिय हूँ! तथापि वह भी यह बात पूँछने के लिए डरीं।

(11.33) मैंने इनकी चाहे जैसी सेवा की हो।, परन्तु क्या वह गरुड के बराबर हो सकती है? पर उसने भी यह बात नहीं निकाली।

(11.34) मैं क्या सनकादिकों से भी प्रिय हूँ! परन्तु इन्होंने भी ऐसा पागलपन नहीं किया। मैं क्या गोकुल-वासियों के समान देव को प्रिय हो सकता हूँ

(11.35) तथापि उन्हें भी देव ने बालपन में इस बात से वंचित रक्खा। एक के गर्भवास भी सहे परन्तु विश्वरूप वैसा ही रहा। उसे इन्होंने किसी का नहीं दिखाया।

(11.36) जो इतनी गुह्य बात है, जो इनके निज अन्तःकरण की वस्तु है वह एकदम मैं कैसे पूछ सकता हूँ

(11.37) और यदि न पूछूँ तो विश्वरूप देखे बिना सुख ही न होगा और जीवन भी कदाचित ही रहे।

(11.38) इसलिए कुछ पूछता ही हूँ। फिर देव चाहे जो करें। इस प्रकार अर्जुन ने बोलने की हिम्मत की,

(11.39) परन्तु ऐसे प्रेम से कि देव ने एक दो बातों में ही सम्पूर्ण विश्वरूप खोल खोल कर दिखा दिया।

(11.40) अजी, बछड़े को देखते ही गाय झटपट प्रेम से उठ खड़ी होती है, तो क्या स्तन को मुँह लगाने पर वह पनियाये बिना रहेगी

(11.41) वैसे ही, पाण्डवों के नाम से जो कृष्ण वन में भी रक्षा करने के लिए दौड़ गये, उनसे अर्जुन के प्रश्न करते ही क्या रहा जायगा

(11.42) वे सहज ही प्रेम की मूर्ति हैं, और उस प्रेम का मानों अर्जुनरूपी नशा खिलाया है। ऐसे मेल के समय भिन्नता रह जाना ही आश्चर्य है।

(11.43) इससे, अर्जुन के पूछते ही देव आप ही आप विश्वरूप हो जावेंगे। ऐसा यह पहला ही प्रसंग है। इसका वर्णन सुनिए।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ 11.1 ॥

(11.44) पार्थ ने श्रीकृष्ण से कहा — हे कृपानिधि! आपने मुझसे अनिर्वाच्य वस्तु भी कह कर प्रकट कर दी।

(11.45) महाभूत जब ब्रह्म में विलीन होते हैं और जब महत्तत्व इत्यादि के ठाँव मिट जाते हैं तब देव जिस स्वरूप में रहते हैं, जो आपका निदान का विश्राम है,

(11.46) जो अभी तक आपने अपने हृदय में किसी कृपण के समान जतन कर रक्खा था, जिसे आपने वेदों से भी छिपा रक्खा था,

(11.47) वह अपना हृदय आज आपने मेरे सन्मुख खोल दिया। जिस अध्यात्म पर शंकर ने अपना ऐश्वर्य निछावर कर दिया

(11.48) वह वस्तु हे स्वामी! आपने एकदम मुझे प्रदान कर दी। यद्यपि हम ऐसा कहते हैं तथापि हम आपसे भिन्न कहाँ हैं?

(11.49) परन्तु सचमुच महामोह की बाढ में सिर तक डूबा हुआ देख कर हे श्रीहरि! आप ही ने कूद कर मुझे बाहर निकाला।

(11.50) एक आपको छोड़ कर जगत् में कभी दूसरी वार्ता ही नहीं है परन्तु हमारा कर्म देखिए कि हम दूसरी समझते हैं।

(11.51) मैं जगत् में एक अर्जुन हूँ, ऐसा में शरीर का अभिमान रखता था, और इन कौरवों का मैं अपने गोत्रज समझता था;

(11.52) और इन्हें मारने से मैं किस पाप में जा पड़ूँगा यह सोचता हुआ मानों दुःस्वप्न देख रहा था। इतने में प्रभु ने मुझे जगा दिया।

(11.53) हे देव, हे लक्ष्मीपति! गन्धर्व नगरी की बस्ती छोड़कर पानी पीने की इच्छा से मैं मृगजल पी रहा था।

(11.54) अजी, साँप तो कपड़े का ही था परन्तु उसकी लहरें सच्ची मालूम हो रही थी। इस प्रकार व्यर्थ मरते हुए का जीवदान देने का पुण्य आपने लिया है।

(11.55) हे अनन्त! अपनी परछाई न पहचाननेहारे सिंह को कुएँ में गिरते हुए देख कर जैसे कोई थाम ले वैसे ही आपने मेरी रक्षा की है।

(11.56) नहीं तो, सुनिए, मेरा तो यहाँ तक निश्चय था कि चाहे अभी सात ही समुद्र इकट्ठे हो जाये,

(11.57) चाहे यह सम्पूर्ण जग डूब जाय, चाहे ऊपर से आकाश भी टूट पड़े, परन्तु मैं इन गोत्रजों से युद्ध न करूँगा।

(11.58) ऐसे अहंकार की अधिकता से मैं आग्रहरूपी जल में डूबा हुआ था। भला हुआ कि आप पास थे, अन्यथा मुझे कौन बाहर निकालता?

(11.59) वास्तव में कोई न होते हुए भी मैंने एक अपना अस्तित्व मान लिया, और जिनका कोई अस्तित्व नहीं है उनका नाम गोत्रज रख लिया। इस प्रकार मैं अत्यन्त पागल हो रहा था, परन्तु आपने मेरी रक्षा की।

(11.60) पहले भी आपने एक बार लाक्षागृह में जलने से बचाया था; तब तो केवल शरीर के नाश का भय था, परन्तु अब यह दूसरी पीडा तो मेरा चैतन्य-सहित नाश करनेवाली थी।

(11.61) दुराग्रहरूपी हिरण्याक्ष मेरी बुद्धिरूपी पृथ्वी का बगल में दबाकर मोह-समुद्र के गवाक्ष में घुस गया था,

(11.62) परन्तु आपकी सामर्थ्य से एक बार फिर मेरी बुद्धि हाथ लगी। इस प्रसंग में आपको दूसरा वराह-रूप ही लेना पड़ा।

(11.63) ऐसे ऐसे आपके अपार उपकार हैं। उनका एक ही वाचा से मैं क्या वर्णन करूँ? आपने मेरे लिए पंचप्राण ही समर्पित कर दिये हैं।

(11.64) वे कुछ वृथा न जावेंगे। हे देवराज! आपको अत्यन्त यश प्राप्त हुआ है जो आपने मेरी माया का साद्यन्त नाश कर दिया।

(11.65) अजी, आनन्द-सरोवर के कमल सरीखे आपके नेत्र जिनके लिए अपना प्रसादरूपी मन्दिर बना दें,

(11.66) उनकी और मोह से भेंट हो! यह वात बहुत ही तुच्छ है। बड़वानल पर मृगजल की वर्षा किस गिनती में है?

(11.67) और हे श्रीगुरु! में तो इस कृपारूपी मन्दिर में आकर ब्रह्मरस का भोजन कर रहा हूँ।

(11.68) उससे मेरे मोह के चले जाने में क्या कुछ आश्चर्य है? तात्पर्य यह कि आपके चरण छूकर कहता हूँ कि मेरा उद्धार हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ 11.2 ॥

(11.69) हे कमलपत्र के समान विस्तीर्ण नेत्रोंवाले, हे कोटि सूर्य के समान प्रकाश करनेहारे महेश! मैंने आज आपका निरूपण सुनो।

(11.70) आपने कहा कि जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं अथवा जिससे वे लय को प्राप्त होते हैं वह प्रकृति है।

(11.71) उस प्रकृति का आपने सम्पूर्ण वर्णन किया तथा उस पुरुष के रूप का भी निर्देश किया जिसकी महिमारूपी आच्छादन के कारण वेद वस्त्र-युक्त कहाता है।

(11.72) अजी, शब्दसमूह वृद्धिंगत होता है और जीवन रखता है, तथा धर्म जैसे रत्न उत्पन्न करता है; उसका कारण यही है कि वह आपके तेजोमय चरणों का आश्रय करता है।

(11.73) ऐसी जो आपकी अगाध महिमा है, सब मार्गों से जो एक ही गन्तव्य वस्तु है, जा आत्मानुभव-द्वारा रममाण होने योग्य है, वह आपने मुझे इस प्रकार दिखा दी

(11.74) कि जैसे आकाश के अभ्र साफ होते हो सूर्यमण्डल दिखाई देने लगता है; अथवा जैसे हाथ से सेवार हटाते ही जल दिखाई देता है;

(11.75) अथवा जैसे साँप की लपेटें हटाने पर चन्दन की भेंट होती है; अथवा जैसे राक्षसी के भागते ही द्रव्य हाथ लगता है

(11.76) वैसे ही जो यह प्रकृति का परदा पड़ा हुआ था उसे आपने दूर हटा कर मेरी बुद्धि का परब्रह्मरूपी शय्या पर लिटा दिया।

(11.77) हे देव, इन बातों का तो मेरे हृदय में यथार्थ निश्चय हो चुका, परन्तु एक और इच्छा उत्पन्न हुई है।

(11.78) यदि संकोच कर वह आपसे न पूछूँ तो और किससे पूछने जाऊँ? मैं क्या आपके अतिरिक्त और कोई स्थल जानता हूँ?

(11.79) जलचर यदि जल का बोझ समझे, बालक स्तन पीने में उपरोध रक्खे तो हे श्रीहरि! उनके जीवन के लिए क्या कोई दूसरा उपाय है?

(11.80) अतएव मुझसे संकोच नहीं किया जाता, – जो जी में आवे से आपके सामने कह देने की इच्छा होती है। तब श्रीकृष्ण ने कहा — ठहरो, क्या इच्छा है कहो।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ 11.3 ॥

(11.81) तब किरीटी ने कहा कि आपने जो निरूपण किया उससे मेरी प्रतीति की दृष्टि शीतल हो गई।

(11.82) अब जिसके संकल्प से यह लोक-परम्परा उत्पन्न और विलीन होती है, जिसे स्थान का आप स्वयं 'मैं' कहते हैं;

(11.83) आपका वह मूल स्वरूप कि जहाँ से आप ये दो भुजावाले और चार भुजावाले रूप देवों के कार्य के मिस से ले लेकर आते हैं,

(11.84) जहाँ बहुरूपिये की तरह आप अपना जलशयन का वेष अथवा मत्स्य, कूर्म, इत्यादि लीला के स्वरूप — खेल समाप्त होते ही — जमा कर रखते हैं;

(11.85) जिसे उपनिषद् गाते हैं, योगी हृदय में प्रवेश कर देखते हैं; सनकादिक जिसे आलिंगन दिये हुए हैं,

(11.86) ऐसा अगाध जो आपका विश्वरूप कानों से सुनते हैं उसे देखने के लिए मेरा चित्त उतावला हुआ है।

(11.87) देव ने मेरा संकोच छुड़ा कर प्रेम से जो मेरी इच्छा पूछी सो यही एक बड़ी इच्छा है।

(11.88) मेरा जी यही एक बड़ी अभिलाषा बाँधे हुए है कि आपका सम्पूर्ण विश्वरूप मेरे दृष्टिगोचर हो। ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ 11.4 ॥

(11.89) परन्तु हे शार्ङ्गी! इसमें एक बात और है। आपका विश्वरूप देखने के लिए मुझमें योग्यता है अथवा नहीं,

(11.90) यह मैं अपने आप ही नहीं जानता। यदि देव कहें कि क्यों नहीं जानता, तो रोगी क्या अपने रोग का निदान जानता है?

(11.91) तथा उत्कण्ठा की आसक्ति से आर्त्त अपनी योग्यता भूल जाता है। जैसे प्यासा समझता है कि मुझे समुद्र भी काफी न होगा

(11.92) वैसे ही उत्कण्ठा के मोह के कारण मुझसे मर्यादा नहीं सँभाली जाती। इसलिए माता जैसे बालक की योग्यता जानती है,

(11.93) वैसे ही हे श्रीजनार्दन! आप मेरा अधिकार विचारिए और फिर विश्वरूप-दर्शन का उपक्रम कीजिए।

(11.94) ऐसी ही कृपा कीजिए, अन्यथा `नहीं' कह दीजिए। सुनिए, पंचम स्वर के गायन से वृथा बहिरे का कैसे सुख दिया जा सकता हैं

(11.95) यों तो एक चातक को ही तृषा रहती है, पर इस कारण क्या मेघ सम्पूर्ण जग के लिए वर्षा नहीं करते? परन्तु वर्षा हो तो भी चट्टान पर गिरने से वृथा जाती है।

(11.96) चकोरों का चन्द्रामृत प्राप्त होता है तो अन्यों का क्या शपथ देकर मना किया जाता है? परन्तु आँखों के बिना प्रकाश भी वृथा है।

(11.97) अतएव आप सहसा विश्वरूप दिखावेंगे, यह हमें निश्चय से विश्वास है, क्योंकि आप ज्ञानियों और मूर्खों के लिए नित्य समान ही हैं।

(11.98) मैं जानता हूँ कि आपकी उदारता स्वतन्त्र है। देते समय आप पात्रापात्र नहीं विचारते। आपने कैवल्य जैसी पवित्र वस्तु वैरियों का भी दे दी है।

(11.99) मोक्ष सचमुच में कठिनता से प्राप्त करने योग्य है परन्तु वह भी आपकी सेवा करती है, और आपके दूत की तरह जहाँ भेजो तहाँ जाती है।

(11.100) जो पूतना स्तन में विष भर कर आपको मारने के लिए आई थी उसे आपने सनकादिकों के समान सायुज्य मुक्ति का माधुर्य समर्पण कर दिया!

(11.101) अजी, राजसूय यज्ञ में त्रिभुवन भर के सदस्यों के सामने सैकडों दुर्वचनों से आपका कैसा अपमान किया गया!

(11.102) ऐसे अपराधी शिशुपाल को, हे गोपाल! आपने अपना पद दिया। उत्तानपाद राजा के बालक का क्या ध्रुवपद की इच्छा थी?

(11.103) वह तो इस हेतु से वन में आया था कि मैं पिता की गोद में बैठूँ। परन्तु उसे आपने जगत् में चन्द्र-सूर्य इत्यादि की अपेक्षा श्रेष्ठ बना दिया।

(11.104) इस प्रकार हे उदार! सब आर्तों के लिए आप ही एक दाता हैं। पुत्र को बुलाते हुए अजामिल को आपने मुक्ति दे दी।

(11.105) हे दाता! जिसने आपकी छाती में लात मारी उसका चरण आप धारण करते हैं। अभी तक आप अपने वैरी के शरीर [1] को कहीं नहीं भूलते।

(11.106) इस प्रकार अपकार करनेवालों पर भी आप उपकार करते हैं तथा कुपात्रों पर भी उदारता दिखाते हैं। बलि ने आपका दान दिया इसलिए आप उसके द्वारपाल बन गये।

---

[1] शंख को

(11.107) जो गणिका न आपको पूजती थी न आपके गुणानुवाद सुनती थी परन्तु कुतूहल से केवल तोते को पुकारती थी उसे आपने वैकुण्ठ में सुखरूप कर दिया।

(11.108) इस प्रकार वृथा बहाने देख कर भी आप स्वेच्छा से अपना पद देने लगते हैं तो क्या आप मेरे लिए कोई दूसरी बात करेंगे?

(11.109) अजी, अपने दूध की अधिकाई से जो जगत् का संकट दूर करती है उसी कामधेनु के बछड़े क्या भूखे रह जावेंगे?

(11.110) अतएव मैंने जो कुछ विनती की वह देव पूर्ण न करें, यह बात निश्चय से न होगी। परन्तु मुझे देखने की योग्यता दीजिए।

(11.111) आपका विश्वरूप देख सकने के योग्य यदि मेरी आँखें हों तो हे देव! मेरी इच्छा के दोहद पूर्ण कीजिए।

(11.112) सुभद्रापति ऐसी यथायोग्य विनती कर ज्योंही चुप हुआ त्योंही उन षड्गुणों के चक्रवर्ती राजा श्रीकृष्ण से न रहा गया।

(11.113) वे मानों दयारूप अमृत से भरे हुए मेघ हैं, और अर्जुन मानों समीप आया हुआ वर्षा-काल है; अथवा श्रीकृष्ण कोकिल और अर्जुन वसन्त हैं;

(11.114) अथवा पूर्ण चन्द्रबिम्ब देखकर जैसे क्षीरसागर उछलता है वैसे ही श्रीकृष्ण प्रेम के वश हे दुगुने से अधिक उल्लसित हो गये।

(11.115) फिर उस प्रसन्नता के आवेश में दया से गरज कर कहने लगे — हे पार्थ! देखो देखो, मेरे अनेक स्वरूप देखो।

(11.116) अर्जुन ने एक ही विश्व-रूप देखने की इच्छा की थी परन्तु श्रीकृष्ण ने सब कुछ विश्वरूप कर डाला।

(11.117) देव की उदारता अपरिमित है। वे सर्वदा याचक की इच्छा से हजार गुना, अपना सर्वस्व, दे देते हैं।

(11.118) अजी, जो शेष की आँखों से भी छिपा रक्खा, जिस से वेद भी वंचित रहे, जो हृदय का गुह्य लक्ष्मी से भी छिपा रक्खा,

(11.119) उसी विश्वरूप को अब अनेक रीति से प्रकट कर के देव श्रेष्ठ और अगाध भाग्यशाली पार्थ का दिखाने का उद्यम कर रहे हैं।

(11.120) जागता हुआ मनुष्य जो स्वप्नावस्था में जाय तो जैसे आप ही सब स्वप्न की सृष्टि बन जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण आप ही अनेक ब्रह्माण्ड बन रहे हैं।

(11.121) वह स्वरूप उन्होंने एकदम प्रकट किया और अज्ञान-दृष्टि की जवनिका हटा दी। किंबहुना, अपनी योग्य सम्पत्ति ही प्रकट कर दी।

(11.122) परन्तु इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि यह स्वरूप अर्जुन देख सकेगा या नहीं। स्नेह से आतुर हो कर वे कहने लगे कि देखो,

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ 11.5 ॥

(11.123) हे अर्जुन! तुमने एक स्वरूप दिखाने के लिए कहा और यदि मैंने वही दिखाया तो क्या दिखाया! अब देखे, सब जगत् मेरे ही रूपों से भरा है।

(11.124) कोई कृश हैं, कोई स्थूल हैं, कोई ह्रस्व हैं, कोई विशाल हैं, कोई मोटे हैं, कोई अत्यन्त सरल हैं,

(11.125) कोई अवश हैं, कोई सुलभ हैं, कोई व्यापार-युक्त हैं, कोई निश्चल हैं, कोई उदासीन हैं और कोई तीव्र प्रेम से युक्त हैं।

(11.126) कोई मस्त कोई सावधान हैं, कोई सुगम है, कोई अगाध हैं, कोई उदार हैं कोई कृपण और क्रोधी हैं।

(11.127) कोई शान्त हैं, कोई उत्तम मद से युक्त हैं, कोई स्तब्ध हैं, कोई आनन्दी हैं, कोई गर्जना करनेहारे हैं, कोई शब्दरहित और सौम्य हैं,

(11.128) कोई सकाम हैं, कोई विरक्त हैं, कोई जाग्रत हैं, कोई निद्रित हैं, कोई सन्तुष्ट हैं, कोई आर्त हैं, कोई प्रसन्न हैं।

(11.129) कोई शस्त्र-रहित हैं, कोई सशस्त्र हैं, कोई उग्र हैं. कोई अत्यन्त प्रेमल हैं, कोई भयानक हैं, कोई विचित्र हैं. और कोई समाधिस्थ हैं।

(11.130) कोई उत्पत्ति-कर्मों में निमग्न हैं, कोई प्रेम से पालन करनेहारे हैं, कोई क्रोध से संहार करनेहारे हैं और कोई साक्षी भूत हैं।

(11.131) यों नाना प्रकार के बहुतेरे दिव्य तेज और प्रकाश से युक्त रूप हैं। वैसे ही वे वर्ण में एक दूसरे से नहीं मिलते।

(11.132) कोई तपे हुए सुवर्ण जैसे अत्यन्त पीले वर्ण के हैं; कोई सर्वांग से ऐसे दिखाई देते हैं कि मानों आकाश को सेंदुर पात दिया हो।

(11.133) कोई स्वभावतः सुन्दर हैं, मानों ब्रह्माण्ड माणिकों से जड़ा हुआ है।। कोई अरुणोदय के समान लाल वर्ण के हैं,

(11.134) कोई निर्मल स्फटिक के समान उज्ज्वल हैं, कोई इन्द्रनील के समान अत्यन्त नीले हैं, कोई कज्जल के समान काले हैं और कोई लाल वे के हैं।

(11.135) कोई उज्ज्वल सुवर्ण के समान पीले, कोई जल से भरे हुए मेघों के समान साँवले, कोई कोई चम्पे के समान निर्मल और गोरे, और कोई हरे हैं।

(11.136) कोई तपे ताँबे के समान लाल, कोई श्वेत चन्द्र के समान निर्मल, ऐसे मेरे नाना वर्ण के रूप देखो।

(11.137) ये वर्ण जैसे अलग अलग हैं वैसी इन रूपों की आकृतियाँ भी भिन्न हैं। कोई ऐसे सुन्दर हैं कि मदन लज्जित हो शरण में आवे,

(11.138) कोई अत्यन्त लावण्य के रूप हैं, कोई तेजःपुंज हैं, कोई मनोहर हैं, मानों शृंगारलक्ष्मी के भाण्डार खोल दिये गये हों।

(11.139) कोई पुष्ट और मांसल अवयवों के बने हैं, कोई शुष्क हैं, कोई अति विकराल हैं, कोई लम्बे कण्ठ के, कोई बड़े सिर के, और कोई भयंकर हैं।

(11.140) ऐसी इन नाना प्रकार की आकृतियों का पार नहीं। देखो, इनके एक एक अंग-प्रदेश में जगत् भरा हुआ है।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ 11.6 ॥

(11.141) ज्योंही मैं दृष्टि खोलता हूँ त्योंही आदित्यों की सृष्टि उत्पन्न होती है, और बन्द करने से लय को प्राप्त होती है।

(11.142) मेरे मुख की भाफ निकलते ही सर्वत्र ज्वालामय हो जाता है जिससे पावक इत्यादि आठ वसुओं का समुदाय उत्पन्न होता है।

(11.143) और क्रोध से जहाँ भौहों की नोकें मिलती हैं वहाँ से रुद्रगणों के समुदाय उपजते हुए दिखाई देते हैं।

(11.144) मेरी सौम्यता का जीवन ऐसा है कि उससे अनेक अश्विनीकुमार उत्पन्न होते हैं। हे पाण्डव! मेरे कानों से अनेक वायु उत्पन्न होते हैं।

(11.145) इस प्रकार एक एक अवयव की लीला से देवों और सिद्धों के कुल उत्पन्न होते हैं। ये ऐसे अपार और विशाल रूप हैं

(11.146) कि जिनका वर्णन करते वेद भी बौरे हो गये हैं, जिन्हें देखने के लिए काल का आयुष्य भी थोड़ा है और जिनका ठाँव ब्रह्मदेव के भी हाथ नहीं लगता;

(11.147) तीनों वेदों ने जिन्हें कभी नहीं सुना वे ये मेरे अनेक रूप हैं; इन्हें प्रत्यक्ष देखकर आश्चर्य की लीलाओं का और महासुख का उपभोग लो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ 11.7 ॥

(11.148) हे किरीटी! देखो इन मूर्तियों के रोममूलों में सृष्टि भरी है, मानों कल्पवृक्ष की जड़ में तृणांकुर फूटे हों।

(11.149) गवाक्ष में से आई हुई किरणों में परमाणु जैसे उड़ते हुए दिखाई देते हैं, वैसे ही अवयवों की सन्धियों में ब्रह्माण्ड घूम रहा है।

(11.150) देखो, इन एक एक अवयवों के भागों में सम्पूर्ण विश्व विस्तृत हुआ है। यदि विश्व के भी परे देखने की मन में इच्छा हो हो।

(11.151) तो भी कुछ कमी नहीं है। तुम जो चाहों सो मेरी देह में देख सकते

(11.152) इस प्रकार विश्वावतार करुणापूर्ण श्रीकृष्ण ने कहा तथापि अर्जुन — देखता हूँ अथवा नहीं ऐसा — कुछ भी न कहकर चुपचाप रहा।

(11.153) वह स्तब्ध क्यों हो रहा, यह जानने के लिए श्रीकृष्ण जो देखते हैं तो वह वैसा ही उत्कण्ठारूपी अलंकार से विभूषित खड़ा है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ 11.8 ॥

(11.154) तब श्रीकृष्ण समझ गये कि इसकी उत्कण्ठा कम नहीं हुई; अभी सुख का साधन इसके हाथ नहीं लगा और हमने जो रूप दिखाया है वह यथार्थ में इसके ध्यान में नहीं आया।

(11.155) ऐसा मन में जानकर देव हँसे और हँस कर अर्जुन से — जो वैसा ही देखता खड़ा था — कहने लगे कि हमने तो विश्वरूप दिखा दिया पर तुमने देखा ही नहीं।

(11.156) पर बुद्धिमान् अर्जुन ने कहा कि महाराज। यह किसका दोष है? आप बगले से चाँदनी चरवाना चाहते हैं;

(11.157) आप दर्पण पोंछ कर अन्धे का दिखाने बैठते हैं; हे हृषीकेश! आप बहिरे के सामने

गीत गा रहे हैं।

(11.158) फूलों की रज का चारा जान बूझ कर दादुर के सामने डालकर वृथा गँवाते हैं तो फिर किस पर कोप करते हैं?

(11.159) जो बात इन्द्रियों को अगोचर कही गई है, जे केवल ज्ञानदृष्टि के ही हिस्से में आती है वह आप इन चर्मनेत्रों के सामने रखते हैं तो मैं कैसे देख सकूँ?

(11.160) परन्तु आपकी कमी बताना उचित नहीं। इसलिए चुपचाप रहना ही भला है। तब देव ने कहा — हे तात! ठीक है, यह बात हमें भी मान्य है।

(11.161) सत्य है कि यदि हमें विश्वरूप दिखाना है तो प्रथम तुम्हें उसे देखने की सामर्थ्य भी देनी चाहिए। परन्तु प्रेम से बोलते बोलते हमें विस्मरण हो गया।

(11.162) क्या हुआ? पृथ्वी का बिना ही जोते यदि बीज बोया जाय तो बह समय व्यर्थ ही जावेगा। अतएव अब हम तुम्हें वह दृष्टि देते हैं जिससे तुम मेरा निजी स्वरूप देख सको।

(11.163) हे पाण्डव! उस दृष्टि से हमारा सम्पूर्ण ऐश्वर्ययोग देख कर अनुभवान्तर्गत कर लो।

(11.164) वेदान्त से जानने योग्य, सकल लोकों के एक ही आदिकारण, और जगत् में पूज्य श्रीकृष्ण ने इस प्रकार`कथन किया।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ 11.9 ॥

(11.165) संजय बोले — परन्तु हे कौरव-कल के चक्रवर्ती! मुझे बारम्बार यही विस्मय होता है कि तीनों जगतों में लक्ष्मी से बढ़कर क्या कोई भाग्यवान है?

(11.166) अथवा संकेत से वर्णन करने के विषय में संसार में श्रुति के अतिरिक्त कोई दिखाइए; अथवा सेवा देखी जाय तो शेष की ही दिखाई देती है;

(11.167) अथवा प्राप्ति के लिए योगियों की तरह आठों पहर कष्ट कर उपासना करनेवाला गरुड के समान कौन है?

(11.168) परन्तु वे सभी अलग रह गये। सम्प्रति जिस दिन से इन पाण्डवों का जन्म हुआ तब से कृष्णसुख उन्हीं की ओर एकमार्गी हो गया है।

(11.169) परन्तु उन पाँचों में भी श्रीकृष्ण सहज ही अर्जुन के अधीन ऐसे हो गये हैं जैसे कोई कामुक मनुष्य स्त्री के अधीन हो जाता है।

(11.170) पढ़ाया हुआ पक्षी भी ऐसा नहीं बोलता; क्रीडा-मृग भी ऐसा नहीं चलता। इस अर्जुन का भाग्य न जाने कैसा अनुकूल हो रहा है।

(11.171) आज इस सम्पूर्ण परब्रह्म का भोग लेने के लिए, इसी के नेत्र भाग्यवान हो रहे हैं। श्रीकृष्ण कैसे इस की लाड़ली बातें पूरी कर रहे है।

(11.172) इसे कोप हो तो चुपचाप सह लेते हूँ, और यह रूठ जाय तो इसे समझाने जाते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन के पीछे अनोखे पागल हो रहे हैं।

(11.173) यों तो विषयों को जीत कर जिन शुक इत्यादि महात्माओं ने जन्म लिया वे इनके विषयों का वर्णन करते हुए इनके भाट बन गये हैं।

(11.174) ये योगियों के समाधिरूपी धन हैं, परन्तु पार्थ के अधीन हे रहे हैं। इसलिए हे राजा! मेरा मन विस्मय कर रहा है।

(11.175) परन्तु संजय ने कहा कि हे कौरवराज! इसमें विस्मय का भी क्या कारण है? श्रीकृष्ण जिसको स्वीकार करते हैं उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है।

(11.176) अस्तु, देवों के राजा श्रीकृष्ण ने पार्थ से कहा कि हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं जिससे तुम विश्वरूप का पद देख सकोगे।

(11.177) श्रीकृष्ण के मुख से ये वचन सम्पूर्ण न निकल पाये थे कि अर्जुन का अविद्यारूपी अँधेरा मिटने लगा।

(11.178) वे अक्षर नहीं, मानों श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए ब्रह्म का ऐश्वर्य दिखानेवाले ज्ञानदीप ही प्रकाशित कर दिये।

(11.179) फिर दिव्य नेत्रों का प्रकाश हुआ। उससे उसकी ज्ञानदृष्टि विकसित हो गई। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन का अपना ऐश्वर्य दिखा दिया।

(11.180) ये जो सब अवतार हैं सो जिस समुद्र की तरंगें हैं, यह विश्वरूपी मृगजल जिन किरणों के कारण दिखाई देता है,

(11.181) जिस अनादि भूमिका पर यह चराचररूपी चित्र स्पष्ट उछरता है, अपना वही स्वरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन का दिखा दिया।

(11.182) पहले बालपन में इस श्रीपति ने जब एक बार मट्टी खाई थी और यशोदा ने क्रोध से इसे हाथ में पकड लिया था

(11.183) तब जैसे डरते डरते अपने मुख की सफाई देने के मिस यशोदा का सावकाश चौदहों भुवन दिखा दिये थे,

(11.184) अथवा मधुवन में जैसे ध्रुव पर ऐसा उपकार किया था कि शंख से गाल का स्पर्श कराते ही वह उस वस्तु का निरूपण करने लगा जिसमें वेदों की भी बुद्धि नहीं चलती,

(11.185) हे राजा! वैसा ही अनुग्रह श्रीहरि ने धनंजय पर किया। इसकी बदौलत उसके लिए माया का पता भी न रहा।

(11.186) उसे एकदम ऐश्वर्य-तेज का प्रकाश हुआ और सर्वत्र चमत्कार का समुद्र ही दिखाई देने लगा। उसका चित्त विस्मय के समुद्र में डूब गया।

(11.187) जैसे ब्रह्मलोक तक पूर्ण भरे हुए जल में अकेला मार्कण्डेय तैरता था वैसे ही पार्थ विश्वरूप के चमत्कार में लोटने लगा।

(11.188) वह मन में कहने लगा कि यहाँ कितना बड़ा आकाश था, उसे कौन कहाँ ले गया! चराचर और महाभूत क्या हो गये?

(11.189) दिशाओं के तो निशान ही मिट गये! अधोर्ध्व (आकाश-पाताल) न जाने क्या हुए! और लोकाकार जागृत मनुष्य के स्वप्न के समान विलीन हो गये;

(11.190) अथवा सूर्य के प्रकाश के प्रताप से जैसे चन्द्र-सहित सब तारागण लुप्त हो जाते हैं वैसे ही यह प्रपंचरचना विश्वरूप ने नष्ट कर डाली।

(11.191) उस समय उसके मन का मनत्व बन्द हो गया, बुद्धि निज का न थाम सकी, और इन्द्रियों की वृत्तियाँ उलट कर हृदय में भर गई।

(11.192) तब स्तब्धता स्तब्ध हो गई, एकाग्रता की टक लग गई, मानों सारे विचार-समूह पर किसी ने मोहनास्त्र फेंका हो।

(11.193) इस प्रकार विस्मित हे! वह प्रेम से देखने लगा, तो जो चतुभुज स्वरूप सामने खड़ा था वही अनेक रूप हो चहुँओर भरा हुआ दिखाई दिया।

(11.194) जैसे वर्षाकाल के मेघ विस्तृत होते हैं, अथवा महाप्रलय का तेज बढ़ता है, वैसे हो इस मूर्ति ने अपने अतिरिक्त अन्य कोई स्थान न बचने दिया।

(11.195) प्रथम अन्तःकरण में उस स्वरूप का देखकर अर्जुन को समाधान हुआ। फिर साथ ही जो आँखें खेलता है तो बाहर भी इसे विश्वरूप दिखाई दिया।

(11.196) उसकी जो इच्छा थी कि इन्हीं दोनों आँखों से सकल विश्वरूप देखूँ वह श्रीकृष्ण ने इस प्रकार पूर्ण की।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ 11.10 ॥

(11.197) फिर अर्जुन ने उस स्वरूप में अनेक मुख ऐसे देखे जो मानों विष्णु के राजभवन हों, अथवा मानों लावण्यलक्ष्मी के निधान प्रकट हुए हों;

(11.198) अथवा वे मुख नहीं, मानों आनन्दरूपी वनों में बहार आई हो; तथा मानों सुन्दरता के संग राज्य-समृद्धि प्राप्त हुई है।। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के ऐसे मनोहर मुख देखे।

(11.199) परन्तु उनमें कोई कोई ऐसे भयानक थे मानों कालरात्रि की सेनाएँ चढी आती हों,

(11.200) अथवा मृत्यु के ही मुख उत्पन्न हुए है, अथवा भय के किले ही रचे गये हैं, अथवा प्रलयाग्नि के महाकुण्ड खोले गये हों।

(11.201) अर्जुन ने उस रूप में ऐसे अद्भुत और भयानक मुख देखे तथा और भी बहुतेरे असाधारण अलंकार-सहित और सौम्य मुख देखे।

(11.202) वह ज्ञान-दृष्टि से देख रहा था तथापि उसे उन मुखों का अन्त न दीखता था। तब फिर वह कुतूहल से नेत्रों की ओर देखने लगा तो

(11.203) उसे सूर्यो की पंक्तिरूपी नेत्र ऐसे दिखाई दिये मानों नाना वर्ण के कमलवन विकसित हुए हों।

(11.204) वहीं उसे, कृष्ण-मेघों के समुदाय में जैसे कल्पान्त में विद्युत् चमकती है वैसी अग्नि के समान, पीली दृष्टि भृकुटी के नीचे दिखाई दी।

(11.205) ऐसा एक एक आश्चर्य देखते हुए अर्जुन का उस एक ही रूप में अनेक रूपों के दर्शन की प्रतीति हुई।

(11.206) तब अर्जुन सोचने लगा कि चरण कहाँ हैं? मुकुट किस ओर है? बाहु कहाँ हैं? इस प्रकार वह प्रेम से देखने की इच्छा बढ़ाने लगा

(11.207) तो उस भाग्यनिधि अर्जुन का मनोरथ क्या विफल हो सकता था? क्या शंकर के तरकस में कोई निष्फल बाण रह सकता है?

(11.208) अथवा ब्रह्मदेव की वाचा में क्या मिथ्या अक्षरों के साँचे रह सकते हैं? अतः उसे वह अपार स्वरूप साद्यन्त दिखाई दिया।

(11.209) जिसका अन्त वेदों का नहीं मिला उसके सम्पूर्ण अवयवों का भोग अर्जुन की दोनों आँखों का एकदम प्राप्त हो गया।

(11.210) चरणों से लेकर मुकुट तक उसने विश्वरूप की महिमा देखी। वह विश्वरूप नाना रत्नों और अलंकारों से सुशोभित था।

(11.211) अपने शरीर पर पहनने के लिए परब्रह्म आप ही जो अनेक अलंकार बन गया था उनकी मैं किससे उपमा दूँ?

(11.212) जिस प्रभा के प्रकाश से चन्द्र और सूर्यमण्डल को प्रकाश मिलता है, जो महातेज का जीवन है, जिससे विश्व प्रकट होता है,

(11.213) उस दिव्य तेज की शोभा किसकी बुद्धि को मालूम है। सकती है? अर्जुन ने देखा कि देव ने निज का निज से ही अलंकृत किया है।

(11.214) फिर उसी रूप में ज्ञान की दृष्टि से सरल हाथों की ओर देखा तो उसे ऐसे चमकते हुए शस्त्र दिखाई दिये मानों कल्पान्त की ज्वालाओं का काट रहें हैं।

(11.215) आप ही शरीर, आप ही अलंकार, आप ही हाथ, आप ही हथियार, आप ही जीव, आप ही देह, – इस प्रकार उसे सब चराचर श्रीकृष्ण से भरा हुआ दिखाई दिया।

(11.216) जिनकी किरणों की तीव्रता से नक्षत्र मानों चने जैसे फूट रहे हैं, जिनके तेज से मानों अग्नि का भाग कर समुद्र में प्रवेश करने की इच्छा हुई,

(11.217) जिनके कारण मानों काल-कूट समुद्र की लहरों में छिप गया, अथवा जो मानों महाविद्युत् के वन ही प्रकट हुए हैं, ऐसे शस्त्र पकड़े हुए और ऊँचे उठाये हुए इसे अनेक हाथ दिखाई दिये।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ 11.11 ॥

(11.218) अर्जुन ने डर कर वहाँ से दृष्टि हटा ली। वह कण्ठ और मुकुट देखने लगा तो जिनसे कल्पवृक्ष की सृष्टि उत्पन्न हुई हो,

(11.219) अथवा जो महासिद्धियों के आद्यस्थान हो, अथवा श्रान्त हुई लक्ष्मी जहाँ विश्राम लेती हो, ऐसे अत्यन्त निर्मल पुष्प धारण किये हुए कण्ठ और मुकुट उसे दिखाई दिये।

(11.220) मुकुट के ऊपर जहाँ तहाँ फूलों के गुच्छे और पूजोपचार बँधे हुए और कण्ठ में असाधारण पुष्पमालाएँ झूलती हुई दिखाई दीं।

(11.221) जैसे स्वर्ग ने सूर्य के प्रकाश का आच्छादन किया हो, अथवा जैसे मेरु पर्वत सोने से मढ़ दिया गया हो, अथवा मेरु पर्वत सोने से मढ़ दिया गया हो ऐसा नितम्ब पर पहना हुआ पीताम्बर शोभा दे रहा था।

(11.222) और मानों श्रीशंकर का कपूर का उबटन किया हो, अथवा कैलास को पारे का लेप कर दिया गया हो, अथवा क्षीरसमुद्र पर सफेद वस्त्र का आच्छादन किया गया हो,

(11.223) जैसे चन्द्रिका की तह खोली गई हो और आकाश ने उसे ओढ़ कर घूँघट कर लिया हो, इस प्रकार उसने सर्वांग में चन्दन का उबटन लगा हुआ देखा।

(11.224) जिस सुगन्ध के द्वारा स्वप्रकाश अधिक कान्तिमान् होता है तथा ब्रह्मानन्द की भी दाह शान्त होती है, और जिस सुगन्ध से पृथ्वी को जीवन प्राप्त होता है,

(11.225) जिसके लेप से निर्मलता प्राप्त होती है, जिसे शरीर-रहित ब्रह्म भी सर्वांग में धारण करता है उस सुगन्ध की महिमा कौन वर्णन कर सकता है?

(11.226) इस प्रकार एक एक शृंगारशोभा देखते हुए अर्जुन घबड़ा उठा और यह भी न जान सका कि देव बैठे हैं, खड़े हैं, या सम्मुख हैं।

(11.227) बाहर आँखें खेल कर देखता है तो सब मूर्तिमय दिखाई देता है, और फिर आँखें मूँदकर चुप रहता है तो भीतर भी वही दृश्य दिखाई देता है।

(11.228) सामने अगणित मुख दिखलाई देते हैं। उनके डर से जो पीछे की ओर देखता है तो वहाँ भी वैसे ही श्रीमुख, कर, चरण इत्यादि दिखाई देते हैं।

(11.229) अजी, देखने से दिखाई देंगे इसमें क्या आश्चर्य है, परन्तु यह नई बात देखिए कि न देखते हुए भी दिखाई देते हैं।

(11.230) अनुग्रह का कैसा कार्य है कि पार्थ का देखना और न देखना स्वयं पार्थ के सहित श्रीनारायण ने व्याप्त कर डाला है।

(11.231) और, अर्जुन ज्योंही एक आश्चर्य की बाढ़ में पड़ कर तत्काल किनारे पर आता है त्योंही दूसरे चमत्कार के महासमुद्र में जा पड़ता है।

(11.232) इस प्रकार अनन्तरूप श्रीकृष्ण ने अर्जुन का अपने दर्शन की असाधारण कुशलता से लिपटा लिया।

(11.233) वह स्वभावतः विश्वतोमुख है, और यही विश्वरूप देखने के लिए अर्जुन ने प्रार्थना की थी। अतएव वह सम्पूर्ण विश्वमय हो रहा।

(11.234) जो दृष्टि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दी थी वह ऐसी नहीं थी कि दीपक या सूर्य के प्रकाश में ही प्रकट हो और आँख मीचते ही उसका देखना बन्द हो जावे।

(11.235) अतएव अर्जुन का दोनों ओर वह स्वरूप दिखाई देता ही था। यह बात संजय ने हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र से निवेदन की

(11.236) और कहा कि बहुत क्या कहें, यह जान ले कि अर्जुन ने नाना अलंकार पहने हुए विश्वतोमुख विश्वरूप का दर्शन किया।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ 11.12 ॥

(11.237) हे राजा! उस अंगशोभा का कुतूहल काहे के समान वर्णन करूँ? कल्पान्त के समय जैसे बारहों आदित्यों का एक समुदाय हो जाता है

(11.238) उस तरह के हजारों दिव्य सूर्य यदि एक ही समय उदय हों तो भी उन्हें इस महातेज की उपमा न प्राप्त होगी।

(11.239) सम्पूर्ण विद्युतों का समुदाय कीजिए और प्रलयाग्नि की सब सामग्री लाइए और उसमें दश आवर्णाग्नि मिलाइए

(11.240) तथापि वह तेज उस अंगशोभा की तुलना से कुछ अल्प ही होगा और निश्चय से फिर भी उसके समान निर्मल न होगा।

(11.241) ऐसी महिमा से समन्वित श्रीहरि के सर्वांग का तेज सहज विकसित हो रहा था। व्यास मुनि की कृपा से वह मुझे भी दृष्टिगोचर हो गया।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ 11.13 ॥

(11.242) और इस विश्वरूप में एक ओर सम्पूर्ण जग अपने विस्तार-सहित ऐसा दिखाई देता था मानों महासमुद्र में अलग अलग बुलबुले उठ रहे हों,

(11.243) अथवा आकाश में जैसे गन्धर्वनगर हो, अथवा पृथ्वी में जैसे चिउँटी के बनाये हुए घर हों, अथवा मेरु पर्वत पर जैसे छोटे छोटे परमाणु भरे हों।

(11.244) उस देव-चक्रवर्ती के शरीर में अर्जुन ने उस समय इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् देखे। (44)

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ 11.14 ॥

(11.245) इस से उस के मन में जो किंचित् ऐसा द्वैत था कि विश्व एक वस्तु है और मैं एक वस्तु हूँ, वह नष्ट हो गया। अन्तःकरण एकदम विलीन हो गया।

(11.246) अन्तर्याम में आनन्द की जाग्रति हो गई। बाह्यतः अवयवों का बल नष्ट हो गया, और मस्तक से पाँवों तक शरीर रोमांच से भर गया।

(11.247) वर्षाकाल के आरम्भ में पानी बह जाने के उपरान्त पर्वत के सर्वांग पर जैसे कोमल अंकुर उगते हैं वैसे उसके शरीर पर रोमांच खड़े हे गये।

(11.248) चन्द्रकिरणों का स्पर्श होते ही जैसे सोमकान्त पिघलता है वैसे ही उसके शरीर में स्वेद-बिन्दु भर आये।

(11.249) कमल की कली में भ्रमर के फँस जाने पर जैसे वह जल पर हिलती है वैसे ही अन्तःसुख की तरंग के कारण अर्जुन बाहर से काँपने लगा।

(11.250) कर्पूर-कदली [1] का आच्छादन (बेठन) खोलने से जैसे भीतर भरे हुए कपूर के कण टपकते हैं वैसे ही उसकी आँखों से जल-बिन्दु टपकने लगे।

(11.251) चन्द्र के उदय होने से जैसे समुद्र बारम्बार भरता है वैसे ही वह बारम्बार आनन्द की लहरों से उछलने लगा।

(11.252) ऐसे आठों सात्विक भाव आपस में एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे तब उसके जी का मानों ब्रह्मानन्द का राज्य प्राप्त हो गया।

---

[1] जिससे कपूर निकलता है।

(11.253) उस सुखानुभव के उपरान्त उसने द्वैत का आश्रय कर श्वास लेकर बाहर दृष्टि फेंकी।

(11.254) जिस ओर बैठा था उसी ओर श्रीकृष्ण को माथा नवा कर और हाथ जोड कर वह कहने लगा

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
11.15 ॥

(11.255) हे स्वामिन्! आपका जयजयकार हो। आपने अनोखी कृपा की जो मैं एक सामान्य मनुष्य आपका विश्वरूप देख सका।

(11.256) हे गोस्वामिन्! आपने सचमुच बहुत बड़ा उपकार किया। मुझे स्वभावतः सन्तोष हुआ है जो मैंने यह देख लिया कि आप इस सृष्टि के आश्रय हैं।

(11.257) हे देव! मन्दराचल के शरीर पर जैसे अनेक स्थानों में श्वापदों के जंगल रहते हैं वैसे ही मैं आपके शरीर में अनेक भुवन देखता हूँ।

(11.258) अजी, आकाश के खेल में जैसे ग्रहगणों के समूह दिखाई देते हैं, अथवा जैसे महावृक्ष पर अनेक पक्षियों के घोंसले दिखाई देते हैं,

(11.259) वैसे हो हे श्रीहरि! आपके विश्वरूपी शरीर में देवगणों-सहित स्वर्ग दिखाई देता है।

(11.260) हे प्रभु! यहाँ अनेक महाभूतों के पंचक और भूत-सृष्टि के समुदाय दिखाई देते हैं।

(11.261) अजी, आप में सत्यलोक भी है। ये जो दिखाई दे रहे हैं सो क्या ब्रह्मदेव ही नहीं हैं? और दूसरी ओर देखिए तो कैलास दिखाई देता है।

(11.262) श्रीशंकर पार्वती-सहित आपके एक अंश में दिखाई दे रहे हैं, और हे हृषीकेश! आप भी अपने इस रूप में दिखाई दे रहे हैं।

(11.263) कश्यप इत्यादि ऋषिगण भी सब आपके स्वरूप में पाताल और सर्पों-सहित दिखाई दे रहे हैं।

(11.264) अधिक क्या कहूँ, हे त्रैलोक्यपति! आपके एक एक अवयवरूपी भीति पर चौदहों भुवन मानों चित्राकृति के रूप से लिखे हुए हैं,

(11.265) और उन भुवनों के जो जो लोक हैं उनके भी मानों अनेक चित्र खींचे गये हैं। इस प्रकार आपकी अगाधता असाधारण दिखाई देती है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥
11.16 ॥

(11.266) इस दिव्य दृष्टि के विस्तार से जो चहुँओर देखता हूँ तो आपके बाहुदण्डों में मानों आकाश को अंकुर फूटे दिखाई देते हैं।

(11.267) वैसे ही हे देव! आपके हाथ लगातार एक ही काल में अनेक व्यापार करते दिखाई देते हैं।

(11.268) आपके अपार उदर ऐसे दिखाई दे रहे हैं मानों अव्यक्त ब्रह्म के विस्तार में ब्रह्माण्ड के भाण्डार प्रकट हुए हों।

(11.269) अजी, आपके सहस्र मस्तकों के स्वरूप एकसाँ कोट्यवधि दिखाई देते हैं, और मानों परब्रह्म हो बदनरूपी फल के बोझ के रूप से प्रकट हुआ हो

(11.270) ऐसे जहाँ तहाँ हे विश्वमूर्ति! आपके मुख दिखाई दे रहे हैं। और वैसी ही नेत्रों की पंक्तियाँ भी चहुँओर अनेक दिखाई दे रही हैं।

(11.271) बहुत क्या कहूँ, स्वर्ग, पाताल, भूमि, दिशा, आकाश आदि बातें ही न रहीं। सब कुछ आपका मूर्तिमय दिखाई दे रहा है।

(11.272) कुतूहल से देखने पर आपके अतिरिक्त कहीं एक परमाणु बराबर भी अवकाश हाथ नहीं लगता! इस प्रकार आप व्याप्त हो रहे हैं।

(11.273) हे अनन्त! यह जितना नानाविध और अगणित महाभूतों का समुदाय था उतना सब विस्तार आपसे व्याप्त दिखाई दे रहा है।

(11.274) ऐसे आप कहाँ से प्रकट हुए, और आप बैठे हैं कि खड़े हैं, तथा आप किस माता के गर्भ में थे, आपकी आकृति कितनी बड़ी है,

(11.275) आपका रूप और वय कितना है, आपके परे और क्या है, आप किस आधार पर स्थिर हैं, – इत्यादि बातें जो मैं देखता हूँ

(11.276) तो यह दिखाई देवा है कि आपका ठाँव आप ही हैं, आप किसी से उत्पन्न नहीं हुए, आप अनादि काल से ऐसे ही बने हैं,

(11.277) आप न खड़े हैं न बैठे, ऊँचे हैं न ठिंगने, तथा हे वैकुण्ठ! आपके नीचे और ऊपर स्वयं आप ही हैं।

(11.278) स्वरूप से आप आप ही जैसे हैं। हे देव! आप ही अपनी आयु हैं और हे परेश! आप ही अपने आगे और पीछे हैं।

(11.279) किंबहुना, हे अनन्त! मैं बारम्बार देख चुका कि आप ही अपने सब कुछ हैं।

(11.280) परन्तु आपके इन रूपों में यही एक न्यूनता है कि उनमें आदि, मध्य और अन्त तीनों ही नहीं हैं।

(11.281) यों तो आप सर्वत्र प्राप्त हैं, परन्तु कहीं भी आपका पता नहीं लगता; अतएव निश्चय से ये तीनों बातें आप में नहीं हैं।

(11.282) इस प्रकार हे आदि, मध्य और अन्त-रहित, हे अपरिमित विश्वेश्वर, हे विश्वरूप! मैं आपको तत्त्वतः देख चुका।

(11.283) आपकी महामूर्ति में अनेक पृथक पृथक मूर्तियाँ प्रकट होती हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है कि आपने अनेक प्रकार के रंगों के अलंकार पहने हैं।

(11.284) आपकी अनेक पृथक् मूर्तियाँ मानों वृक्ष और बेलें हैं जो आपके स्वरूपरूपी पर्वत पर दिव्य अलंकार-रूपी फल और फूलों की बहार से फूली हैं।

(11.285) अथवा हे देव! आप महासमुद्र हैं जिसमें आप ही तरंगरूपी मूर्तियों के झोंके बन गये हैं, अथवा आप एक वृक्ष हैं और मूर्तिरूपी फलों से लदे हुए हैं।

(11.286) अजी, पृथ्वी जैसी भूतों से भरी है, अथवा गगन जैसा नक्षत्रों से आच्छादित है, वैसे ही आपका रूप मूर्तियों से भरा हुआ दिखाई देता है।

(11.287) अजी, आपके शरीर के रोम रोम में इतनी बड़ी बड़ी मूर्तियाँ प्रकट हुई हैं कि एक एक के अंगप्रदेश में त्रैलोक्य उत्पन्न और विलीन हो रहा है।

(11.288) यदि यह देखा जाय कि विश्व का ऐसा विस्तार करनेहारे आप कौन हैं और किसके हैं, तो आप वही हमारे सारथी हैं।

(11.289) तथापि हे मुकुन्द! मैं समझता हूँ कि आप सर्वदा ऐसे ही व्यापक हैं और भक्त पर कृपा करने के लिए यह प्रेममय स्वरूप धारण करते हैं।

(11.290) यह चतुर्भुज मूर्ति इतनी सुन्दर है कि इसे देखते ही मन और आँखें जुड़ाती हैं, और इससे लिपटने जाय तो यह दोनों हाथों में समा सकती है।

(11.291) हे विश्वरूप! ऐसा सुन्दर रूप आप भक्तों पर कृपा करने के लिए धारण करते हैं न? हमारी दृष्टि दूषित है जो हम आपको सामान्य दृष्टि से देखते हैं;

(11.292) तथापि अब दृष्टि का दोष निकल गया; आपने सहज ही दिव्य दृष्टि कर दी है इससे आपकी महिमा यथार्थतः दीख सकी है।

(11.293) मैं खूब जान चुका कि जो आप हमारे मकरमुखी जुएँ के पीछे बैठे हुए थे उन्हीं आपने इतना यह विश्वरूप धारण किया है।

> किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
> पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥
> 11.17 ॥

(11.294) हे श्रीहरि! आपके मस्तक पर यह क्या वही मुकुट नहीं हैं? परन्तु उसका हाल का तेज और महिमा बड़ी अनोखी मालूम होती है।

(11.295) हे विश्वमूर्ति! ऊपरवाले हाथ में आप वही चक्र, मानों फेंकने के लिए उद्यत हो, सँभाल रहे हैं। यह चिह्न नहीं मिटा है।

(11.296) दूसरी ओर क्या यह वही गदा नहीं है? और हे गोविन्द, नीचे की ये दोनों शस्त्ररहित भुजाएँ आपने बागडोर थामने के लिए फैलाई हैं।

(11.297) और वैसे ही हे विश्वेश! मेरा मनोरथ पूर्ण करने के लिए आप शीघ्रता से विश्वरूप हो गये हैं। मैं यह बात पहचान गया।

(11.298) परन्तु इस नई बात का विस्मय करने की भी योग्यता मुझमें नहीं रही। मेरा चित्त इस आश्चर्य से मोहित हो गया है।

(11.299) आपकी अंगप्रभा की अनुपम शोभा चहुँओर ऐसी भरी है कि यह स्वरूप यहाँ है अथवा नहीं, सो भी मैं विचार नहीं सकता।

(11.300) इस प्रभा से अग्नि की दृष्टि भी मन्द हो जाती है; सूर्य खद्योत के समान लुप्त हे जाता है। इस अद्भुत तेज की ऐसी तीव्रता है।

(11.301) ऐसा जान पड़ता है मानों महातेज के महासमुद्र में सम्पूर्ण सृष्टि डूब गई हो, अथवा प्रलयकाल की विद्युत् के अंचल से आकाश ढक गया हो,

(11.302) अथवा संहारतेज की ज्वालाएँ तोड़ कर आकाश में उनका मण्डप बनाया गया हो। अब दिव्यज्ञान के नेत्रों से भी देखा नहीं जाता।

(11.303) अत्यन्त अधिकाधिक प्रकाश भड़कता है और अत्यन्त दाह उत्पन्न होती है।

(11.304) और देखने से दिव्य नेत्रों को भी कष्ट होता है। महाप्रलय की भभकार जो कालाग्निरूपी शंकर में गुप्त थी वह मानों उनके तृतीय नयनरूपी कली-सी फूटी हो

(11.305) तथा आपके चहुँओर विस्तृत प्रकाश में पाँचों अग्नियों की ज्वालाओं के भौंरे पड़ने से ब्रह्माण्ड के कोयले हो रहे हों।

(11.306) ऐसे अद्भुत तेज का अनोखा समूह मैंने जन्म में आज ही देखा। अजी, आपकी व्याप्ति और तेज का पार नहीं लगता।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥
11.18 ॥

(11.307) हे देव! आप अविनाशी हैं; आप साढे तीन मात्राओं के परे हैं। श्रुति जिसका घर खोज रही है,

(11.308) जो ओंकार का आश्रयस्थान है, जो सम्पूर्ण विश्व का इकट्ठा रखने की एक जगह है, वह आप अव्यय हैं, अगाध हैं और अविनाशी हैं।

(11.309) आप धर्म के जीवन हैं, आप अन्तादि सिद्ध हैं, नित्यनूतन हैं, और मैं समझता हूँ कि हे विश्वेश! आप सैंतीसवें पुरूष हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
11.19 ॥

(11.310) आप आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं; आप स्वपराक्रमी हैं, आप अनन्त हैं, विश्वबाहु हैं, अपरिमित हैं, और विश्वचरण हैं।

(11.311) चन्द्र और सूर्यरूपी नेत्रों से आप प्रसाद और कोप की लीला दिखाते हैं; किसी को तमोरूप नेत्र से शासन करते हैं, और किसी का कृपादृष्टि से पालन करते हैं।

(11.312) अजी, इस प्रकार मैं आपको स्पष्ट देख रहा हूँ। आपका मुख प्रलयकाल की अग्नि के समान दिखाई दे रहा है।

(11.313) दावाग्नि से जलते हुए पर्वत से लिपट कर जैसे ज्वालाओं की भभक उठती है वैसे ही दाँतों में, दाढें चाटती हुई, आपकी जीभ लटक रही है।

(11.314) उस बदन की गरमी से और सर्वांग के तेज की प्रभा से विश्व तप कर अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥
11.20 ॥

(11.315) स्वर्ग और पाताल, पृथ्वी और आकाश, अथवा दसों दिशाएँ या सम्पूर्ण दिशाचक्र

(11.316) इन सबको मैं एक आपसे ही भरा हुआ कुतूहल से देख रहा हूँ। परन्तु आपके भयानक स्वरूप में आकाश मानों डूब गया है;

(11.317) अथवा अद्भुत रस की तरंगों में चौदहों भुवनों की जाली पड़ी है। इस प्रकार आश्चर्य ही दिखाई देता है। उसे मैं कहाँ तक देख सकता हूँ?

(11.318) यह असाधारण व्याप्ति समेटी नहीं जाती। आपके रूप की उग्रता सही नहीं जाती। जगत् का सुख होना तो दूर रहा, परन्तु प्राण कष्ट से धरे जाते हैं।

(11.319) हे देव! ऐसा आपका रूप देखकर न जाने कैसे भय की बाढ़ आती है और तीनों भुवन दुःख-तरंगों में डूब रहे हैं।

(11.320) यों तो आप महात्मा के दर्शन हों तो भय और दुःख क्यों प्राप्त हों, परन्तु जैसा मुझे दिखाई दे रहा है वह सुखरूप नहीं है।

(11.321) दृष्टि से जब तक आपका रूप न देखा था तब तक जगत् में सांसारिक सुख अच्छा मालूम होता था। अब आपका रूप दिखाई दिया तो विषय की हीक से कष्ट उपजता है।

(11.322) तथाच आपको देखते ही या एकदम आपको आलिंगन देना सम्भव हो सकता है? और न हो सके तो हम शोक-संकटों में कैसे रहें?

(11.323) अतएव पीछे हटते हैं तो अनिवार्य जन्म-मरण के चक्कर में फँसते हैं, और आगे बढ़ते हैं तो आप अपार हैं जिन्हें हम आलिंगन नहीं कर सकते।

(11.324) इस प्रकार दो संकटों के बीच में पड़ा हुआ बेचारा त्रैलोक्य भुन रहा है। यह संक्षेपार्थ मैं स्पष्ट जान गया।

(11.325) जैसे कोई अग्नि से जले और शीतल होने के लिए समुद्र के जाय तो वहाँ की हिलोरती हुई तरंगों से और भी डर जावे,

(11.322) वही हाल इस जगत् का है। आपको देख कर सब बिलख रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो
गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः
पुष्कलाभिः ॥ 11.21 ॥

इनमें उस ओर जो देवों के समुदाय हैं वे भले हैं।

(11.327) ये आपके तेज से सब कर्मों के बीज जलाकर अपने सद्भाव से आपसे मिल रहे हैं।

(11.328) और कोई जो स्वभावतः भयभीत हैं वे सर्वथा आपके सन्मुख हो आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं

(11.329) कि हे देव! हम अविद्या-समुद्र में पड़े हैं, विषय की बागुर में अटके हुए हैं, तथा एक ओर संसार और दूसरी ओर स्वर्ग के पेंच में आ पड़े हैं,

(11.330) यहाँ से हमारा छुटकारा आपके सिवाय कान कर सकता है? हे देव! हम सब प्राणों-सहित आपके शरण हैं।

(11.331) महर्षि, सिद्ध, और अनेक विद्याधरों के समूह, कल्याण-सूचक वचनों से आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ
मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥
11.22 ॥

(11.332) ये रुद्र और आदित्यों के समुदाय, वसु और सम्पूर्ण साध्य देव, दोनों अश्विनीकुमार, विश्वेदेव और वायु अपने वैभव-सहित

(11.333) और पितृ, गन्धर्व, यक्ष, सब राक्षसगण और इन्द्र प्रमुख देवता तथा सिद्धादिक

(11.334) सभी उत्कण्ठा-पूर्वक अपने अपने लोकों से प्रभु की महामूर्ति देख रहे हैं,

(11.335) और देखते देखते प्रति क्षण अन्तःकरण में विस्मित हो निज मुकुटों से हे प्रभु! आपकी आरती कर रहे हैं।

(11.336) वे मंजुल शब्दों से जय-जय घोष कर सम्पूर्ण स्वर्ग को गुँजाते हैं और करसम्पुट ललाटों पर रखते हैं।

(11.337) उस विनयरूपी वृक्षों के अरण्य में मानों सात्त्विकभावरूपी वसन्तकाल आया है, इसलिए उनके करसम्पुटरूपी पल्लवों में आप मानों फलरूप हो लग जाते हैं।

> रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
> बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥
> 11.23 ॥

(11.338) महाराज। हमारे लोचनों का भाग्योदय हुआ है, मन को सुख का सुकाल उदित हुआ है, जो आज इन्हें आपका अपार विश्वरूप दिखाई दिया है।

(11.339) तीनों लोकों में व्यापक इस रूप को देखकर देवों को भी भय उत्पन्न होता है। चाहे जिस ओर से देखिए, यह स्वरूप सन्मुख ही दिखाई देता है।

(11.340) इस प्रकार यह रूप एक ही है, परन्तु इसके मुख विचित्र और भयानक हैं, लोचन अनेक हैं और भुजाएँ अनेक तथा सशस्त्र हैं।

(11.341) इसकी जाँघें, बाहु और चरण अनेक हैं, उदर अनेक और नाना वर्ण हैं तथा हर एक मुख में आवेश की कैसी उन्मत्तता भरी है!

(11.342) मानों महाकल्प के अन्त में क्रुद्ध हुए यम ने जहाँ तहाँ प्रलयाग्नि की अँगीठियाँ जलाई हों; (343) अथवा वे मुख मानों शंकर के संहार करनेहारे यन्त्र हों, वा प्रलय-भैरवों के समुदाय हों, वा मानों भूतरूपी खिचड़ी परोसने के लिए युगान्तशक्ति के पात्र बिछाये हुए हों।

(11.344) ऐसे जहाँ वहाँ आपके प्रचण्ड मुख दिखाई दे रहे हैं। और जैसे गुफाओं में न समाने हारे सिंह हों वैसे आपके दाँत क्रुद्ध दिखाई दे रहे हैं।

(11.345) जैसे नाश करनेहारे पिशाच कालरात्रि का आश्रय कर आनन्दित हो निकलते हैं, वैसे ही आपके सुखों में आपकी दाढ़े प्रलयकाल के रक्त से लिथड़ी हुई दिखाई देती हैं।

(11.346) बहुत क्या कहूँ, रण का जैसे काल ने निमन्त्रण दिया हो, अथवा सबों के संहार से मृत्यु मत्त हो रहा हो, ऐसी ही असाधारण भयानकता आपके मुखों में दिखाई दे रही है।

(11.347) इस बेचारी लोकसृष्टि की ओर किंचित् दृष्टि दो, तो वह दुःखरूपी कालिन्दी के तीर पर वृक्षरूप हो रही जान पड़ती है।

(11.348) आपका यह रूप महामृत्यु का सागर है, और उसमें त्रैलोक्य-जीवनरूपी नौका शोकरूपी आँधी की लहरों से हिलोरे खा रही है।

(11.349) हे वैकुण्ठ, इस पर यदि आप कदाचित् क्रोध कर यों कहूँ कि तुझे दूसरों से क्या करना है, तू स्वयं इस ध्यानसुख का उपभोग ले

(11.350) तो महाराज! वास्तव में मैं वृथा ही साधारण जनों की ढाल सामने करता हूँ। सच पूछिए तो मेरे ही प्राण काँपते हैं।

(11.351) जिस मुझसे प्रलयकाल का रुद्र भी डरता है, जिस मुझसे डर कर मृत्यु भी छिप जाती है वही मैं यहाँ अत्यन्त काँप रहा हूँ। आपने मेरी ऐसी स्थिति कर दी है।

(11.352) परन्तु हे तात! यह रूप एक विचित्र महामारी है! इसका नाम यद्यपि विश्वरूप है तथापि भयानकता में यह भय को भी हराता है।

> नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
> दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ 11.24 ॥

(11.353) जिन्होंने महाकाल को भी जीत लिया है ऐसे आपके कई एक सुख इतने विस्तृत हो रहे हैं कि उनके सन्मुख आकाश भी अल्प दिखाई देता है।

(11.354) वे आकाश के विस्तार में भी नहीं समा सकते। त्रिभुवन की वायु से भी वे आच्छादित नहीं किये जा सकते। इनकी भाफ से अग्नि भी जलती है। ये कैसे भड़कते हुए दिखाई दे रहे हैं!

(11.355) वैसे ही ये एक दूसरे के समान भी नहीं हैं। इनमें नाना वर्णों के भेद हैं, मानों प्रलय-काल की वह्नि इन्हीं की सहायता लेती हो।

(11.356) इनका इतना तेज है कि ये त्रैलोक्य को राख कर सकते हैं। इन मुखों में और भी मुख हैं और उनमें दाँत और दाढें हैं।

(11.357) इस संहार-तेज के मुख ऐसे उत्पन्न हुए हैं मानों वायु का अत्यन्त धनुर्वात हुआ हो, अथवा समुद्र महाबाढ़ में डूबा हो, अथवा विषाग्नि बड़वानल का नाश करने के लिए उद्यत हुई हो,

(11.358) अग्नि ने हलाहल विष पिया हो, अथवा कोई अनोखी मृत्यु नाश करने के लिए आई हो।

(11.359) और ये कितने विशाल हैं! मानों अन्तराल टूटकर आकाश के चहुँओर घिर गया हो

(11.360) अथवा, बगल में पृथ्वी को दबा कर जब हिरण्याक्ष गुहा में घुस गया था तब शंकर ने जैसी पाताल-गुहा प्रकट की थी

(11.361) वैसा ही इन सुखों का विकास दिखाई देता है। बीच में जिह्वाओं का अत्यन्त आवेश है जिसके लिए विश्व भी बस नहीं होता। इसीलिए मानों आप कुतूहल से उसका कौर नहीं भरते

(11.362) और जैसे पाताल-सर्पों की फुफकारों से उठी हुई विष की ज्वालाएँ आकाश को जा लगती हैं, वैसे हो आपकी मुखरूपी गुहाओं में ये जिह्वाएँ विस्तृत हो रही हैं।

(11.363) प्रलय-विद्युत् के समुदाय से चित्रित जैसा आकाश में किलों का विस्तार दिखाई देता है वैसी ही आपके ओठों के बाहर निकली हुई तीव्र दाढ़े दिखाई देती हैं।

(11.364) आपके नेत्र मानों ललाट पर के खोल में से भय का डरा रहे हैं अथवा महामृत्यु के प्रवाह अँधेरे में छिपे हुए हैं।

(11.365) इस प्रकार भय का रूप लेकर आप न जाने कौन-सा कार्य कराना चाहते हैं। परन्तु मुझे मरणप्राय भय प्राप्त हो रहा है।

(11.366) हे देव! मैंने विश्वरूप देखने की जो इच्छा की उसका फल भर पाया। महाराज। मैं आपका रूप देख चुका। आँखें तृप्त करनी थीं सो हो गई।

(11.367) अजी, मिट्टी की देह चाहे चली जाय; उसका दुःख किसे है! परन्तु मेरा तो चैतन्य ही कदाचित् बचे या न बचे।

(11.368) यों तो भय से शरीर क्षण भर काँपे तो मन तप जाता है, बुद्धि गल जाती है और अभिमान हवा हो जाता है।

(11.369) परन्तु इन सबों से भिन्न जो केवल आनन्द की ही एक कला है वह मेरा निश्चल अन्तरात्मा भी काँप उठा है।

(11.370) साक्षात्कार का बड़ा ही प्रताप है! ज्ञान तो हद के पार हो गया तथा यह गुरुशिष्य-सम्बन्ध भी टिकना कठिन हो रहा है।

(11.371) हे देव! आपके इस दर्शन से मेरे अन्तःकरण में जो विकलता उत्पन्न हुई है उसे सँभालने के लिए मैं उस पर जो धैर्य का आच्छादन करने जाता हूँ

(11.372) तो मेरे नाम से धैर्य भी लुप्त हो जाता है, मानों उसे भी विश्वरूप का दर्शन हुआ हो। अस्तु, आपने इस उपदेश में मुझे खूब उलझा लिया।

(11.373) जीव बेचारा विश्राम लेने की इच्छा से चहुँओर दौड़-धूप करता है परन्तु उसे किसी ओर भी मार्ग नहीं मिलता।

(11.374) महाराज! इस प्रकार 'विश्वरूप'-महामारी में चराचर का जीवन नष्ट हो रहा है। न कहूँ तो क्या करूँ? बचूँगा कैसे?

> दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
> दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
> 11.25 ॥

(11.375) जैसे आँखें के सामने अखण्ड महाभय का घड़ा फूटा हो ऐसे आपके विशाल मुख फैले हुए दिखाई देते हैं

(11.376) और उनमें दाँतों तथा दाढ़ों की भीड़ मच रही है जो दोनों ओंठों में बन्द नहीं हो सकती। प्रलय-शस्त्रों की मानों चहुँओर घनी बागुर लगी है।

(11.377) तक्षक को जैसे विष चढ़ जाय, अथवा कालरात्रि को भूतबाधा हो जाय, या आग्नेयास्त्र विद्युत् में बुझाया जाय,

(11.378) वैसे आपके प्रचण्ड मुख दिखाई दे रहे हैं, और उनमें से जो आवेश बाहर निकल रहा है वह मानों हम पर मरणरूपी जल के प्रवाह आ रहे हैं।

(11.379) संहार के समय की प्रचण्ड वायु और कल्पान्त के समय की प्रलयाग्नि दोनों जो एक हो जाये तो क्या न जलेगा?

(11.380) वैसे ही संहार करनेहारे आपके मुख देख कर मेरा धैर्य छूटता है और मुझे भ्रम हो दिशाएँ नहीं दिखाई देती; तथा मैं अपनी ही सुधि भूल रहा हूँ।

(11.381) विश्वरूप का जरा आँखों से देख लिया तो सुख का ऐसा अकाल पड़ गया। अब यह अपने स्वरूप का विस्तार समेटिए समेटिए।

(11.382) यदि मैं जानता कि आप ऐसा करेंगे तो मैं आपसे यह बात क्यों पूछता? महाराज, अब एक बार इस स्वरूप के प्रलय से मेरे प्राण बचाइए।

(11.383) हे अनन्त! यदि आप हमारे स्वामी हैं तो मेरे जीवन की रक्षा करें और इस महामारी का विस्तार समेट लें।

(11.384) सुनिए, हे सकल देवों के परमदेव! अपने अपने चैतन्य से विश्व को बसाया है सो क्या आप भूल गये? और उलटा उसका संहार करने लगे?

(11.385) अतएव हे देवराज! शीघ्र प्रसन्न हूजिए। अपनी माया समेटिए समेटिए और मुझे इस महाभय से निकालिए।

(11.386) मैं अकुला कर आपसे बारम्बार इतनी विनती करता हूँ। हे विश्व-मूर्ति, मैं नितान्त डर गया हूँ।

(11.387) अमरावती पर जब चढाई हुई थी तब मैंने अकेले उसका पराभव किया था। मैं काल के मुख से भी भय नहीं करता।

(11.388) परन्तु यह बात उस प्रकार की नहीं है। इसमें आप मृत्यु को मात कर इस सकल विश्व के साथ हमारा ही घूँट लिया चाहते हैं।

(11.389) प्रलयकाल का समय न होते भी बीच में आप ही काल उपस्थित हो गये है, और बेचारा यह त्रिभुवन का गोल अल्पायु हो रहा है।

(11.390) कैसा उलटा भाग्य है! शान्ति की इच्छा करते विघ्न उठ खड़ा हुआ। हाय हाय! अब यह विश्व डूबा। आप इसे ग्रसने लगे।

(11.391) क्या ये स्पष्ट आप ही न मुँह फैला कर जहाँ तहाँ इन सेनाओं को खा रहे हैं?

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
11.26 ॥

(11.392) ये कौरवकुल के वीर, अन्धे धृतराष्ट्र के कुँवर ही हैं न? थे परिवार-समेत आपके मुख में चले। (393) और जो इनके सहायक देश-देश के राजा हैं उन्हें आप इस तरह खा रहे हैं कि उनका हाल कहा नहीं जाता।

(11.394) हाथियों के समुदाय का आप गट गट पी रहे हैं, और रण मैं जो और समुदाय हैं उन्हें लिपटा रहे हैं।

(11.395) तोपें इत्यादि मारक यन्त्र तथा चुने हुए प्यादों के समूह सब आपके मुख में लुप्त हो रहे हैं।

(11.396) कृतान्त का इकलौता भाई जो विश्व का नाश करता है उस शस्त्र का भी आप कोटिशः लील रहे हैं।

(11.397) हे परमेश्वर! आप ऐसे कैसे प्रसन्न हुए हैं कि चतुरंग सेना और घोड़े जुते हुए रथों का आप दाँत न लगाते लील रहे हैं!

(11.398) अजी, सत्य और शूरता में भीष्म जैसा निपुण कौन है? परन्तु उसे, और द्रोण को भी, – जो ब्राह्मण है, – आपने ग्रस लिया। हाय हाय!

(11.399) हा! अब सूर्य का पुत्र कर्ण वीर भी गया और देखिए, हम सबों का भी आपने कचरा जैसा उड़ा दिया।

(11.400) हाय विधाता! यह क्या हुआ? मैंने यह अनुग्रह माँग कर बेचारे जगत् की मौत बुला दी।

(11.401) पहले थोड़ी-बहुत उपपत्तियों के साथ इन्होंने मुझे अपनी विभूतियाँ दिखाई` परन्तु इनका स्वरूप वैसा न था इसलिए मैं और भी पूछ बैठा।

(11.402) यह निश्चित है कि प्रारब्ध कभी नहीं टलता और बुद्धि भी होनहार जैसी हो जाती है। लोगों का, अपने मरण का दोष मेरे माथे लगाना कैसे टन सकता था!

(11.403) पूर्वकाल में अमृत प्राप्त हो गया तथापि जब देव तृप्त न हुए तो निदान में कालकूट उत्पन्न हुआ।

(11.404) अनुभव से देखते हुए वह प्रसंग भी कुछ अल्प ही था तथा वह संकट शंकर ने निबाह दिया।

(11.405) परन्तु यह जलती हुई अग्नि कौन समेट सकता है यह विष से भरा हुआ आकाश कौन लील सकता है? महाकाल के साथ खेलने की किसकी सामर्थ्य है!

(11.406) इस प्रकार अर्जुन दुःख से व्याकुल हो हृदय में शोक करने लगा। परन्तु श्रीकृष्ण का प्रस्तुत अभिप्राय उसकी समझ में नहीं आया।

(11.407) उसे जो अत्यन्त मोह हुआ था — कि मैं मारनेहारा हूँ और कौरव मरनेहारे हैं — सो मिटाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपना यह स्वरूप दिखाया था।

(11.408) श्रीकृष्ण ने विश्वरूप के बहाने यह प्रकट किया कि अरे संसार में कोई किसी को नहीं मारता; मैं ही सब का संहार करता हूँ।

(11.409) परन्तु अर्जुन वृथा व्याकुल हो रहा था। यह बात उसकी समझ में ही न आई। उसका कम्प वृथा ही बढ़ रहा था।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥
11.27॥

(11.410) फिर अर्जुन ने कहा — देखिए, तलवार और कवचों-सहित ये दोनों पक्ष की सेनाएँ, आकाश में अभ्र के समान, एकदम आपके मुख में समा गई,

(11.411) अथवा महाकल्प के अन्त में जब कृतान्त सृष्टि पर रूठता है तब जैसे पाताल-समेत इक्कीसों सर्गों को लिपटा लेता है,

(11.412) अथवा प्रतिकूल भाग्य के वश जैसे संग्रह करनेहारों की सम्पत्ति जहाँ की तहाँ बिला जाती है,

(11.413) वैसे ही ये विस्तृत सेनाएँ एकदम आपके मुख में विलीन हो गई। आपके मुख से कोई भी नहीं छूटता। देखिए, कर्म कैसा है!

(11.414) ऊँट जैसे अशोक वृक्ष की पत्तियाँ चबाता है, वैसे ही ये लोक आपके मुखों में वृथा जा रहे हैं।

(11.415) मुकुटों-सहित ये शिर आपकी दाढ़ों की सँड़सी में गिर कर कैसे चूर्ण हुए दीख रहे हैं!

(11.416) मुकुटों के रत्न आपके दाँतों के बीच आ लगे हैं तथा उनका चूर्ण आपकी जीभ की जड़ में लगा हुआ है आर किसी किसी दाढ़ का अग्रभाग भी उस चूर्ण से लिपटा हुआ है,

(11.417) मानों विश्वरूप-रूपी काल ने लोगों के शरीर और बल को तो ग्रस लिया हो परन्तु उनकी देह की छाल को जान बूझ कर रख छोड़ा हो।

(11.418) वैसे ही इन शरीरों में शिर वास्तव में उत्तमांग थे इसलिए वे महाकाल के मुँह में चले गये परन्तु शरीरमात्र निदान में बच रहे।

(11.419) फिर अर्जुन ने कहा कि जन्म को प्राप्त हुए प्राणियों को क्या दूसरा मार्ग ही नहीं है जो सब जगत् आप ही आप इस मुख-रूपी देह में प्रवेश कर रहा है?

(11.420) ये सम्पूर्ण सृष्टियाँ आप ही आप मुख के ही पीछे लगी हैं, और ये परमात्मा जहाँ तहाँ चुपचाप उन्हें लिपटा रहे हैं।

(11.421) ब्रह्मा इत्यादि सब देव इस सुख के उच्च भाग में दौड़ रहे हैं और दूसरे जो सामान्य हैं वे इस मुख में इसी पार घुस रहे हैं।

(11.422) जो अन्य प्राणिमात्र हैं वे जहाँ उपजते हैं वहीं ग्रसित हो जाते है। इस प्रकार इनके मुख से निश्चय से कुछ नहीं छूटता।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥
11.28॥

(11.423) जैसे महानदी के प्रवाह अचिरात् समुद्र में जा मिलते हैं, वैसे ही जगत् चहुँओर से इस मुख में प्रवेश कर रहा है।

(11.424) प्राणीगण आयुष्य-मार्ग में रात-दिनरूपी सीढ़ियाँ बना.कर वेग से इस मुख में मिलने की साधना कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका- स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥
11.29॥

(11.425) जलती हुई पर्वत की गुहा में जैसे पतंग आ कूदते हैं वैसे ही, देखिए, सम्पूर्ण लोग इस मुख में गिर रहे हैं।

(11.426) परन्तु जो कोई इस में प्रवेश करते हैं वे मानों तपे हुए लोहे पर छोड़े हुए जल के समान लीले जाते हैं। उनका नाम-रूप व्यवहार से मिट जाता है।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥
11.30॥

(11.427) इतना खाने पर भी इनकी भूख कम नहीं होती। इन्हें कैसी असाधारण क्षुधा उत्पन्न हुई है!

(11.428) जैसे रागी ज्वर से उठा हो, अथवा भिखमंगे पर अकाल पड़ा हो, वैसी ही ओंठ चाटती हुई इन जीभों की लपलपाहट दिखाई देती है;

(11.429) तथा आहार के नाम इस मुख से कुछ भी नहीं बचा। सचमुच कैसी अनोखी भूख है!

(11.430) क्या समुद्र का घूँट ले लूँ या पर्वत का कौर भर लूँ या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दाढ़ों में रख लूँ,

(11.431) अथवा सब दिशाओं का लील लूँ या तारों को चाट लूँ, ऐसी मानों आपकी उत्कण्ठा हो रही है।

(11.432) भोम से जैसे काम की और भी वृद्धि होती है, अथवा ईंधन से जैसे आग अधिक भड़कती है, वैसे ही खाते खाते आपके मुख में खाने की इच्छा और भी बढ़ रहती है।

(11.433) है तो एक ही मुख परन्तु इतना फैला हुआ है कि त्रिभुवन उसकी जीभ की नाक पर टिका है, मानों बड़वानल में कोई कैथा पड़ा हो।

(11.434) ऐसे मुख आपके अनेक हैं, परन्तु इतने त्रिभुवन कहाँ हैं? फिर आहार नहीं है तो आपने इन्हें इतना अधिक क्यों बढ़ाया है?

(11.435) अजी, यह लोक बेचारा आपकी वदन-ज्वालाओं से वेष्टित हो रहा है। जैसे मृग दावाग्नि के गेंरे में आ पड़ते हैं

(11.436) वैसा ही इस विश्व का हाल हो रहा है। ये देव नहीं, इस जगत् के कर्म ही प्रकट हुए हैं, अथवा जगरूपी जलचरों के लिए काल ने यह एक जाल फैलाया है।

(11.437) अब इस अंगप्रभा की बागुर में से चराचर किस मार्ग से बाहर निकलेंगे? ये मुख नहीं, जगत् के लिए एक लाक्षागृह ही उपस्थित हुआ है।

(11.438) अपनी दाहकता के कारण आग स्वयं यह नहीं जानती कि दाह कैसी होती है परन्तु वह जिसे लगती है वह प्राणों-सहित बच नहीं सकता;

(11.439) अथवा शस्त्र क्या जाने कि मेरी तीक्ष्णता से मृत्यु कैसे हो जाती है? अथवा विष जैसे अपना मारक गुण नहीं जानता,

(11.440) वैसे ही आपको अपनी तीव्रता की सुधि भी नहीं है परन्तु आपके मुख में इसी पार जगत् की खाई भर गई है।

(11.441) अजी, आप केवल आत्मा हैं तथा सकल जगत् में व्याप्त हैं, तो आप हमारे अन्तक जैसे क्यों उपस्थित हुए हैं?

(11.442) मैं जीवन की आशा छोड़ देता हूँ और आप भी संकोच न करें; जो मन में हो सो स्पष्ट कह दें।

(11.443) आप यह उग्र रूप कितना बढा रहे हैं! अपना भगवन्तपन ध्यान में लाइए, नहीं तो एक मुझ पर तो कृपा कीजिए।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥
11.31 ॥

(11.444) हे वेदों से जानने योग्य, हे त्रिभुवन के एक ही आदिकारण, हे विश्ववन्द्य! एक बार मेरी विनती सुनिए।

(11.445) ऐसा कह कर अर्जुन ने चरणों पर मस्तक घर कर नमस्कार किया और कहा कि है सर्वेश्वर! सुनिए।

(11.446) अजी, मैंने समाधान होने के लिए आपसे विश्वरूप का ध्यान पूछा और आप एकदम त्रिभुवन का लीलते ही उठे

(11.447) तो ऐसे आप कौन हैं? ये इतने भयानक मुख क्यों इकट्ठे किये हैं? और सब हाथों में आपने शस्त्र किस लिए पकड़े हैं?

(11.448) अजी, जब देखो तब आप क्रोध से विस्तृत हो आकाश को न्यूनता लाते हैं, तथा भयानक नेत्र बना कर क्यों हमें डरा रहे हैं?

(11.449) हे देव! आप कृतान्त से किस लिए स्पर्धा कर रहे हैं? अपना अभिप्राय हमें बताइए।

(11.450) इस पर श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं कौन हूँ और इस उग्रता से क्यों बढ़ रहा हूँ, यदि यह पूछते हो

श्रीभगवानुवाच

> कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
> ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु
> योधाः ॥ 11.32 ॥

(11.451) तो वास्तव में मैं काल हूँ और लोक-संहार के लिए बढ़ रहा हूँ तथा चहुँओर जो मैंने मुख फैलाये हैं उनमें मैं इस सम्पूर्ण विश्व को ग्रस लूँगा।

(11.452) तब अर्जुन ने कहा, हाय हाय! पिछले संकट से उकता कर प्रार्थना की तो और भी बुराई उपस्थित हुई।

(11.453) परन्तु यह जानकर कि इन कठिन शब्दों का सुन कर अर्जुन निराश और दुःखी होगा श्रीकृष्ण ने साथ ही यह कह दिया कि एक बात और है,

(11.454) तुम पाण्डव इस संहाररूपी संकट के बाहर हो। तब कहीं अर्जुन के प्राण जाते जाते बचे।

(11.455) वह मृत्युरूपी महामारी के अधीन हो गया था, सो फिर सचेत हुआ और श्रीकृष्ण के वचनों की ओर चित्त देने लगा।

(11.456) श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! ध्यान रक्खो कि तुम मुझे प्रिय हो। तुम्हारे अतिरिक्त और सबों को ग्रसने के लिए मैं तैयार हूँ।

(11.457) प्रचण्ड वज्राग्नि में जैसे कोई माखन की गोली डाली जाय वैसा ही सब जगत् मेरे मुँह में पड़ा है। यह तुमने देखा

(11.458) इसमें निश्चय से कुछ अन्तर नहीं है। ये सेनाएँ देखो, वृथा वल्गना कर रही हैं।

(11.459) चतुरंग सेना के ये सब वीर जो पराक्रममद के वश हो महाकाल से स्पर्धा करते हैं,

(11.460) जो सब इकट्ठे मिल कर शूरवृत्ति के बल से गरज रहे हैं,

(11.461) जो कह रहे हैं कि हम ऐसी ही दूसरी सृष्टि निर्मित करेंगे, प्रतिज्ञा-पूर्वक मृत्यु का भी मारेंगे तथा जगत् का घूँट पियेंगे,

(11.462) सम्पूर्ण पृथ्वी लील लेंगे, ऊपर के ऊपर ही आकाश का जला डालेंगे, तथा वायु की बात ही क्या है, उसे बाणों से जर्जर कर डालेंगे,

(11.463) जिनके वचन शस्त्रों से भी तीक्ष्ण हैं, जो अग्नि के समान दाहक दिखाई देते हैं, तथा जो मारने के काम में कालकूट को भी मधुर कहवाते हैं,

(11.464) वे सब वीर देखे, केवल गन्धर्व नगरी के भबके अथवा पोलेपन के बने हुए गोले वा चित्र में लिखे हुए पुतले हैं,

(11.465) मानों कोई मृगजल की बाढ़ आई हो; अथवा यह सेना नहीं, मानों कोई कपड़े का साँप बनाया हुआ है, अथवा कोई गुड़िया सिंगार कर खड़ी की गई है।

> तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
> मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ 11.33 ॥

(11.466) इनमें चेष्टा करनेहारा जो बल है वह मैंने पहले ही हर लिया है। अब ये कुम्हार के बनाये हुए पुतलों के समान निर्जीव हैं।

(11.467) हिलाने की डोरी टूट जाय तो पुतलियाँ किसी के भी उलटाने से उलट पड़ती हैं,

(11.468) वैसे ही इस सेना के आकार का नाश करने में कुछ समय न लगेगा। इसलिए उठो, जल्दी सुधि में आओ।

(11.469) तुम ने गो-ग्रहण के समय एकदम मोहनास्त्र छुड़ा कर विराट के डरपोक उत्तर के द्वारा शत्रु के वस्त्रों का हरण करवाया था।

(11.470) परन्तु यह सेना उससे भी गई-बीती बनी हुई रण में खड़ी है। इसका संहार करो और ऐसे यश का सम्पादन करो कि अकेले अर्जुन ने ही शत्रु को जीत लिया।

(11.471) और, निरा यश ही नहीं वरन सम्पूर्ण राज्य भी हाथ आ रहा है। अतएव हे सव्यसाची! तुम केवल निमित्तमात्र बनो।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ 11.34 ॥

(11.472) द्रोण की कुछ योग्यता न समझो। भीष्म का भी डर मत रक्खो। यह भी न सोचो कि कर्ण पर कैसे शस्त्र चलायें

(11.473) तथा यह भी चिन्ता न करो कि जयद्रथ को किस उपाय से मारें। और भी जो जो प्रसिद्ध वीर हैं

(11.474) उनमें से एक एक को चित्र में लिखे हुए सिंहों के समान जानो, जो गीले हाथ से पोंछ डाले जा सकते हैं।

(11.475) हे पाण्डव! इस प्रकार यह युद्ध-समुदाय किस गिनती में है यह सब केवल आभास रह गया है, और तो सब मैंने ग्रस लिया है।

(11.476) जब तुमने इन्हें मेरे मुख में पड़ा हुआ देखा तभी इनकी आयु समाप्त हो चुकी। अब ये रीते तुष रह गये हैं।

(11.477) इस लिए शीघ्र उठो। मैंने जिन्हें मारा है उन्हीं का अन्त करो और मिथ्या शोक-संकट में मत पड़ो।

(11.478) खेल में जैसे अपना बनाया हुआ निशान मार कर गिरा दिया जाता है वैसा ही यह हाल हो रहा है। तुम्हारा केवल निमित्त हो रहा है।

(11.479) अजी, तुम्हारे जो वैरी थे उन्हें उपजते ही बाघ ले गया। अब तुम राज्यसहित सम्पूर्ण यश का उपभाग करो।

(11.480) जो भाई-बन्धु स्वभावतः उन्मत्त थे, और जो बलवान और दुष्ट थे, उनका हमने स्पष्टतः और अनायास वध कर दिया।

(11.481) हे किरीटी! ये बातें जगत् के वाणीरूपी पट पर लिख रक्खो और आप स्वयं विजयी हो।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥
11.35 ॥

(11.482) ज्ञानदेव कहते हैं कि इस प्रकार संजय ने यह सम्पूर्ण कथा उस अपूर्ण-मनोरथ धृतराष्ट्र से कही।

(11.483) फिर सत्यलोक से निकल कर गंगा का जल जैसे खलबलाता हुआ बहता है वैसी विशाल वाचा से बोलते हुए,

(11.484) अथवा जैसे महामेघों के समूह एकदम गड़गड़ाते हैं, या मन्दराचल के मन्थन से क्षीरसमुद्र जैसा घहराता है

(11.485) वैसे गम्भीर महानाद से विश्वकन्द अनन्तरूपी श्रीकृष्ण ने जो वचन कहे

(11.486) वे ज्योंही अल्प ही सुनाई दिये त्योंही अर्जुन का सुख दुगुना हुआ या भय दुगुना हुआ, हम कह नहीं सकते। परन्तु उसका सब शरीर काँप उठा

(11.487) और श्रीकृष्ण के सन्मुख वह इतना झुक गया मानों उसकी पाटली बाँधी गई हो उसने हाथ जोडे और बारबार चरणों पर माथा नवाया

(11.488) और कुछ बोलने की चेष्टा की तो उसका गला भर आया। आप ही विचारिए कि यह सुख था या भय।

(11.489) परन्तु मैंने श्लोक के पदों से यह पहचाना कि उस समय श्रीकृष्ण के वचनों से अर्जुन की ऐसी दशा हुई।

(11.490) फिर वैसे ही डरते डरते और चरणों पर नमस्कार कर अर्जुन ने कहा कि महाराज। आपने कहा कि

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ 11.36 ॥

(11.491) हे अर्जुन। मैं काल हूँ और ग्रास करना मेरा खेल है। सो आपके इन वचनों को हम निश्चय से सत्य मानते हैं।

(11.492) परन्तु हमारी बुद्धि में यह बात नहीं जमती कि आज पालन करने के समय ही आप कालरूप होकर हमारा संहार करने के लिए तैयार हैं।

(11.493) शरीर का यौवन निकाल कर अविद्यमान वार्धक्य उसमें कैसे भरा जा सकता है? इसलिए जो बात आप करना चाहते हैं वह प्रायः हो नहीं सकती।

(11.494) अजी हे श्रीअनन्त! चारों पहर पूरे न होते क्या सूर्य कभी मध्याह्न में ही अस्त हो जाता है?

(11.495) आपरूपी अखण्डित काल के जो तीन विभाग हैं वे तीनों अपने अपने समय में बलवान रहते हैं।

(11.496) जिस समय उत्पत्ति होती है उस समय स्थिति और प्रलय का लोप रहता है। स्थिति के समय उत्पत्ति और प्रलय उपस्थित नहीं रहते।

(11.497) पश्चात् प्रलय के समय उत्पत्ति और स्थिति लुप्त रहती है। इस अनादि परिपाटी में किसी कारण भी अन्तर नहीं होता।

(11.498) अतएव यह बात मेरे हृदय में नहीं जमती कि जो यह जगत् सम्प्रति स्थिति के समय में है, और भोगों से भरा हुआ है, उसका आप इस समय ग्रास करेंगे।

(11.499) तब श्रीकृष्ण ने संकेत से कहा कि अजी हमने तुम्हें यह बात प्रत्यक्ष दिखाई है कि इन दोनों सेनाओं का पोषण समाप्त हो चुका। औरों का मरण यथाकाल ही होगा।

(11.500) श्रीकृष्ण का यह संकेत बताते देर न हुई थी कि अर्जुन ने फिर से सब विश्व पूर्ववत् देखा।

(11.501) तब उसने कहा कि हे देव! आप विश्व के धारण करनेहारे सूत्रधार हैं। यह सम्पूर्ण जगत् फिर अपनी पूर्व स्थिति को पहुँच गया

(11.502 और हे श्रीहरि! आप की जो कीर्ति है कि आप दुःखसागर में डूबे हुए लोगों का बाहर निकालते हैं उस कीर्ति का वह जगत् स्मरण कर रहा है

(11.503) तथा बारम्बार आपकी कीर्ति का स्मरण करता हुआ वह महासुख का आनन्द भोग रहा है, और हर्षरूपी अमृत की तरंगों में लोट पोट हो रहा है।

(11.504) हे देव! जीव-दान पाने के कारण जगत् आप पर प्रीति रखता है, तथापि दुष्टों का अधिकाधिक नाश हो रहा है।

(11.505) हे हृषीकेश! आप त्रिभुवन के राक्षसों के महाभय हैं। इसलिए वे दिशाओं के पार भाग रहे हैं।

(11.506) परन्तु सुर, नर, सिद्ध, किन्नर — अधिक कहने से क्या — सब चराचर, आपको देख कर आनन्दित हो, आपको नमस्कार कर रहे हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥
11.37 ॥

(11.507) हे नारायण! इसका क्या कारण है कि राक्षस आपके चरणों में न पड़ कर भाग रहे हैं?

(11.508) परन्तु यह बात आपसे क्यों पूछी जावे? यह तो हम भी जानते हैं कि सूर्य का उदय होने पर तम कैसे रह सकता है।

(11.509) अजी, आप आत्मप्रकाश के घर हैं, और हमें गोचर हुए हैं, इसलिए निशाचररूपी अँधेरा अपने आप मिट गया।

(11.510) हे श्रीराम। इतने दिनों तक हम यह कुछ नहीं जानते थे। परन्तु अब हमें आपकी गम्भीर महिमा दिखाई दे रही है।

(11.511) जहाँ से भूतसमुदायरूपी बेलें अनेक सृष्टियों की पंक्तियों का विस्तार कर रही हैं वह महत्तत्व आपकी इच्छा से उत्पन्न हुआ है।

(11.512) हे देव! आप सर्वदा निस्सीम सत्त्व से भरे हुए हैं। हे देव! आप निस्सीम और अनन्त गुणों से भरे हुए हैं, और आप सब देवों के देवता हैं।

(11.513) अजी आप तीनों जगतों के जीवन हैं। हे सदाशिव। आप अविनाशी हैं, आप सत् और असत् हैं वरन उसके भी परे जो वस्तु है वह आप हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥
11.38 ॥

(11.514) आप प्रकृति और पुरुष के आदि-कारण हैं। अजी, आप महत्तत्त्व की सीमा हैं, और आप स्वयं पुरातन और अनादि हैं।

(11.515) आप सकल विश्व के जीवन हैं, और आप ही प्राणियों के निधान हैं। भूत और भविष्य का ज्ञान आपके ही हाथ है।

(11.516) अजी, श्रुति के लोचनों का जिस रूप से सुख होता है वह हे अभिन्न! आप ही हैं। आप त्रिभुवन के आश्रय के आश्रयस्थान हैं

(11.517) इसलिए आपको परम और महाधाम कहते हैं। कल्पान्त के समय महत्तत्व आप में ही प्रवेश करता है।

(11.518) किंबहुना, हे देव! आपने सम्पूर्ण विश्व का विस्तार किया है। अतएव हे अनन्तरूप! आपका वर्णन कौन कर सकता है?

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
11.39 ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
11.40 ॥

(11.519) अजी, आप क्या नहीं हैं? किस स्थान में नहीं हैं? इसलिए और क्या कहूँ? आप जैसे हैं वैसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

(11.520) हे श्रीअनन्त! आप वायु हैं, आप शासनकर्ता यम हैं, प्राणिगणों में रहनेहारी जठराग्नि आप हैं।

(11.521) आप वरुण हैं, सोम हैं, आप सृष्टि उत्पन्न करनेहारे ब्रह्मदेव हैं, पितामह के भी श्रेष्ठ और आद्य जनक हैं।

(11.522) हे श्रीजगन्नाथ! जो जो कुछ आपका साकार अथवा निराकार रूप है उसी रूपधारी आपको नमस्कार है।

(11.523) इस प्रकार अर्जुन ने सप्रेम अन्तःकरण से नमन किया और कहा कि दे प्रभो! नमस्ते नमस्ते।

(11.524) फिर उस श्रीमूर्ति की ओर आदि से अन्त तक निहारा और कहा, हे प्रभो! नमस्ते नमस्ते।

(11.525) अंग के प्रान्त देखते देखते, अर्जुन मन में समाधान पाता और बार बार कहता था कि हे प्रभो! नमस्ते नमस्ते।

(11.526) चराचर में जो प्राणी हैं उन सब में उस मूर्ति का देखता और बार बार कहता जाता था कि हे प्रभो! नमस्ते नमस्ते।

(11.527) ऐसे अनन्त अद्भुत रूप ज्यों ज्यों आश्चर्य-सहित प्रकट होते त्यों त्यों अर्जुन नमस्ते नमस्ते ही कहता जाता था।

(11.528) उसे न तो स्तुति का स्मरण हो और न चुपचाप बैठा जाय; इस प्रकार वह न जाने कैसे प्रेमभाव से गूँज रहा था।

(11.529) बहुत क्या कहूँ, अर्जुन ने इस प्रकार हजारों बार नमन किया और फिर कहा कि हे श्रीहरि। आपको सन्मुख हो नमस्कार करता हूँ।

(11.530) आपके आगा-पीछा है वा नहीं, इससे हमें क्या काम? हे स्वामी, मैं आपको पीछे की ओर से भी नमस्कार करता हूँ।

(11.531) आप मेरी पीठ (पक्ष) पर खड़े हैं, इसलिए आपके पिछले कहा जा सकता है, परन्तु आप जगत् के आगे हैं या पीछे, यह नहीं कहा जा सकता।

(11.532) अब हे देव! मैं आपके अलग अलग अवयवों का वर्णन नहीं कर सकता। इसलिए हे सर्वरूपी, हे सर्व! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

(11.533) अजी हे अनन्त, हे बलसमृद्धिवान्, हे अमित पराक्रमी, हे सर्वकाल समान रहनेहारे, और हे सर्वव्यापी! आपको नमस्कार है।

(11.534) जैसे सम्पूर्ण आकाश में अवकाश ही आकाश-रूप बन रहता है, वैसे ही आप सब में व्याप्त हो कर सर्वरूप में प्रकट हुए हैं।

(11.535) किंबहुना, हे केवलस्वरूप। क्षीरसमुद्र में जैसे दूध की तरंगें भरी रहती हैं वैसे आप ही सर्वत्र भरे हुए हैं।

(11.536) इस लिए हे देव। मुझे यह बात प्रतीत हो गई कि आप किसी भी पदार्थ से जुदे नहीं हैं इसलिए आप ही सर्वत्र हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ 11.41 ॥

(11.537) परन्तु है स्वामी। आपको हमने ऐसा कभी न जाना था, इस लिए हम आपसे सगे सहोदर के नाते से व्यवहार करते रहे।

(11.538) अजी बड़ी बुरी बात हुई। मैंने अमृत का उपयोग आँगन सींचने के काम में किया, अथवा घोड़े के बदले में मानों कामधेनु दे दी।

(11.539) पारस का पर्वत हाथ लगा था, उसे फोड़ कर मानों हमने नींव में भर दिया, अथवा कल्पवृक्ष तोड़ कर उसकी खेत की बागुर बना दी।

(11.540) जैसे चिन्तामणि की खानि हाथ लगे परन्तु परख न होने के कारण उसका त्याग किया जाय, वैसे ही आपकी सन्निद्धता का लाभ हमने हेल-मेल में खो दिया।

(11.541) आज का ही युद्ध यथार्थ में देखिए तो कितनी सी बात थी? परन्तु हे परब्रह्म! इसमें हमने आपको खुल्लमखुल्ला सारथी बनाया है।

(11.542) हे दाता! इन कौरवों के घर हमने आपको वसीठ बना कर भेजा था। हे जगदीश्वर! इस प्रकार हमने आपका व्यवहार में उपयोग किया।

(11.543) मुझ मूर्ख ने यह कैसा न जाना कि आप योगियों के समाधि-सुख हैं, और आपके सन्मुख कैसा उपरोध किया!

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

11.42॥

(11.544) आप इस विश्व के अनादि आदिकारण हैं, परन्तु आप जिस सभा मैं बैठते थे वहाँ मैं आपसे सगे सम्बन्ध से विनोद कर बोलता था।

(11.545) जब कभी आपके मन्दिर में आता था तब आपकी ओर से सन्मान पाता था, और यदि आपने सन्मान न किया तो मित्र के नाते मैं आप पर रूठ जाता था।

(11.546) हे शार्ङ्गपाणि, हमने ऐसी बहुतेरी करनी की है कि जिसके लिए आपके चरण छूकर मनौती करनी चाहिए।

(11.547) स्वजनों के अनुसार हम आपके सन्मुख पीठ फेर कर भी बैठे हैं। हे वैकुण्ठ! ऐसी योग्यता हमें कहाँ थी? परन्तु हमारी भूल हुई।

(11.548) हे देव! हम आपसे गदका-फरी खेलते थे, अखाड़े में झूमाझूमी करते थे, चौपड़ खेलते समय घर चुराते थे और तेजी से लड़ते थे।

(11.549) कोई अच्छी वस्तु हो तो तुरन्त माँग लेते थे। आप सर्वज्ञ का हम सिखापन देते थे, और आपसे कहते थे कि हम तुम्हारा क्या चाहते हैं?

(11.550) यह अपराध इतना बड़ा है कि त्रिभुवन में भी न समावेगा। परन्तु हम आपके चरण छूकर कहते हैं कि यह हमने बिना जाने किया है।

(11.551) हे देव! भोजन के समय आप हमारा स्मरण करते थे, परन्तु हमारा वृथा अभिमान देखिए कि हम रूठ कर बैठते थे।

(11.552) हे देव! आपके विलासगृह में हम निःशंक खेलते थे, तथा आपकी शय्या पर भी आपके पास ही सो रहते थे।

(11.553) आपको कृष्ण कह कर पुकारते थे; आपको यादव समझते थे, और आप जाने लगते तो आपको अपनी शपथ देते थे।

(11.554) आपके समीप एक ही आसन पर बैठना, आपके वचन न मानना आदि बातें, व्यवहार की अधिकता के कारण, मुझसे बहुतेरी बन पड़ी हैं।

(11.555) इस लिए हे अनन्त! अब क्या क्या निवेदन करूँ, मैं सम्पूर्ण अपराधों की राशि हूँ।

(11.556) अतएव हे प्रभु! हमने आपके सन्मुख या आपके पश्चात् जो कुछ अपराध किये हों उन्हें आप माता के समान पेट में रक्खें।

(11.557) अजी, किसी समय नदी गँदला पानी ले आती है तो उसे भी समुद्र को लेना ही पड़ता है — दूसरा उपाय नहीं रहता,

(11.558) वैसे ही मैंने प्रेम से या प्रमाद से जा कुछ कहा हो उसको हे मुकुन्द! क्षमा कीजिए।

(11.559) आपकी सहनशीलता के कारण ही यह क्षमा (पृथ्वी) सब प्राणियों को आधारभूत हुई है। इसलिए हे पुरुषोत्तम! आपकी जितनी विनती की जाय उतनी थोड़ी है।

(11.560) तथापि हे अप्रमेय! अब मुझ शरणागत को इन अपराधों के लिए क्षमा कीजिए।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ 11.43 ॥

(11.561) आपकी महिमा मैंने यथार्थ जान ली। हे देव! आप चराचर के जन्मस्थान हैं।

(11.562) हे देव, आप हरि-हर इत्यादि समस्त देवों के परमदेव हैं। आप वेदों के भी सिखानेवाले आद्य गुरु हैं।

(11.563) हे श्रीराम! आप गम्भीर हैं, नाना भूतों में एक ही समान रस हैं। सकल गुणों में अनुपम, तथा अद्वितीय हैं।

(11.564) यह कहने की आवश्यकता ही क्या है कि आपके समान और कुछ नहीं है? आपके ही कारण आकाश में यह जगत् समाया हुआ है

(11.565) एवं आपके समान कोई दूसरी वस्तु है, ऐसा कहते हुए लज्जा होनी चाहिए तो फिर आपसे बड़ी वस्तु की बात ही कैसे हे सकती है?

(11.566) अतएव त्रिभुवन में आप ही एक हैं। आपके समान दूसरा नहीं। आपकी महिमा अपूर्व है, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता।

> तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
> पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
> 11.44 ॥

(11.567) यों कह कर अर्जुन ने दण्डवत् की तो उसे सात्विक भावों की बाढ़ आ गई।

(11.568) तब वह कहने लगा कृपा कीजिए, कृपा कीजिए। मेरी वाचा गद्गद हो रही है। मुझे इस अपराध-समुद्र में से निकालिए।

(11.569) यह बात — कि आप जगत् के मित्र हैं — हमने सगोत्रता के अभिमान से नहीं मानी। आप जो विश्वेश्वर हैं उन आपके सामने हम अपना ऐश्वर्य जनाते थे।

(11.570) आप स्वयं वर्णनीय हैं, परन्तु आप प्रेम से सभा में मेरा वर्णन करते थे, तथापि मैं क्षोभ से अधिकाधिक वल्गना करता था।

(11.571) अब हे मुकुन्द! ऐसे अपराधों की सीमा ही नहीं है, इसलिए इस प्रमाद से मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए।

(11.572) अजी, यह विनती करने की योग्यता भी मुझे कहाँ है? परन्तु प्रेम की ढिठाई से जैसे बालक पिता से बोलता है

(11.573) और उसके अपराध अपार हों तथापि पिता द्वैतभाव छोड़ कर सह लेता है, वैसे ही मेरे अपराध सह लीजिए।

(11.574) मित्र का उद्धत बर्ताव जैसे मित्र शान्ति से सह लेवा है, वैसे आप भी मेरे सम्पूर्ण अपराध सह लीजिए।

(11.575) जैसे कोई प्रेमीजन प्रेमीजन से सन्मान की इच्छा नहीं करता वैसे ही आपने जो हमारी जूठन उठाई उसकी क्षमा कीजिए,

(11.576) अथवा प्राणों के प्यारे से भेंट होते ही जैसे हृदय का अपने बीते हुए संकटों का उससे निवेदन करने में संकोच नहीं होता;

(11.577) अथवा जिसने अपने सब शरीर और जीव-सहित निज को पति का समर्पित कर दिया है वह पतिव्रता जैसे पति की भेंट होते ही उससे अपना हृदय खेले बिना नहीं रह सकती,

(11.578) वैसे ही हे गोस्वामी! मैंने आपसे यह विनती की है। इसके अतिरिक्त मैं एक बात और भी कहा चाहता हूँ।

> अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
> तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 11.45 ॥

(11.579) दे देव! आपसे मैंने ढिठाई की और विश्वरूप देखने का जा हठ किया सो आप प्रेमी माता-पिता ने पूर्ण कर दिया।

(11.580) कल्पवृक्ष के झाड़ प्रेम से मेरे आँगन में लग जाय, कामधेनु का बछ्डा मुझे खेलने को दिया जाय,

(11.581) मुझे नक्षत्रों के पाँसे फेंकने के लिए मिलें, खेलने के लिए चन्द्रमा की गेंद मिले इत्यादि प्रकार का जो मेरा हठ था सो हे माता! आपने सब पूर्ण किया।

(11.582) जिस अमृत के बिन्दु के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं उसकी मानों आपने चारों महीने वर्षा कर दी और धरती जोत कर क्यारियों क्यारियों में मानों चिन्तामणि बो दिये।

(11.583) इस प्रकार हे स्वामी! आपने मुझे कृतार्थ कर दिया और मेरी बालइच्छा बिलकुल पूर्ण कर दी। आपने मुझे वह स्वरूप दिखा दिया जो शंकर और ब्रह्मा आदि ने कान से भी न सुनो था।

(11.584) फिर देखने की तो बात ही क्या है? उपनिषदों को जिसकी भेंट नहीं हुई वह हृदय की गाँठ आपने मेरे लिए खेल दी।

(11.585) अजी, कल्प के आरम्भ से लेकर आज की घडी तक मेरे जितने जन्म हो गये हैं

(11.586) उन सबका निरीक्षण कर देखता हूँ तो ऐसी बात कभी देखी या सुनी हुई नहीं मालूम होती।

(11.587) बुद्धि का ज्ञान कभी इस स्वरूप के आँगन में भी नहीं जा सकता, अन्तःकरण इसका शब्द भी नहीं सुन सकता,

(11.588) तो फिर नेत्रों का इसके प्रत्युक्त होने की बात ही कहाँ रही? बहुत क्या कहूँ, यह रूप पहले न किसी ने देखा था न सुना था।

(11.589) सो यह अपना विश्वरूप आपने मेरे नयनों का दिखाया, इससे हे देव! मेरा मन आनन्दित हुआ है।

(11.590) परन्तु अब हृदय में ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई है कि आपसे आलाप करूँ और आपसे आलिंगन करने के हेतु आपकी समीपता का उपभोग लूँ।

(11.591) सो इसी रूप में करना चाहूँ तो कौन से एक मुख से बोलूँ और किसे आलिंगन दूँ? आपकी तो गणना नहीं हो सकती।

(11.592) अतएव वायु के संग दौड़ना, गगन को लिपटाना, और समुद्र में जलक्रीडा करना नहीं बन सकता;

(11.593) एवं हे देव! इस स्वरूप से मेरे हृदय में भय उपजता है। इसलिए अब मेरा इतना हेतु पूर्ण कीजिए कि यह स्वरूप बस कीजिए।

(11.594) कोई कुतूहल से चराचर का अवलोकन करे और फिर आनन्द से घर आ रहे, वैसे ही आपका चतुर्भुज स्वरूप हमारी विश्रान्ति का स्थान है।

(11.595) हम योग आदि का अभ्यास करें परन्तु उससे हमें इसी चतुर्भुजरूप की प्रतीति प्राप्त हो, शास्त्रों की आलोचना करें तथापि उससे यही सिद्धान्त हाथ लगे।

(11.596) हम सम्पूर्ण यज्ञ करें तथापि उनका फल यही रूप मिले, सकल तीर्थों की यात्रा करें परन्तु इसी रूप के लिए,

(11.597) और भी जो जो कुछ दान और पुण्य करें, उनसे आपके इस चतुर्भुज रूप का ही फल प्राप्त हो।

(11.598) मेरे हृदय में उस रूप का इतना प्रेम है। अतएव वही सत्वर देखने की इच्छा हो रही है, सो यह अति शीघ्र पूरी कीजिए।

(11.599) हे हृदय की जाननेहारे, सकल विश्व के बसानेहारे, हे पूज्य, हे देवों के देव। प्रसन्न हूजिए।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ 11.46 ॥

(11.600) जो शरीर नीलकमलों के लिए भी छवि का नमूना है, जो आकाश में भी रंग लगाता है (यानी जिससे आकाश नीला होता है), तथा इन्द्रनील को भी तेज की प्रभा दिखाता है;

(11.601) जो ऐसा है कि मानों मरकत मणि में सुगन्ध उत्पन्न हुई हो या आनन्द के भुजाएँ फूटी हों, जिसकी गोद में मदन सुशोभित होता है,

(11.602) जिसके मस्तक ने मुकुट को अलंकृत किया है, अथवा जिसका मस्तक मानों मुकुट का मुकुट बन रहा है, तथा जिससे शृंगार का अलंकार प्राप्त हुआ है

(11.603) वह आपका शरीर, हे शार्ङ्गपाणि, आकाश में इन्द्रधनुष से वेष्टित जैसे मेघ दिखाई देता है वैसे वैजयन्ती माला से वेष्टित था।

(11.604) आप की गदा कितनी उदार थी जो असुरों को भी मोक्ष देती थी! हे गोविन्द! आपका चक्र कैसा सौम्य प्रकाश से शोभा दे रहा था!

(11.605) बहुत क्या वर्णन करूँ? हे स्वामी! वही रूप देखने के लिए मेरी उत्कण्ठा हो रही है। इसलिए अब आप वही रूप लीजिए।

(11.606) अजी, इस विश्वरूप का सुख भोग कर आँखें जुड़ा गई और अब कृष्ण-मूर्ति के लिए प्यासी हो रही है।

(11.607) इन आँखें का उस साकार कृष्णरूप के अतिरिक्त कुछ देखना नहीं भाता। उसे न देखने पर ये देखने का कुछ मोल नहीं समझतीं।

(11.608) हमें भोग और मोक्ष दोनों देनेहारी श्रीमूर्ति के सिवाय कोई वस्तु नहीं है। इसलिए आप वैसे ही साकार हूजिए और इस रूप का उपसंहार कीजिए।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥
11.47॥

(11.609) अर्जुन के इन वचनों से विश्वरूप श्रीकृष्ण को विस्मय हुआ। उन्होंने कहा कि हमने कोई ऐसा अरसिक नहीं देखा।

(11.610) तुम्हें कितनी श्रेष्ठ वस्तु का लाभ हुआ है उसका तुम कुछ आनन्द नहीं मानते और डर कर किसी डरपोक जैसे न जाने क्या बोल रहे हो।

(11.611) हम जब प्रसन्न होते हैं तो ऊपर से ही, – अन्तर से तो अलिप्त ही रहते हैं। भला अपना जी कौन खर्च करता है?

(11.612) परन्तु हमने तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए आज, अपने जी का ही स्वरूप श्रमपूर्वक तैयार करके, इतना ध्यान रचा है।

(11.613) तुम्हारा प्रेम न जाने कैसा है जो उससे हमारी प्रसन्नता इतनी मत्त हो गई कि हमने जगत में अपने गुप्त स्वरूप की ध्वजा उभार कर खड़ी कर दी।

(11.614) ऐसा यह मेरा अपरम्पार और परात्पर स्वरूप है। यहीं से कृष्ण इत्यादि अवतार उत्पन्न होते हैं।

(11.615) यह स्वरूप केवल ज्ञान के तेज का बना है, केवल विश्वमय है, अनन्त है, अचल है, और सब का आदि-कारण है।

(11.616) हे अर्जुन! इसे तुम्हारे सिवाय पहले किसी ने न सुना है न देखा है, क्योंकि यह साधनों से प्राप्तव्य नहीं।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥
11.48 ॥

(11.617) इस रूप का पता लगाते हुए वेद भी चुपके हो गये, और यज्ञ भी वास्तव में स्वर्ग तक पहुँच कर पीछे पलट आये है।

(11.618) साधकों ने आयास जान कर योगाभ्यास छोड़ दिया है तथा इस रूप का प्राप्त करने की योग्यता अध्ययन से भी नहीं आती।

(11.619) पूर्णता को पहुँचे हुए सत्कर्म अपनी श्रेष्ठता दिखाते दौड़ते है परन्तु वे भी अनेक श्रम करके सत्यलोक तक ही पहुँचते हैं।

(11.620) तप ने इस रूप का ऐश्वर्य देखा और खड़े खड़े अपनी तीव्रता छोड़ दी। इस प्रकार जो तप या साधनों से भी बहुत दूर रह जाता है

(11.621) वह विश्वरूप तुमने जैसा अनायास देखा है, वैसा मनुष्यलोक में और किसी को प्राप्त नहीं होता।

(11.622) आज जगत् में इस सम्पदा से सम्पन्न एक तुम्हीं हो। ऐसा परम भाग्य ब्रह्मदेव का भी नहीं है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं
घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥
11.49 ॥

(11.623) इसलिए विश्वरूप के लाभ से धन्यता मानो। इस से भय न रक्खो।

(11.624) इसके अतिरिक्त किसी वस्तु को मन में उत्तम मत समझो। अजी, समुद्र अमृत से भरा हो और वह अकस्मात् प्राप्त हो जाय तो क्या उसे कोई डूबने के डर से छोड़ देगा?

(11.625) अथवा यह समझ कर कि सोने का पर्वत बहुत बड़ा है और उठ नहीं सकता. – क्या कोई उसका त्याग कर देगा?

(11.626) भाग्य से चिन्तामणि का अलंकार मिले तो क्या उसे बोझा समझ कर कोई फेंक देगा? कामधेनु का पालने की सामर्थ्य नहीं इसलिए क्या कोई उसे छोड़ देगा?

(11.627) चन्द्रमा घर आवे ते क्या कोई कहेगा कि निकले, तुम उष्णता पहुँचाते हो? अथवा सूर्य से क्या कोई कहता है कि हटो, तुम परछाई डालते दे?

(11.628) वैसे ही यह ईश्वरी महातेज सहज में तुम्हारे हाथ आया है तो तुम्हें इससे अकुलाहट क्यों होनी चाहिए?

(11.629) परन्तु हे धनंजय! तुम अज्ञानी है। । तुम कुछ नहीं समझते। तुम पर क्या क्रोध करें? तुम शरीर छोड़ कर छाया का आलिंगन करना चाहते हो।

(11.630) इस स्वरूप से डर कर जिस चतुर्भुज वेष पर तुम प्रेम रखते हो वह मेरा सत्यस्वरूप नहीं है।

(11.631) इसलिए हे अर्जुन! अब भी उस रूप की आस्था छोड़ दो और इस रूप के विषय में अनास्था मत करो।

(11.632) यद्यपि यह रूप घोर, विकराल और विशाल है तथापि इसी को अपने निश्चय का स्थान बना दो।

(11.633) किसी कृपण की चित्तवृत्ति जैसे द्रव्य में लगी रहती है और वह केवल देह से व्यवहार करता है,

(11.634) अथवा पक्षिनी जैसे अपना जी घोंसले में उन बच्चों के पास रख कर, जिनके पंग नहीं फूटे हैं, आकाश में घूमती है;

(11.635) अथवा जैसे गाय पहाड़ पर चढ़ती है परन्तु उसका चित्त घर में बछड़े की ओर लगा रहता है, वैसे ही तुम अपना प्रेम इस स्वरूप से बाँध रक्खो,

(11.636) और ऊपरी चित्त से बाह्यतः सख्यसुख का उपभोग लेने के लिए मेरी चतुर्भुज-मूर्ति का ध्यान करो।

(11.637) परन्तु हे पाण्डव! निरन्तर इस एक बात का न भूलो कि सद्भाव कभी इस स्वरूप से न हटना चाहिए

(11.638) यह स्वरूप तुमने कभी न देखा था। इस से तुम्हें जो डर.उत्पन्न हुआ है इसे छोड़ कर इस में अपना प्रेम भर दो।

(11.639) अनन्तर विश्वरूपी श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मैं तुम्हारे इच्छानुसार करता हूँ। अब सुख से पहला स्वरूप देख लो।

सञ्जय उवाच

> इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
> आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥
> 11.50 ॥

(11.640) ऐसा करते ही देव फिर मनुष्यरूप हो गये। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु उनके प्रेम का आश्चर्य है।

(11.641) श्रीकृष्ण ही केवल परब्रह्म हैं और उन्होंने अपना विश्वरूप सरीखा सर्वस्व अर्जुन के हाथ दे दिया, परन्तु बह अर्जुन को न भाया।

(11.642) जैसे कोई दान का स्वीकार कर फेंक दे, या जैसे कोई रत्न का नाम धरे या कन्या का निरीक्षण करने पर कह दे कि हमको नहीं भाती, वैसा ही हाल यहाँ हुआ।

(11.643) विश्वरूप जैसा रूप दिखाते हुए उनका प्रेम कैसा बढ़ा हुआ था! देव ने अर्जुन को सर्वोत्तम उपदेश किया।

(11.644) परन्तु सोने का टुकड़ा तोड़ कर उसके अलंकार बनाये जाय और फिर वे मन मैं न भावें तो जैसे फिर से गलाये जाते हैं,

(11.645) वैसे ही जो शिष्य के प्रेम के लिए कृष्ण हुआ था वह विश्वरूप हो गया और वह उसे न भाया इसलिए फिर पलट कर कृष्णरूप हो गया।

(11.646) यहाँ तक शिष्य का हठ सहनेवाले गुरु कहाँ हैं? परन्तु संजय कहते हैं कि श्रीकृष्ण का प्रेम न जाने कितना है!

(11.647) तदनन्तर भगवान ने विश्व को व्याप्त कर जो दिव्य तेज प्रकट किया था उसे फिर उस कृष्णरूप में समा लिया।

(11.648) जैसे सम्पूर्ण जीवदशा (त्वंपद) ब्रह्मरूप (तत्पद) में समाती है अथवा वृक्षाकार जैसे बीजकणिका में समा जाता है,

(11.649) अथवा जैसे जागृतदशा स्वप्न के विस्तार का लील लेती है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने अपना योग समेट लिया।

(11.650). प्रभा जैसे बिम्ब में विलीन हो जाती है अथवा मेघसम्पत्ति आकाश में या समुद्र की बाढ़ समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाती है,

(11.651) वैसे ही कृष्णस्वरूप के आकार की जो, विश्वरूपी वस्त्र की, तह थी वह अर्जुन के इच्छानुसार मानों खोल कर बताई गई,

(11.652) परन्तु उस ग्राहक ने जो रंग, सूत और पोत देखा तो उसके मन में न भाई, इसलिए उसकी मानों फिर से तह कर ली गई।

(11.653) इस प्रकार जिस स्वरूप ने अपनी विशालता के आधिक्य से विश्व को भी जीत लिया था वह फिर सुन्दर और सौम्य आकार का हो गया।

(11.654) बहुत क्या कहूँ, श्रीकृष्ण ने फिर अपना छोटा स्वरूप कर लिया, और उस डरे हुए अर्जुन को आश्वासन दिया।

(11.655) तब जैसे कोई स्वप्न में स्वर्ग का जाय और अकस्मात् जाग पड़े तो उसे जैसा विस्मय होता है, वैसा ही विस्मय अर्जुन का हुआ

(11.656) अथवा गुरुकृपा से सम्पूर्ण प्रपंचज्ञान का लय होते ही जैसा ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित होता है, वैसी दी वह श्रीमूर्ति अर्जुन को दिखाई दी।

(11.657) अर्जुन ने मन में कहा कि भला हुआ कि इस मूर्ति की ओट में जे विश्वरूप-जवनिका पड़ी थी वह हट गई।

(11.658) उसे ऐसा मालूम हुआ मानों वह काल का जीत कर आया हो, अथवा उसने महावायु को दौड़ में हराया हो, अथवा वह अपने हाथों से सातों समुद्र पार उतर गया हो।

(11.659) इस प्रकार अर्जुन के चित्त को विश्वरूप के पश्चात् श्रीकृष्ण-स्वरूप का देखने से अत्यन्त सन्तोष हुआ।

(11.660) फिर जैसे सूर्यास्त के पश्चात् आकाश में नक्षत्र उगते हैं वैसे पृथ्वी उसे प्राणियों से भरी हुई दिखाई दी।

(11.661) अब जो दृष्टि फेंकता है तो वही कुरुक्षेत्र है; दोनों तरफ वही गोत्रवीर शस्त्र या अस्त्रों के समुदाय की पूर्ववत् वर्षा कर रहे हैं;

(11.662) ऐसे बाणों के मण्डप के बीच रथ पूर्ववत् ही खड़ा हुआ है; जूए पर श्रीकृष्ण बैठे हैं और आप नीचे खड़ा है।

अर्जुन उवाच

> दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
> इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ 11.51 ॥

(11.663) उस वीर-विलासी अर्जुन ने जैसी इच्छा की थी वैसा ही उसे दर्शन हुआ। फिर उसने कहा कि महाराज! अब मेरे जी में जी आया सा मालूम होता है।

(11.664) बुद्धि का छोड़ ज्ञान डर कर अरण्य में घुस गया था, मन अहंकार-सहित देश के पार चला गया था,

(11.665) इन्द्रियाँ प्रवृत्ति भूल गई थीं, वाचा बोलना भूल गई थी, इस प्रकार इस शरीरग्राम में दुर्दशा हो गई थी।

(11.666) परन्तु अब वे सब जीती हुई प्रकृति के हाथ लग गई। इस श्रीमूर्ति से उन्हें फिर जीवन प्राप्त हो गया।

(11.667) इस प्रकार अर्जुन के हृदय में सुख हुआ। फिर उसने श्रीकृष्ण से कहा कि मैंने आपका यह मनुष्य-रूप देखा।

(11.668) हे देवराज! आपका यह रूप दिखाना ऐसा है कि जैसे अपराधी बालक को आप माता ने समझा कर स्तनपान दिया हो।

(11.669) अजी, मैं विश्वरूप के समुद्र में हाथों से तरंगों को काट रहा था, सो अब इस निजमूर्ति-रूपी तीर पर आ पहुँचा।

(11.670) हे द्वारकापुर के श्रेष्ठ! सुनिए, मैं एक सूखा हुआ वृक्ष था। उसे यह दर्शन नहीं, मेघों की वर्षा हुई।

(11.671) अजी,,सहज तृषा लगी तो मुझे यह अमृत का समुद्र ही प्राप्त हो गया।

(11.672) मेरी हृदय-भूमि में हर्ष-लताएँ लगाई जा रही हैं, और मुझे आनन्द और समाधान हो रहा है।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ 11.52 ॥

(11.673) पार्थ के इन वचनों पर देव ने कहा कि यह क्या कह रहे हों। तुम्हें विश्वरूप पर प्रेम रखना चाहिए

(11.674) और फिर इस श्रीमूर्ति को आलिंगन देने के लिए अकेले ही, शरीर से, आओ। हे सुभद्रापति! यह उपदेश क्या तुम भूल गये।

(11.675) हे अर्जुन! अन्धे के हाथ मेरु भी लगे तो उसे छोटा ही जान पड़ता है। यह मन की भूल है।

(11.676) वैसे ही जो विश्वात्मक रूप हमने तुम्हें बताया वह शंकर का, इतना तप करने पर भी, नहीं जुड़ता

(11.677) और हे किरीटी! योगी जन अष्टांग इत्यादि संकटों के कष्ट सहते हैं तथापि उन्हें जिसकी भेंट का कभी अवसर नहीं प्राप्त होता,

(11.678) जिस विश्वरूप का एक-आध बार थोड़ा-सा भी दर्शन हो जाय, ऐसा चिन्तन करते हुए देवों का भी काल जाता है,

(11.679) चातक जैसे हृदयरूपी मस्तक पर आशारूपी अंजलि रख कर आकाश की ओर दृष्टि किये रहते हैं,

(11.680) वैसी उत्कण्ठा के वश हो, सुरवर आठों पहर जिसकी भेंट की इच्छा करते रहते हैं,

(11.681) तथापि जिस विश्वरूप के समान वस्तु किसी को स्वप्न में भी नहीं दिखाई देती, से यह स्वरूप तुमने सुख से देख लिया।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ 11.53 ॥

(11.682) हे सुभट! इस रूप की प्राप्ति के लिए साधनों के मार्ग नहीं हैं तथा छहों शास्त्रों-सहित वेद भी इससे हार खा चुके हैं।

(11.683) हे धनुर्धर! मुझ विश्वरूप के मार्ग से चलने के लिए सब तपों के समूह में भी योग्यता नहीं है

(11.684) तथा दान इत्यादि साधनों से भी मेरी प्राप्ति होना निश्चय से कठिन है। यज्ञों से भी मैं वैसा हाथ नहीं आता जैसा तुमने मुझे सुख से देख लिया।

(11.685) ऐसा मैं एक ही रीति से प्राप्त हो सकता हूँ अर्थात् जब भक्ति आकर चित्त को जयमाल पहनावे।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ 11.54॥

(11.686) परन्तु वह भक्ति ऐसी हो जैसी कि वर्षा की धारा, जो पृथ्वी के अतिरिक्त दूसरी गति ही नहीं जानती;

(11.687) अथवा सब जलसम्पदा लेकर जैसे गंगा समुद्र की खोज करती है और अनन्य गति हो बारम्बार उसी से मिलती है,

(11.688) वैसे ही भक्ति सब भावों के समूह-सहित हृदय में न समाते हुए प्रेम से मुझमें मद्रूप हो प्रवेश करे।

(11.689) और मैं ऐसा हूँ जैसा कि क्षीरसमुद्र, जो तीर पर तथा मध्य में समान ही क्षीर का बना रहता है;

(11.690) और, मुझसे लेकर चिउँटी तक — किंबहुना चराचर में — भजन के लिए दूसरी वस्तु ही नहीं है।

(11.691) जो ऐसी भक्ति प्राप्त हो तो उसी क्षण मेरे इस रूप का ज्ञान होता और सहज दर्शन भी हो जाता है।

(11.692) फिर जैसे ईंधन नाम का नहीं रहता और मूर्तिमान अग्नि हो रहता है,

(11.693) अथवा जब तक सूर्य का उदय नहीं होता तब तक अन्धकार गगनरूप हो रहता है; परन्तु उदय होते ही एकदम प्रकाशमय हो जाता है,

(11.694) वैसे ही मेरे साक्षात्कार से अहंकार का आवागमन बन्द हो जाता है और अहंकार का लोप होते ही द्वैत का नाश हो जाता है।

(11.695) फिर वह भक्त, मैं, और यह सम्पूर्ण विश्व, स्वभावतः एकमय ही हो रहते हैं। बहुत क्या कहें, वह भक्त ही सर्वत्र एकरूपता से समा जाता है।

> मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
> निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ 11.55 ॥

(11.696) जो केवल मुझे ही अपने सब कर्म समर्पित करता है, जिसे मेरे अतिरिक्त जगत् में और कुछ भला नहीं दिखाई देता,

(11.697) जिस के इहलोक और परलोक सब एक मैं ही हूँ, जिसने अपने जीवन का फल मुझे ही निश्चित कर रक्खा है,

(11.698) और जो प्राणियों के भेद भूल गया है, – क्योंकि उसकी दृष्टि में मैं ही भर गया हूँ, – अतएव जो निर्वैर हो गया है, और सर्वदा भजन करता है,

(11.699) ऐसा जो भक्त हो, उसका जब यह कफ-वात-पित्तात्मक शरीर छूटता है तब हे पाण्डव! वह मद्रूप हो रहता है।

(11.700) संजय ने कहा कि पेट में सम्पूर्ण जगत् समाविष्ट होने के कारण जो तुन्दिल दिखाई देते हैं वे करुणारस से भरे हुए श्रीकृष्ण देव इस प्रकार बोले।

(11.701) उनके वचन सुन कर अर्जुन आनन्द-लक्ष्मी से सम्पन्न हो गया। कृष्णचरणों की भक्ति करने में संसार में वही एक चतुर था।

(11.702) उसने देव की दोनों मूर्तियाँ चित्त में भली भाँति निहार कर देखीं तो विश्वरूप की अपेक्षा कृष्णमूर्ति में अधिक लाभ पाया।

(11.703) परन्तु देव ने उसके ज्ञान का नहीं सराहा, क्योंकि व्यापक स्वरूप की अपेक्षा एकदेशी स्वरूप श्रेष्ठ नहीं है।

(11.704) यही सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण ने एक दे उत्तम उपपत्तियों का निरूपण किया।

(11.705) यह सुन कर अर्जुन ने मन में कहा कि अब इन दोनों स्वरूपों में श्रेष्ठ कौन-सा है सो आगे पूछूँगा।

(11.706) ऐसा जी में विचार कर वह जिस उत्तम रीति से प्रश्न करेगा सो कथा आगे सुनिए।

(11.707) ज्ञानदेव कहते हैं कि उस कथा का वर्णन हम प्रेम से (सुलभ ओवी छन्द में) करते हैं उसे आनन्द से सुनिए।

(11.708) प्रेम की अंजलि भर कर मैं ये ओवी-रूप मुक्त पुष्प विश्वरूप के दोनों चरणों पर समर्पित करता हूँ।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां एकादशोऽध्यायः।

बारहवाँ अध्याय

(12.1) हे निर्मल, हे उदार, हे प्रसिद्ध और निरन्तर आनन्द की वर्षा करनेहारी गुरुमाता आपका जयजयकार हो।

(12.2) विषयरूपी सर्प के लिपट जाने पर मनुष्य आपकी कृपा से मूर्च्छित न होकर निर्विष हो जाता है।

(12.3) यदि आपके प्रसादरस की तरंगों की बाढ़ आवे तो संसार-ताप किसे जला सकता है और शोक कैसे पीडा दे सकता है?

(12.4) हे कृपालु! आपके सेवकों का योग-सुख का आनन्द प्राप्त होता है। आप उनके ब्रह्मप्राप्ति के बालहठ पूरे करती हैं।

(12.5) आप उन्हें प्रेम से मूलाधार शक्तिरूपी गोद में लेकर उनका सम्बर्धन करती और अपने हृदयाकाशरूपी झूले में उन्हें झुलाती हैं।

(12.6) आप उन पर से जीवात्मभावों की न्यौछावर कर उन्हें मन और प्राण के खिलौने देती हैं और आत्म-सुख के बाल-अलंकार पहनाती हैं।

(12.7) आप उन्हें अमृत-कलारूपी दूध पिलाती हैं, अनाहत का गीत सुनाती और समाधिज्ञानरूपी समझौनी कर सुला देती हैं।

(12.8) अतएव आप साधकों की माता हैं। आपके चरणों से सब विद्याएँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए मैं आपकी छाया नहीं छोड़ता।

(12.9) हे सद्गुरु-कृपादृष्टि! आपकी करुणा जिसे आश्रय देती है वह सम्पूर्ण विद्याओं की सृष्टि का ब्रह्मदेव बन जाता है।

(12.10) अतएव हे श्रीमति अम्बा, हे भक्तों की कल्पलता! मुझे ग्रन्थनिरूपण की आज्ञा दीजिए

(12.11) हे माता! मुझसे नव रसों के समुद्र भरवाइए, उत्तम रत्नों के आगर बनवाइए, और भावार्थों के पर्वत खड़े करवाइए।

(12.12) भाषारूपी पृथ्वी में अलंकाररूपी सुवर्ण की खानें खुलवाइए और चहुँओर विवेकरूपी लता लगवाइए।

(12.13) मुझे निरन्तर संवादफल के निधान-रूपी सिद्धान्तों के घने बागीचे लगाने की आज्ञा दीजिए।

(12.14) पाखंडियों को गुफाएँ और वाग्वादरूपी टेढे-मेढे रास्ते तोड़ डालिए, और कुतर्करूपी दुष्ट श्वापदों का नाश कर डालिए।

(12.15) हे माता! मुझे श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन करने में सर्वदा उद्यत कीजिए, तथा श्रोताओं को श्रवण के राज्य-पद पर बैठाइए।

(12.16) इस भाषारूपी नगर में ब्रह्म-विद्या का सुकाल कर दीजिए, और संसार में केवल ब्रह्मानन्द का ही लेन-देन होने दीजिए।

(12.17) हे माता! यदि आप अपने कृपारूपी अंचल का मुझ भाग्यवान् पर आच्छादन करें तो मैं ये सब घटनाएँ अभी निर्मित कर दूँगा।

(12.18) इतनी विनती सुनते ही गुरु ने कृपा-दृष्टि से देखा और कहा कि अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, अब गीतार्थ का आरम्भ करो।

(12.19) तब ज्ञानेश्वर महाराज को तत्काल आनन्द हुआ और उन्होंने कहा जो आज्ञा, मुझ पर महाप्रसाद हुआ, अब सुनिए मैं ग्रन्थ-निरूपण करता हूँ।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ 12.1 ॥

(12.20) सकल वीरों में श्रेष्ठ, सोमवंश का विजयध्वज, पाण्डु नृप का पुत्र अर्जुन कहने लगा

(12.21) कि हे कृष्ण! सुनिए, आपने मुझे विश्वरूप दिखाया, उस अद्भुत स्वरूप को देख कर मेरा चित्त डर गया।

(12.22) और मुझे इस कृष्णमूर्ति का परिचय था, इसलिए मेरा अन्तःकरण इसकी ओर लग रहा परन्तु देव ने मुझे हटक कर मना किया।

(12.23) परन्तु व्यक्त और अव्यक्त दोनों निश्चय से आप ही एक हैं, भक्ति से आपके व्यक्त स्वरूप की प्राप्ति होती है, और योग से अव्यक्त की।

(12.24) हे वैकुण्ठ! ये दोनों मार्ग आपकी ही प्राप्ति के हैं। इस में व्यक्त और अव्यक्त इन दो द्वारों में से जाना पड़ता है।

(12.25) परन्तु जो कस सब सोने का होता है वही उससे अलगाये हुए एक रत्ती भर का होता है, एवं व्यापक (समग्र) और एकदेशी (अंश) वस्तु की योग्यता समान है।

(12.25) अमृत के समुद्र से सामर्थ्य की जो महिमा मिलती है, वही महिमा अमृत-तरंगों से भरी हुई चुल्लू में भी रहती है।

(12.27) यह बात निश्चय से मेरे अन्तःकरण में सत्य प्रतीत हो गई है। परन्तु हे योग-पति! आपसे पूछने का हेतु यह है

(12.28) कि मैं यह जानना चाहता हूँ कि है देव! आपने क्षण भर जो विराट् रूप स्वीकारा था वही आपका सत्य स्वरूप है, अथवा उसे आपने कुतूहल से स्वीकार किया था?

(12.29) इसलिए जो भक्त आप ही का कर्म समर्पण करते हैं, आप ही जिनके परम श्रेष्ठ हैं और जिन्होंने अपना मनोधर्म आपकी भक्ति के बदले माल दे दिया है,

(12.30) ऐसे सब प्रकार से, हे श्रीहरि, जो आपको अन्तःकरण से बाँधे हुए आपकी उपासना करते हैं,

(12.31) तथा जो ओंकार से परे है, वैखरी वाणी के लिए दुर्घट है, और जो किसी के भी समान नहीं है

(12.32) उस अक्षर, अव्यक्त, निर्मल और व्यापक स्वरूप की जो ज्ञानी सोहंभाव से उपासना करते हैं

(12.34) उन ज्ञानियों और उक्त भक्तों में हे अनन्त! एक दूसरे की अपेक्षा योग यथार्थ में किसे अवगत हुआ समझना चाहिए?

(12.34) अर्जुन के इन वचनों से उन जगन्मित्र को सन्तोष हुआ और उन्होंने कहा — अजी, तुम अच्छा प्रश्न पूछना जानते हो।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ 12.1 ॥

(12.35) हे किरीटी! रवि के अस्ताचल के समीप जाने पर उसके बिम्ब के पीछे जैसे किरण भी जाती हैं,

(12.36) अथवा हे पाण्डुसुत ¦ वर्षाकाल आने पर जैसे नदी बढ़ने लगती है, वैसे ही जिनकी भजन की श्रद्धा नित्य-नई बढ़ती हुई दिखाई देती है;

(12.37) अथवा समुद्र प्राप्त होने पर भी जिसका प्रवाह निरन्तर पीछे से आता ही रहता है उस गंगा के समान जिनके प्रेमभाव की अधिकता है;

(12.38) तथा जो सब इन्द्रियों सहित अन्तःकरण को मुझमें रख रात-दिन मेरी उपासना करते हैं

(12.39) ऐसे जो भक्त निज को मुझे समर्पित कर देते हैं उन्हीं को मैं परम-योगयुक्त समझता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ 12.3 ॥

(12.40) और हे पाण्डव! दूसरे जो सोहंभाव पर आरूढ़ हो निराकार अक्षर से जा झूमते हैं कि

(12.41) जहाँ मन का नख भी नहीं लग सकता जहाँ बुद्धि की दृष्टि नहीं जा सकती (तो जो इन्द्रियों से जानने के योग्य कहाँ से हो सकता है)

(12.42) जो ध्यान को भी दुर्लभ है, अतएव जो किसी एक जगह नहीं हाथ लता, तथा जो किसी आकार का नहीं है;

(12.43) जो सर्वदा सर्वरूप से उपस्थित है, जिसे प्राप्त करने पर चिन्तन भी स्तब्ध हो जाता है;

(12.44) जो न उत्पन्न होता न नष्ट होता है; जो न है न नहीं है, इसलिए जिसकी प्राप्ति के लिए उपाय नहीं चल सकते;

(12.45) जो न चलित होता है, न हटता है, न समाप्त होता है और न दूषित होता है, उस वस्तु का जिन्होंने अपने बल से प्राप्त कर लिया है, (45)

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ 12.4 ॥

(12.46) – जिन्होंने वैराग्यरूपी अग्नि से विषयों की सेनाओं का जला कर तपी हुई इन्द्रियों का धैर्य के साथ वश कर लिया है,

(12.47) और उन की निग्रहरूपी फाँसी लगा उलटे मरोड़ कर हृदयरूपी गुफा में बन्द कर दिया है;

(12.48) जिन्होंने अपान-मुख पर उत्तम आसन मुद्रा बाँधकर मूलबन्धरूपी किले का सुशोभित किया है;

(12.48) जिन्होंने आशा के सम्बन्ध तोड़ दिये है, अधैर्य के रास्ते साफ कर दिये हैं, तथा निद्रा का अन्धकार शुद्ध कर डाला है;

(12.50) जिन्होंने वज्राग्नि की ज्वालाओं के बीच सप्तधातुओं की होली जला कर व्याधियों के मस्तक यन्त्रों से फोड डाले हैं

(12.51) और आधार-स्थान पर कुण्डलिनीरूपी पलीता खड़ा कर दिया है जिसके प्रकाश से.वे शिखर तक देख सकते हैं;

(12.52) जिन्होंने नवद्वारों के किवाड़ों में इन्द्रिय-निग्रहरूपी अर्गला लगाकर दशमद्वार की खिड़की खोल दी है;

(12.53) जिन्होंने संकल्परूपी बकरे मार कर प्राणशक्तिरूपी चामुण्डा देवी का मनरूपी महिष के मस्तक का बलिदान दिया है;

(12.54) जिन्होंने चन्द्र और सूर्य नामक नाड़ियों का मिलाप कर, अनाहत ध्वनि की गर्जना कर, शीघ्रता से अमृत-सरोवर का जल जीत लिया है,

(12.55) और जो सुषुम्ना नाड़ी के मध्य-विवर में उत्तीर्ण गुफा के मार्ग से अन्तिम ब्रह्मरन्ध्र को जा पहुँचते हैं;

(12.56) तथा जो ऊपर के दशमद्वार का गहन जीना चढ़कर आकाश को बगल में मार ब्रह्म में जा मिलते हैं;

(12.57) ऐसे जो सम बुद्धि हैं, जो मेरी प्राप्ति के लिए निरन्तर योगरूपी दुर्गों के द्वारा सोहंसिद्धि को वश कर लेते हैं,

(12.58) और शीघ्र ही जिनका समर्पण कर उसके बदले में निराकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं, वे भी हे किरीटी! मुझको ही पहुँचते हैं।

(12.59) ऐसा नहीं है कि यो गबल के कारण उन्हें भक्तों की अपेक्षा कुछ अधिक मिलता हो। उल्टा उन्हें कष्ट ही अधिक होता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ 12.5 ॥

(12.60) जो सकल प्राणियों के कल्याण-कारक, आश्रय-रहित, अव्यक्त-पद में भक्ति के बिना आसक्ति रखते हैं,

(12.61) उनके मार्ग में महेन्द्र इत्यादि पद मारकरूप हो जाते हैं, और ऋद्धि-सिद्धि की जोड़ियाँ उनके मार्ग में रुकावट डालती हैं;

(12.62) उन्हें काम-क्रोधरूपी अनेक संकट पड़ते हैं, और शरीर से शून्य वस्तु के संग झगड़ना पड़ता है।

(12.63) प्यास प्यास से ही बुझानी पड़ती है, भूख भूख से ही मिटानी पड़ता है, और रात और दिन हाथों से वायु मापनी पड़ती है।

(12.64) जागते हुए सोना, निरोध से क्रीड़ा करना, वृक्षों से हेलमेल कर आलाप करना,

(12.65) शीत पहनना, उष्णता ओढ़ना और वर्षा के घर में बसना,

(12.66) बहुत क्या कहें, हे पाण्डव! यह योग ऐसा है जैसा कि पति न रहने पर भी नित्य सती हो जाना।

(12.67) इसमें न किसी स्वामी का कार्य है, न कोई कुलपरम्परा का निमित्त है, परन्तु नित्य नई मृत्यु के साथ युद्ध करना है।

(12.68) इस प्रकार मृत्यु से भी तीखा अथवा उबलता हुआ विष क्या लीला जा सकता है? पर्वत को लीलते हुए क्या मुँह नहीं फटता?

(12.69) इसलिए हे सुभट! जो योग के मार्ग से चलते हैं उनके हिस्से में दुःख का ही भाग आता है।

(12.70) देखो, यदि पोपले मुँहवाले का लोहे के चने चबाने पड़े तो न जाने उसका पेट भरेगा कि मृत्यु हो जावेगी।

(12.71) हाथों से तैर कर क्या कभी समुद्र पार किया जा सकता है, अथवा आकाश में क्या किसी से पैदल चलते बनता है?

(12.72) रणभूमि का आश्रय करने पर, शरीर पर चोट आये बिना क्या सूर्यलोक की प्राप्ति हो सकती है?

(12.73) अतएव पंगु जैसे वायु से स्पर्धा नहीं कर सकता, वैसे ही देहधारी जीवों को अव्यक्त की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(12.74) यदि ऐसा भी धैर्य कर के कोई आकाश से झूमने की चेष्टा करें, अव्यक्त की प्राप्ति के लिए यत्न करें, ते वे क्लेश के पात्र बनते हैं।

(12.75) परन्तु हे पार्थ! जो लोग भक्ति-मार्ग का आश्रय करते हैं उन्हें यह दुःख नहीं होता।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ 12.6 ॥

(12.76) जो लोग वर्णाश्रम के अनुसार अपने हिस्से में आये हुए सब कर्म कर्मेन्द्रियों के द्वारा सुख से करते हैं,

(12.77) विधि के अनुसार आचरण करते हैं, निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हैं, और कर्म-फलों का मुझे समर्पित कर नष्ट कर देते हैं,

(12.78) इस प्रकार हे अर्जुन! जो कर्मों का मुझे समर्पित कर उनका नाश करते हैं;

(12.79) तथा, जिनके कायिक, वाचिक और मानसिक भावों की दौड मेरे अतिरिक्त दूसरी जगह नहीं है,

(12.80) इस प्रकार जो मत्पर हैं, और निरन्तर मेरी उपासना कर ध्यान के मिस से मेरे घर ही बन गये हैं;

(12.81) जिनके प्रेम ने मुझसे ही व्यापार कर बेचारे भाग-मोक्ष-रूपी असामियों को छोड़ दिया है,

(12.82) इस प्रकार जो अनन्य योग से, अन्तःकरण से, मन से, और शरीर से मेरे हाथ बिक गये हैं, उनका जो कहो सो सब कुछ मैं ही कर देता हूँ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ 12.7 ॥

(12.83) बहुत क्या कहें, हे धनुर्धर! जो माता के पेट से उत्पन्न होता है वह माता का कितना सगा रहता है?

(12.84) उसी प्रकार वे जैसे भी हों — मैं उनका सगा बनता हूँ, तथा कलिकाल को भी जीत कर उनका पक्ष लेता हूँ।

(12.85) यों भी मेरे भक्तों के, और संसार की चिन्ता हो? क्या श्रीमान की स्त्री कभी टुकड़ा माँगती है? (86) वैसे ही मेरे भक्तों का मेरा कुटुम्बी ही जाना। उनके लिए मैं किसी बात की लज्जा नहीं रखता।

(12.87) जन्म-मृत्यु की तरंगों में डूबती हुई इस सृष्टि का देख कर मुझे ऐसा मालूम हुआ

(12.88) कि इस संसार-समुद्र में किसे डर नहीं लगता, कदाचित् इसमें मेरे भक्त भी डर जावें।

(12.89) इसलिए हे पाण्डव! मैं मूर्ति के वेष का समुदाय इकट्ठा कर उनके घर पर दौड़ता आया हूँ।

(12.90) संसार में हजारों नामरूपी नावें तैयार कर मैं उसका तारक बना हूँ।

(12.91) मुझे जो ब्रह्मचारी मिले उन्हें मैंने ध्यान के मार्ग से लगा दिया, और परिवारवालों को मैंने इन नावों पर बैठा दिया है।

(12.92) किसी के पेट से प्रेमरूपी लंगर बाँध कर मैं सायुज्य-तीर पर ले आया हूँ।

(12.93) इतना ही नहीं, वरन भक्त होने के कारण पशु आदि सबों को मैंने वैकुण्ठ के राज्य के योग्य बना दिया है।

(12.94) अतएव भक्तों का चिन्ता का कुछ भी कारण नहीं। मैं सर्वदा उनका उद्धार करनेहारा बना हूँ।

(12.95) भक्तों ने जब अपनी चित्तवृत्ति मुझे समर्पित कर दी तभी से उन्होंने मुझे अपने व्यापारों में लगा लिया है।

(12.96) इसलिए हे भक्तराज धनंजय! तुम यही मन्त्र सीखे कि इसी मार्ग की उपासना करनी चाहिए।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ 12.8 ॥

(12.97) अजी! मन और बुद्धि का, निरन्तर और निश्चय से, मेरे स्वरूप के हकदार बना दे।

(12.98) मन और बुद्धि दोनों एक संग यदि मुझमें प्रेम से प्रवेश करें तो तुम्हें मेरी प्राप्ति अवश्य है। जावेगी।

(12.99) क्योंकि मन और बुद्धि ने यदि मुझमें घर बना लिया तो क्या तुम-हम-रूपी द्वैत बच रहेगा?

(12.100) इस लिए, जैसे दिया बुझाया जाय तो उसके साथ ही प्रकाश भी मिट जाता है, अथवा जैसे सूर्यबिम्ब के साथ उसका तेज भी चला जाता है,

(12.101) निकलते हुए प्राणों के संग जैसे इन्द्रियों की शक्ति भी निकल जाती है, वैसे ही मन और बुद्धि के संग अहंकार भी आ जाता है।

(12.102) अतएव मन और बुद्धि को मेरे स्वरूप में रक्खो। इससे तुम सर्व-व्यापी हो मत्स्वरूपी हो जाओगे।

(12.103) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह मैं अपनी शपथ ले कहता हूँ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ 12.9 ॥

(12.104) अथवा यदि तुम मन और बुद्धि-सहित अपना सम्पूर्ण चित्त मेरे हाथ नहीं दे सकते,

(12.105) तो ऐसा करो कि आठ पहरों में से कभी क्षण भर तो (चित्त)दो।

(12.106) इससे जिस जिस में मेरे सुख का अनुभव होगा वह क्षण विषयों मैं अरुचि पावेगा।

(12.107) जैसे शरत्काल निकल जाने पर नदियाँ सूखने लगती हैं वैसे ही वह सुख शीघ्र ही चित्त को प्रपंच से निकाल लेगा।

(12.108) तब, पौर्णमासी के पश्चात् जैसे चन्द्रबिम्ब दिन दिन क्षीण होते होते अमावस्या के दिन विलीन हो जाता है,

(12.109) वैसे ही भोगों में से निकल कर चित्त मुझमें प्रवेश करे तो हे पाण्डुसुत! धीरे धीरे तुम मद्रूप हो जाओगे।

(12.110) अजी, जिसे अभ्यासयोग कहते हैं वह यही है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो इस से प्राप्त न हो सकती हो।

(12.111) कोई अभ्यास के बल से आकाश में गति प्राप्त कर लेते हैं, कोई व्याघ्र और सर्पों को अधीन कर लेते हैं,

(12.112) कोई विष का आहार बना लेते हैं, कोई समुद्र में से रास्ता निकाल लेते हैं तथा कोई अभ्यास से शब्दब्रह्म को मात कर देते हैं।

(12.113) अतः अभ्यास से कुछ भी सर्वथा दुष्प्राप्य नहीं है। इसलिए तुम अभ्यास के द्वारा मुझमें आ मिलो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ 12.10 ॥

(12.114) परन्तु अभ्यास के लिए भी यदि तुम्हारे शरीर में बल न हो तो तुम जहाँ हो वहीं रहो,

(12.115) इन्द्रियों का अवरोध न करो, भोगों का त्याग न करो, अपनी जाति का अभिमान न छोड़ो,

(12.116) अपने कुल-धर्म करते जाओ, विधि और निषेधों का पालन करो,-इस प्रकार हम तुम्हें सुख से कर्म करने की छूट देते है।

(12.117) परन्तु मन से, वाचा से, और शरीर से, जा कुछ भी व्यापार उत्पन्न हो उसे "मैं करता

हूँ" यह मत समझो।

(12.118) करना या न करना सब वही परमात्मा जानता है जो इस विश्व का चालक है।

(12.119) कर्म की न्यूनता वा पूर्णता का भाव अपने चित्त में न रहने दो। अपना जीवन परमात्मा का सजातीय कर रक्खो।

(12.120) माली जिस ओर ले जाय उसी ओर जो चुपचाप चला जाता है उस जल के समान तुम्हारा कर्म होना चाहिए;

(12.121) एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति के बोझ के नीचे अपनी बुद्धि न डालो। चित्तवृत्ति मुझमें अखण्डित रक्खो।

(12.122) यों भी, हे सुभट! रथ क्या इस बात की खटपट करता है कि रास्ता सीधा है या आड़ा-टेढ़ा है?

(12.123) एवं जो कुछ कर्म किया जाय उसे थोडा या बहुत न समझकर चुपचाप मुझे समर्पित करना चाहिए।

(12.124) हे अर्जुन! इस प्रकार की मेरी भावना रखने से तुम शरीर त्याग के अनन्तर मेरे सायुज्यरूपी घर में आ पहुँचोगे।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ 12.11 ॥

(12.125)अथवा यदि तुमसे कर्म भी मुझे समर्पित नहीं किया जाता तो हे पाण्डुकुँवर! तुम कर्मों का सेवन कर सकते हो;

(12.126) यदि बुद्धि के आगे-पीछे तथा कर्म के आदि या अन्त में, मेरा सम्बन्ध जोडना तुम्हें कठिन मालूम होता हो,

(12.127) तो वह भी रहने दो। मेरा महत्व जाने दे। परन्तु बुद्धि को इन्द्रियनिग्रह में लगा दे,

(12.128) तथा जिस समय जो जो कर्म किये जायें उनके फलों का त्याग कर दो।

(12.129) फल हाथ आते ही लोग जैसे वृक्ष या बेल को छोड़ जाते हैं वैसे ही कर्म सिद्ध होते ही उनका त्याग कर दो,

(12.129) तथा कर्म करते समय मेरा स्मरण रखने की अथवा उसे मेरे प्रीत्यर्थ करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है। सब शून्य में समर्पित होने दो।

(12.131) जैसा पत्थर पर बरसा हुआ जल, अथवा अग्नि में बोया हुआ बीज होता है, वैसा ही हर एक कर्म समझो; मानो जैसे कोई स्वप्न देखा हो!

(12.132) अजी, कन्या के विषय में पिता जैसा निष्काम होता है वैसे ही सम्पूर्ण कर्मों के विषय मैं निरभिलाष हो जाओ।

(12.133) अग्नि की ज्वाला जैसी आकाश में वृथा जाती है वैसी ही अपनी सब क्रियाएँ शून्य में विलीन होने दो।

(12.134) हे अर्जुन! यह फलत्याग मालूम तो सुलभ होता है, परन्तु है यह योग सब योगों में श्रेष्ठ।

(12.135) बाँस के झाड़ जैसे एक ही बार फल कर वन्ध्या हो जाते हैं, वैसे ही इस फल-त्याग के द्वारा जिस जिस कर्म का त्याग किया जाता है उससे फिर कर्म उत्पन्न नहीं होता;

(12.136) तथा इसी शरीर के बाद फिर शरीर लेना भी बन्द हो जाता है। किंबहुना, जन्म और मृत्यु का रास्ता ही बन्द हो जाता है।

(12.137) इस प्रकार हे किरीटी! अभ्यास के मार्ग से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, तथा ज्ञान से ध्यान की भेंट लेनी चाहिए।

(12.138) फिर जब ध्यान का सब भाव आलिंगन देते हैं तब सम्पूर्ण कर्म दूर हो जाते हैं।

(12.139) जहाँ कर्म दूर हुआ तहाँ फल-त्याग भी हो जाता है और त्याग के कारण सम्पूर्ण शान्ति अधीन हो जाती है।

(12.140) इसलिए हे सुभद्रापति! शान्ति प्राप्त करने के लिए यही क्रम है। इसलिए साम्प्रत में अभ्यास ही करना चाहिए।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12.12 ॥

(12.141) हे पार्थ। अभ्यास से फिर ज्ञान कठिन है, ज्ञान से ध्यान विशेष कहा गया है,

(12.142) तथा कर्मफल की इच्छा का त्याग ध्यान से भी उत्तम कहा है, और त्याग से शान्ति-सुख का भोग प्राप्त होता है।

(12.143) हे सुभट! ऐसे मार्ग से और इन इन मुकामों से जाकर जिसने शान्ति का मध्यगृह प्राप्त कर लिया है, (43)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ 12.13 ॥

(12.144) – उसे चैतन्य की तरह प्राणिमात्र के विषय में कभी राग-द्वेष नहीं होता, तथा जैसा कि चैतन्य अपना और पराया भेदभाव नहीं रखता, वैसा ही वह भी नहीं रखता।

(12.145) जैसे पृथ्वी इसी तरह की बातें नहीं सोचती कि उत्तम की संगति करती चाहिए, अथवा अधम का त्याग करना चाहिए, वैसे ही ये बातें वह भी नहीं सोचता।

(12.146-47) अथवा कृपालु प्राण जैसे यह कभी नहीं सोचता कि राजा के शरीर में रह कर राज-काज करूँ और रंक की अवगणना करूँ; अथवा जल जैसे ऐसा करना नहीं जानता कि गाय की तृषा बुझा दे और विष बन कर व्याघ्र का नाश कर दे,

(12.148) वैसे ही जिसकी प्राणिमात्र से समान ही मैत्री है, जो स्वयं कृपा का आधारभूत है,

(12.149) और जो अहंकार की वार्ता भी नहीं जानता, जो अपने निज का कुछ नहीं समझता, जो सुख-दुःख-भाव नहीं रखता,

(12.150) तथा क्षमा के विषय में जिसे पृथ्वी की योग्यता प्राप्त है, जिसने सन्तोष को अपनी गोद में आश्रय दिया है,

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 12.14 ॥

(12.151) – वर्षा के बिना ही समुद्र जैसा जल से परिपूर्ण रहता है वैसे ही जो उपचार के बिना ही सन्तुष्ट रहता है,

(12.152) जो अन्तःकरण को शपथ दे अपने अधीन रखता है, जिसके कारण निश्चय को यथार्थता प्राप्त होती है,

(12.153) जिसके हृदय-भुवन में जीव और परमात्मा दोनों एक ही आसन पर बैठे हुए विराजते हैं,

(12.154) तथा इतना योग-सम्पन्न होने पर भी जो निरन्तर मन और बुद्धि मुझे समर्पित करता है,

(12.155) एवं अन्तर्बाह्य उत्तम रीति से योगसिद्ध होने पर भी जिसे मेरे लिए सप्रेम अनुराग है,

(12.156) हे अर्जुन! वही मेरा भक्त है, वही योगी है और वही मुक्त है। वह मुझे इतना प्यारा है कि जैसे मानों वह पत्नी हो और मैं पति हूँ।

(12.157) किन्तु यह कहना भी कि वह मुझे जी के समान प्यारा है यहाँ अल्प दिखाई देता है।

(12.158) प्रेमी भक्त की कथा भूल डालनेवाला जादू है। ये बातें तो कहने की नहीं हैं, परन्तु प्रेम के कारण कहनी पड़ती हैं।

(12.159) इसी से हम शीघ्र उपमा दे सके। अन्यथा क्या प्रेम का वर्णन किया जा सकता है?

(12.160) अब हे किरीटी! यह रहने दे। प्रेमियों की कथाओं से प्रेम को दुगुना बल पहुँचता है।

(12.161) इस पर भी कदाचित् प्रेमी ही संवाद करता हो तो फिर उस मधुरता की क्या कोई तुलना हो सकती है?

(12.162) हे पाण्डुसुत! तुम मेरे प्रेमी हो, और तुम्हीं श्रोता हो, और प्रसंगानुसार प्रेमियों की ही वार्ता चल पड़ी है।

(12.163) अतः वर्णन करने का अवसर मिला इस से मुझे अत्यन्त सुख प्राप्त हुआ है। ऐसा कहते ही देव बोलने लगे।

(12.164) फिर उन्होंने कहा कि अब जिस भक्त को मैं अन्तःकरण में बैठाता हूँ उसका लक्षण सुनो।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 12.15 ॥

(12.165) समुद्र की गर्जना से जैसे जलचरों का भय नहीं उपजता और जलचरों से जैसे समुद्र नहीं ऊबता

(12.166) वैसे ही इस उन्मत्त जगत् से जिसे खेद नहीं होता और जिसके सहवास से जगत् दुखी नहीं होता —

(12.167) बहुत क्या वर्णन करूँ, – हे पाण्डव! शरीर जैसे अवयवों से, वैसे ही जो स्वयं जीव होने के कारण जीवों से नहीं ऊबता,

(12.168) जगत् ही निज-देह होने के कारण जिसके प्रिय और अप्रिय भाव चले गये हैं, और अद्वैत के कारण जिसमें से हर्ष और क्रोध का भेद निकल गया है,

(12.169) इस प्रकार जो सुख और दुःख के द्वन्द्व से मुक्त है, जिसे भय का आवेश नहीं होता, और तिस पर भी जो मुझ पर भक्ति करता है,

(12.170) उस भक्त का मुझे मोह होता है। क्या कहूँ, वह मेरा प्रेमी है, अथवा वह मेरे प्राणों का प्राण है।

(12.171) जो आत्मानन्द से तृप्त हुआ है, पूर्ण ब्रह्म ही मानो जिसका जन्म ले आया है, जो पूर्णतारूपी स्त्री का वल्लभ हो गया है,

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 12.16 ॥

(12.172) – उसमें हे पाण्डव। इच्छा प्रवेश नहीं कर सकती। उसके अस्तित्व से सुख में बाढ़ आती है।

(12.173) मान लिया कि काशी मोक्ष देने में उदार है, परन्तु मोक्ष के लिए वहाँ शरीर का त्याग करना पड़ता है।

(12.174) हिमालय पापों का नाश करता है, परन्तु वहाँ भी जीवन की हानि होती है; किन्तु भक्तों की शुचिता वैसी नहीं है।

(12.175) शुचिता में गंगा भी शुचि है, और वह पाप और सन्ताप का भी नाश करती है, पर उसमें डूबने का डर रहता है।

(12.176) परन्तु भक्ति की गहराई का पार नहीं है, तथापि उसमें डूबने का डर नहीं, और मृत्यु के बिना ही उससे मोक्ष का लाभ होता है।

(12.177) सन्तों के समागम से गंगा पापों को जीतती है, तो फिर सन्तसंग की पवित्रता कितनी होनी चाहिए?

(12.178) और जो इस प्रकार पवित्रता से तीर्थों का आश्रय देनेहारा है, जिसने मन के मल का दिशाओं के पार भगा दिया है,

(12.179) जो अन्तर्बाह्य शुद्ध है, सूर्य जैसा निर्मल है, और किसी `पायल` जैसा तत्त्वरूप घन का देखनेहारा है,

(12.180) जैसे आकाश व्यापक और उदासीन रहता है वैसे ही जिसका मन सर्वत्र है,

(12.181) जा संसार के दुःखों से छूट गया है, जो निराशा से अलंकृत है, और जो व्याधों के हाथ से छूटे हुए पक्षी के समान,

(12.182) सर्वदा सुख से भरे रहने के कारण, कोई दुःख नहीं जानता, जैसे कि मृत मनुष्य कोई लज्जा नहीं जानता,

(12.183) और कर्मारम्भ करते हुए जो अहंकार नहीं रखता, ईधन के बिना जैसे आग बुझ जाती है,

(12.184) वैसे मोक्ष की अंगभूत कही हुई शान्ति जिसके भाग में आई है,

(12.185) हे अर्जुन! यहाँ तक जो सोहम्भाव से भरा हुआ है, वह मनुष्य द्वैत के उस पार निकल गया है।

(12.186) परन्तु भक्तिसुख के लिए वह निज को ही दो भागों में बाँटकर एक से स्वयं सेवकाई करता है,

(12.187) और दूसरे भाग को मेरा नाम देता है, और भक्ति न करनेहारों का उत्तम भक्ति-मार्ग का आचरण कर दिखाता है। ऐसा जो योगी हो,

(12.188) उससे हमें प्रीति है। वह हमारा आत्मस्वरूप है। बहुत क्या कहें, उसकी भेंट हो तो हमें समाधान होता है।

(12.189) उसके हेतु हम रूप धारण करते हैं। उसी के कारण हम यहाँ आते हैं। वह हमें इतना प्यारा है कि उस पर हम जी और जान निछावर कर देते हैं।

योो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ 12.17 ॥

(12.190) जो आत्मलाभ के समान और कुछ भी उत्तम नहीं समझता, इसलिए जिसे किसी भोगविशेष से सन्तोष नहीं होता;

(12.191) आप ही विश्वमय हो गया है और भेदभाव सहज ही नष्ट हो गया है इसलिए जिस पुरुष का द्वेष चला गया है;

(12.192) जो वस्तु वास्तव में अपनी है वह कल्पान्त में भी नहीं जाती, यह जान कर जो गत वस्तु का शोच नहीं करता,

(12.193) और जिसके परे कुछ नहीं है वह वस्तु आप ही स्वयं हो। गया है, इसलिए जो किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता;

(12.194) सूर्य को जैसे रात्रि और दिवस प्रकट नहीं होते वैसे जिसे भला या बुरा कुछ भी प्रतीत नहीं होता,

(12.195) इस प्रकार जो केवल शुद्ध ज्ञानमय है और तिस पर भी जो मेरा भजन करता है,

(12.196) – तुम्हारी शपथ खा कर कहता हूँ कि — उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रेमी और सगा नहीं है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ 12.18 ॥

(12.197) हे पार्थ! जिसमें विषमता की वार्ता ही नहीं है, जो शत्रु और और मित्र दोनों को समान ही मानता है,

(12.198) अथवा हे पाण्डव! घर के मनुष्यों का प्रकाश देना और अन्यों के लिए अँधेरा करना जैसे दीपक नहीं जानता,

(12.199) जो काटने के लिए कुल्हाड़ा मारता है तथा जिसने स्वयं बीज लगाया है उन दोनों को वृक्ष जैसे समान ही छाया देता है,

(12.200) अथवा ईख जैसे रखवाली करनेहारे को मधु और गलानेहारे को कडुवा कभी नहीं होता,

(12.201) वैसे ही हे अर्जुन! जिसका भाव शत्रु और मित्र के विषय में समान ही है, जो मान और अपमान में समान ही रहता है,

(12.202) तीनों ऋतुओं में आकाश जैसे समान रहता है वैसे ही जो शीत और उष्ण का समान मानता है,

(12.203) हे पाण्डुसुत! दक्षिण तथा उत्तर वायु से जैसा मेरु, वैसे आये हुए सुख तथा दुःख से जो उदासीन रहता है,

(12.204) चाँदनी में रहनेहारी माधुरी जैसी राजा और रंक का समान ही मधुर रहती है वैसे ही जो सम्पूर्ण प्राणियों का समान है,

(12.205) सब जगत् का जैसे एक ही उदक सेव्य है, वैसे जिसकी तीनों लोकों में समान ही चाह है,

(12.206) जो अन्तर्बाह्य विषयों का संग और सम्बन्ध छोड़ कर आत्मा में स्थिर है! एकान्त में रहता है,

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ 12.19 ॥

(12.207) – जो निन्दा की परवा नहीं करता, और स्तुति से धन्यता नहीं मानता, आकाश को जैसे लेप नहीं लगता

(12.208) वैसे जो निन्दा और स्तुति का एक ही पंक्ति में लेखकर प्राण-वृत्ति से संसार में और वन में संचार करता है,

(12.209) जो सत्य अथवा मिथ्या दोनों न बोलता हुआ मौनी हो। गया है, जो उन्मनी अवस्था के भोग से नहीं अघाता,

(12.210) वर्षा न हो तो जैसे समुद्र नहीं सूखता वैसे ही जो यथा-प्राप्त लाभ से सन्तुष्ट रहता तथा अप्राप्ति से रुष्ट नहीं होता,

(12.211) और जैसे वायु एक स्थान में नहीं ठहरती वैसे ही जो कहीं आश्रय ले नहीं रहता,

(12.212) वायु जैसे नित्य सब आकाश भर में बसती है वैसे ही जिसका सब जग ही विश्रान्ति-स्थान है,

(12.213) जिसकी बुद्धि ऐसी निश्चित हो गई है कि विश्व ही मेरा घर है, बहुत क्या कहें जो आप ही चराचररूप हो गया है,

(12.214) और तिस पर भी हे पार्थ! जिसे मेरे भजन में आस्था है उसे मैं अपने माथे का मुकुट बनाता हूँ।

(12.215) उत्तम मनुष्य के सामने मस्तक झुकाना कौन आश्चर्य की बात है, परन्तु ऐसे भक्त के चरणामृत का तीनों लोक सन्मान करते हैं।

(12.216) परन्तु जिसपर श्रद्धा रखनी चाहिए ऐसी वस्तु पर प्रेम करने की रीति तभी मालूम होगी जब श्रीशंकर श्रीगुरु हों।

(12.217) परन्तु यह बात रहने दो। शंकर की स्तुति करने से आत्मस्तुति होती हैं।

(12.218) इसलिए यह बात जाने दो। रमानाथ श्रीकृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! ऐसे भक्त को मैं शिर पर धरता हूँ।

(12.219) क्यों कि वह मोक्षरूपी चौथे पुरुषार्थ की सिद्धि हाथ में ले भक्ति के मार्ग में प्रवेश कर उसे जगत् का दे रहा है।

(12.220) वह मोक्ष का “अधिकारी मोक्ष का व्यापार करता है, परन्तु जल के समान नम्रता रखता है।

(12.221) इसलिए हम उसे नमस्कार करते हैं, उसे हम अपने माथे का मुकुट बनाते हैं, और उसका चरण अपने हृदय में रखते हैं।

(12.222) उसके गुणों के अलंकार अपनी वाणी का पहनाते हैं और उसकी कीर्ति हम अपने कानों में पहनते हैं।

(12.223) उसका दर्शन करने की ही इच्छा से अचक्षु होते हुए भी मैंने आँखों का स्वीकार किया है। मैं अपने हाथ के लीला-कमलों से उसकी पूजा करता हूँ।

(12.224) उसके शरीर का आलिंगन देने के लिए मैं अपने दो हाथों पर और भी दो भुजा लगा आया हूँ।

(12.225) उसके समागम के सुख के लिए में विदेह होने पर भी देह धारण करता हूँ। बहुत क्या कहूँ, मुझे उस पर अनुपम प्रेम है।

(12.226) उससे हम से प्रेम हो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु जो उसका चरित्र सुनते हैं

(12.227) वे भी, और जो भक्त-चरित्र की प्रशंसा करते हैं वे भी हमें प्राणों से प्यारे होते हैं। यह बात सत्य है।

(12.228) हे अर्जुन! हमने सम्प्रति जो यह योगरूपी भक्तियोग तुम्हें साद्यन्त कह सुनाया —

(12.229) जिस स्थिति की ऐसी महिमा है कि उस पर मैं प्रेम करता हूँ और उसे अन्तःकरण में या सिर पर धरता हूँ —

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ 12.20 ॥

(12.230) – से यह रम्य कथा, धर्मानुकूल अमृतधारा, सुन कर जो उसका अनुभव लेते हैं,

(12.231) और श्रद्धा के आदर से जिनमें यह योग विस्तार पाता है, अथवा जिनके हृदय में यह स्थिर हो रहता है, अथवा जो इसका अनुष्ठान करते हैं,

(12.232) अर्थात् हमने जैसा निरूपण किया उसी प्रकार जिनके मन की स्थिति रहती है, जैसे मानों

उत्तम खेत में बोनी की गई हो,

(12.233) और जो मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ मान कर, मेरी भक्ति में प्रेम रख कर, उसी का सर्वस्व मान, उसका स्वीकार करते हैं

(12.234) वही हे पार्थ! इस संसार में भक्त हैं, वही योगी हैं और मुझे उन्हीं की उत्कण्ठा नित्य लगी रहती है।

(12.235) जिन पुरुषों को भक्ति-कथा से ही प्रेम है, वे तीर्थ हैं, वे क्षेत्र हैं और जगत् में वही पवित्र हैं।

(12.236) हम उनका ध्यान करते हैं। वही हमारा देवतार्चन है। उनके सिवा हम और कुछ भला नहीं समझते।

(12.237) हमें उन्हीं का व्यसन है, वही हमारे द्रव्य-निधान हैं; किंबहुना; वे मिलते हैं तब उनकी भेंट से ही हमें समाधान होता है।

(12.238) हे पाण्डुसुत! हमारे प्रेमियों की कथा का जो वर्णन करते हैं, उन्हें हम अपना परम देवता मानते हैं।

(12.239) संजय कहते हैं कि इस प्रकार वे भक्तों के आनन्द और जगत् के आदिकर्ता श्री मुकुन्द बोले।

(12.240) हे राजा! जो निर्मल हैं, जो निष्कलंक हैं, जो जगत् पर कृपा करनेहारे, शरणागतों पर प्रेम करनेहारे हैं, जो शरण जाने योग्य हैं,

(12.241) देवों की सहायता करना जिनका स्वभाव है, विश्व का लालन करना जिनकी लीला है,

शरणागतों की रक्षा करना जिनका खेल है,

(12.242) जो धर्म और कीर्ति से धवल हैं, अगाध दानशील होने के कारण जो सरल दिखाई देते हैं, और अनुपम बल के कारण जो प्रबल दिखाई देते हैं, तथापि जो बलि के प्रेम से बँधे हुए हैं,

(12.243) जो भक्तजनों पर प्रेम करनेहारे, भक्तों को अनायास प्राप्त होनेहारे सत्य के तारक, सकल कलाओं के भाण्डार हैं

(12.244) वे भक्तों के राजा, वैकुण्ठ के श्रीकृष्ण कह रहे हैं और भाग्यवान अर्जुन सुन रहा है।

(12.245) संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि इसके उपरान्त और भी निरूपण करने की रीति सुनिए।

(12.246) वह सुरस कथा भाषापथ में लाई जायगी। उसे सुनिए।

(12.247) ज्ञानदेव कहते हैं कि स्वामी निवृत्तिदेव ने यही सिखाया है कि हमें आप सरीखे सन्तों की शरण में जा कर आपकी सेवा करनी चाहिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां द्वादशोऽध्यायः।

तेरहवाँ अध्याय

(13.1) जिनका स्मरण करने से सब विद्याओं का आश्रयस्थान प्राप्त होता है, उन श्रीगुरु के चरणों का मैं वन्दन करता हूँ।

(13.2) जिनके स्मरण से वाचाशक्ति प्राप्त होती है, सम्पूर्ण विद्याएँ जिह्वा पर आ बैठती है,

(13.3) वक्तृत्व इतना मधुर हो जाता है कि उसके सामने अमृत भी फीका हो रहता है, रस अक्षरों के आश्रित हो रहते हैं,

(13.4) अभिप्राय मूर्तिमान् हो अनुभव का संकेत प्रकट करते हैं, सम्पूर्ण आत्मज्ञान हाथ आ जाता है, –

(13.5-6) जिन श्रीगुरु-चरणों के हृदय में आ बसने से इस प्रकार ज्ञान का भाग्योदय होता है, उन चरणों का मैं नमस्कार करता हूँ। फिर ब्रह्मदेव के पिता, लक्ष्मी के पति, श्रीकृष्ण ने कहा —

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ 13.1 ॥

(13.7) हे पार्थ! सुनो, यह देह क्षेत्र कहाता है। जो इसे जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ 13.2 ॥

(13.8) यहाँ जिसे क्षेत्रज्ञ कहा है सो वास्तव में सब क्षेत्रों की रक्षा करनेहारे मुझे ही जानो।

(13.9) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अच्छी तरह जानना ही हम ज्ञान समझते हैं।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ 13.3 ॥

(13.10) अब जिस भाव से हमने इस शरीर को क्षेत्र नाम दिया है उसका सम्पूर्ण वर्णन करते हैं। (11) इसे क्षेत्र क्यों कहना चाहिए, यह कैसे उत्पन्न होता है, कौन कौन विकार इसकी वृद्धि करते हैं,

(13.12) छोटा-सा साढे तीन हाथ का ही है, अथवा कितना बड़ा है अथवा कितना भारी है, ऊसर है या उपजाऊ है, किसका है

(13.13) इत्यादि जो जो इसके भाव हैं, उन सबका विस्तार-सहित वर्णन करते है, सुनो।

(13.14) इसी वस्तु के विषय में श्रुति सदा प्रलाप करती है, और इसी के विषय मैं तर्कशास्त्र वाचाल हुआ है।

(13.15) इसी विषय का संवाद करते-करते छहों शाखों की सीमा हो चुकी है, तथापि अभी तक द्वन्द्वों का मिलाप नहीं हुआ है।

(13.16) इसी एक के कारण शास्त्रों की सगोत्रता टूटी है; इसी एक के कारण जगत् में वाद उपस्थित हैं।

(13.17) एक से दूसरे का मुँह नहीं मिलता, एक से दूसरे का वचन नहीं मिलता, तथा युक्ति भी बक-बक करते-करते हार गई है।

(13.18) यह न जाने किसका स्थान है परन्तु अहंकार का कैसा बल है कि घर-घर यही सिर पचाता है!

(13.19) यह देख कर कि नास्तिकों से मुकाबला करने के लिए वेदों का खूब विस्तार हुआ है, पाखण्डी अलग वक-बक करते हैं।

(13.20) वे कहते हैं कि तुमने निराधार झूठा शब्द-पाण्डित्य फैलाया है। यह बात झूठ हो तो हम शर्त लगाते हैं।

(13.21) पाखंडियों में कोई दिगम्बर हैं, कोई सिर मुड़ाते हैं; परन्तु उनके किये हुए वितण्डावादों का पराभव हो जाता है।

(13.22) योगी इस उपपत्ति के साथ आगे आते हैं कि मृत्यु-बल के आवेश से यह क्षेत्र निरर्थक नष्ट हो जाता है (इसलिए योग धारण कर मृत्यु से बचे)।

(13.23) वे मृत्यु से डरते हैं, एकान्त का सेवन करते हैं और यम-नियमों के समुदाय जमाते हैं।

(13.24) इसी क्षेत्र के अभिमान के कारण शंकर ने राज्य का त्याग कर दिया और उसे उपाधि समझ कर श्मशान में निवास किया।

(13.25) ऐसी प्रतिज्ञा से युक्त हो शंकर ने दसों दिशाओं का आच्छादन किया और काम को, लुभानेवाला समझ, जला कर कोयला बना दिया।

(13.26) ब्रह्मदेव का भी इस वस्तु का निश्चय करने के लिए चार मुख उत्पन्न हुए, तथापि उन्हें भी सर्वथा इसका ज्ञान न हुआ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ 13.4 ॥

(13.27)कोई कहते हैं कि यह सम्पूर्ण स्थल जीव का ही खेत है और इस में जो प्राण है वह उस जीव का असामी है।

(13.28) उस प्राण के घर स्वयं मेहनत करनेहारे चार भाई और हैं; और मन उसका किसानी नौकर है।

(13.29) उसके पास इन्द्रियरूपी बैलों की जोड़ी है, और वह रात को रात या दिन का दिन न समझ कर विषयरूपी क्षेत्र में खूब मेहनत करता है।

(13.30) वह जो कर्तव्यकर्मरूपी ऊब गँवा कर अन्यायरूपी बीज बोवे और उसमें कुकर्मरूपी खाद डाले

(13.31) तो तदनुरूप ही अघटित पाप उत्पन्न होता है और जीव को कोटि जन्म तक दुःख भोगना पड़ता है;

(13.32) अथवा जो वह शास्त्राज्ञा की ऊब में सत्कर्मरूपी बीज बोवे, तो कोटि जन्मों तक सुख ही प्राप्त करता है।

(13.33) इस पर और दूसरे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। यह क्षेत्र जीव का न समझना चाहिए। इसका सब हाल हमसे पूछो।

(13.34) अजी, जीव यहाँ रास्ते से जानेहारा प्रवासी जैसा आ बसा है। प्राण पहरेवाला है इसलिए वह जागता रहता है।

(13.35) जिस अनादि प्रकृति का सांख्यशास्त्रवाले वर्णन करते हैं उसे उसकी क्षेत्रवृत्ति समझो।

(13.36) और इस प्रकृति के घर खेती का सब समुदाय उपस्थित है, इस लिए वह इस क्षेत्र का आप ही जोतती है।

(13.37) इसके पेट से उत्पन्न हुए जो तीन गुण संसार में हैं वे इस खेती का व्यापार करने में मुख्य हैं।

(13.38) रजोगुण बोनी करता है, सत्त्व रखवाली करता है और योग्य समय आते ही तम कटाई करता है

(13.39) और महत्तत्वरूपी खलिहान में रच कर कालरूपी बैल से खुदावनी करवाता और अव्यक्तरूपी ढेर लगा देता है।

(13.40) इस पर कोई बुद्धिमान इन वचनों का तिरस्कार कर कहते हैं कि ये कल्पनाएँ अर्वाचीन हैं। (41) अजी, परतत्त्व में प्रकृति की वार्ता ही कहाँ है? इस क्षेत्र का हाल चुपचाप हमसे सुन लो।

(13.42) अव्यक्तरूपी शय्यागृह में लयरूपी शय्या पर संकल्प घोर निद्रा में सो रहा था।

(13.43) वह अकस्मात् जाग पड़ा और सदा अत्यन्त उद्यमी होने के कारण उसने इच्छानुसार धन प्राप्त किया।

(13.44) परब्रह्म की त्रिभुवनरूपी बाड़ी उसके उद्यम से हरी-भरी हो गई।

(13.45) उसने चहुँओर से महाभूतरूपी बाँजर घेर कर भूतसमुदायरूपी चार भाग बना दिये।

(13.46) प्रथम पंचमहाभूतों के अलग-अलग पांचभौतिक भेदों की बँधिया बनाई,

(13.47) और फिर उसके दोनों ओर कर्म और अकर्मरूपी पत्थरों का जोड़ बाँध दिया और ऊसर, बंजर, जंगल, इत्यादि बना दिये।

(13.48) और यहाँ आने-जाने के लिए इस संकल्प ने निरालम्ब से यहाँ तक जन्ममृत्यु-रूपी एक सुन्दर सुरंग तैयार की हैं।

(13.49) और वह अहंकार और बुद्धि का ऐक्य कर जन्म भर बुद्धि से चराचर का व्यवहार कराता है।

(13.50) इस प्रकार इस जगन्मण्डल में संकल्प की शाखाएँ बढ़ी हुई हैं। अतः वही इस प्रपंच की जड है।

(13.51) इन मत-वादियों का और दूसरे पराभव करते हैं। वे कहते हैं, अजी आप कैसे विवेकी हैं?

(13.52) परब्रह्म के यहाँ संकल्परूपी शय्या मानी जाय तो उस संकल्प को प्रकृति ही क्यों न मानना चाहिए?

(13.53) परन्तु रहने दो यह बात ऐसी नहीं है, तुम इसमें मत लगा। हम अभी सब बताये देते हैं।

(13.54) आकाश में मेघों का कौन भरने जाता है? अन्तरिक्ष और तारों का कौन थाँमे रखता है?

(13.55) आकाश का चँदोवा किस ने और कब ताना था? वायु को घूमते रहने की कान आज्ञा करता है?

(13.56) रोमों को कौन बोता है? समुद्र को कौन भरता है? वर्षा की धाराओं को कौन बनाता है?

(13.57) वैसे दी यह क्षेत्र भी स्वभावतः उत्पन्न हुआ है। यह किसी की वृत्ति नहीं। जो उसे जोतेगा उसे वह फलेगा, दूसरों का नहीं।

(13.58) इस पर और दूसरे क्रोध से कहते हैं कि तो फिर केवल काल ही इसे क्यों भागता है?

(13.59) इस काल का आघात हम अनिवार्य देखते हैं, तथापि ये अभिमानी जन अपने ही मत का अभिमान करते हैं।

(13.60) इस मृत्यु को क्रोधी सिंह की गुफा ही समझे। परन्तु क्या किया जाय, आपकी बक-बक के सामने क्या कुछ पूरा पड़ सकता है?

(13.61) यह काल महा-कल्प के परे भी लिपट कर एकदम सत्यलोक के उत्तम लोगों को भी वश कर लेता है।

(13.62) स्वर्ग के अरण्य में जा कर वहाँ के नित्य-नये लोकपालों और दिग्गजों के समुदायों का नाश करता है,

(13.63) और अन्य जीवरूपी मृग इसकी अंगवायु लगते ही निर्जीव हो जन्म-मृत्यु के गर्त में पड़े हुए घूमते हैं।

(13.64) देखे, इसने कितना बड़ा पंजा फैलाया और उसमें यह जगदाकाररूपी हाथी पकड़ा है।

(13.65) अतएव सच्चा मत यही है कि इस क्षेत्र पर काल का अधिकार है। इस प्रकार हे पाण्डुसुत! इस क्षेत्र के विषय में अनेक वाद हैं।

(13.66) ऋषियों ने नैमिषारण्य में ऐसे बहुत वादविवाद किये हैं, और पुराणों में इस के विषय में अनेक अभिप्राय मिलते हैं

(13.67) जो गर्व से अनुष्टुप् इत्यादि छन्दों में और अनेक प्रबन्धों में — पोथियों में — अभी तक लिखे हैं।

(13.68) वेदों का जो वृहत् सामसूत्र है, जो ज्ञान दृष्टि से पवित्र है, उसे भी इस क्षेत्र का ज्ञान नहीं हुआ।

(13.69) और भी कई दूरदर्शी महा-कवियों ने इसके विषय में अपनी बुद्धियाँ खर्च की हैं

(13.70) परन्तु यह ऐसा है, इतना है अथवा अमुक किसी का है, यह बात निश्चय से किसी के भी हाथ नहीं लगी।

(13.71) अब इस पर यह क्षेत्र जैसा है उसका हम तुमसे साद्यन्त वर्णन करते हैं।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ 13.5 ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ 13.6 ॥

(13.72) पाँच महाभूत और अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ,

(13.73) और ग्यारहवाँ एक मन, दस विषय, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, इच्छा,

(13.74) चेतना, और धृति इतने तत्व क्षेत्र व्यक्ति में रहते हैं, यह सब हम तुमसे कह चुके।

(13.75) अब महाभूत कौन हैं, इन्द्रियाँ कैसी होती हैं, सो अलग अलग कहते हैं।

(13.76) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश महाभूत हैं।

(13.77) जागृति की दशा में जैसे स्वप्न छिपा हुआ रहता है, अथवा अमावस्या में जैसे चन्द्र गुप्त रहता है,

(13.78) अथवा छोटे बालक में जैसे तारुण्य लीन रहता है, अथवा बिन फूली कली में जैसे सुगन्ध लुप्त रहती हैं,

(13.79) बहुत क्या कहें, हे किरीटी! काष्ठ में जैसे अग्नि गुप्त रहती है, वैसे ही जो प्रकृति के पेट में गुप्त था,

(13.80) और — जैसे धातुगत ज्वर कुपथ्य का मिस ही देखता है और कुपथ्य होते ही अन्तर्बाह्य फैल जाता है

(13.81) वैसे ही — पाँचों भूतों का मेल होते ही ज्योंही देहाकृति प्रकट होती है त्योंही जो उसे चहुँओर नचाने लगता है उसे अहंकार कहते हैं।

(13.82) अहंकार की एक बात अनोखी है कि वह विशेषतः अज्ञानियों के पीछे नहीं लगता परन्तु ज्ञानियों के गले से झूमता है और उन्हें अनेक संकटों में डालता है।

(13.83) फिर यदुराज ने कहा कि सुनो, जिसे बुद्धि कहते हैं उसे इन लक्षणों से जानना चाहिए। (84) काम के बल से और इन्द्रियवृत्ति के समागम से विषयों के समुदाय इकट्ठे होते हैं,

(13.85) और उनसे जब जीवन को सुख-दुःख की प्राप्ति का अनुभव होता है तब दोनों की जो उत्तम तुलना करती है;

(13.86) यह सुख है, यह दुःख है, यह पुण्य है, यह पाप है, यह मलिन है, यह निर्मल है, इस प्रकार जो निर्णय करती है;

(13.87) जो भला-बुरा जानती है, छोटा-बड़ा समझती है, जिस दृष्टि से जीव विषयों का पहचानता है,

(13.88) जो ज्ञानेन्द्रियों का मूल है, जो सत्त्वगुण की वृद्धि है, जो आत्मा और जीव दोनों को जोड़ती है,

(13.89) सो सब हे अर्जुन! तुम बुद्धि जानो। अब अव्यक्त का लक्षण सुनो।

(13.90) हो महामति! सांख्य-वादियों के सिद्धान्त में जिसे प्रकृति कहते हैं उसी को सम्प्रति यहाँ अव्यक्त कहा गया है।

(13.91) तथा सांख्य-योग-मत के अनुसार हमने तुम्हें जो प्रकृति का वर्णन सुनाया था और उसमें जो दो प्रकार की प्रकृति बताई थी

(13.92) उनमें से दूसरी जो जीवदशा कही थी, उसी को हे वीरेश! यहाँ पर्याय से अव्यक्त नाम दिया है।

(13.93) रात्रि के उपरान्त प्रातःकाल होते ही जैसे आकाश में तारों का लोप हो जाता है, अथवा सूर्यास्त के पश्चात् जैसे प्राणिमात्र के व्यवहार बन्द हो जाते हैं,

(13.94) अथवा हे किरीटी! देह छोड़ने पर जैसे देहादि उपाधि कृत-कर्मों के पेट में लीन हो जाती है,

(13.95) अथवा बीज के आकार में जैसे सम्पूर्ण वृक्ष छिपा हुआ रहता है, या वस्त्राकार जैसा तन्तु-दशा में लीन रहता है,

(13.96) वैसे ही स्थूल घर्म छोड़ कर महाभूत और प्राण-समुदाय सूक्ष्मरूप हो कर जहाँ लीन हो जाते हैं

(13.97) उसका नाम हे अर्जुन! अव्यक्त है। अब सम्पूर्ण इन्द्रियों के भेद सुनो।

(13.98) कान, आँख, त्वचा, नासिका, जिह्वा, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं।

(13.99) इन तत्वों के समुदाय में बुद्धि, इन पाँचों के द्वारा, सुख-दुःख का विचार करती है।

(13.100) फिर वाचा, हाथ, चरण, उपस्थ और गुदस्थान — ये और पाँच प्रकार हैं।

(13.101) श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं वे यही हैं।

(13.102) प्राण की स्त्री जो शरीर में क्रियाशक्ति है सो इन पाँच द्वारों से आवागमन किया करती है। (103) देव ने कहा कि इस

प्रकार हमने दसों इन्द्रियों का वर्णन किया। अब सुनो, मन निश्चय से इस तरह का है।

(13.104) वह इन्द्रियाँ और बुद्धि के बीच की सन्धि में रजोगुण की शाखाओं पर खेलता रहता है।

(13.105) आकाश में जैसी नीलिमा, अथवा जैसी मृगजल की लहरें, वैसे ही वह वृथा वायुरूप हो चमकता है,

(13.106) और शुक्र और शोणित मिल कर पंचतत्त्व का आकार बनते ही वह एक ही वायुतत्त्व दशधा हो जाता है।

(13.107) वे दसों भाग देह-धर्म के बल से अपने-अपने शरीर-भागों में बसते हैं।

(13.108) उसमें केवल एक निरी चंचलता रहती है इसलिए वह रजोगुण का बल रखता है।

(13.109) वह बुद्धि के बाहर और अहंकार से मिला हुआ, बीच में बलवान हुआ रहता है।

(13.110) उसको `मन` कहना व्यर्थ है, वह मूर्तिमती कल्पना ही है जिसके संग से परब्रह्म जीवदशा में दिखाई देता है।

(13.111) जो प्रकृति का मूल है; काम का जिसका बल है; जो निरन्तर अहंकार से स्पर्धा करता है;

(13.112) जो इच्छा को बढ़ाता है, आशा को चढ़ाता है, और डर की तरफदारी करता है,

(13.113) जिस के कारण द्वैत उत्पन्न होता है; जिससे अविद्या बलवती होती है; जो इन्द्रियों का विषयों में डालता है;

(13.114) जो संकल्प के द्वारा सृष्टि की रचना करता है, और सहज ही विकल्प के द्वारा उसका नाश कर देता है; जो मनोरथों के मटके एक पर एक गिरता और उतारता है;

(13.115) जो भूल का भाण्डार है, वायुतत्त्व का सार है और बुद्धि का द्वार बन्द कर देता है,

(13.116) वह हे किरीटी! मन है। यह बात मिथ्या नहीं है। अब जिसे विषय कहते हैं, उसके भेद सुनो।

(13.117) स्पर्श, शब्द, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच प्रकार के ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं।

(13.118) इन पाँच द्वारों से ज्ञान बाहर दौड़ता है, जैसे कि कोई पशु हरा चारा देख अधीरता से बाहर दौड़ जाय।

(13.119) फिर स्वर, व्यंजन, विसर्ग का उच्चारण, वस्तु का ग्रहण करना, या छोड़ना, चलना और मल-मूत्र का त्याग करना,

(13.120) ये पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं जिनका रास्ता बना कर क्रिया बाहर दौड़ती है

(13.121) ऐसे दस विषय इस देह में हैं। अब इच्छा का भी निरूपण करते हैं।

(13.122) जिस वृत्ति से पिछली बात का स्मरण होता है, अथवा कान में शब्द पड़ते ही जिससे चेतना होती है;

(13.123) जो इन्द्रियों और विषयों की भेंट होते ही काम का हाथ पकड कर उठती है;

(13.124) जिसके उठते ही मन इधर-उधर दौड़ता है और इन्द्रियाँ जहाँ न चाहिए वहाँ मुँह डालती हैं;

(13.125) जिस वृत्ति के प्रेम से बुद्धि पागल हो जाती है, जिससे विषयों को अत्यन्त प्रेम है, वह इच्छा है।

(13.126) इच्छा करते ही इन्द्रियों को विषयभोग न मिलने की जो घटना है वही द्वेष हैं।

(13.127) अब इसके उपरान्त सुख इस तरह का जानो। जिसे एक की प्राप्ति से जीव सम्पूर्ण बातें भूल जाता है;

(13.128) जो मन, वाचा, और काया को अपनी शपथ दे देहस्मरण का ठाँव मिटा देता है;

(13.129) जिसकी उत्पत्ति होते ही प्राण पंगु हो जाता है, और सात्विक भावों को दुगुने से अधिक लाभ होता है,

(13.130) अथवा जो सब इन्द्रिय-वृत्तियों का हृदय के एकान्तस्थान में थपकी दे कर सुला देता है,

(13.131) किंबहुना जीव का आत्मस्वरूप का लाभ होने के समय जो उत्पन्न होता है, उसे सुख कहते हैं।

(13.132) और हे पार्थ! ऐसी अवस्था का लाभ न होते हुए जो जीता रहता है उसे सर्वथा दुःख जानो।

(13.133) सुख, वासना के संग के कारण नहीं होता; वासना-संग न हो तो वह बना ही हुआ है। इस प्रकार सुख और दुःख के यही दो कारण हैं।

(13.134) अब हे पाण्डुसुत! असंग और साक्षिभूत चैतन्य की जो इस देह में सत्ता है उसे चेतना कहते हैं।

(13.135) जो नख से सिर के बालों तक शरीर में खड़ी जागती है; जो तीनों अवस्थाओं में नहीं बदलती, एक रूप रहती है;

(13.136) जिससे मन, बुद्धि, इत्यादि हरे-भरे रहते हैं; जो सर्वदा प्रकृतिरूपी वन की वसन्त है;

(13.137) जो स्थावर और जंगम के अंशों में समान ही संचार करती है वह चेतना है। यह मिथ्या मत मानो।

(13.138) अब जैसे राजा अथवा उसका परिवार कुछ नहीं करता परन्तु उसकी आज्ञा ही शत्रु को जीतती है, अथवा जैसे चन्द्र की पूर्णता से ही समुद्र में बाढ़ आती है,

(13.139) अथवा जैसे चुम्बक की समीपता ही लोहे को सचेत करती है, अथवा जैसे सूर्य्य के संग से ही लोग व्यवहार करते हैं,

(13.140) अजी, जैसे स्तनों का मुख से स्पर्श कराये बिना ही — कूर्मी (कछुई) के निरीक्षण से ही, – उसके बच्चों का पोषण होता है,

(13.141) वैसे ही इस शरीर में जो आत्मा की संगति जड़ का सजीवता का लाभ करा देती है,

(13.142) उसी को हे अर्जुन! चेतना कहते हैं। अब धृति के भेद का विचार सुनो।

(13.143) तत्त्वों में क्या परस्पर जाति-स्वभाव-जन्य वैर प्रकट नहीं है? जल क्या पृथ्वी का नाश नहीं करता?

(13.144) इसी प्रकार जल का अग्नि जलाती हैं, अग्नि से वायु झगड़ती है और आकाश सहज में वायु का खा जाता है,

(13.145) और स्वयं कभी किसी से भी न मिल कर सर्वत्र भरा हुआ अलग रहता है।

(13.146) ऐसे ये पाँचों महाभूत एक-दूसरे का नहीं सहते, परन्तु तो भी शरीर में एक हो जाते हैं,

(13.147) और वैर वा विवाद छोड़ कर एक जगह बसते हैं और निज के गुण से एक-दूसरे का पोषण करते हैं।

(13.148) इस प्रकार जिनका मेल नहीं है उनका मिलाप कर देना जिस धैर्य के कारण होता है उसे मैं धृति कहता हूँ।

(13.149) और हे पाण्डव! जीव के संग इन छत्तीस तत्त्वों का मेल ही संघात जाना।

(13.150) इस प्रकार ये छत्तीसों भेद हमने स्पष्ट कर बताये। इन सबका मिला कर जो बनता है उसे क्षेत्र कहते हैं।

(13.151) हे पाण्डव! रथांगों के समुदाय को जैसे रथ कहते हूँ, अथवा नीचे-ऊपर के अवयवों के समुदाय का नाम जैसे देह है,

(13.152) अथवा चतुरंग के समूह को सेना नाम दिया जाता है, अथवा अक्षरों के पुंजों के जैसे वाक्य कहते हैं,

(13.153) अथवा जलधरों का समुदाय जैसे अभ्र कहाता है, या सब लोकों का नाम जैसे जगत् है,

(13.154) अथवा तेल, सूत, और अग्नि का एक स्थान में मेल किया जाय तो संसार में दीपक बन जाता है,

(13.155) वैसे ही ये छत्तीसों तत्त्व जब एक में मिलते हैं, तब इन सबके समुदाय को क्षेत्र कहते हैं;

(13.156) और इस भौतिक देह के व्यापार से इसमें पाप और पुण्य पकता है इसलिए भी हम इसे कुतूहल से क्षेत्र कहते हैं।

(13.157) किसी के मत में इसे देह भी कहते हैं। परन्तु अस्तु, इसके नाम अनेक हैं।

(13.158) परतत्त्व के इस ओर, स्थावर पर्यन्त, जो कुछ होता जाता है`वह क्षेत्र ही है।

(13.159) देव, मनुष्य, सर्प इत्यादि योनि-विभाग इसी के गुण और कर्म के संग के कारण होते हैं।

(13.160) हे अर्जुन! इन गुणों का विचार आगे कहा जायगा। सम्प्रति हम ज्ञान का वर्णन करते हैं।

(13.161) क्षेत्र का वर्णन हम विस्तार से उसके विकारों-सहित कर चुके। अतएव अब उत्तम ज्ञान सुनो।

(13.162) जिस ज्ञान के लिए योगी स्वर्ग का आड़ा-टेढ़ा रास्ता बाँध कर आकाश को लील लेते हैं, (163) ऋद्धि की मर्यादा नहीं रखते,

सिद्धि की इच्छा नहीं करते, योग के समान कठिन मार्ग का भी तुच्छ समझते हैं,

(13.164) तपरूपी किलों का उल्लंघन कर जाते हैं कोटि यज्ञों की निछावर कर डालते हैं, और कर्मरूपी बेल का उखाड़ फेंकते हैं,

(13.165) तथा कोई अनेक भजनमार्गों में से खुले देह दौड़ते हुए सुषुम्ना की सुरंग में घुस जाते हैं,

(13.166) इस प्रकार जिस ज्ञान की उत्कट इच्छा रख मुनीश्वर वेद-वृक्ष के पत्तों पत्तों में घूम रहे हैं

(13.167) और इस बुद्धि से कि गुरु-सेवा से वह प्राप्त होगा — सैकडों जन्मों की निछावर कर डालते हैं,

(13.168) जिस ज्ञान का प्रवेश होते ही अविद्या चली जाती है और जीव और आत्मा का मिलाप हो जाता है,

(13.169) जो इन्द्रियों के द्वार बन्द करता है, और प्रवृत्ति के पाँव तोड़ डालता है, और मन की दीनता मिटा डालता है,

(13.170) जिस ज्ञान से ऐसा लाभ होता है कि द्वैत का अकाल पड़ जाता है तथा अद्वैत का सुकाल हो जाता है,

(13.171) जो मद का निशान मिटा देता है, महामोह का ग्रस लेता है, और अपना और परायारूपी भेद का नाम नहीं रहने देता,

(13.172) जो संसार का उन्मूलन करता है, संकल्प-रूपी कीचड़ धो डालता है और सर्वव्यापक परब्रह्म की भेंट करा देता हैं,

(13.173) जिसके उत्पन्न होते ही प्राण पंगु हो जाता हैं और जिसके कौशल्य से जगत् का व्यापार चलता है,

(13.174) जिसके प्रकाश से बुद्धि की आँखें खुलती हैं, और जीव आनन्द की तोंद पर लोट-पाट करता है,

(13.175) ऐसा जो ज्ञान है, जा पवित्रता का एक ही आश्रय है, जिससे अपवित्र मन शुद्ध हो जाता है,

(13.176) आत्मा — जिसे जीवबुद्धिरूपी क्षय रोग लगा है — जिस ज्ञान की समीपता से निरोगी हो जाता है,

(13.177) इस ज्ञान का वर्णन करना अशक्य है। परन्तु हम उसका वर्णन करते हैं सो सुन कर ही उस ज्ञान को बुद्धि में लाना चाहिए अन्यथा वह ऐसी वस्तु नहीं है कि आँखें से दिखाई दे।

(13.178) परन्तु वही ज्ञान जब इस शरीर में अपना प्रभाव प्रकट करता है तब इन्द्रियों के व्यापारों में वह आँखों से भी दिखाई देता है।

(13.179) वृक्षों के हरे-भरे होने से जैसे वसन्त का आगमन जाना जाता है वैसे ही इन्द्रियों के व्यापार से ज्ञान का बोध हो सकता है।

(13.180) अजी, वृक्षों की जड़ का भूमि के भीतर जो जल मिलता है वह जैसा बाहर शाखाओं के विस्तार से प्रकट होता है,

(13.181) अथवा जैसे भूमि की मृदुता अंकुर की कोमलता से प्रकट होती है, अथवा जैसे उत्तम कुल में जन्मे हुए मनुष्य की श्रेष्ठता उसके आचार से जानी जाती है,

(13.182) अथवा आदरातिथ्य की तैयारी से जैसे स्नेह व्यक्त होता है, अथवा दर्शन के समाधान से जैसे पुण्य-पुरुष पहचाना जाता है,

(13.183) अथवा सुगन्ध से जैसे केले के वृक्ष में कपूर की उत्पत्ति जानी जाती है, अथवा काँच में रक्खे हुए दीपक से जैसे प्रकाश बाहर प्रकट होता है

(13.184) वैसे ही शरीर में जो आन्तरिक ज्ञान के लक्षण दिखाई देते हैं उनका अब हम वर्णन करते हैं, खूब ध्यान देकर सुनो।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ 13.7 ॥

(13.185) जिसे किसी विषय से एकरूप होना नहीं भाता, जिसे बड़प्पन का बोझा मालूम होता है,

(13.186) जिन गुणों से वह संपन्न है उनकी प्रशंसा करने से, सन्मान करने से, वा योग्यता का वर्णन करने से

(13.187) जो ऐसे अकुलाने लगता है कि जैसे व्याध के जाल हुआ में फँसा हिरन तड़फड़ाता है, अथवा जैसे कोई भँवरों में से हाथों से तैरते-तैरते थक कर घबड़ाता है;

(13.188) हे पार्थ। इस प्रकार सन्मान से जिसे संकट उत्पन्न होता है, जो बड़प्पन को अपनी ओर आने भी नहीं देता,

(13.189) जिसकी यह इच्छा रहती है कि लोगों को मेरी पूज्यता न दिखाई दे, मेरी कीर्ति उनके कानों तक न पहुँचे तथा उन्हें यह स्मरण भी न हो कि मैं अमुक हूँ

(13.190) उस पुरुष में सत्कार की बात ही कहाँ रह सकती है! वहाँ आदर का कौन अंगीकार करता है नमस्कार करते ही उसे मृत्यु सी आने लगती है।

(13.191) उसे बृहस्पति के समान सर्वज्ञता प्राप्त रहती है, परन्तु महिमा के डर से वह पागल बनता है,

(13.192) चातुर्य को छिपाता है, श्रेष्ठता का लोप कर देता है, और प्रेम से पागलपन का ही व्यवहार करता है।

(13.193) वह लौकिकता से अकुलाता है, शास्त्रों की उपेक्षा करता है, और प्रायः चुपचाप ही बैठा रहता है।

(13.194) उसके जी में यह इच्छा रहती है कि जगत् मेरा अपमान करे तथा हितैषी लोग मेरी परवा न करें।

(13.195) वह प्रायः ऐसे ही कर्म करता है जिससे लघुता प्रकट हो और दीनतारूपी भूषण ही दिखाई दे।

(13.196) उसकी यह इच्छा रहती है कि मेरा जीवन ऐसा हो जिससे लोगों का सन्देह हो कि यह जीता है या मरा है,

(13.197) तथा मेरी ऐसी दशा रहे कि लोगों को भ्रम हे कि यह चल रहा है या नहीं, अथवा हवा में उड़ रहा है

(13.198) तथा मेरे अस्तित्व का लोप हो जाय, नाम-रूप का लय हो जाय, और किसी भी प्राणी का मुझसे डर न उत्पन्न हो।

(13.199) जिसकी मानताएँ इस प्रकार रहती हैं, जो नित्य एकान्त में जाता रहता है, जो वास्तविक एकान्त के लिए ही जीवन रखता है,

(13.200) जो वायु से ही मेल रखता है, आकाश से संवाद करना चाहता हैं, तथा वृक्ष जिसे जीव और प्राणों से प्यारे हैं;

(13.201) बहुत कहाँ तक कहें, जिस पुरुष में ऐसे-ऐसे चिह्न देखो उसे ही समझा कि वह ज्ञान की शय्या पर सो रहा है।

(13.202) मनुष्यों में अमानित्व उक्त लक्षणों से जानना चाहिए। अब हम अदम्भित्व की पहचान का रहस्य बताते हैं।

(13.203) अदम्भित्व ऐसा है जैसे कि लोभी का मन-जी चला जाय परन्तु लोभी रक्खा हुआ धन

कभी नहीं प्रकट करता —

(13.204) उसी प्रकार हे किरीटी! जो प्राणों पर संकट पड़ने पर भी अपना किया हुआ उत्तम कर्म अपने मुँह से कभी नहीं प्रकट करता,

(13.205) हे अर्जुन! जैसे लतियल गाय पन्हाने को छिपा लेती है, अथवा जैसे वेश्या अपनी आयु छिपाती हैं,

(13.206) जंगल में पड़ जाने पर जैसे धनवान अपनी धनाढ्यता छिपाता है, अथवा कुलवती स्त्री जैसे अपने अवयव छिपाती है,

(13.207) अथवा किसान जैसे अपना बोया हुआ बीज छिपाता हैं, वैसे ही जो मनुष्य अपने किये हुए दान और पुण्य का छिपाता है;

(13.208) जो शरीर को बाहर से ही सुशोभित नहीं करता, लोगों की खुशामद नहीं करता, और अपने धर्म को अपनी वाचारूपी ध्वजा पर बाँधना नहीं जानता,

(13.209) अपना किया हुआ परोपकार कह कर नहीं बताता, अपने किये हुए अभ्यास का प्रदर्शन नहीं करता, और कीर्ति के लिए अपने सम्पादित पुण्य का विक्रय नहीं कर सकता;

(13.210) जो शरीर के उपभोगों के विषय में कृपण दिखाई देता है, परन्तु धर्म के विषय में कम ज्यादा की परवा नहीं करता,

(13.211) घर में दरिद्रता दिखाई दे, शरीर दुर्बल दीख पड़े, परन्तु दान के विषय में जो कल्पवृक्ष से भी होड़ बाँधता है,

(13.212) किंबहुना, जो स्वधर्म में श्रेष्ठ है, प्रसंगानुसार उदार है, आत्मविद्या की चर्चा में निपुण है, अन्यथा पागल दिखाई देता है;

(13.213) केले के वृक्ष का आकार कुछ पोला सा दिखाई देता है परन्तु उसका फल जैसे गाढ़ा और रस से भरा हुआ होता है,

(13.214) अथवा मेघों का शरीर जैसे इतना हलका दिखाई देता है कि वायु से भी उड़ जाय परन्तु वे जैसे मूसलधार बरसते हैं,

(13.215) वैसे ही पूर्णता की दृष्टि से देखिए तो जिसे देख कर इच्छा तृप्त हो जाती है, अन्यथा जिसमें वाणी भी कुण्ठित हो जाती है;

(13.216) अस्तु, बहुत क्या कहें जिसमें उपयुक्त लक्षणों का उत्कर्ष दिखाई दे उसके हाथ ज्ञान लगा समझो।

(13.217) अदम्भित्व जिसे कहते हैं सो यही है। अब अहिंसा के चिह्न सुनो।

(13.218) अहिंसा का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है और मताभिमानियों ने उसका निरूपण अलग-अलग किया है।

(13.219) परन्तु वह वर्णन ऐसा किया है जैसे कि वृक्ष की शाखाएँ काट कर उसके तने के चारों ओर उनकी बागुर बनाई जाय,

(13.220) अथवा जैसे बाहु तोड़ कर पकाये जाय और उनसे भूख की पीडा शान्त की जाय; अथवा किसी देवता का मन्दिर तोड़ कर बाड़ी बनाई जाय,

(13.221) क्योंकि कर्मकाण्ड का निर्णय ऐसा है कि हिंसा से ही अहिंसा उत्पन्न होती है।

(13.222) क्योंकि उसमें कहा है कि अनावृष्टि के उपद्रव से सम्पूर्ण विश्व पीड़ित होता है इसलिए अनेक पर्जन्येष्टि यज्ञ करने चाहिए;

(13.223) परन्तु इन यज्ञों के मूल में स्पष्ट पशुहिंसा ही रहती है। तो फिर उससे अहिंसा का तट कैसे दिखाई दे सकता है?

(13.224) केवल हिंसा बोइए तो क्या अहिंसा उपजेगी? परन्तु इन याज्ञिकों का धैर्य बड़ा अनोखा है;

(13.225) तथा हे पाण्डव! सम्पूर्ण आयुर्वेद में यही मार्ग बताया है कि जीवरक्षण के हेतु जीव का ही घात करना चाहिए।

(13.226) कोई वैद्य प्राणियों का अनेक रोगों से व्याकुल हुए देखते हैं तो उनकी हिंसा निवारण करने के लिए चिकित्सा करते हैं।

(13.227) परन्तु चिकित्सा के पूर्व वे किसी के कन्द खुदवाते हैं और किसी को जड़-पत्त सहितों उखड़वाते हैं।

(13.228) कोई किसी का बीच में से तुड़वाते हैं; कोई किसी वृक्ष की छाल निकालते हैं और कोई सगर्भ जीवों का पुटों के बीच पकाते हैं;

(13.229) कोई अजातशत्रु वृक्षों की सब शरीर की नसें निकलवाते हैं। इस प्रकार उनका जीव निकाल कर उन्हें सुखा डालते हैं,

(13.230) तथा जंगम पशुओं पर भी हाथ चला कर उनका पित्त निकालते हैं और इसके द्वारा अन्य जीवों का पीडा से बचाते हैं।

(13.231) अजी, बस्ती के घर तोड़ कर मन्दिर बनाना, अथवा व्यापार बन्द कर अन्नछत्र खोल देना,

(132) मस्तक का आच्छादन कर अधोभाग खुला छोड़ देना, घर तोड़ कर सामने मण्डप बनाना,

(13.233) अथवा कपड़े जला कर तापने बैठना, अथवा हाथी का नहाना,

(13.234) अथवा बैल बेच कर कोठा बनाना या तोते को रेहन रख कर पिंजरा बनाना इत्यादि ये कोई काम हैं या दिल्लगी? इन पर क्या हँसें?

(13.235) कोई-कोई धर्म-सम्प्रदाय के अनुसार पानी छान कर पीते हैं तो उसमें छानने के कष्ट से कई जीवों की मृत्यु हो जाती है।

(13.236) कोई हिंसा के डर से बिना पकाये ही धान्य के कण खाते हैं तो प्राणों का पीडा होती है। वह भी हिंसा ही है;

(13.237) एवं, हे प्रसन्न मन के अर्जुन! यह समझ ले कि कर्मकाण्ड का सिद्धान्त ऐसा है कि हिंसा ही अहिंसा है।

(13.238) पहले ज्योंही हमने अहिंसा का नाम लिया त्योंही हमारी बुद्धि की यह इच्छा हुई कि इन मतों का वर्णन करें।

(13.239) यह बताने के लिए कि ऐसी अहिंसा का त्याग किस प्रकार किया जा सकता है, हमें इन मतों का वर्णन करना पड़ा। हमारा यह भी एक भाव था कि तुम्हें भी इन मतों का ज्ञान हो।

(13.240) हे किरीटी! प्रायः इसी कारण हमने ये मत प्रकट किये; नहीं तो क्या कोई आड़े-टेढ़े मार्ग से दौड़ता है?

(13.241) और हे धनुर्धर! अपना मत स्थापन करने के लिए भी अन्य उपस्थित मतों का विचार किया जाता हैं।

(13.242) यह निरूपण की रीति ही है। अब इस पर जो मुख्य

(13.243) हमारा अपना मत हैं सो हम कहते हैं, और उस अहिंसा का वर्णन करते हैं जिसके दिखाई देने से आन्तरिक ज्ञान पहचाना जाता है।

(13.244) अहिंसा का शरीर में व्याप्त हो जाना मनुष्य के आचरण के द्वारा जाना जाता है। जैसे कसौटी से सोने की जाति व्यक्त होती है

(13.245) वैसे ही ज्ञान की और मन की भेंट होते ही अहिंसा का रूप प्रकट होता है। हे किरीटी! वह अहिंसा ऐसी है, सुनो।

(13.246) तरंगों का न नाँघते हुए, लहरों को पाँवों से न तोड़ते हुए, पानी की स्थिरता न मिटाते हुए

(13.247) आमिष पर दृष्टि रख कर जैसे बगला जल में झपट कर परन्तु धीरे से पाँव रखता है, (248) अथवा भ्रमर जैसे केसर के टूटने के डर से, कमल पर धीरे से पाँव रखता है,

(13.249) वैसे ही परमाणुओं में छोटे-छोटे जीव भरे हुए जान जो पुरुष उनपर से अपने पाँव करुणा से आच्छादित कर चलता है;

(13.250) जो जिस मार्ग से चलता है उसे कृपा से भर देता है, जिस दिशा की ओर देखता है उसे प्रेमभरित कर देता है, और जो अन्य जीवों के तले अपना जी बिछा देता है,

(13.251) इस प्रकार हे अर्जुन! जिसके जतन से चलने का वर्णन अथवा परिमाण नहीं हो सकता;

(13.252-53) बिल्ली प्रेम से बच्चों का मुँह में पकड़ती है तो जैसे उन्हें उसके दाँतों की अणियाँ नहीं लगतीं, अथवा प्रेमी माता बालक की बाट जोहती है तो उसकी दृष्टि में जैसी कोमलता होती है,

(13.254) अथवा कमल-दल का धीरे-धीरे हिला कर ली हुई वायु जिस प्रकार नेत्रों का मृदु लगती है

(13.255) वैसी मृदुता से जो भूमि पर पाँव रख चलता है उसके पाँव लगते ही जीवों का सुख होता है।

(13.256) इस प्रकार हे पाण्डुसुत! वह आहिस्ता चलते हुए यदि कृमि-कीट के देख ले तो यह

सोच कर धीरे से पलट जाता है,

(13.257) कि पाँव जोर से पड़ गया तो स्वामी की नींद में भंग होगा और स्वस्थता का धक्का पहुँचेगा।

(13.258) इस प्रकार प्रेम से अकबका कर वह पीछे पलट जाता है। वह किसी भी व्यक्ति पर पाँव रख कर नहीं चलता।

(13.259) जीव जान कर तृण को भी नहीं नाँघता तो फिर किसी जीव की अवगणना करके जाने की बात ही क्या है?

(13.260) चिउँटी जैसे मेरु का नहीं नाँघ सकती, मशक जैसे समुद्र के पार नहीं जा सकता, वैसे ही रास्ते में मिले हुए जीव का अतिक्रमण उससे नहीं हो सकता।

(13.261) इस प्रकार जिसकी चाल में कृपारूपी फूल और फल आते हैं और जिसके वाचिक कर्म देखो तो ऐसा मालूम होता है मानों वाणी से दया जीवन धारण करती है,

(13.262) जिसका श्वास लेना ही सुकुमार है, जिसका सुख प्रेम का नैहर — यानी अटूट भण्डार — है और दाँत क्या हैं मानों माधुर्य के अंकुर फूटे हैं,

(13.263) वाणी के आगे-आगे प्रेम पसीजता है और अक्षर उसके पीछे-पीछे चलते हैं, शब्द पीछे प्रकट होते हैं परन्तु कृपा पहले;

(13.264) यह समझ कर कि यदि कुछ बोलूँ तो कदाचित् मेरे वचन किसी को लग न जाये, जो एक तो बालता ही नहीं

(13.265) और यदि बोलते हुए कोई अधिक शब्द निकल जाय तो जिसके मन में यह भाव रहता है कि किसी का मर्म-भेद न हो और किसी के मन में सन्देह न उत्पन्न है

(13.266) या प्रचलित बात न कट जाय अथवा सुन कर कोई डर न जाय अथवा उलट कर गिर न पड़े

(13.267) एवं किसी को क्लेश न हो, तथा कोई आँख उठा कर न देखे,

(13.268) और यदि कदाचित् किसी की प्रार्थना से बोलने का उद्यत हो तो जो श्रोताओं को माता-पिता के समान प्रेमी जान पड़ता है,

(13.269) मानों शब्द-ब्रह्म ही मूर्तिमान हो आया हो, अथवा गंगा का जल ही उछलता हुआ दिखाई देता हो, अथवा जैसे पतिव्रता को वृद्धावस्था प्राप्त हुई हो।

(13.270) जिसके शब्द सत्य और मृदु, परिमित और सरस होते हैं मानों अमृत की लहरें हों।

(13.271) विरुद्ध वाद का बल, प्राणी को व्याकुल करना, उपहास करना, छल करना, मर्मस्पर्श करना,

(13.272) प्रतिज्ञा, अवसान, कपट, आशा, शंका और प्रतारणा आदि दुर्गुणों का जिसकी वाणी में आभास भी नहीं रहता,

(13.273) और इसी प्रकार हे किरीटी! जिसकी दृष्टि भी स्थिर रहती है;

(13.274) मानों भूतमात्र में जो परब्रह्म भरा है उसमें कदाचित् दृष्टि चुभ जाय इसलिए जो प्रायः किसी ओर देखता ही नहीं,

(13.275) और यदि किसी समय आन्तरिक कृपा से आँखें खोल कर देखे

(13.276) तो जैसे चन्द्रबिम्ब से निकलती हुई धाराएँ गोचर नहीं होतीं, परन्तु चकोरों को एकदम आनन्द की तोंदें निकल पड़ती हैं

(13.277) वैसा ही प्राणियों का हाल होता है; जो किसी ओर भी देखे परन्तु ऐसे प्रेम के साथ कि वैसा अवलोकनप्रेम कूर्मी भी नहीं जानती,

(13.278) बहुत क्या कहें, भूतमात्र की ओर जिसकी दृष्टि उक्त प्रकार की है, तथा जिसके कर भी वैसे ही स्थिर दिखाई देते हैं;

(13.279) कृतकृत्य हो जाने के कारण जैसे सिद्ध पुरुषों के मनोरथ व्यापार-रहित हो जाते हैं, वैसे ही जिसके हाथ क्रिया-रहित,

(13.280) कर्म करने के लिए असमर्थ, और कर्म का त्याग किये हुए रहते हैं; जैसे ईंधन-रहित और बुझी हुई अग्नि हो अथवा गूँगे ने मौन धारण किया हो

(13.281) वैसे ही जिसके हाथों का कुछ कर्तव्यता नहीं रहती और वे अकर्ता हो परब्रह्म के पद पर आ बैठते हैं;

(13.282) वायु का धक्का पहुँचेगा, आकाश को नख लग जावेगा, इस बुद्धि से जो हाथों का हिलने ही नहीं देता

(13.283) तो फिर शरीर पर बैठी हुई मक्खियाँ उड़ाना, अथवा आँखों में घुसते हुए कीड़े उड़ाना अथवा पशु-पक्षियों को डर की मुद्रा दिखाना

(13.284) इत्यादि बातें कहाँ रहीं? जिसे डण्डा अथवा लकड़ी भी नहीं भाती तो फिर हे किरीटी! शस्त्रों का कहना ही क्या है?

(13.285) जो यह समझ कर लीला-कमल से नहीं खेलता, अथवा पुष्पमाला नहीं झेलता, कि वह गोफिया (गुफना) सा दिखाई देगा,

(13.286) शरीर के रोम हिलेंगे इसलिए जो शरीर पर हाथ नहीं फेरता, जिसकी अँगुलियों पर नाखून की गिण्डुरियाँ बन जाती हैं,

(13.287) जिसे कर्तव्य का प्रायः अभाव ही रहता है परन्तु अगर अवसर आवे तो जिसके हाथों को यही अभ्यास रहता है कि वे जुड़ जाये

(13.288) अथवा अभय देने के लिए उठ जाये, अथवा गिरे हुए का उठाने के लिए फैल जाये, अथवा आर्त्त को कोमलता से स्पर्श करें;

(13.289) ये बातें भी जिसके हाथ बड़े संकट से करते हैं तथापि आर्त्त की पीड़ा दूर करने में चन्द्र-किरणें भी वैसी आर्द्रता नहीं जानतीं,

(13.290) पशुओं पर भी जिसके हाथ ऐसे फिराये जाते हैं कि उनके स्पर्श के सामने मलयानिल भी तीव्र जान पड़ता है,

(13.291) और जो सर्वदा मुक्त रहते हैं जैसे चन्दन के शीतल अवयव न फलने पर भी निष्फल नहीं जान पड़ते;

(13.292) अब यह वाक्पाण्डित्य रहने दो। यह जान लो कि जिसके करतल सज्जनों के शील-स्वभाव जैसे रहते हैं;

(13.293) (अब हम उस पुरुष के मन का वर्णन करते हैं; परन्तु अभी जिनका वर्णन किया वे किसके विलास हैं?

(13.294) क्या शाखा ही वृक्ष नहीं हैं? क्या सागर जल के बिना रहता है? तेज और सूर्य क्या जुदी-जुदी वस्तुएँ हैं?

(13.295) अवयव और शरीर क्या यथार्थ में जुदे हैं? अथवा रस और जल क्या भिन्न हैं?

(13.296) अतएव हमने ये जो सब बाह्यभाव कहे सो मूर्तिमान मन ही समझो।

(13.297) जो बीज भूमि में बोया जाता है वही ऊपर वृक्ष हो आता है, वैसे ही जिसका इन्द्रियों के द्वारा विकाश होता है वह मन ही है।

(13.298) मन में ही यदि अहिंसा की न्यूनता हो तो बाहर क्या प्रकट होगा?

(13.299) हे किरीटी! चाहे जो वृत्ति हो, पहले मन में ही उठती है, और फिर वाचा, दृष्टि और कर्म में प्रकट होती है।

(13.300) अन्यथा जो वस्तु मन में ही नहीं वह वाचा में क्या दिखाई देगी? बीज के बिना क्या भूमि में अंकुर उत्पन्न होते हैं?

(13.301) अतएव जब मनत्व का नाश हो जाता है, तो इन्द्रियाँ पहले ही निर्बल हो जाती हैं, जैसे कि सूत्रधार के बिना कठपुतलियाँ वृथा हो रहती हैं।

(13.302) जो उद्गम में ही सूख जाती है वह प्रवाह में कहाँ से बहेंगी? जीव निकल जाने पर क्या देह में चेतना रहती है?

(13.303) वैसे ही हे पाण्डव! मन इन्द्रियों के भावों का मूल है। वही इन सब द्वारों में व्यापार करता है;

(13.304) परन्तु जिस समय जैसा और जिस स्वरूप का वह भीतर रहता है, वैसा ही व्यापाररूप से बाहर प्रकट होता है।

(13.305) अतएव यथार्थ में जब मन में अहिंसा खूब भरी रहती है, तो पके हुए फल की सुगन्ध की तरह प्रेम से प्रकट हो निकलती है;

(13.306) एवं इन्द्रियाँ मन की ही संपदा खर्च कर अहिंसा-रूपी व्यापार करती हैं।

(13.307) समुद्र में जब बाढ़ आती है तब समुद्र खाड़ियों को भर देता है, वैसे ही मन अपनी सम्पत्ति से इन्द्रियों को सम्पन्न करता है।

(13.308) बहुत रहने दो, पण्डित जैसे बालक का हाथ पकड कर आप ही स्पष्ट अक्षरों की रेखाएँ लिखते हैं,

(13.309) वैसे ही मन अपनी दयालुता हाथ-पाँवों का पहुँचाता है और उनसे अहिंसा प्रकट करवाता हैं।

(13.310) अतएव हे किरीटी! इन्द्रियों की क्रियाएँ मन के व्यापार से प्रकट होती हैं।)

(13.311) इस प्रकार जिस पुरुष में मन से, शरीर से, और वाचा से किया हुआ सब हिंसा का संन्यास दिखाई दे,

(13.312) उस आनन्दी पुरुष का ज्ञान का घर समझो। बहुत क्या, उसे मूर्तिमान ज्ञान ही जानो।

(13.313) अहिंसा जो कान से सुनते हैं या ग्रन्थ में निरूपण करते हैं सो प्रत्यक्ष देखने की यदि इच्छा हो तो ऐसे ही पुरुष को देखना चाहिए।

(13.314) इस प्रकार जो देव ने कहा वह एक ही शब्द में कहा जा सकता था, परन्तु हमने जो यह विस्तार किया उसके लिए आप क्षमा कीजिए।

(13.315) आप कहेंगे कि पशु हरा चारा देख कर जैसे पिछली बाट भूल जाता है, अथवा वायु के वेग से पक्षी जैसे आकाश में फर्राटे मारता है

(13.316) वैसे ही प्रेम की स्फूर्ति से रस-वृत्ति का विस्तार होने के कारण मेरी बुद्धि मेरे वश में न रही।

(13.317) परन्तु वैसी बात नहीं है। इस विस्तार का कारण है। यों तो अहिंसा शब्द तीन ही अक्षरों का है,

(13.318) उच्चारण में अल्प है, परन्तु इसका अर्थ तभी स्पष्ट हो सकता है जब करोडों मतों का खण्डन किया जाय।

(13.319) नहीं तो, जो दूसरे मत प्रचलित हैं उन्हें वैसे ही छोड़ कर मैं यदि अपनी शक्ति भर अपना मत कहूँ तो भी आपके मन में न जँचेगा।

(13.320) रत्नपारखियों के गाँवों में विक्रयार्थ जाना हो तो वहाँ शालग्राम शिला बतानी चाहिए और स्फटिका की स्तुति न करनी चाहिए।

(13.321) वैसे ही सुनिए, जहाँ कपूर की बिक्री आटे के बराबर मन्दी होती है, वहाँ कपूर में सुगन्ध होने से क्या लाभ हुआ?

(13.322) एवं हे प्रभु! इस सभा में वक्तृत्व के आधिक्य के कारण वक्तृत्व का कुछ मोल नहीं होगा।

(13.323) यदि मैं सामान्य और विशेष सब बातों का एकीकरण कर वर्णन करूँ, तो उसे आप श्रवणमुख की ओर न ले जायँगे।

(13.324) सन्देहरूपी गँदलेपन से जो शुद्ध प्रमेय मलिन हो जाय तो आया हुआ अवधान पिछले पाँव भाग जाता है।

(13.325) जो जल सेवार का घूँघट लिये रहता है उसकी ओर क्या हंस कभी देखते हैं?

(13.326) तथा जब चाँदनी अभ्र के परे रहती है तब चकोर कभी आनन्द से अपनी चोंचें नहीं उठाते।

(13.327) वैसे ही यदि निरूपण निर्दोष न हो तो आप भी उसकी ओर न देखेंगे, ग्रन्थ का स्वीकार न करेंगे, और ऊपर से क्रोध भी करेंगे।

(13.328) यदि अन्य मत न समझाते हुए, सन्देहों का सम्बन्ध न तोड़ते हुए, व्याख्यान हो, तो मुझे आपके समागम का लाभ न होगा।

(13.329) और मेरे सम्पूर्ण प्रतिपादन का तो यही हेतु है कि आप सन्त सर्वदा मेरे सन्मुख रहें।

(13.330) यों तो वास्तव में आप गीतार्थ के प्रेमी हैं यह जान कर ही मैंने गीता को हृदय से लगाया है।

(13.331) क्योंकि यदि आप अपना सर्वस्व मुझे दें तभी आप इस गीता को छुड़ा ले जा सकेंगे। अतएव यह ग्रन्थ नहीं, वास्तव में एक रेहन रक्खा है।

(13.332) आप अपने सर्वस्व का यदि लोभ करें और इस रेहन का अपमान करें तो गीता की और मेरी एक ही गति समझिए।

(13.333) बहुत क्या कहूँ, मुझे आपकी कृपा की आवश्यकता है। उसी के लिए मैंने ग्रन्थ-निरूपण का बहाना किया है।

(13.334) अतएव मुझे आप रसिकों के योग्य व्याख्यान करना चाहिए, इसी लिए मैंने अन्य मतों का वर्णन किया है।

(13.335) इस कारण, कथा का जो विस्तार हुआ है और श्लोकार्थ जो दूर रह गया है, उसके लिए मुझ बालक को आप क्षमा करें।

(13.336) कौर में लगे हुए कंकर के थूकने में जो समय लगता है वह वृथा नहीं समझा जाता क्योंकि उसे थूकना ही चाहिए;

(13.337) अथवा साहुरूपी चोर की संगत में से आने में यदि पुत्र का समय लगे तो माता को उस पर क्रोध करना चाहिए कि उसके जीवन पर राई-नोन उतारना चाहिए?

(13.338) परन्तु इतना कहने की कोई आवश्यकता नहीं है; आपने क्षमा ही की है। अब श्रीकृष्ण ने कहा सो सुनिए।

(13.339) उन्होंने कहा, हे ज्ञानोत्तमनयन अर्जुन! सावधान हो। अब हम तुम्हें ज्ञान की पहचान करा देते हैं।

(13.340) अजी, जहाँ दुःख-रहित क्षमा रहती है वहाँ समझो कि स्पष्ट ज्ञान है।

(13.341) अगाध सरोवर में जैसे कमल, अथवा भाग्यवान के घर जैसे सम्पत्ति,

(13.342) वैसे ही हे पार्थ! जिनसे क्षमा की वृद्धि होती है, तथा जिनसे क्षमा पहचानी जाती है, उन लक्षणों का हम स्पष्ट वर्णन करते हैं।

(13.343) प्यारे अलंकार जिस भावना से शरीर पर पहने जाते हैं वैसे ही जो सब कुछ सहता है; (344) आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप जिनमें मुख्य हैं ऐसे उपद्रवों के समुदाय आ पड़ने पर भी जो तनिक विचलित नहीं होता;

(13.345) जिस सन्तोष से इच्छित वस्तु की प्राप्ति का स्वीकार करता है उसी से जो अनिष्ट बात का भी सन्मान करता है, –

(13.346) जो मान और अपमान को सहता है, जिसमें सुख-दुःख समा जाते हैं, जो निन्दा और स्तुति से द्विधा नहीं होता,

(13.347) जो उष्णता से नहीं तपता, शीत से नहीं कँपता, और कोई भी संकट प्राप्त हों उससे नहीं डरता;

(13.348) अपने सिर का भार जैसे मेरु नहीं जानता, अथवा वाराहावतारी भगवान् जैसे पृथ्वी को बोझा नहीं समझते,

(13.349) अथवा पृथ्वी जैसे चराचर भूतों के बोझे से नहीं झुकती, वैसे ही सुख-दुःखों के द्वन्द्व प्राप्त होते हुए जो श्रमी नहीं होता,

(13.350) नद और नदियाँ के समुदाय के आ उपस्थित होते ही समुद्र जैसे जल के प्रवाह से अपना पेट भर लेता है,

(13.351) वैसे ही जिसमें न तो न सहने की ही वार्ता है, और न जिसे यह स्मरण होता है कि मैं कुछ सह रहा हूँ,

(13.352) शरीर को जो प्राप्त हो वही जो अपना कर रखता है, और उसे सह कर अभिमान के वश नहीं होता,

(13.353) इस प्रकार जिस में दुःखरहित क्षमा रहती है उससे, हे प्रियोत्तम। ज्ञान की महिमा बढ़ती है।

(13.354) हे पाण्डव! वह पुरुष ज्ञान का जीवन है। अब सुने, हम आर्जव अर्थात् ऋजुता या सरलता का वर्णन करते हैं।

(13.355) आर्जव क्या है सो सुनो — जैसे प्राण का सौजन्य चाहे जिसके हेतु समान ही रहता है,

(13.356) अथवा सूर्य्य जैसे मुँहदेखा प्रकाश नहीं करता, आकाश जैसे जगत को समान ही अवकाश देता है,

(13.357) वैसे ही जिसका मन प्रत्येक मनुष्य की ओर भिन्न नहीं होता, और चलन जिसका ऐसा होता है

(13.358) कि मानों सब संसार उसकी पहचान का है, संसार ही मानों जिसका पुराना सम्बन्धी है, जो अपना पराया आदि बातों की वार्ता नहीं जानता,

(13.359) हर किसी से मेल रखता है, जल के समान जो नम्र रहता है और जिसका चित्त किसी के भी विषय में नहीं हिचकता,

(13.360) वायु-वेग के समान जिसका भाव सरल है, और जिसे सन्देह और हाँव नहीं उत्पन्न होती,

(13.361) माता के सन्मुख जाते हुए जैसे बालक को कोई सन्देह नहीं होता वैसे ही जो लोगों का अपना मन देते हुए विचार नहीं करता,

(13.362) हे धनुर्धर! विकसित कमल जैसे फिर मुकुलित नहीं होता, वैसे ही जो मन के विकार इधर-उधर छिपाना नहीं जानता;

(13.363) रत्न सुन्दर रहता है परन्तु पहले उसकी सुन्दर किरणें दिखाई देती हैं, वैसे ही जिसका मन आगे दौड़ता है और क्रिया पश्चात् होती है,

(13.364) जो साशंक हो विचार करना नहीं जानता, अनुभव से ही जो तृप्त रहता है और अन्तःकरण में कोई विचार लाने या छोड़ने की बातें जिसके पास हुई नहीं,

(13.365) जिसकी दृष्टि कपटी नहीं है, जिसके वचन संशययुक्त नहीं हैं, जो किसी के साथ बुरी बुद्धि से व्यवहार करना नहीं जानता,

(13.366) जिस की दसों इन्द्रियाँ सरल, निष्कपट और निर्मल हैं, और जिसके पाँचों प्राण आठों पहर मुक्त रहते हैं,

(13.367) जिसका अन्तःकरण अमृत की धार जैसा सरल है, बहुत क्या वर्णन करें, जो इन चिह्नों का उत्पत्तिस्थान है

(13.368) वह पुरुष हे सुभट! आर्जव की मूर्ति हैं और उसी में ज्ञान ने अपना घर बनाया है।

(13.369) अब इसके उपरान्त हे चतुरनाथ! हम तुमसे गुरुभक्ति की रीति का वर्णन करते हैं, सुनो।

(13.370) यह गुरु-भक्ति सम्पूर्ण भाग्यों की जन्मभूमि है, क्योंकि यह शोकग्रस्त मनुष्य का भी ब्रह्मस्वरूप कर देती है।

(13.371) अतः गुरु-भक्ति का जो निरूपण हम तुमसे करते हैं उसकी ओर पूर्ण ध्यान दो।

(13.372) सम्पूर्ण जल-सम्पत्ति लेकर जैसे गंगा समुद्र में जा मिलती है, अथवा ब्रह्मपद में जैसे श्रुति प्रविष्ट होती है,

(13.373) अथवा जैसे प्रिया अपने जीवन-समेत सब गुणागुण अपने प्रिय पति को समर्पित करती है,

(13.374) वैसे ही जो अपना शरीर और अन्तःकरण गुरु-कुल का समर्पित करता हैं और निज का भक्ति का घर बना लेता है;

(13.375) जैसे विरहिनी अपने वल्लभ का चिन्तन करती है वैसे ही जिस देश में गुरु रहते हैं वही देश जिसके मन में बसता है;

(13.376) उस ओर से आई हुई वायु देख कर जो दौड़ कर सामने जा दण्डवत् करता है और कहता है कि मेरे घर पधारिए;

(13.377) जो प्रेम में भूल कर उसी दिशा से बातचीत करना चाहता है, और जो अपने हृदय को गुरुगृह का हकदार बना रखता है

(13.378) परन्तु बछड़े का जैसे गराँवन बाँधते हैं, वैसे ही केवल गुरु की आज्ञा से बँधा हुआ अपने गाँव में रहता है,

(13.379) और मन में कहता है कि यह प्रतिबन्ध कब मिटेगा, कब मेरे स्वामी की भेंट होगी, इस प्रकार जो एक-एक पल को युग से भी अधिक समझता है,

(13.380) और इतने में यदि कोई गुरु के गाँव से आवे अथवा किसी को स्वयं गुरु ने ही भेजा हो, तो जैसे मरे हुए का आयुष्य प्राप्त है,

(13.381) अथवा सूखते हुए अंकुर पर अमृत की धार पड़े, अथवा थोडे जल में रहनेवाली मछली जैसे समुद्र में पहुँच जाय,

(13.382) अथवा रंक को धन दीख जाय, या अन्धे की आँखें खुल जायँ, अथवा दरिद्री का इन्द्रपद प्राप्त हो जाय

(13.383) वैसे ही जो गुरुकुल का नाम सुनते ही अत्यन्त सुख से ऐसा फूलता है मानों सहज ही आकाश को भी लिपटा ले —

(13.384) इस प्रकार गुरु के कुल का प्रेम जिस किसी में देखो, तो समझ लो कि ज्ञान उसकी सेवकाई करता है।

(13.385) और अन्तःकरण में अत्यन्त प्रेम से जो श्रीगुरु के रूप के ध्यान की उपासना करता है,

(13.386) हृदयशुद्धिरूपी कोट के भीतर आराध्य गुरुमूर्ति को स्थिर कर उसे धनी बनाता है और फिर सद्भावों-सहित आप ही उसका परिवार बनता है,

(13.387) अथवा चैतन्य-बाड़ी के भीतर आनन्द के मन्दिर में जो श्रीगुरुरूपी शिवलिंग पर ध्यानरूपी अमृत बरसाता है,

(13.388) जो ज्ञान-सूर्य उदय होते ही बुद्धि की टोकरी सात्विक-भावों से भर कर गुरुरूपी शिवलिंग पर लाखों फूल चढ़ाता हैं,

(13.389) उत्तम समय ही शिवपूजा के त्रिकाल समझ कर जो निरन्तर जीव-दशारूपी धूप जलाता और ज्ञानरूपी दीप से आरती करता है,

(13.390) अखण्ड एकतारूपी रसाई बना कर नैवेद्य समर्पण करता है, इस प्रकार जो आप पुजारी बनता और गुरु को शिवलिंग बनाता है,

(13.391) अथवा अन्तःकरण की शय्या पर गुरु को पति बना कर भोगता है, इस प्रकार जिसकी बुद्धि में प्रेम का सन्तोष भरा रहता है;

(13.392) जो कभी अन्तःकरण में भरे हुए प्रेम को क्षीरसमुद्र समझता है,

(13.393) गुरु-ध्यान के सुख का उसमें निर्मल शेषशय्या और उस पर गुरु का विष्णु बनाता है

(13.394) और आप पादसेवा करनेहारी लक्ष्मी बनता है, तथा आप ही गरुड हो खड़ा रहता है,

(13.395) अथवा उनकी नाभि से जन्म लेता है, इस प्रकार जो गुरुमूर्ति के ध्यान के सुख का अनुभव लेता है;

(13.396) किसी समय भावनाबल से गुरु का माता बनाता है और आप स्तनपान कर सुखी होता हुआ गोद में लोटता है,

(13.397) अथवा हे किरीटी! गुरु को चैतन्यरूपी वृक्ष के नीचे बंधी हुई गौ बना कर आप उससे उत्पन्न हुआ बछ्ड़ा बनता है;

(13.398) किसी समय ऐसी भावना करता है कि गुरु कृपा और स्नेहरूपी जल हैं और मैं मीन हूँ,

(13.399) कभी आप भक्ति का वृक्ष बनता है और गुरु की कृपा के अमृत की वृष्टि समझता है, इस प्रकार जिसका मन संकल्प उत्पन्न करता है,

(13.400) – प्रेम कैसा अपार है देखो! कभी वह आप पंख और नेत्र-रहित चिरौटा (चिडिया का बच्चा) बनता है

(13.401) और गुरु को पक्षिणी बनाता है और उसकी चोंच से चारा लेता है; अथवा गुरु का नौका बनाता है और आप उसका सहारा लेवा है;

(13.402) ऐसे प्रेम के बल से ध्यान से ध्यान उत्पन्न होता जाता है जैसे पूर्ण सिन्धु के तरंग पर तरंग उत्पन्न होते हैं —

(13.403) बहुत क्या वर्णन करें, वह इस प्रकार श्रीगुरु की मूर्ति का आन्तरिक सुख पाता है, – (अब सुनिए, वह गुरु को बाह्य सेवा कैसी करता है) –

(13.404) जो ऐसा निश्चय रखता है कि मैं ऐसी उत्तम सेवा करूँगा जिससे गुरु कुतूहल से वर माँगने की आज्ञा दें,

(13.405) और ऐसी उपासना से जब स्वामी प्रसन्न हों तब मैं ऐसी विनती करूँगा

(13.406) कि हे देव! आपका जो परिवार है वह मैं अकेला ही सम्पूर्ण रूपों से बन जाऊँ,

(13.407 और आपके उपयोग में आनेवाले जितने पूजा-पात्र हैं उतने हे स्वामी! मेरे ही रूप हो जायें,

(13.408) ऐसा मैं पर माँगूँगा तो श्रीगुरु हाँ कहेंगे, तब मैं ही सब परिवार बन जाऊँगा,

(13.409) और जो सब पूजा-सामग्री हैं वह सब एक-एक मैं ही बन जाऊँगा, तव भक्ति का कुतूहल दिखाई देगा;

(13.410) गुरु बहुतेरों की माता होती है परन्तु मैं उस कृपामूर्ति का ऐसी शपथ दूँगा कि तू मेरी अकेले की हो रह, इस प्रकार मैं उसे अपना लूँगा,

(13.411) उसे प्रेम का मोह लगा दूँगा, उससे एक-पत्नीव्रत धारण कराऊँगा और लोभ से अन्य क्षेत्रों का संन्यास कराऊँगा;

(13.412) मैं गुरुकृपा का ऐसा पिंजरा बन जाऊँगा कि जिसमें से बाहर निकल उसे चारों ओर की वायु न लगे,

(13.413) गुरुसेवारूपी स्वामिनी का अपने गुणों के अलंकार पहनाऊँगा, और, रहने दो, मैं गुरु-भक्ति का आच्छादन बन जाऊँगा,

(13.414) गुरु के स्नेह की वर्षा के लिए पृथ्वी बन जाऊँगा, इस प्रकार जो पुरुष मनोरथों की अनन्त सृष्टि की रचना करता है

(13.415) और कहता है कि मैं श्रीगुरु का घर बनूँगा और वहाँ आप ही सेवक बन सेवा करूँगा,

(13.416) आवागमन के समय श्रीगुरु जो देहरी नाँघेंगे वह मैं हूँगा और द्वार और द्वारपाल भी मैं ही हूँगा,

(13.417) मैं उनकी खड़ाऊँ बनूँगा, मैं हो उन्हें पहनाऊँगा, छत्र मैं होऊँगा और छत्रधारी भी मैं ही बनूँगा,

(13.418) मैं ऊँची-नीची धरती बतानेवाला चोबदार हूँगा मैं चँवर धरनेहारा वा हाथ देनेवाला बनूँगा, मैं गुरु के सामने मशाल लेनेवाला बनूँगा,

(13.419) मैं ही सुराही पकड़नेहारा बनूँगा, मैं कुल्ला करवाऊँगा और मैं ही कुल्ला डालने का तसला बनूँगा,

(13.420) मैं ही पानदान हूँगा और मैं ही थूक झेलने का पीकदान बनूँगा, स्नान कराने का काम भी मैं करूँगा,

(13.421) मैं गुरु का आसन बनूँगा, अलंकार, वस्त्र, चन्दन, इत्यादि सामग्री बनूँगा,

(13.422) मैं ही रसोइया बनूँगा और थाली परोसूँगा और आप ही श्रीगुरु की आरती करूँगा,

(13.423) जब गुरुदेव भोजन करेंगे तब मैं ही पंक्ति में भोजन करनेहारा बनूँगा और मैं ही आगे हो कर पान दूँगा,

(13.424) जूठन मैं निकालूँगा, शय्या मैं झाड़ूँगा, और पैर भी मैं ही दबाऊँगा,

(13.425) आप ही सिंहासन बचूँगा और उस पर जब गुरु चढ़ कर बैठेंगे तो सेवा की पूर्णता समझूँगा,

(13.426) श्रीगुरु का मन जिस चमत्कार की ओर होगा वही मैं हो जाऊँगा,

(13.427) उनके श्रवणरूपी रण में मैं शब्दरूपी अक्षौहिणी बनूँगा और यदि श्रीगुरु का शरीर किसी वस्तु का स्पर्श करे तो वह स्पर्श भी मैं ही बनूँगा,

(13.428) श्रीगुरु के नेत्र कृपायुक्त दृष्टि से जो कुछ देखें वह सब रूप मैं ही बनूँगा,

(13.429) उनकी रसना को जिसकी रुचि है। वह रस मैं बचूँगा और गन्ध-रूप हो उनकी घ्राणेन्द्रिय की सेवा करूँगा,

(13.430) इस प्रकार गुरु की बाह्य और मनोगत वस्तुएँ बन कर मैं सब कुछ श्रीगुरु-सेवा से व्याप्त कर डालूँगा,

(13.431) जब तक देह है तब तक जो पुरुष इस प्रकार सेवा करता है तथा फिर देह छोड़ने के समय भी जिसकी ऐसी अनोखी बुद्धि रहती है

(13.432) कि मैं इस शरीर की मट्टी पृथ्वी के उस भाग से मिला दूँ जहाँ श्रीगुरु के श्रीचरण खड़े हों,

(13.433) मेरे स्वामी कुतूहल से जिस जल का स्पर्श करें उसमें मैं अपने शरीर का जलभाग ले जाऊँ,

(13.434) श्रीगुरु की जिस दीप से आरती की जाय अथवा उनके घर में जो दीप लगाये जाये उनकी प्रभा में मैं अपना तेज मिला दूँ,

(13.435) उनका जो चँवर वा पंखा हो उसमें मैं अपने प्राणों का लय कर दूँ और फिर उनके शरीर की सेवा करूँ,

(13.436) जिस जिस अवकाश में श्रीगुरु अपने परिवार-समेत रहें उस आकाश में मैं अपने आकाश का लय कर दूँ,

(13.437) इस प्रकार जीते-जी और मरने पर भी शुरु-सेवा न छोड़ूँ, पल-भर भी दूसरों का सेवार्थ न भेजूँ और इस प्रकार एक ही बार नहीं, किन्तु कल्पकोटि पर्यन्त करता रहूँ,

(13.438) यहाँ तक जिस पुरुष के मन का धैर्य है और जो गुरु-सेवा करके अनुपम बन जाता है,

(13.439) रात और दिन नहीं देखता, थोड़ा और बहुत नहीं कहता, गुरु की आज्ञा के बल से जो हृष्ट-पुष्ट रहता है,

(13.440) वह पुरुष व्यापार में गगन से भी श्रेष्ठ होता है और अकेला ही एकदम सब कुछ करता है।

(13.441) हृदय-वृत्ति के पहले उसका शरीर ही दौड़ता है, और मन से होड़ लगा कर काम करता है।

(13.442) किसी समय वह श्रीगुरु के खेल के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन का निछावर कर डालता है;

(13.443) एवं जो गुरु-सेवा करते-करते कृश हे गया है, जो गुरु-प्रेम से पुष्ट हुआ है, जो स्वयं गुरु-आज्ञा का निवासस्थान है;

(13.444) जो गुरु-कुल से कुलीन हुआ है, जो गुरु-बन्धुओं की सुजनता से सुजन हुआ है और जो निरन्तर गुरु-भक्ति के व्यसन से व्यसनी बना है;

(13.445) गुरु-सम्प्रदाय का धर्म ही जिस के वर्णाश्रम हैं, और गुरु-परिचर्या ही जिसका नित्य-कर्म है;

(13.446) गुरु जिसका क्षेत्र है, गुरु देवता है, गुरु माता-पिता है, जो गुरु-सेवा के सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं जानता;

(13.447) श्रीगुरु का द्वार जिसके सर्वस्व का सार है, और जो गुरु-सेवकों का सहोदर के प्रेम से भजता है;

(13.448) जिसका मुख गुरु-नाम का मन्त्र जपता है, गुरू-वाक्य के सिवाय जो शास्त्र को भी हाथ से नहीं छूता;

(13.449) गुरुचरणों का स्पर्श किया हुआ चाहे जैसा जल हो, तथापि उस तीर्थ की यात्रा के लिए जो त्रिभुवन के तीर्थों को ले आता है;

(13.450) जो कदाचित् श्रीगुरु का जूठा पा जाय तो उसे उस लाभ के सामने समाधि से भी हीक होती है;

(13.451) हे किरीटी! श्रीगुरु के चलते समय पीछे जो पाँवों की धूल उड़ती है उसके परमाणुओं को जो कैवल्य-सुख के समान समझता है;

(13.452) बहुत कहाँ तक वर्णन करें, गुरु-भक्ति का पार नहीं है, परन्तु इस विषयान्तर का तात्पर्य यह है

(13.453) कि जिसे ऐसी गुरुभक्ति की इच्छा होती है, जिसे इस विषय का प्रेम रहता है, जो इस सेवा के सिवाय और कुछ मधुर नहीं समझता,

(13.454) उसी को तत्त्वज्ञान का आश्रय समझना चाहिए। ज्ञान को उसी से शोभा प्राप्त होती है। बहुत क्या कहें, वह देव है और ज्ञान उसका भक्त है।

(13.455) यह सच है कि ऐसे पुरुष में पूर्ण ज्ञान इस प्रकार द्वार मुक्त कर रहता है।

(13.456) इस गुरु-सेवा के लिए मेरा अन्तःकरण अभिलाषी है, इसलिए मैं सीधा मार्ग छोड़ कर उक्त वर्णन-रूप से भटकता फिरा।

(13.457) यों तो मैं हाथ का लूला हूँ, भजन के विषय में अन्धा हूँ, सेवा के लिए पंगु से भी मन्द-गति हूँ,

(13.458) गुरु-वर्णन में मौनी हूँ, आलसी हूँ, वृथापुष्ट हो रहा हूँ, परन्तु मेरे मन में उत्तम प्रेम भरा है।

(13.459) ज्ञानदेव कहते हैं कि इसी लिए मुझे इस शरीर का पोषण करना आवश्यक हुआ है।

(13.460) अतः मेरे कहने को क्षमा कीजिए और सेवा का अवसर दीजिए। अब मैं ग्रन्थार्थ वर्णन करता हूँ।

(13.461) सुनिए, श्रीकृष्ण जो सब प्राणियों का भार सहनेहारे हैं वे विष्णु कह रहे हैं, और अर्जुन सुन रहा है।

(13.462) वे कहते हैं कि शुचित्व ऐसा होता है; – शुचित्व जिसके पास हो उसका शरीर और मन कपूर जैसा,

(13.463) अथवा रत्न के स्वरूप जैसा अन्तर-बाह्य निर्मल रहता है, अथवा सूर्य्य जैसा, भीतर-बाहर समान ही, रहता है।

(13.464) बाह्यतः वह कम से निर्मल हो जाता है, और अन्तःकरण में ज्ञान से प्रकाशमान होता है, इस प्रकार दोनों ओर से समान ही शुद्धता प्राप्त कर लेता है।

(13.465) बाह्यतः वेदों के मन्त्र के द्वारा मृत्तिका और जल से निर्मल हो जाता है।

(13.466) कहीं हो, बुद्धि ही बलवती होती है। दर्पण धूलि से स्वच्छ किया जाता है, और कपड़ों का मैल धोबी की नाँद से साफ किया जाता है।

(13.467) अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, उक्त प्रकार से जो बाह्यतः शरीर से शुद्ध रहता है उसके अन्तःकरण में ज्ञानदीप होने के कारण उसे शुद्ध कहना चाहिए।

(13.468) अन्यथा हे पाण्डुसुत! अन्तःकरण ही शुद्ध न हुआ ते बाह्य-कर्म सब विडम्बना है,

(13.469) मानों जैसे किसी मृत मनुष्य का अलंकार किया हो, गधे का तीर्थ में नहलाया हो, कड़वे तूँबे पर गुड़ का लेप कर दिया हो,

(13.470) उजाड़ घर में तारन बाँधा है?, अथवा उपवासी का अन्न से भर दिया हो।, विधवा ने कुंकुम (सेंदुर) लगाया हो,

(13.471) अथवा मानों कोई पोला मुलम्मा किया हुआ कलश है। जिसमें केवल ऊपरी चमचमाहट ही होती है, अथवा कोई खेल का फल हो जिस में अन्दर मिट्टी भरी रहती है और कुछ उपयोगी नहीं होता।

(13.472) इसी प्रकार केवल ऊपरी कर्म करनेहारा श्रेष्ठ नहीं समझा जाता। वह योग्यता-विहीन होता है, जैसे कि गंगा में डुबाने से भी मदिरा का घडा पवित्र नहीं हो सकता।

(13.463) अतएव अन्तःकरण में ज्ञान होना चाहिए। फिर बाह्य-शुद्धि का लाभ आप ही आप हो जाता है, परन्तु ऐसा कहाँ होता है कि कर्म से ज्ञान उत्पन्न हो

(13.474) इसी प्रकार यदि बाह्य-शरीर उत्तम कर्म से निर्मल हो और ज्ञान से अन्तःकरण का कलंक धोया गया हो

(13.475) तो अन्तर-बाह्य भेद का नाश हो कर एक निर्मलता ही व्याप्त हो जाती है, किंबहुना शुचित्व ही रह जाता है।

(13.476) इसलिए स्फटिक के गृह में लटकते हुए दीपक की तरह अन्तःकरण के सब भाव बाहर विकसित दिखाई देते हैं।

(13.477) जिससे विकल्प उत्पन्न होता है, मिथ्या विकार उपजते हैं, कुकर्म के बीजों में अंकुर फूटते हैं,

(13.478) उन विषयों को वह शुचिपुरुष सुनता है, देखता है, अथवा उनसे भेंटता है, परन्तु मेघ के रंगों से जैसे आकाश मलिन नहीं होता, वैसे ही उसके मन में इन बातों की छाप नहीं छपती।

(13.479) यों तो वह इन्द्रियों के कारण विषयों में लोट-पोट होता है, परन्तु विकार के दोष से लिप्त नहीं होता।

(13.480) रास्ते से जाती हुई स्त्री उत्तम वर्ण की हो वा नीच वर्ण की, उसके विषय में जैसे विकार नहीं उत्पन्न होता, वैसे ही वह शुचिपुरुष सब व्यवहार करता है;

(13.481) अथवा एक ही तरुणी पति और पुत्र को आलिंगन देती है, परन्तु जैसे उसके पुत्र-भाव में काम नहीं प्रवेश करता

(13.482) वैसे ही उस शुचिपुरुष का हृदय शुद्ध होता है। उसे संकल्प और विकल्प का परिचय होता है, कर्तव्याकर्तव्य-विशेष का स्पष्ट ज्ञान होता है,

(13.483) परन्तु हीरा जैसे जल से नहीं भीगता, उबलते जल में जैसे कंकर नहीं पकते, वैसे ही विकल्प-मात्र से उसकी मनोवृत्ति लिप्त नहीं होती।

(13.484) इसे हे पार्थ! पूर्ण शुचित्व कहते हैं। जहाँ यह दिखाई दे वहीं ज्ञान समझो।

(13.485) इसी प्रकार जिसके मन में स्थिरता का प्रवेश है उस पुरुष का भी ज्ञान का जीवन जानो।

(13.486) देह बाह्यतः अपनी रीति से कर्म करता रहे, परन्तु उसके मन की निश्चलता नहीं छूटती।

(13.487) गाय का प्रेम घर में बँधे हुए बछड़े को छोड़ उसके साथ जंगल में नहीं जाता; सती के भोग कुछ प्रेमभोग नहीं रहते;

(13.488) अथवा लोभी दूर जाय, परन्तु उसका जी जैसे गड़े हुए धन में ही रहता है वैसे हो देह के चलन से एक स्थिर-पुरुष का चित्त चल-विचल नहीं होता।

(13.489) चलते हुए मेघ के संग जैसे आकाश नहीं दौड़ता, घूमते हुए ग्रहचक्र के संग जैसे ध्रुव नहीं घूमता,

(13.490) हे धनुर्धर! पथिकों के आवागमन के संग जैसे पन्थ नहीं चलता, अथवा वक् जैसे आना-जाना नहीं जानते

(13.491) वैसे ही इस पंचभूतात्मक और चलायमान शरीर में होता हुआ भी वह एक भी भूतविकार की लहर से चल-विचल नहीं होता।

(13.492) तूफान की तीव्रता से जैसे पृथ्वी नहीं हिलती वैसे ही जो उपद्रव के क्षोभ से विचलित नहीं होता,

(13.493) दारिद्रय-दुःख से तप्त नहीं होता, भय और शोक से नहीं काँपता, शरीर को मृत्यु आने से भी नहीं डरता;

(13.494) जिसका सरल मार्ग से जाता हुआ चित्त दुःख और आशा के जोर से तथा आयुष्य और व्याधि की गर्जना से कभी पीछे नहीं देखता,

(13.495) उस पुरुष को यद्यपि निन्दा और अपमान सहना पड़े, काम और लोभ के अधीन होना पड़े, तथापि उसके मन का रोम भी टेढ़ा नहीं होता।

(13.496) आकाश टूट पड़े, पृथ्वी चाहे गल जाय परन्तु उसकी चित्तवृत्ति पीछे पलटना नहीं जानती।

(13.497) हाथी को फूल से मारने से जैसे वह पीछे नहीं लौट सकता, वैसे ही दुर्वचनरूपी शल्य से छल करने पर भी वह पीछे नहीं हटता।

(13.498) मन्दराचल से क्षीर समुद्र की लहरों में जैसे कम्प नहीं उत्पन्न होता, दावाग्नि की ज्वालाओं से जैसे आकाश नहीं जलता

(13.499) वैसे ही वृत्तियों के आने-जाने से उसके मन में क्षोभ नहीं होता। बहुत क्या कहें, वह कल्पान्त के समय भी धैर्य से सम्पन्न रहता है।

(13.500) हे ज्ञानी! जिस दशा को स्थैर्य कहते हैं उसका हमने विस्तार-पूर्वक वर्णन किया।

(13.501) जो शरीर से और अन्तःकरण से इस पराक्रमशील स्थिरता का प्राप्त कर लेता है वह मनुष्य स्पष्ट ज्ञान का घर है।

(13.502) ब्रह्मराक्षस जैसे घर नहीं छोड़ता, अथवा योद्धा जैसे हथियार नहीं छोड़ता, अथवा लोभी जैसे अपना भाण्डार नहीं छोड़ता,

(13.503) अथवा माता जैसे इकलौते बालक का मोह नहीं छोड़ती, अथवा मधुमक्खी जैसे मधु की लोभिन रहती है,

(13.504) वैसे ही हे अर्जुन! जो अन्तःकरण का जतन करता है और उसे इन्द्रियों के द्वारे नहीं खड़ा करता,

(13.505) इस डर से कि कामरूपी हउवा सुन ले, अथवा आशारूपी डाकिनी देख ले तो इस अन्तःकरण पर आ झपटेगी;

(13.506) अथवा जबर्दस्त पति जैसे व्यभिचारिणी स्त्री को बन्धन में रखता है, वैसे ही जो अपनी प्रवृत्ति का निरोध करता है,

(13.507) सचेतन देह के कृश होकर शरीर का नाश होने तक जो विवेक से इन्द्रियों का संयमन करता रहता है,

(13.508) शरीर में — मन के महाद्वार में — प्रत्याहार की चौकी पर यम-दम का खड़ा पहरा करवाता है;

(13.509) मूलाधार में, नाभिस्थान में और कण्ठस्थान में वज्रासन, उड्डियान और जालन्धर की गश्त बैठा कर इडा और पिंगला के संग में चित्त को सुलाता है,

(13.510) और ध्यान के समाधि की शय्या से बाँध देता है, उस पुरुष का चित्त चैतन्यरूपी एक रस में रत है। जाता है।

(13.511) अजी, अन्तःकरण-निग्रह जिसे कहते हैं वह यह है।

(13.512) यह जहाँ रहता है वहाँ ज्ञान की विजय होती है। जिसकी आज्ञा अन्तःकरण सिर पर धारण करता है उसे मनुष्याकार ज्ञान ही जानो।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ 13.8 ॥

(13.513) जिसके मन में विषयों के विषय पूर्ण और उत्तम वैराग्य जाग्रत रहता है,

(13.514) रसना जैसे वमन किये हुए अन्न के लिए लार नहीं टपकाती, और शरीर जैसे मुर्दे के आलिंगन के लिए उद्यत नहीं होता,

(13.515) विष को जैसे कोई नहीं खाता, जलते हुए घर में जैसे कोई प्रवेश नहीं करता, व्याघ्र की गुफा में जैसे कोई बस्ती नहीं करता,

(13.516) तपे हुए लोहे के रस में जैसे कोई नहीं कूदता, अजगर का जैसे कोई तकिया नहीं बनाता,

(13.517) उसी प्रकार हे अर्जुन! जिस पुरुष का विषय-वार्ता नहीं भाती, जो इन्द्रियों के मुँह में कुछ भी नहीं जाने देता,

(13.518) जिसके मन में विषयों के लिए आलस्य रहता है, जिसका देह अत्यन्त कृश रहता है, शम-दम में जिसका प्रेम रहता है,

(13.519) हे पाण्डव! जिसके समीप तप और व्रतों के समुदाय रहते हैं, जिसे गाँव में आते हुए युगान्त मालूम होता है,

(13.520) जिसे योगाभ्यास की बहुत लालसा रहती है, एकान्त की ओर जिसकी दौड़ रहती है, जो समुदाय का नाम भी नहीं सह सकता,

(13.521) इस लोक के भागों को ऐसा समझता है जैसा बाणों की शय्या, अथवा पीब के कीचड़ में लोट-पाट होना,

(13.522) और स्वर्ग की कथा सुन उसे जो मन में ऐसा मानता है जैसा कुत्ते का सड़ा हुआ मांस,

(13.523) उस पुरूष का इस प्रकार का आचरण विषय-वैराग्य है। यह ब्रह्मप्राप्ति का सौभाग्य है। इसी से जीव ब्रह्मानन्द के योग्य होते हैं।

(13.524) इस प्रकार जिसमें उभय लोकों के भोगों की ओर अत्यन्त ग्लानि दिखाई दे उस पुरुष में ज्ञान का निवास जाना।

(13.525) वह सकाम मनुष्य के समान यज्ञ आदि कर्म करता है परन्तु शरीर में कर्तृत्व का अभिमान नहीं रखता।

(13.526) वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल नित्य और नैमित्तिक कर्मों का आचरण करने में वह कुछ न्यूनता नहीं करता,

(13.527) परन्तु अपनी वासना में यह भाव नहीं रखता कि यह कम मैंने किया, अथवा यह मेरे कारण सिद्ध हुआ।

(13.528) जैसे वायु सहज सर्वत्र घूमती है, अथवा सूर्य जैसे निरभिमानता से प्रकाशता है,

(13.529) अथवा श्रुति जैसे स्वभावतः बोलती है, गंगा जैसे कुछ कर्तव्य के बिना ही बहती है, वैसे ही जिसका आचरण अहंकार-रहित होता है;

(13.530) जिसकी वृत्ति कर्म में ऐसी रहती है जैसी कि वृक्षों की — जो ऋतुकाल में फलते तो हैं परन्तु यह नहीं जानते कि हम फल रहे हैं, –

(13.531) एवं जिसके मन से कर्म से और वचनों से अहंकार का नाम-निशान इस प्रकार मिट गया है मानों किसी हार की इकहरी डोरी ही निकाल ली जाय,

(13.532) अथवा जैसे किसी सम्बन्ध के बिना ही मेघ आकाश में रहते हैं, वैसे ही जो देह के कर्म करता है;

(13.533) मद्यपी का जैसे अपने शरीर के वस्त्र की, अथवा चित्र का अपने हाथ में रक्खे हुए शस्त्र की, अथवा बैल का पीठ पर बँधे हुए शास्त्र की सुधि नहीं रहती

(13.534) वैसे ही जिसे देह में रहते हुए अपने अस्तित्व का स्मरण नहीं रहता, उस पुरुष की स्थिति का नाम निरहंकारता है।

(13.535) यह जहाँ सम्पूर्ण दिखाई देती है वहाँ ज्ञान रहता है। यह मिथ्या मत समझो।

(13.536) जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख, राग, वार्धक्य आदि पापों को — प्राप्त होने के पहले ही — जो दूर से ही देख लेता है;

(13.537) जैसे साधक पिशाच का पहचान लेता है, अथवा योगी उपद्रव को पहचान लेता है, अथवा गुनिया से जैसे मिस्त्री न्यूनाधिक देख सकता है,

(13.538) पूर्वजन्म का वैर जैसे सर्प के मन से नहीं जाता, वैसे ही जो पूर्वजन्म के पाप ध्यान में रखता है;

(13.539) आँखों में जैसे कंकर नहीं सहा जाता, अथवा लगे हुए घाव में भाला नहीं सहा जाता, वैसे ही जो पूर्वकाल के जन्म और दुःख नहीं भूलता;

(13.540) जो कहा करता है कि हाय मैंने पीब की खाडी में प्रवेश किया था, मैं मूत्रद्वार में से बाहर निकला हूँ, और हाय हाय मैं कुचस्वेद चाटता रहा था, –

(13.541) इस प्रकार जो अपने जन्म से उकताता है और कहता है कि अब मैं ऐसा न करूँगा कि जिससे फिर जन्म प्राप्त हो;

(13.542) हारे हुए धन को फिर से प्राप्त करने के लिए जैसे जुआरी फिर दाँव लगाता है, अथवा पुत्र जैसे बाप का वैर ध्यान में रखता है,

(13.543) अथवा किसी को मारने से जैसे उसका पक्षपाती क्रोध से उसका बदला लेने की चेष्टा करता है, वैसी ही सावधानता से जो जन्म के पीछे लगता है,

(13.544) परन्तु जैसे सम्भावित मनुष्य अपकीर्ति नहीं सह सकता, वैसे ही जिसका मन जन्म की लज्जा नहीं छोड़ता,

(13.545) और भविष्य में होनेवाली मृत्यु चाहे कल्पान्त में हो अथवा चाहे आज ही हो, तथापि उसके विषय में जो सदा सावधान रहता है,

(13.546) हे पाण्डुसुत! बीच में अथाह पानी जान कर अच्छा तैरनेहारा जैसे तीर पर ही खूब कस कर धोती बाँध लेता है,

(13.547) अथवा रण में जाने के पूर्व ही जैसे औसान सँभालना पड़ता है, और घाव लगने के पूर्व ही ढाल सामने की जाती है,

(13.548) कल का मुकाम घातक हो तो आज ही जैसे सावधान हो जाना चाहिए, अथवा जी निकलने के पूर्व ही औषधि के लिए दौड़ना चाहिए,

(13.549) नहीं तो ऐसा होता है कि जो घर जलने लगे तो फिर कुँवा नहीं खोदा जा सकता,

(13.550) गहरे जलाशय में फेंके गये पत्थर के समान डूबा हुआ मनुष्य भला कब चिल्लाता हुआ निकलता है?

(13.551) इसलिए, जिसका किसी बड़े से घोर (अस्थिगत) वैर हो तो वह जैसे आठों पहर शस्त्र लिये तैयार रहता है,

(13.552) अथवा विवाह के योग्य वधू जैसे सदैव विवाह का विचार करती है, अथवा जैसे संन्यासी मृत्यु का विचार करता है वैसे ही जो पुरुष न मरते ही नित्य मृत्यु का विचार करता है,

(13.553) इस प्रकार जो जन्म ले कर जन्म का निवारण करता है और मरण से मृत्यु का मार कर आप ही बच रहता है,

(13.554) उसके घर सचमुच ज्ञान की कुछ न्यूनता नहीं रहती। जिसका जन्म-मृत्यु का शल्य निकल गया है

(13.555) और उसी प्रकार वृद्धापकाल आने के पूर्व जो अपने शरीर का तारुण्य की बहार में देख कर

(13.556) कहता है कि आज इस समय शरीर जो पुष्ट है वह सूखी हुई कचरी के समान हो जावेगा;

(13.557) हाथ-पाँव ऐसे थक जावेंगे, जैसे किसी अभागे के काम-काज, और इस शरीर का बल मन्त्री-रहित राजा के समान हो जावेगा;

(13.558) फूलों के भोग में प्रेम रखनेहारा मेरा मस्तक ऊँट के घुटने के समान हो जावेगा

(13.559) और आषाढ़ मास की वायु से जैसे पशुओं के खुरों में रोग हो जाता है वैसी दशा मेरे शिर की हो जावेगी;

(13.560) ये आँखें — जो अभी कमल से स्पर्धा कर झगड़ती हैं — पके हुए चचेंड़े के समान हो जावेंगी,

(13.561) भौहों के परदे पुरानी छाल के समान लटकेंगे, आँसुओं के पानी से छाती सड़ जावेगी,

(13.562) जैसे बबूल के पेड पर से आते-जाते गिरगिट गोंद से लिथड़े रहते हैं वैसे ही मुँह थूक से भर जावेगा,

(13.563) राँधने के चूल्हे के सामने की मोरियाँ जैसे राख से भर जाती हैं वैसे ही ये नकुवे लिथड़ते रहेंगे,

(13.564) जिस मुँह से पान खा कर ओंठ रँगते हैं, जिसमें हँसते हुए दाँत दीखते हैं, और जिससे सुन्दर शब्दों की शोभा दिखाई देती है

(13.565) उस मुँह में लार का प्रवाह बहेगा और दाढ़े दाँतों-समेत गिर पडेंगी,

(13.566) और ऋण से दबे हुए असामी अथवा शीत में बैठे हुए पशु की तरह जीभ भी, कुछ भी करा न उठेगी,

(13.567) सूखे हुए घसुए जैसे वायु से इधर-उधर उड़ते हैं, वैसे ही मुँह और दाढ़ी की दुर्दशा हो जावेगी;

(13.568) असाढ़ के पानी से जैसे पर्वत के शिखर बहते दिखाई देते हैं वैसे ही दाँतों की खिड़कियों में से लार के प्रवाह बहेंगे,

(13.569) जीभ घिघियावेगी, कान बन्द हो जावेंगे, और यह शरीर बूढ़े वानर के समान हो जावेगा;

(13.570) घास का बिजूका [1] जैसे हवा में हिलता है वैसे हो सब शरीर कँपने लगेगा,

(13.571) पैर में पैर फँसने लगेंगे, हाथ टेढे होने लगेंगे और भला स्वाँग दिखाई देगा;

(13.572) मल-मूत्र-द्वार अशक्त हो रहेंगे और लोग मेरी मृत्यु की मानता करेंगे,

(13.573) जगत् देख कर थूकेगा, मृत्यु की अपेक्षा होगी, सगोत्री भी मुझसे ऊब जायँगे,

(13.574) स्त्रियाँ पिशाच समझेंगी, बालक देख कर मूर्च्छित होंगे, बहुत कहाँ तक कहें इस प्रकार मैं सबकी घृणा का पात्र हूँगा;

---

[1] खेत में चिड़ियों को बिदकाने के लिए पुतला-सा बनाया जाता है।

(13.575) खाँसी की ठसक आते ही पड़ोस के घर में सोये हुए लोग कहेंगे कि यह बूढा बड़ा क्लेश देता है, –

(13.576) इस प्रकार जो अपने वार्धक्य की सूचना तरुणावस्था में ही देख लेता है और मन में घिन करता है

(13.577) और कहता है कि कल ऐसी स्थिति आनेवाली है तो हाल का समय उपभोगों में खर्च करने से मुझे क्या लाभ होगा?

(13.578) इसलिए जो बधिरता आने के पहले ही सब श्रवण करता है, पंगुत्व आने के पहले ही तीर्थयात्रा कर आता है,

(13.579) जब तक दृष्टि है तब तक जिनका दर्शन लेना चाहिए ले लेता है, और वाचा बन्द होने के पहले ही वाणी से सुभाषित कह लेता है;

(13.580) हाथ लूले होंगे यह भविष्य थोडा भी मालूम होने के पूर्व ही सम्पूर्ण दान इत्यादि कर डालता है,

(13.581) ऐसी दशा प्राप्त होने और सन भ्रमिष्ठ हो जाने के पूर्व ही निर्मल आत्मज्ञान का चिन्तन कर रखता है,

(13.582) कल चोर लुटनेवाले हों तो जैसे आज ही सम्पत्ति का अलग कर देना चाहिए, अथवा दिया-बत्ती के पहले हो ढाँक-मूँद देना चाहिए,

(13.583) वैसे ही जो यह सोच कर कि वार्धक्य आने पर जन्म वृथा जायगा, अभी से सब दूर कर रखता है;

(13.584) (नाकेबन्दी नहीं है और पक्षी अपने घर आ रहे हैं इन बातों की उपेक्षा कर जो प्रवास का निकलता है वह जैसे लूटा जाता है,

(13.585) उसी प्रकार वृद्धापकाल आने पर सब जन्म ही वृथा खो जाता है, परन्तु उस पुरुष को शतवृद्ध न जाने क्यों कहते हैं?

(13.586-587) तिल के झड़ाये हुए पेड यदि फिर झड़ाये जायँ तो उनमें फिर तिल नहीं निकलते; अग्नि भी हो तो क्या राख हुए पदार्थ का जला सकती है?) तात्पर्य यह कि वार्धक्य का स्मरण रख जो पुरुष वार्धक्य के वश नहीं होता उसमें ज्ञान है ऐसा समझना चाहिए।

(13.588) वैसे ही जब तक नाना प्रकार के रोगों ने शरीर को ग्रस्त नहीं किया है तब तक जो आरोग्य का उपयोग कर लेता है;

(13.589) जैसे सर्प के मुँह से गिरी हुई आटे की गोली को जानता मनुष्य त्याग कर देता है,

(13.590) वैसे ही जिससे वियोग-दुःख, विपत्ति और शोक उत्पन्न होते हैं उस स्नेह को छोड़ कर जो उदासीन हो रहता है,

(13.591) और जिस जिस ओर पाप सिर उठावेंगे उन कर्मेन्द्रियों के छिद्रों में नियमरूपी पत्थर भर देता है,

(13.562) ऐसी तैयारी के साथ जिसका आचरण है वही ज्ञानसम्पन्न पुरुष है।

(13.563) अब हे धनंजय। और भी एक असाधारण लक्षण बताते हैं, सुनो

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ 13.9 ॥

(13.594) जो इस देह से इस प्रकार उदासीन है कि जैसे कोई प्रवासी आ बसा हो,

(13.595) अथवा जो रास्ते में मिली हुई वृक्ष की छाया के समान घर में आस्था नहीं रखता,

(13.596) वृक्ष की छाया वृक्ष साथ ही रहती है, परन्तु यह बात जैसे वृक्ष नहीं जानता, वैसे ही जिसे स्त्री की लोलुपता नहीं रहती,

(13.597) और जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे जो प्रवासियों के समान अथवा वृक्ष के नीचे बैठे हुए पशुओं के समान समझता है,

(13.598) हे पाण्डुसुत! जो सम्पत्ति के बीच रहता हुआ भी ऐसा जान पड़ता है कि जैसे कोई रास्ता चलता साक्षी है,

(13.599) बहुत क्या कहूँ — पिंजड़े में बन्द तोता जैसे अपने पालनेवाले की आज्ञा मानता है उसी तरह जो वेदाज्ञा का भय रख कर चलता है,

(13.600) परन्तु स्त्री, गृह और पुत्रों में जिसे आसक्ति नहीं है उस पुरुष को ज्ञान का अधिष्ठान समझो।

(13.601) ग्रीष्म और वर्षा में जैसे महासमुद्र समान रहता है वैसे ही जिसके लिए इष्ट और अनिष्ट दोनों समान हैं,

(13.602) अथवा तीनों कालों मैं सूर्य्य जैसे त्रिधा नहीं होता वैसे ही जिसके चित्त में सुख और दुःख का भेद नहीं होता,

(13.603) आकाश के समान जिसमें समानता की कमी नहीं पड़ती उस पुरुष में शुद्ध ज्ञान जानो

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ 13.10 ॥

(13.604) जिसकी काया, वाचा और मन का ऐसा निश्चय हो गया है कि संसार में मेरे अतिरिक्त और कुछ भी भला नहीं है,

(13.605) जिसके शरीर, वाचा और मन, ऐसा निश्चय करने की शपथ खा कर मेरे सिवाय दूसरी ओर नहीं देखते,

(13.606) किंबहुना, जिसका अन्तःकरण मेरे समीप आ पहुँचा है, उस पुरुष ने अपने और हमारे लिए मानों एकत्व की शय्या तैयार की है।

(13.607) वल्लभ के सन्मुख जाने पर कान्ता जैसे शरीर तथा अन्तःकरण का नहीं छिपाती उसी प्रकार जो मुझे भजता है,

(13.608) जैसे गंगाजल समुद्र में मिल कर और भी मिलता रहता है, वैसे ही जो मद्रूप होने पर भी सब भावों से मेरा भजन करता है,

(13.609) सूर्य के उदय के साथ ही उत्पन्न होने अथवा सूर्य के संग ही विलीन होने की अर्पण-क्रिया (एकता) जैसे प्रभा का ही शोभा देती है,

(13.610) अथवा जल की भूमिका पर जो जल हिलोरें लेता है वह संसार में तरंग में कहलाता है अन्यथा वह जल ही है,

(13.611) इस प्रकार जो एकनिष्ठ मद्रूप हो कर भी मुझे भजता है उसी का मूर्तिमान् ज्ञान समझो।

(13.612) जिसे तीर्थों, पवित्रस्थानों, निर्मल तपोवनों और गुफाओं में बसना भाता है,

(13.613) पर्वत-श्रेणियों की गुफाओं में और जलाशयों के समीपवर्ती स्थानों में जो प्रेम से रहता है और नगर में नहीं आता,

(13.614) जिसे एकान्त का बहुत प्रेम है, जिसे बस्ती से अकुलाहट होती है, उसे मनुष्य के आकार में ज्ञान की मूर्ति जानो।

(13.615) अब हे सुमति! हम ज्ञान का निश्चय होने के लिए और दूसरे चिह्नों का वर्णन करते हैं।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ 13.11 ॥

(13.616) परमात्मा नामक जो एक वस्तु है वह जिसे ज्ञान के द्वारा दिखाई देती है,

(13.617) और जिसके मन ने यह निश्चय किया है कि उस एक वस्तु के सिवाय संसार, स्वर्ग इत्यादि ज्ञान अज्ञान हैं

(13.618) जो स्वर्ग को जाने का हेतु छोड़ देता है, संसार के विषयों से उकता गया है, और अध्यात्मज्ञान में सद्भाव की डुबकी लगाता है;

(13.619) जहाँ रास्ता टूटता हो वहाँ आड़ा रास्ता छोड़ कर जैसे सरल राजमार्ग से चलना चाहिए,

(13.620) वही हाल जो सब ज्ञान-समूहों का करता है, सबको अलग कर देता है और, यह समझ कर कि यही एक सत्य वस्तु है और दूसरे ज्ञान भ्रमकारक हैं, मन और बुद्धि को अध्यात्मज्ञान में लगा देता है;

(13.621) इस प्रकार जिसकी मति निश्चय से दृढ हो जाती है

(13.622) तथा अध्यात्म के द्वार मैं आकाश के ध्रुवदेव जैसा जिसका निश्चय हो रहता है,

(13.623) उसके पास ज्ञान है; यह वचन मिथ्या नहीं है। वरन् जब उसका मन ज्ञान में लगा तभी वह मद्रूप हो चुका।

(13.624) भोजन को बैठने से जो सुख होता है वह भोजन से ही होता है उसकी वार्ता से नहीं। ज्ञान की स्थिति भी वैसी ही है।

(13.625) तत्वज्ञान से जो एक निर्मल फल फलता है उस ज्ञेय वस्तु पर जो मनुष्य सरल दृष्टि रखता है,

(13.626) अन्यथा ज्ञान का बोध होने से यदि अन्तःकरण में ज्ञेय वस्तु न दिखाई दे तो ज्ञान का लाभ हुआ नहीं समझता;

(13.627) क्योंकि अन्धे के हाथ दीपक देने से क्या लाभ? (ज्ञेय दिखाई न दे तो सम्पूर्ण ज्ञान-निश्चय वृथा है।

(13.628) यदि ज्ञान के प्रकाश से परतत्त्व तक दृष्टि न पहुँचे तो उस ज्ञान को ही अन्धा समझना चाहिए।

(13.629) अतएव बुद्धि ऐसी निर्मल होनी चाहिए कि ज्ञान जो ज्ञेय वस्तु बतावे उसे वह सम्पूर्ण देख सके।)

(13.630) अतः जो मनुष्य बुद्धि से इस प्रकार सम्पन्न रहता है कि निर्मल ज्ञान के बताये हुए ज्ञेय का देख सके,

(13.631) ज्ञान की जितनी वृद्धि हो उतनी ही जिसकी बुद्धि होती है, वह मनुष्य ज्ञान-स्वरूप है, यह शब्दों से कहने की आवश्यकता ही नहीं।

(13.632) ज्ञान का प्रकाश होते ही जिसकी बुद्धि ज्ञेय में प्रविष्ट हो जाती है वह हाथों-हाथ परतत्त्व को स्पर्श करता है।

(13.633) हे पाण्डुसुत! यदि वह ज्ञान-रूप ही कहा जाय तो क्या आश्चर्य है? क्या सूर्य को सूर्य कहने की आवश्यकता है?

(13.634) तब श्रोताओं ने कहा कि रहने दो। इसका अधिक वर्णन न करो। ग्रन्थ की कथा में क्यों प्रतिबन्ध डालते हो?

(13.635) तुमने ज्ञान-विषय का विस्तार से वर्णन किया। तुम्हारे वक्तृत्व से हमारा खूब सत्कार हुआ।

(13.636) अब अन्य कवियों के समान रस की अनावश्यक अधिकता कर, निमन्त्रित किये हुए लोगों का अप्रिय क्यों करते है।?

(13.637) भोजन का बैठते समय यदि कोई रसोई लेकर भाग जाय तो उसका किया हुआ और आदर किस काम का?

(13.638) अन्य सब बातें तो अच्छी हैं, परन्तु दुहते समय हाथ नहीं लगाने देती, ऐसी केवल लतियल गाय कौन पालेगा?

(13.639) ज्ञान-विषय में जिनकी बुद्धि का विकास नहीं होता ऐसे जो अन्य कवि हैं वे न जाने कितनी जल्पना करते हैं। परन्तु अस्तु, आपने उत्तम निरूपण किया।

(13.640) जिस ज्ञान के अंश के हेतु योग इत्यादि परिश्रम किये जाते हैं वह तृप्ति का हेतु है। फिर इसमें भी आपका इस तरह का निरूपण हुआ है

(13.641) मानों अमृत की एक सरीखी झड़ी लग रही हो या सुख के करोडों दिन जा रहे हों।

(13.642) लगातार पूर्णचन्द्र-सहित रातों का युग भी बीत जाय तो क्या चकोर उसकी ओर न देखते रहेंगे?

(13.643) वैसे ही ज्ञान का निरूपण और ऐसी सरसता से, तो फिर सुनते हुए बस कौन कहेगा?

(13.644) श्रीमान् पाहुना आवे और सुघड़ परोसनेवाली हो तो ऐसा हो जाता है कि रसोई ही नहीं चुकती।

(13.645) सम्प्रति वैसा ही हुआ है, क्योंकि हमें ज्ञान की रुचि है और तुम्हें भी उसी से प्रीति है।

(13.646) इसलिए इस व्याख्यान में चौगुना प्रेम बढा है। इससे ना नहीं कहा जाता, तथापि तुम उत्तम ज्ञानी हो,

(13.647) अब इसके उपरान्त बुद्धि के बल से निरूपण कर श्लोक के पदों का याथार्थ्य प्रकट करो।

(13.648) सन्तों के इन वचनों का सुन कर निवृत्ति के दास ज्ञानेश्वर ने कहा कि मेरी भी यही इच्छा है।

(13.649) इस पर आपने भी आज्ञा दी ते मैं वृथा वाग्जाल नहीं बढ़ाता।

(13.650) उक्त प्रकार से ज्ञान के अठारह लक्षण श्रीकृष्ण ने अर्जुन से निरूपण किये

(13.651) और कहा कि इन चिह्नों से ज्ञान समझना चाहिए। यह हमारा मत है और सम्पूर्ण ज्ञानी भी यही कहते हैं।

(13.652) हथेली पर गोल आँवला जैसे डोलता हुआ दिखाई देता है वैसे ही हमने तुम्हारी आँखों का ज्ञान दिखा दिया।

(13.653) अब हे धनंजय, हे महामति! जिसे अज्ञान कहते हैं उसका भी हम लक्षणों-सहित वर्णन करते हैं।

(13.654) यों तो ज्ञान स्पष्ट होते ही हे धनंजय! अज्ञान पहचाना जा सकता है; क्योंकि जो ज्ञान नहीं है वह सहज अज्ञान ही हैं।

(13.655) देखो, सम्पूर्ण दिन निकल जाने पर जैसे रात की ही बारी आती है और कोई तीसरी वस्तु नहीं रहती,

(13.656) वैसे ही जहाँ ज्ञान नहीं है वहाँ अज्ञान ही है तथापि अज्ञान के चिह्नों का भी कुछ-कुछ वर्णन करते हैं।

(13.657) जो मनुष्य प्रतिष्ठा के हेतु जीवन रखता है, जो सन्मान की बाट जोहता है, सत्कार से जिसे सन्तोष होता है;

(13.658) जो गर्व से, पर्वत का शिखर जैसा, ऊँचे से नीचे नहीं उतरता, उसमें पूर्ण अज्ञान है।

(13.659) जो स्वधर्मरूपी तोरण का अपने वाचारूपी पीपल के पत्तों से बाँधता है; और जैसे कि मन्दिर में चँवर (चौंरी) खड़ा ही रहता है

(13.660) वैसा जो अपनी विद्या का विस्तार बताता है, अपने परोपकार की डौंड़ी पीटता है, और जो कुछ करता है सो कीर्ति के हेतु करता है;

(13.661) बाह्यतः जो शरीर को भभूत लगाता है, और लोग पूजते हैं तो उनसे कपट करता है, ऐसे मनुष्य का अज्ञान की खानि जानो।

(13.662) वन में आग का संचार हो तो जैसे स्थावर-जंगम जल जाते हैं, वैसे ही जिसके आचार से सब जगत् को दुःख होता है,

(13.663) और वह जिस जिस कुतूहल से जल्पता है वह सब्बल से भी तीक्ष्ण चुभता है, तथा जिसका संकल्प विष से भी अधिक मारक होता है,

(13.664) उसे अत्यन्त अज्ञान है। वह अज्ञान का घर ही है। जिसका जीवन हिंसा का आश्रय है,

(13.665) और धम्मन या धौंकनी जैसे फूँकने से फूलता है और छोड़ते ही दब जाता है वैसे ही जो लाभ अथवा हानि से सन्तोष और दुःख मानता है;

(13.666) वायु के बगूले में पड़ कर जैसे धूल आकाश में चढ़ जाती है, वैसे जिसे स्तुति के समय हर्ष होता है

(13.667) परन्तु थोड़ी सी निन्दा सुनते ही जो सिर पीटता है, जैसे कीचड़ पानी की बूँद से गल जाती है और वायु से सूख जाती है

(13.668) वैसे ही मानापमान से जिसकी स्थिति होती है; जो किसी का क्षोभ नहीं सह सकता, उसमें पूर्ण अज्ञान है।

(13.669) जिसके मन में गाँठ रहती है, बाह्यतः जिसकी वाचा और दृष्टि सरल है, परन्तु जो किसी से शरीर से मिलता तो किसी से अन्तःकरण से विरोध करता है;

(13.670) जिसका पालन करना स्पष्टतः ऐसा है जैसा व्याधा का मृग को चारा डालना, तथा जो भलों के अन्तःकरण का विपरीत कर देता है;

(13.671) सफेद पत्थर जैसे सेवार से लिपटा हो, अथवा जैसे पकी हुई निमकौड़ी हो, वैसी जिसकी बाह्य-क्रिया रहती है,

(13.672) उसके पास अज्ञान रक्खा हुआ है, यह वचन मिथ्या नहीं, – सत्य समझो।

(13.673) जो गुरुकुल से लजाता है, जो गुरुभक्ति से उकताता है, जो गुरु से विद्या प्राप्त कर उन्हीं से अभिमान करता है,

(13.674) वाणी के लिए उस मनुष्य का नाम लेना शूद्र के अन्न के समान है, परन्तु हमें अन्य लक्षणों का वर्णन करते हुए यहाँ कहना पड़ा।

(13.675) इसलिए अब गुरु-भक्तों का नाम वर्णन करता हूँ और उनसे वाणी को प्रायश्चित कराता हूँ। गुरु-भक्तों के नाम सूर्य्य के समान हैं।

(13.676) गुरुस्त्रीगमन करनेहारों के नाम से जो पाप का दोष वाणी को लगता है वह भी इनसे दूर होता है।

(13.677) यहाँ तक कि इन भक्तों के नामों का उच्चारण गुरुद्रोहियों के नाम के पाप का नाश करता है। अब अज्ञान के और भी चिह्न सुनो।

(13.678) शरीर से जो मनुष्य कर्मों का आलस रखता है, मन में जिसके विकल्प भरा रहता है, जंगल के किसी अमंगल कुवें

(13.679) (जिसके मुख पर काँटे रहते हैं और भीतर केवल हड्डियाँ भरी रहती हैं) की तरह जो मनुष्य अन्तर-बाह्य अशुचि रहता है;

(13.680) जैसे कुत्ता खुले या ढँके हुए अन्न का विचार न कर उसे खा जाता हैं वैसे ही जो द्रव्य के विषय में अपना और पराया नहीं पहचानता,

(13.681) और इन कुत्तों में संयोग के विषय में जैसे ठौर-कुठौर का विचार नहीं रहता वैसे जो स्त्रियों के विषय में कुछ भी विचार नहीं करता;

(13.682) कर्म का समय टल जाय या नित्य नैमित्तिक कम रह जाय, तथापि जो अन्तःकरण में दुखी नहीं होता,

(13.683) पाप के विषय में जो निर्लज्ज है या पुण्य के विषय में भ्रष्ट है, और जिसके मन में विकल्प का वेग रहता है

(13.684) उस मनुष्य का केवल अज्ञान का पुतला समझो। जो आँखों पर वित्त की आशा का चश्मा बाँधे रहता है,

(13.685) और तृण-बीज जैसे चिउँटी से हिल जाता है वैसे ही जो अल्पमात्र स्वार्थ के लाभ से धैर्य से चलित हो जाता है,

(13.686) पाँव देते ही जैसे गड्ढे का पानी गंदला हो जाता है, वैसे ही जो डर के नाम से घबड़ा जाता है;

(13.687) जिसका मन मनोरथों के प्रवाह के अनुसार बहता है, मानों बाद में गिरी हुई तूँबी हो;

(13.688) वायु के सहाय से जैसे धूल दिगन्तर का उड़ जाती है वैसे ही दुःख-वार्ता से जिसकी स्थिति चल-विचल हो जाती है,

(13.689) आँधी के समान जो कहीं आश्रय नहीं लेता; क्षेत्र में, तीर्थ में, नगर में, ठहरना नहीं जानता;

(13.690) पागल गिरगिट जैसे बार बार वृक्ष पर चढ़ता और बार-बार नीचे उतरता है वैसे ही जो कोरा परिभ्रमण करता रहता है,

(13.691) मिट्टी की नाँद जैसे गाड़े बिना स्थिर नहीं रह सकती वैसे ही जो लेटता है तभी ठहरता है अन्यथा अस्थिर घूमता रहता है,

(13.692) उस मनुष्य में अत्यन्त अज्ञान है। जो चंचलता में बन्दर का ही भाई है,

(13.693) और हे धनुर्धर! जिसके अन्तःकरण को संयम का बन्धन नहीं है,

(13.694) नाले में आई हुई बाढ़ जैसे बालू की बँधिया को कुछ नहीं समझती, वैसे हो जो निषेध की आज्ञा को नहीं डरता;

(13.695) जिसके कर्म व्रतों के प्रतिबन्ध को तोड़ डालते हैं, स्वधर्म का पाँवों से उल्लंघन करते हैं और नियम की आशा तोड़ डालते हैं,

(13.696) जो पाप से नहीं उकताता, पुण्य की आर्द्रता नहीं जानता, और लज्जा की सीमा खोद डालता है;

(13.697) जो कुल के विपरीत चलता है, वेदाज्ञाओं से दूर रहता है, और कृत्याकृत्य व्यापार की छान-बीन नहीं करता;

(13.698) साँड़ जैसा मुक्त रहता है, वायु जैसे विस्तार से बहती है, अरण्य में जैसे फूटी हुई नहर का पानी चाहे जिस ओर बहता है,

(13.699) अन्धा हाथी जैसे पागल हो जाय, अथवा पर्वत में जैसे दावाग्नि लगे, वैसे ही जिसका चित्त विषयों में मुक्त संचार करता है;

(13.700) घूरे पर क्या नहीं फेंका जाता? खुली जगह पर से कौन नहीं आता जाता? नगर के द्वार की देहरी कौन नहीं नाँघता?

(13.701) अन्नकूट का अन्न कौन नहीं लेता? साधारण मनुष्य का अधिकार प्राप्त हो तो वह किस पर अधिकार नहीं चलाता? बनिये की दूकान पर कौन नहीं जाता?

(13.702) ऐसे ही जिसका अन्तःकरण है उस मनुष्य में सम्पूर्ण अज्ञान की सम्पत्ति समझो।

(13.703) जो मरे वा जीये, परन्तु विषयों का प्रेम नहीं छोड़ता, स्वर्ग में खाने के लिए भी यहीं से बाँध ले जाता है,

(13.704) जो निरन्तर भोगों के लिए श्रम करता है, जिसे कामक्रीड़ा का व्यसन है, जो वैराग्यशील पुरुष का मुँह देख कर कपड़ों-समेत स्नान करता है,

(13.705) विषय उकता जावे परन्तु जो आप नहीं उकताता है, न सावधान होता है, और कोढ़ी जैसे सड़े हुए हाथों से खाता है,

(13.706) जैसे गधैया टिकने नहीं देती, कूदती और लातों से नाक फोड़ती है तथापि खर पीछे नहीं हटता,

(13.707) वैसे ही जो विषयों के लिए जलती हुई आग में कूदता है और शरीर में व्यसनों के अलंकार पहनता है;

(13.708) जैसे मृग मुँह फूटते तक जल पीने को आकांक्षा बढ़ाता है परन्तु मृगजल की माया नहीं समझता,

(13.709) वैसे ही जन्म से मृत्यु तक अनेक प्रकार से विषयों से व्याकुल हो।ते हुए भी जो अकुलाहट नहीं समझता, वरन और अधिक प्रेम करता जाता है;

(13.710) जिसे प्रथम बाल्यावस्था में कहीं माता-पिता का भ्रम था, उसके समाप्त होते ही जो स्त्री के शरीर में भूला रहता है,

(13.711) फिर स्त्री-भोग कर वृद्धावस्था आती है, तो जो वैसा ही प्रेमभाव पुत्रों पर करता है;

(13.712) जैसे अन्धे का पुत्र हो वैसे ही जो अपने पुत्र का आलिंगन करता है, इस प्रकार जो मृत्यु तक विषयों से नहीं उकताता

(13.713) उसके अज्ञान का पार ही न समझो। अब हम और भी कुछ चिह्नों का वर्णन करते है। (714) देह हो आत्मा है ऐसा सोच कर जो कर्म का आरम्भ करता है,

(13.715) और ऊना-पूरा (सम-विषम) जो जो कर्म करे उसके आविर्भाव से चिल्लाने लगता है;

(13.716) सिर पर प्रसाद रखने से मन्दिर का पुजारी जैसा गर्व से फूलने लगता है वैसे ही जो विद्या और वय से गर्वित हे आँखें उठाये हुए चलता है,

(13.717) और समझता है कि मैं ही एक धनवान हूँ, मेरे ही घर सम्पत्ति है, मेरे समान चाल-चलन किसका है?

(13.718) मेरे समान बड़ा कोई नहीं है, मैं ही एक सर्वज्ञ प्रसिद्ध हूँ, इस प्रकार जो सब बातों में घमण्डी हो रहता है,

(13.719) जैसे रोगी मनुष्य कोई उपभोग नहीं सह सकता वैसे ही जो दूसरे का भला नहीं सहता;

(13.720) दीपक जैसा गुण — अर्थात् बाती — खा जाता है और स्नेह अर्थात् तेल जला डालता है, और जहाँ रक्खे वहाँ काजल अर्थात् काला कर डालता है,

(13.721) तथा जल सींचने से चिड़चिड़ाता है, वायु लगते ही प्राण छोड़ देता है, परन्तु कहीं सुलग जाय तो तिनका भी नहीं बचने देता,

(13.722) थोडा सा प्रकाश करता है तो उतने से ही उष्णता करता है, उस (दीपक) के समान जो मनुष्य गुणी है;

(13.723) औषधि के नाम से भी दूध पीने से जैसे नवज्वर कुपित हो जाता है, अथवा सर्प को दूध पिलाने से जैसे वह विष बन जाता है

(13.724) वैसे ही सद्गुणों से जिसे मत्सर, विद्वत्ता से अहंकार, और तप और ज्ञान से अपार अभिमान चढ़ता है;

(13.725) शूद्र को जैसे राज्य पर बैठाया हो अथवा अजगर ने जैसे खम्भा लील लिया हो वैसा ही जो गर्व से फूला हुआ दिखाई देता है;

(13.726) जैसे बेलन नबता नहीं, पत्थर पसीजता नहीं, और फुफकार छोड़नेवाला साँप जैसे बाजीगर के वश नहीं होता, वैसे ही जो मनुष्य गुणी जनों के वश नहीं होता;

(13.727) बहुत कहाँ तक वर्णन करें, ऐसे मनुष्य के पास अज्ञान की वृद्धि होती है यह हम तुमसे निश्चय से कहते हैं।

(13.728) और भी, हे अर्जुन! जो घर, देह, इत्यादि समुदाय में लगा हुआ पिछले जन्म का स्मरण नहीं कर सकता,

(13.729) कृतघ्न जैसे उपकार का भूल जाता है, अथवा दिये हुए धन को जैसे चोर दाब बैठता है, पूर्व स्तुति का जैसे निर्लज्ज मनुष्य भूल जाता है,

(13.730) लुड़खुड़ी करते हुए हटाया जाय, तथापि कुत्ता जैसे फिर से वैसे हो गीले कान-पूँछ फटफटाता और लुड़खुड़ी करता हुआ आता है,

(13.731) दादुर जैसे सम्पूर्ण साँप के मुँह में जा रहा हो तथापि करोड़ों मक्खियों को लीलता रहना नहीं भूलता,

(13.732) वैसे ही नवों द्वार बह रहे हैं. और शरीर में मूर्तिमान् क्षय हो रहा है, पर उसका कारण जिसके चित्त में नहीं खलता;

(13.733) यद्यपि वह माता के उदररूपी गुफा में विष्ठा की तहों में रह कर नव महीने तक उबाला गया था,

(13.734) तथापि उस गर्भव्यथा का अथवा उत्पन्न होने के समय की व्यथा का जो बिलकुल स्मरण नहीं करता;

(13.735) गोद का बालक मल-मूत्र कीचड़ में लोट-पोट होता है उसे देख कर भी जिसे हीक नहीं आती या उकताहट नहीं होती;

(13.736) जो यह भी कुछ नहीं सोचता कि कल ही जन्म हुआ था और शीघ्र ही फिर होनेवाला है,

(13.737) तथा जीवन की चंचलता को देखता हुआ भी जो मृत्यु की चिन्ता नहीं करता,

(13.738) जीवन का विश्वास रख जो मन में यह सच ही नहीं मानता कि संसार में मृत्यु नामक कोई वस्तु होती है,

(13.739) थोड़े पानी में रहनेहारी मछली जैसे इस आशा से कि यह पानी न सूखेगा, अगाध दाह में नहीं जाती,

(13.740) अथवा व्याध के गाने में भूल कर मृग जैसे व्याध की ओर दृष्टि नहीं देते, अथवा मछली जैसे बंसी का काँटा न देख आमिष लील लेती है,

(13.741) पतंग का जैसे यह बात नहीं सूझती कि दीपक की जगमगाहट जलावेगी,

(13.742) मूर्ख जैसे निद्रा-सुख में पड़ा हुआ जलता हुआ घर नहीं देखता, अथवा जैसे कोई विष से राँधा हुआ अन्न बिना जाने खा जाता है,

(13.743) वैसे ही जो मनुष्य, रजोगुणी सुख में भूला हुआ यह नहीं जानता कि इस जीवन के मिस से मृत्यु ही मिला है,

(13.744) और शरीर की वृद्धि, दिन-रात का लाभ, विषय-सुख की श्रेष्ठता आदि को जो सत्य मानता है

(13.745) परन्तु जो बेचारा यह नहीं जानता कि संसार में वेश्या का, अपना तन-मन-घन अर्पण करना ही, लूटना है,

(13.746) साहु-चोरों की संगति प्राण लेना है, चित्र का पोंछना ही उसका नाश करना है,

(13.747) पाण्डुरोग से शरीर का फूलना ही उसका क्षय होना है, (इस प्रकार न जानते हुए) जो आहार वा निद्रा में भूलता है,

(13.748) सन्मुख रक्खी हुई शूली पर शीघ्रता से दौड़ने से प्रत्येक डग में जैसे मृत्यु समीप होती जाती है

(13.749) वैसे ही देह की ज्यों-ज्यों बाढ़ होती जाती है, ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, ज्यों-ज्यों शरीर का उपभोग की अनुकूलता होती जाती है

(13.7506) यों-यों मृत्यु अधिकाधिक आयुष्य को जीतती जाती है; पानी में जिस तरह नमक गल जाता है

(13.751) उसी तरह जीवन नष्ट हो जाता है, इसलिए काल की ओर दृष्टि रखनी चाहिए, यह बात जिसे हाथों-हाथ नहीं मालूम होती,

(13.752) हे पाण्डव! बहुत क्या कहें, जो विषयों की माया के कारण शरीर में नित्य नूतन बनी हुई मृत्यु नहीं देखता

(13.753) वह मनुष्य, हे महाबाहु अर्जुन! अज्ञान-देश का राजा है। इस वचन को मिथ्या न जानो।

(13.754) जीवन के सन्तोष से जैसे वह मृत्यु की ओर ध्यान नहीं देता वैसे ही वह तारुण्य के सन्तोष से वृद्धापकाल की ओर भी चित्त नहीं देता।

(13.755) जैसे पर्वत के कगार पर से उलटी हुई गाडी, अथवा शिखर से गिरा हुआ पत्थर, सामने की किसी वस्तु की परवा नहीं करता वैसे ही जो अगले बुढ़ापे का विचार ही नहीं करता,

(13.756) अथवा जंगल के नाले में जैसे खूब बाढ़ आती है अथवा टक्कर के समय जैसे भैंसे मस्त हो जाते हैं, वैसे ही जिसे तारुण्य की धुन्ध छा जाती है;

(13.757) यद्यपि पुष्टता कम होने लगती है, कान्ति खिसकना चाहती है, मस्तक शिरोभाग में कम्प धारण करता है,

(13.758) दाढ़ी सफेद हो जाती है, गर्दन हिलती हुई निषेध प्रकट करती है, तथापि जो माया का विस्तार करता है;

(13.759) अगला मनुष्य छाती पर आ गिरे तब तक जैसे अन्धे को दिखाई नहीं देता, अथवा घर में लगी हुई आग मुँह पर गिरते तक आलसी मनुष्य जैसे सन्तोष से सोया रहता है,

(13.760) वैसे ही आज का तारुण्य भागते हुए जो कल आनेवाले वृद्धापकाल का स्मरण नहीं करता वही मनुष्य यथार्थ में अज्ञानी है।

(13.761) देखे, अशक्त और पंगु लोगों को देख कर जो उन्हें गर्व से बिराने लगता है, परन्तु यह नहीं समझता कि कल मेरा भी यही हाल होगा,

(13.762) और शरीर में वृद्धावस्थारूपी मृत्यु का चिह्न प्रकट होने पर भी जिसका तारुण्य का भ्रम नहीं मिटता

(13.763) वह अज्ञान का घर है। यह हमारा सत्य उत्तर है। तथा उसके और भी बड़े-बड़े लक्षण सुनो।

(13.764) बाघ के जंगल में जैसे कोई पशु यदि एक वार भाग्यवशात् चर आवे तो इस विश्वास से वह फिर वहीं दौड़ जाता है,

(13.765) अथवा जैसे साँप के बिल में रक्खा हुआ द्रव्य अकस्मात् बिना अपाय के कोई ले आवे तो वह इतने ही से उस स्थान में सर्प के विषय में निश्चय से नास्तिक बन जाता है,

(13.766) तथा जैसे किसी को अकस्मात् एक-दो बार सम्पत्ति प्राप्त हे जाय, तो वह यह नहीं मानता कि उस पर कोई सर्प रहता है,

(13.767) वैरी सो गया और मेरे संकट समाप्त हो चुके ऐसा जो कोई सोचता है वह जैसे लड़कों-बच्चों-सहित प्राणों से वंचित हे रहता है,

(13.768) वैसे ही आहार और निद्रा की बाढ़ से जब तक रोग नहीं आता तब तक जो व्याधि की चिन्ता नहीं करता,

(13.769) और स्त्री-पुत्र इत्यादि के समुदाय से ज्यों-ज्यों सम्पत्ति अधिक होती जाती है त्यों-त्यों धुन्ध से जिसके नेत्र अन्धे होते जाते हैं;

(13.770) शीघ्र ही वियोग हो जावेगा अथवा दिन डूबते ही विपत्ति आ जावेगी इस प्रकार जो आगामी दुःख का विचार नहीं करता,

(13.771) वह मनुष्य हे पाण्डव! अज्ञान-रूप है। वह मनुष्य भी अज्ञानी समझा जाना चाहिए जो इन्द्रियों का मनमानी चरने देता है,

(13.772) जो तारुण्य के सुख में और सम्पत्ति के समागम में रह कर सेव्य और असेव्य दोनों पदार्थ खाता जाता है,

(13.773) जो करना न चाहिए सो करता है, जो सोचना न चाहिए से सोचता है, जिसकी चिन्ता न करनी चाहिए उसकी चिन्ता करता है,

(13.774) जहाँ न घुसना चाहिए वहाँ घुसता है, जो लेना न चाहिए से माँगता है, और जहाँ शरीर या मन से भी छूना न चाहिए वहाँ स्पर्श करता है,

(13.775) जहाँ जाना न चाहिए वहाँ जाता है, जो देखना न चाहिए सो देखता है और जो खाना न चाहिए सो खाता और सन्तुष्ट होता है,

(13.776) जो संग न धरना चाहिए सो धरता है, जहाँ सम्बन्ध न रखना चाहिए वहाँ रखता है, और जिस मार्ग से न चलना चाहिए उस से चलता है,

(13.777) जो न सुनना चाहिए सो सुनता है, जो न बोलना चाहिए सो बकता है, तथा जो यह भी नहीं जानता कि ऐसा आचरण करने से कोई पाप होता है,

(13.778) शरीर और मन का अच्छा लगने ही के कारण जिसे कर्तव्याकर्तव्य का विस्मरण हो जाता है, तथा जो कर्तव्य के नाम से विपरीत ही करता है,

(13.779) परन्तु मुझे पाप होगा अथवा नरक-यातना प्राप्त होगी इन बातों का जो सर्वथा विचार नहीं करता,

(13.780) ऐसे मनुष्य के समागम से जगत् में अज्ञान इतना बलवान हो गया है कि वह सज्ञान के संग भी झूमाझूमी कर सकता है।

(13.781) परन्तु यह रहने दो, और भी अज्ञान के चिह्न सुनो जिससे तुम उसका स्वरूप ठीक समझ सको।

(13.782) नये निकले हुए सुगन्धित केसर में जैसे भ्रमरी आसक्त रहती है वैसे ही जिस मनुष्य की पूरी प्रीति घर में लगी हुई है,

(13.783) खाँड़ की राशि पर बैठी हुई मक्खी जैसे नहीं उड़ती वैसे ही जिसका मन स्त्री-चित्त में व्याप्त रहता है,

(13.784) दादुर जैसे कुण्ड में पड़ा रहता है, मशक जैसे नाक में लिपटा रहता है, ढोर जैसे सम्पूर्ण कीचड़ में फँसा रहता है,

(13.785) वैसे ही जो अन्तःकरण, मन और प्राण-पूर्वक घर से बाहर नहीं निकलता तथा उस बंजर भूमि में साँप हो कर रहता है,

(13.786) प्राणप्यारे के कण्ठ से जैसे स्त्री आलिंगन देती है, वैसे ही जो अपना घर अन्तःकरण से लगा रखता है;

(13.787) रस के हेतु जैसे भ्रमर मधु की रक्षा करता है वैसे ही जो अपने घर का संगोपन करता है;

(13.788) वृद्धापकाल में बड़ी कठिनता से उत्पन्न हुए पुत्र-रत्न पर जैसे माता-पिता का प्रेम रहता है

(13.789) उसी प्रकार हे पार्थ! जिसे अपने घर पर प्रेम की आस्था रहती है, और जो स्त्री के सिवाय सर्वथा कुछ नहीं जानता,

(13.790) तथा जो अन्तःकरण से और सर्व भावों से स्त्री के शरीर में रहता हुआ, मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है यह कुछ नहीं जानता;

(13.791) ब्रह्म-रूप होने पर जैसे सिद्ध पुरुष के चित्त के सब व्यवहार बन्द हो जाते हैं

(13.792) वैसे ही जिसे हानि और लज्जा नहीं दिखाई देती, जा लोगों की निन्दा की ओर चित्त नहीं देता, जिसकी इन्द्रियाँ स्त्री ने एकाग्र कर ली हैं,

(13.793) जो स्त्री के चित्त की आराधना करता है, उसी की धुन से बाजीगर के बन्दर जैसा नाचता है,

(13.794) निज को कष्ट देता है, इष्ट-मित्रों का जी दुखाता है और जैसे लोभी धन की ही वृद्धि करता है

(13.795) वैसे ही जो दाव-पुण्य की तो कमी करता है, गोत्र-कुटुम्बियों की वंचना करता है, परन्तु स्त्री के माँगे हुए विषयों में कमी नहीं पड़ने देता,

(13.796) जो पूजा के देवताओं की टालमटोल करता है, शब्दों से गुरु की भी वंचना करता है, माता-पिता को दरिद्रता दिखाता है

(13.797) परन्तु स्त्री के लिए अनेक उपभोगों की सम्पत्ति और जो वस्तु उत्तम दिखाई दे सो लाता है,

(13.798) प्रेम-सम्पन्न भक्त जैसे अपने कुल-देवता का भजता है वैसे ही जो एकाग्र चित्त से अपनी स्त्री की उपासना करता है,

(13.799) उत्तम और मूल्यवान् जो वस्तुएँ हों सो सब स्त्री का ही देता है और दूसरों को निर्वाह के योग्य भी नहीं देता,

(13.800) जो यह समझता है कि यदि स्त्री को कोई आँख उठा कर देखे या उसका विरोध करे तो युग ही डूब जावेगा,

(13.801) दाद के चट्टों के डर से जैसे नागों की सौगन्ध नहीं तोड़ी जाती वैसे ही जो स्त्री की जिद पूरी करता है,

(13.802) बहुत क्या कहें, हे धनंजय! स्त्री ही जिसका सर्वस्व है, और उसी से उत्पन्न हुए बालकों पर जो प्रेम करता है

(13.803) और जो उसकी समस्त सम्पत्ति है उसे जो प्राणों से भी प्यारी समझता है,

(13.804) वह मनुष्य अज्ञान का मूल है। अज्ञान को उसी से बल प्राप्त होता है।

(13.805) और प्रक्षुब्ध समुद्र में छूटी हुई नावें जैसे लहरों के आन्दोलन से हिलोरें लेती हैं,

(13.806) वैसे ही जो प्रिय वस्तु पाते ही सुख से उछलता और अप्रिय के संग ही दुःख से नीचे गिरता है,

(13.807) इस प्रकार जिसके चित्त में विषमता दिखाई देती है वह हे महामति! अज्ञानी है।

(13.808) और जैसे धन के हेतु कोई वैराग्य का ढोंग बनावे वैसे जो फल के हेतु मेरी भक्ति की इच्छा करता है,

(13.809) अथवा व्यभिचारिणी स्त्री जैसे मन में जारकर्म का हेतु रख कर ऊपर से पति की मर्जी के अनुसार चलती है

(13.810) वैसे ही हे किरीटी! जो मेरी भक्ति के द्वारा विषयों पर दृष्टि रखता है,

(13.811) और भजन करते ही वह विषय प्राप्त न हो तो भजन छोड़ देता है और कहता है कि यह सब झूठ है;

(13.812) जो किसी गवार किसान के समान जुदे-जुदे देवों की पूजा करता है और जैसा एक देव का वैसा ही दूसरे देव का भजन करता है,

(13.813) जहाँ ठाट-बाट देखता है उसी गुरुमार्ग का अवलम्बन करता है, उसी का मंत्र सीखता है और दूसरे का नहीं,

(13.814) प्राणियों पर निष्ठुर होता है पर पत्थरों पर निष्ठा रखता है, तथा जिसका एकनिष्ठता से निर्वाह नहीं होता,

(13.815) जो मेरी मूर्ति बना कर घर के कोने में बैठाता है परन्तु आप अन्य देवताओं की यात्रा करता फिरता है,

(13.816) नित्य मेरी पूजा करता है पर किसी कार्य के समय कुलदेवता को भजता है तथा पर्व-विशेष आने पर किसी दूसरे की पूजा करता है,

(13.817) मेरी स्थापना करता है परन्तु मानता दूसरे की करता है, श्राद्धकाल में पितरों का भक्त बनता है,

(13.818) एकादशी के दिन जितना हमारा आदर करता है उतना ही पंचमी के दिन नागों का करता है,

(13.819) चतुर्थी का दिन उगते ही जो गणेश का भक्त बन जाता है और चतुर्दशी के दिन कहता है कि हे दुर्गा! मैं तेरा हूँ;

(13.820) जो नित्य और नैमित्तिक कर्म छोड़ देता है और नवरात्र में चण्डीपाठ इत्यादि करता है रविवार को भैरव के नाम की थाली परोसता है,

(13.821) अनन्तर सोमवार आता है तो बेल का पत्ता ले कर शिवलिंग पर चढ़ाता है, इस प्रकार आप एक ही है पर सम्पूर्ण देवों की सेवा करता है,

(13.822) गाँव की वेश्या जैसे सभी पर प्रीति करती है, वैसे जो सब का भजन करता है और क्षण-भर भी स्वस्थ नहीं रहता,

(13.823) इस प्रकार जो चारों ओर दौड़नेहारा भक्त हे उसे मूर्तिमान् अज्ञान का अवतार जानो।

(13.824) और एकान्त, निर्मल तपोवन, तीर्थ, नदियों के तीर इत्यादि में जो अरुचि रखता है वह भी अज्ञानी है।

(13.825) जिसे बस्ती में सुख होता है और भीड़ में आनन्द होता है, तथा जिसे संसार की की हुई `स्तुति भाती है वह भी वही है!

(13.826) और आत्मा प्रत्यक्ष करनेहारी जो विद्या है उसे सुन कर ही जो, विद्वान् बन, बक-बक करता है,

(13.827) जो उपनिषद नहीं पढ़ता, योगशास्त्र में रुचि नहीं रखता, आध्यात्मिक ज्ञान में जिसका मन नहीं लगता,

(13.828) आत्मानात्म-निरूपण कोई वस्तु है इस बुद्धिरूपी दीवार को तोड़ कर जिसकी बुद्धि मनसोक्त आचरण करती है,

(13.829) जो कर्मकाण्ड जानता है, पुराण जिसे कण्ठ है, जो ज्योतिषी है — जो भविष्य कहे सो होता है,

(13.830) शिल्पशास्त्र में जो अत्यन्त निपुण है, सूपशास्त्र में प्रवीण है, अथर्वणवेद-प्रतिपादक-विधि में सम्पन्न है,

(13.831) जिससे कामशास्त्र भी नहीं बचा, जो सम्पूर्ण महाभारत पढ़ा है, और मूर्तिमान धर्मशास्त्र अपना कर चुका है,

(13.832) जो सब नीतिशास्त्र समझता है, वैद्यक भी जानता है, काव्य और नाटकों में जिस के बराबर चतुर दूसरा नहीं है,

(13.833) श्रुतियों की चर्चा करता है, बाजीगरी का मर्म जानता है, और वेदों का कोष तो जिसके घर टहल करता है,

(13.834) जो व्याकरण में निपुण है, न्यायशास्त्र में पूर्ण है, परन्तु एक आत्मज्ञान में ही जो निश्चय से जन्मतः अन्धा है,

(13.835) उस मनुष्य का मुख न देखना चाहिए, जैसे कि मूल नक्षत्र में जन्मे हुए लड़कों का मुख नहीं देखा जाता। बस, एक आत्मज्ञान के सिवाय यद्यपि वह सम्पूर्ण शास्त्रों के सिद्धान्तों का आधारभूत हो तथापि जल जाय वह ज्ञान!!

(13.836) मोर के शरीर में बहुतेरे नेत्राकार-युक्त पंख होते हैं, परन्तु उनमें जैसे दृष्टि नहीं रहती वैसा ही उसका ज्ञान है।

(13.837) यदि परमाणु के बराबर भी अमृत-संजीवनी की जड़ मिल जाय तो दूसरी वस्तुओं से गाड़ी भर कर क्या करना है?

(13.838) आयुष्य के बिना जैसे शरीर के चिह्न, मस्तक के बिना अलंकार, वधू और वर के बिना जैसे बधाई केवल विडम्बना ही है,

(13.839) वैसे ही हे पार्थ! एक अध्यात्मज्ञान के बिना सब शास्त्र-समूह सर्वथा अप्रमाण है।

(13.840) इसलिए हे अर्जुन! जिस शास्त्रमूढ को अध्यात्मज्ञान का नित्य-बोध नहीं रहता

(13.841) उसका शरीर धारण करना अज्ञान के बीज की वृद्धि करना है। उसकी विद्वत्ता मानों अज्ञान की बेल है।

(13.842) वह जो-जो बोलता है सो अज्ञान के फूल हैं और उसका पुण्य अज्ञान के फल हैं। तथा जो आध्यात्मिक ज्ञान पर सर्वथा श्रद्धा नहीं रखता

(13.843) उसे कोई तत्त्वार्थ प्राप्त नहीं होता यह बत-ने की आवश्यकता ही क्या है!

(13.844) जो इस पार भी न पहुँच, पलट कर भाग जाता है उसे उस पार की वार्ता कैसे मालूम हो सकती है?

(13.845) अथवा देहरी में ही जिसका सिर काट कर गाड़ दिया जाय वह घर के भीतर रक्खा हुआ द्रव्य कैसे देख सकेगा?

(13.846) वैसे ही हे धनंजय! अध्यात्मज्ञान से जिसकी पहचान भी नहीं है उसे तत्त्वार्थ कैसे दिखाई दे सकता है!

(13.847) अतएव यह बात और भी स्पष्ट रूप से कहने की कुछ आवश्यकता नहीं कि वह मनुष्य ज्ञान का तत्त्व नहीं देख सकता।

(13.848) गर्भिणी स्त्री को अन्न परोसना ही जैसे गर्भ के बालक की तृप्ति करना है वैसे ही पीछे जो ज्ञान का निरूपण किया उसी से अज्ञान का निरूपण हो चुका था।

(13.849) पुनः अलग निरूपण करने का कुछ कारण नहीं था। अन्धे को निमन्त्रण करने से उसके संग एक नेत्रवाला आ ही जाता है

(13.850) तथापि हमने अमानित्व इत्यादि ज्ञान-चिह्नों का ही फिर से उलटी रीति से वर्णन किया है।

(13.851) क्योंकि ज्ञान के वे अठारह चिह्न उलटे करने से सहज ही अज्ञान के आकार को प्राप्त हो जाते हैं।

(13.852) श्रीमुकुन्द ने ग्यारहवें श्लोक के उत्तरार्ध के दूसरे अर्ध भाग में ऐसा कहा है कि इन्हीं ज्ञान-लक्षणों का उलटा अज्ञान होता है।

(13.853) इसलिए मैंने भी इस प्रकार से विस्तार किया। अन्यथा दूध में बहुत-सा पानी मिला कर क्या करना है?

(13.854) मैं अधिक बक नहीं करता। पद की मर्यादा नहीं छोड़ता। केवल मूल-ध्वनि के प्रकट करने के लिए में एक निमित्त बनता हूँ।

(13.855) तब श्रोताओं ने कहा हे कवि-पोषक! ठहरो। इस आक्षेप के परिहार की क्या आवश्यकता है? वृथा क्यों डरते हो?

(13.856) तुमसे श्रीकृष्ण ने ही कहा है कि जो अभिप्राय हमने गुप्त रक्खे हों उन्हें तुम प्रकट करो।

(13.857) यह देव का मनोगत ही तुम हमें स्पष्ट कर दिखा रहे है। पर यह सुन कर भी तुम्हारा चित्त प्रेम से भर आवेगा;

(13.858) अतएव रहने दो। हम अधिक नहीं बोलते; तथापि हमें सर्वथा सन्तोष हुआ है कि हमें श्रवण-सुख देनेवाली ज्ञानरूपी नौका प्राप्त हुई है।

(13.859) अब, तदनन्तर जो कुछ श्रीहरि ने कहा उसका शीघ्र वर्णन करो।

(13.860) उक्त सन्त-वचन सुनते ही निवृत्तिदास ने कहा — जी, सुनिए, देव ने कहा

(13.861) हे पाण्डव! यह जो तुमने सम्पूर्ण लक्षणसमुदाय सुना उसे अज्ञान का भाग जाना।

(13.862) इस अज्ञान के भाग की ओर पीठ दे, ज्ञान के विषय भली भाँति दृढ होना चाहिए।

(13.863) तदनन्तर शुद्ध ज्ञान के द्वारा अन्तःकरण में ज्ञेय वस्तु की भेंट होगी। इस ज्ञेय का जानने की अर्जुन ने आशा प्रकट की

(13.864) तब उसका भाव जान कर सर्वज्ञों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि सुनो, अब हम ज्ञेय के अभिप्राय का वर्णन करते हैं।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ 13.12 ॥

(13.865) परब्रह्म का ज्ञेय कहते हैं। उसका कारण यही है कि वह ज्ञान के सिवाय और किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता।

(13.866) और जिसे जान कर कुछ कर्तव्य बाकी नहीं रहता, जिसका ज्ञान ही तदाकारता प्राप्त करा देता है,

(13.867) जिसके ज्ञान से, संसार का किनारे रख, जाननेहारा नित्यानन्द के पेट में डूब रहता है

(13.868) वह ज्ञेय एक ऐसी वस्तु है कि जिसका आरम्भ नहीं होता, जो सहज है, जिसे परब्रह्म कहते हैं,

(13.869) जो — `नहीं है` – कहो तो विश्व के आकार से दिखाई देती है, और जो — `विश्व ही है` – कहे तो भी सत्य नहीं है, क्योंकि वास्तव में विश्व मायारूप है।

(13.870) उस ज्ञेय के रूप, वर्ण, व्यक्ति, नहीं हैं, वह दिखाई नहीं देता; देखनेहारा नहीं है, तो यह कैसे कहा जाय कि वह कौन है और कैसा है?

(13.871) और यदि यह सत्य माना जाय कि वह नहीं है, तो महत्तत्व इत्यादि किस आधार पर दिखाई देते हैं, तथा क्या उसके बिना कुछ भी दिखाई दे सकता है?

(13.872) अतएव जिसे देख कर `है' या `नहीं है' कहनेहारी वाचा ही गूँगी हो जाती है, जहाँ विचार का मार्ग ही बन्द हो जाता है,

(13.873) जैसे मटका, घड़ा या डहरी [1] में पृथ्वी ही उस आकार से रहती है वैसे ही जो सर्वत्र स्वरूप से बस रहा है,

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ 13.13 ॥

(13.874) – सब देशों और सब कालों में, देश-काल से भिन्न न होते हुए स्थूल और सूक्ष्मों की क्रियाएँ जिसके हाथ हैं,

(13.875) इसलिए जिसे विश्वबाहु कहते हैं, जो सर्वरूप होते हुए सर्वदा सब कुछ करता है

(13.876) और हे धनंजय। जो एक ही समय सब ठौरों में जा पहुँचा दे, इसलिए जिसे विश्वपाद कहते हैं,

(13.877) सूर्य के शरीर में जुदी-जुदी आँखें न रहने पर भी वह स्वरूपतः देखनेहारा है वैसे ही जो सम्पूर्ण स्वरूप से सर्वदृष्टा है,

(13.878) इसलिए जिसे विश्वचक्षु कहते हैं; इस प्रकार जिस अचक्षु का वर्णन करने के लिए वेद समर्थ हुए हैं,

(13.879) जो नित्य सब के शिरों पर सब प्रकार से रहता है, इस कारण जिसे विश्वमूर्द्धा कहते हैं,

(13.880) जिसकी मूर्ति ही मुख है क्योंकि वह अग्नि के समान ही सब प्रकार से अखिल-भोक्ता है

(13.881) इसलिए हे पार्थ! जिसका श्रुति ने विश्वतोमुख नाम से वर्णन किया है,

(13.882) और वस्तुमात्र में जैसे आकाश भरा हुआ है वैसे ही जिसे सर्वत्र सम्पूर्ण शब्द-समुदाय सुनाई पड़ते हैं

(13.883) इसलिए हम जिसे सर्वत्र सुननेहारा कहते हैं, एवं जो सब में व्याप्त है,

(13.884) और भी हे महामति! प्रायः विश्वतश्चक्षु नाम से श्रुति ने जिसकी व्याप्ति का ही वर्णन किया है,

(13.885) अन्यथा जिसमें हाथ-पाँव या नेत्रों की वार्ता ही कहाँ है? जो सब शून्यत्व का सार जान पड़ता है,

(13.886) देखने में यों दिखाई देता है कि मानों एक लहर का दूसरी लहर लील लेती है परन्तु क्या लीलनेहारी लहर लीली जानेवाली से जुदी है?

(13.887) वैसे ही यथार्थ में जो एक ही है, उसमें व्याप्य और व्यापक कहाँ रह सकते हैं? परन्तु बोलने में क्षण-भर ऐसा वर्णन करना पड़ता है।

(13.888) शून्य दिखाना हो तो एक वर्तुल बनाना पड़ता है। वैसे ही अद्वैत का वर्णन करना हो तो द्वैत का स्वीकार करना पड़ता है।

(13.889) नहीं तो हे पार्थ! गुरु-शिष्य के सम्प्रदाय को सर्वथा प्रतिबन्ध हो जावेगा और वर्णन करना अशक्य हो जावेगा।

(13.890) इसलिए श्रुति ने द्वैत की रीति से अद्वैत-निरूपण का मार्ग प्रचलित किया है।

(13.891) अब वही ज्ञेय नेत्रों का दिखाई देनेवाले आकार में किस प्रकार भरा है सो सुनो।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ 13.14 ॥

(13.892) हे किरीटी! वह ऐसा व्यापक है जैसा अवकाश में आकाश अथवा जैसा पट में तन्तु पटरूप हो रहता है।

(13.893) रस जैसा जल हो कर जल में रहता है, तेज जैसा दीपरूप से दीपक में रहता है,

(13.894) सुगन्ध जैसी कपूररूप से कपूर में रहती है, कर्म जैसा शरीररूप हो शरीर में रहता है,

(13.895) किंबहुना हे पाण्डव! सोने का कण जैसे सोना ही है वैसे ही जो सम्पूर्ण जगत् में मूर्तिमान है,

(13.896) सोना कण में रहता है तब कण-सा दिखाई देता है अन्यथा सोने सरीखा सोना ही है,

(13.897) हे सुहृद! प्रवाह ही आड़ा-टेढ़ा होता है परन्तु पानी सरल ही बना है, लोहे में अग्नि व्याप्त हो जाती है तो क्या लोहा नहीं रहता?

(13.898) आकाश जब घटाकार से व्याप्त होता है तब गोल दिखाई देता है, परन्तु मठ में वही आकाश चौकोन आकार का दिखाई देता है;

(13.899) परन्तु वे पाले आकार जैसे आकाश नहीं हैं, वैसे ही जो पदार्थ विकार-रूप हो कर भी विकारी नहीं है,

(13.900) हे धनंजय! मन जिनमें मुख्य है ऐसी इन्द्रियों और सत्य इत्यादि गुणों के समान जो दिखाई देता है,

(13.901) परन्तु जैसे गुड की मधुरता उसकी भेली के आकार में नहीं रहती वैसे ही जिसमें गुण और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं,

(13.902) अजी, यह सत्य है कि क्षीर की स्थिति में घृत ही क्षीर के आकार से रहता है, परन्तु हे कपिध्वज! जैसे घृत क्षीर नहीं है

(13.903) वैसे ही जो इन विकारों में तो रहता है परन्तु विकार नहीं है, वह ज्ञेय है। वास्तव में सोने के फूल इत्यादि अलंकार आकार के ही नाम हैं, और सोना तो सोना ही है।

(13.904) हे धनंजय! इस स्पष्ट भाषा से उस ज्ञेय का गुण और इन्द्रियों की भिन्नता समझ लो।

(13.905) नाम और रूप का सम्बन्ध, जाति और क्रियाओं के भेद आदि सब आकार की ही संज्ञाएँ हैं, ब्रह्म की नहीं।

(13.906) ब्रह्म कभी गुण नहीं होता। गुण से उससे सम्बन्ध नहीं है, परन्तु गुणों का आभास उसी में होता है।

(13.907) इसी से अज्ञानियों के मन में ऐसा मालूम होता है कि ये गुण ब्रह्म में ही हैं।

(13.908) परन्तु यह गुण-धारण करना ऐसा है जैसे आकाश मेघ को धारण करता है, अथवा दर्पण प्रतिबिम्ब धारण करता है,

(13.909) अथवा जल जैसे सूर्य का प्रति-मण्डल धारण करता है, अथवा सूर्य की किरणें जैसे मृगजल को धारण करती हैं,

(13.910) वैसे ही निर्गुण ब्रह्म, सम्बन्ध के बिना ही, सब कुछ धारण करता है परन्तु यह बात वृथा ही भ्रम की दृष्टि के कारण दिखाई देती है।

(13.911) निर्गुण गुणों को ऐसा भोगता है जैसे कोई रंक स्वप्न में राज्य करे।

(13.912) अतएव निर्गुण के विषय में गुणों का संग अथवा गुणों का भोगरूपी सम्बन्ध कहना उचित नहीं है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ 13.15 ॥

(13.913) हे पाण्डुसुत! जो चराचर भूतों में व्याप्त है, अथवा उष्णता जैसे अग्नि में अभिन्न रहती है,

(13.914) वैसे ही जो अविनाशी रहता हुआ सूक्ष्म दशा से सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है उसे ज्ञेय जानो

(13.915) जो अन्तर्बाह्य एक है, जो समीप और दूर एक है, जिसमें एक के सिवाय दूसरी बात ही नहीं है,

(13.916) जैसे क्षीर-समुद्र की मधुरता बीच में बहुत और वीर पर थोड़ी नहीं होती उसी प्रकार जो पूर्ण है,

(13.917) स्वेदज इत्यादि अलग अलग योनियों में जिसकी अखंड व्याप्ति है,

(13.918) हे श्रोताओं के मुख्य तिलक! हजारों अलग-अलग घटों में प्रतिबिम्बित हुई चन्द्रिका जैसे भिन्न नहीं होती,

(13.919) अथवा लवण की राशि के कणों में जैसे एक ही क्षारता रहती है, अथवा करोड़ों ईखों में जैसे एक ही मधुरता रहती है,

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ 13.16 ॥

(13.920) – वैसे ही अनेक प्राणिसमुदायों में जो एक ही व्याप्त है, हे सुमति! जो विश्वकार्य का कारण है,

(13.921) इसलिए जहाँ से यह भूताकार उत्पन्न होता है वही जिसका आधार है, जैसे कि समुद्र ही तरंगों का आधार होता है,

(13.922) बाल्य इत्यादि तीनों अवस्थाओं में काया जैसे एक ही रहती है वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति और संहार में जो अखण्ड रहता है,

(13.923) जैसे कि प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल इत्यादि दिनमान होते जाते हैं तथापि आकाश नहीं बदलता,

(13.924) हे प्रियोत्तम! सृष्टि की उत्पत्ति के समय जिसे ब्रह्मदेव कहते हैं, स्थिति के समय जो

विष्णु के नाम को प्राप्त होता है,

(13.925) और जब इस आकार का लोप होता है तब जिसे रुद्र कहते हैं, और तीनों गुणों का जब लोप हो जाता है तब जो शून्य

(13.926) नभ के शून्यत्व का लय कर के और तीनों गुणों का नाश कर के शून्यरूप रह जाता है, वह श्रुति-वचनों द्वारा स्वीकार किया हुआ ब्रह्म है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ 13.17 ॥

(13.927) – जो ब्रह्म कि अग्नि का तेज है, चन्द्र का जीवन है, सूर्य के नेत्र जिसके द्वारा देखते हैं, (928) जिसके प्रकाश से तारागण प्रकट होते हैं, महातेज जिससे प्रकाशित होता है,

(13.929) जो सब से मूल पदार्थों की आदि है, वृद्धि का वृद्धित्व देनेहारा, बुद्धि का प्रकाशक और अन्तःकरण को चेतना देनेहारा है,

(13.930) जो मन को मनत्व देनेहारा, नेत्रों का दृष्टि देनेहारा, कानों के श्रवण करानेहारा और वाणी को वाचा-शक्ति देनेहारा है,

(13.931) जो प्राणों का प्राण है, जिसके कारण गति का चलने की शक्ति और क्रिया का कर्तृत्व-शक्ति प्राप्त होती है,

(13.932) जिससे आकार को आकारता प्राप्त होती है, विस्तार फैला हुआ दीखता है, हे पाण्डुकुँवर! संहार को जिससे मारक-शक्ति प्राप्त होती है,

(13.933) जो पृथ्वी को धारण करने की शक्ति देनेहारा है, जो जल का जीवन है, जिस जल से जल का आधार है, जिस दीपक से यह तेज-रूपी दीपक लगाया जाता है,

(13.934) जो वायु का श्वासोच्छ्वास है, जो गगन का अवकाश है, बहुत क्या कहें, सम्पूर्ण आभास

जिसके कारण भासमान होता है,

(13.935) किंबहुना, हे पाण्डव! जो सम्पूर्ण रूप से भरा हुआ है, जिसमें द्वैतभाव का प्रवेश नहीं हो सकता,

(13.936) जिसे देखते ही दृश्य और द्रष्टा आदि सब एकत्र एक रस में मिल जाते हैं,

(13.937) और ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय एकरूप हो जाते हैं, जिसके द्वारा निदान का स्थान जाना जाता है, तथा जो वही स्थान-रूप भी है,

(13.938) जैसे जोड़ करने पर सब संख्याएँ एक हो जाती हैं वैसे ही साध्य और साधन इत्यादि जिस एकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं,

(13.939) हे अर्जुन! जहाँ द्वैत की गणना नहीं चलती, बहुत क्या कहें, वह सब के हृदयों में बस रहा है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ 13.18 ॥

(13.940) इस प्रकार हे सुहृद! हमने प्रथम तुम्हें क्षेत्र का स्पष्ट विवेचन कर बताया,

(13.941) और क्षेत्र के उपरान्त तुम्हारे स्पष्ट समझने-योग्य ज्ञान का वर्णन किया,

(13.942) और जब तक तुम्हारी इच्छा थक कर बस कहते की है। तब तक अज्ञान का भी खूब कुतूहल से निरूपण किया,

(13.943) और अब युक्ति के साथ ज्ञेय का भी स्पष्ट और विस्तृत निरूपण हो चुका।

(13.944) हे अर्जुन! यह सब विवेचन बुद्धि में रख कर जो मेरी भावना से मद्रूपता प्राप्त करते हैं,

(13.945) देह इत्यादि परिवार का त्याग कर जिन्होंने मुझे अपने अन्तःकरण की वृत्ति बना लिया है,

(13.946) वे पुरुष हे किरीटी! मुझे इस प्रकार जान कर अन्त में निज को मुझे समर्पित कर मद्रूप हो जाते हैं।

(13.947) यह हमने मद्रूप होने की मुख्य और सब प्रकार से सुलभ रीति रची है,

(13.948) जैसे कि पर्वत के कगार पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनाते हैं, आकाश में ऊपर चढ़ने के लिए मचान बाँधते हैं, अथवा अथाह पानी तय करने के लिए नाव में बैठते हैं;

(13.949) अन्यथा हे वीरोत्तम! यों कह देने से कि `सब कुछ परमात्मा ही है' तुम्हारे मनोधर्म की समझ न पटेगी,

(13.950) इसलिए तुम्हारी बुद्धि की अशक्तता देख कर हमने एक ही व्यापक वस्तु के चार विभाग किये।

(13.951) बालक का जब भोजन कराते हैं तब एक कौर के बीस कौर करते हैं, वैसे ही हमने एक ही वस्तु का चार प्रकार से वर्णन किया है;

(13.952) अर्थात् तुम्हारा अवधान देख कर एक क्षेत्र, दूसरा ज्ञान, तीसरा ज्ञेय, और चौथा अज्ञान, ऐसे चार भाग किये हैं।

(13.943) हे पार्थ! इस रीति से भी यदि यह अभिप्राय तुम्हारे हाथ न आवे, तो इस व्यवस्था का हम और एक बार वर्णन करते हैं।

(13.954) अब चार विभाग न करेंगे। पर यों कह कर भी अलग नहीं हो जायँगे कि सब कुछ एक है। अब आत्मा और अनात्मा (प्रकृति और पुरुष) की तुलना करते हैं,

(13.955) परन्तु तुम्हें एक बात करनी चाहिए, हम माँगते हैं सो देना चाहिए; अर्थात् पूर्ण ध्यान से सुनना चाहिए।

(13.956) श्रीकृष्ण के इन वचनों से पार्थ रोमांचित हो गया। तब देव ने कहा — भला, उमंग मत आने दो।

(13.957) इस प्रकार आये हुए वेग को रोक कर श्रीकृष्ण ने कहा कि अब हम — प्रकृति और पुरुष — यह विभाग कर वर्णन करते हैं, सुनो।

(13.958) जिस मार्ग को संसार में योगी सांख्य कहते हैं, जिसका वर्णन करने के लिए में कपिल हुआ था,

(13.959) वह निर्मल प्रकृति-पुरुष-विवेक सुनो। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ 13.19 ॥

(13.960) – पुरुष अनादि है और प्रकृति भी तभी से उसके संग है। जैसे दिन और रात दोनों साथ ही रहते हैं,

(13.961) अथवा हे धनंजय! छाया जैसे रूप नहीं है, परन्तु रूप के संग ही वृथा लगी रहती है, अथवा कण के संग जैसे कण-रहित फुकला भी बढ़ता है,

(13.962) वैसे ही ये दोनों (प्रकृति और पुरुष) अनादि काल से ऐसे ही एकत्र जुडे हुए प्रकट हैं।

(13.963) क्षेत्र नाम से हमने जिसका वर्णन किया है सो सब प्रकृति समझो,

(13.964) और जिसे क्षेत्रज्ञ कहा है सो पुरुष है, यह बात मिथ्या मत मानो।

(13.965) यह लक्षण बार-बार ध्यान में रक्खो कि ये नाम अलग-अलग हैं, परन्तु निरूप्य वस्तु कुछ जुदी नहीं है।

(13.966) हे पाण्डुसुत! जो केवल अस्तित्व है उसे पुरुष कहते हैं, और जो समस्त क्रियाएँ हैं उनका नाम प्रकृति है।

(13.967) बुद्धि, इन्द्रिय, अन्तःकरण इत्यादि विकारों की उत्पत्ति और सत्त्व इत्यादि तीनों गुण,

(13.968) यह सब समुदाय मिल कर प्रकृति होती है। यही कर्मों की उत्पत्ति का कारण है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ 13.20 ॥

(13.969) वह प्रथम अहंकार के संग इच्छा और बुद्धि उत्पन्न करती है और फिर उन्हें कारण की धुन लगा देती है।

(13.970) वही कारण प्राप्त करने के लिए जिस उपाय का अवलम्ब किया जाय इसे हे धनंजय! कार्य कहते हैं।

(13.971) वही प्रकृति प्रबल इच्छा के सहाय से मन को जाग्रत करती है, और फिर मन इन्द्रियों के द्वारा जो व्यापार करता है सो कर्तृत्व है।

(13.972) अतएव, सिद्धों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि इन तीनों कार्य, कारण और कर्तृत्व का मूल प्रकृति है;

(13.973) एवं इन तीनों के एकत्र होने से प्रकृति कर्मरूप होती है; परन्तु जिस गुण का अधिक बल हो उसी के समान वह आचरण करती है।

(13.974) जो सत्त्वगुण के आश्रय से निपजता है उसे सत्कर्म कहते हैं। जो रजोगुण से उत्पन्न होता है उसे मध्यम कर्म कहते हैं

(13.975) और जो कर्म केवल तम से उत्पन्न होते हैं वे निन्द्य और अधम कहाते हैं।

(13.976) इस प्रकार भले और बुरे कर्म प्रकृति के कारण उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से सुख-दुःख का निर्णय किया जाता है।

(13.977) बुरे कर्मों से दुःख उपजता है, और भले कर्मों से सुख उत्पन्न होता है, और पुरुष इन दोनों का भोग लेता है।

(13.978) जब तक सुख-दुःख उत्पन्न होते रहते हैं तब तक वास्तव में प्रकृति उद्यम करती है और पुरुष भोगता है।

(13.979) प्रकृति और पुरुष का कृषिव्यापार वर्णन करने में अघटित मालूम होता है, क्योंकि उन दोनों में स्त्री लाती है और पुरुष बैठा खाता है।

(13.980) इन स्त्री-पुरुषों का कभी संगम या सम्बन्ध नहीं होता, तथापि चमत्कार देखिए कि वह स्त्री जगत् को उत्पन्न करती है;

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ 13.21 ॥

(13.981) क्योंकि जो निराकार है, अशक्त है, केवल दरिद्री है, प्राचीन है, और अत्यन्त वृद्धों से भी वृद्ध है

(13.982) उसी का बराय नाम पुरुष कहते हैं। वस्तुतः न तो वह स्त्री है न नपुंसक है, किंबहुना वह क्या है, इसका निश्चय नहीं हो सकता।

(13.983) वह नयन-रहित है, श्रवण-रहित है, और चरण-रहित है। उसका न रूप है, न वर्ण है, न नाम है।

(13.984) हे अर्जुन! देखो जिसके कुछ भी नहीं है वह प्रकृति का भर्ता है और वही सुख-दुःख का भोगनेहारा है।

(13.985) वह तो अकर्त्ता है, उदासीन है, और अभोक्ता है, परन्तु यह पतिव्रता प्रकृति उससे भोग लिवाती है।

(13.986) वह अपने रूप और गुणों की थोड़ी-सी हलचल कर के अपूर्व खेल प्रकट करती है।

(13.987) इससे उसे गुणमयी कहते हैं। किंबहुना उसे गुणों की हो मूर्ति समझो।

(13.988) वह प्रतिक्षण सम्पूर्ण रूप और गुणों की नित्य नई बनी हैं। उसका नशा जड़ वस्तुओं को भी मत्त कर देता है।

(13.989) नाम उसी के कारण प्रसिद्ध होते हैं, प्रेम उसी के कारण प्रेमल होता है और इन्द्रियाँ उसी से जाग्रत होती हैं।

(13.990) मन एक नपुंसक वस्तु है, परन्तु उसे वह तीनों लोकों में घुमाती है। ऐसी-ऐसी उसकी अलौकिक करनी है!

(13.991) वह मानों भ्रम का महाद्वीप है, व्याप्ति का रूप है, तथा उसने अपरिमित विकार उत्पन्न किये हैं।

(13.992) वह काम की मण्डपी है, मोहरूपी वन की माधुरी है, और वही देवी माया नाम से प्रसिद्ध है।

(13.993) वह शब्दसृष्टि की वृद्धि करनेहारी है, साकारता उत्पन्न करनेहारी है और निरन्तर प्रपंचरूपी राक्षसी है।

(13.994) कलाएँ उसी से उत्पन्न हुई हैं, विद्याएँ उसी ने बनाईं हैं; इच्छा, ज्ञान, और क्रियाओं का उसी ने जन्म दिया है।

(13.995) वह ध्वनि की टकसाल है, चमत्कारों का घर हैं, किंबहुना यह सब जगत् उसी का खेल है।

(13.996) जो उत्पत्ति और प्रलय होते हैं सो इसी के सुबह-शाम हैं। बहुत क्या कहें, वह एक अद्भुत मोहिनी है।

(13.997) वह अद्वितीयता की दूसरी मूर्ति है, निःसंगता की सगोत्रज है, और शून्य में घर बाँध कर रहती है।

(13.998) यहाँ तक उसके सौभाग्य की महिमा है। इसलिए वह उस पुरुष को भी लिपटाती है जिसका आकलन करना अशक्य है।

(13.999) इस पुरुष में बिलकुल कुछ भी नहीं है, परन्तु आप ही उसका सब कुछ बन जाती है।

(13.1000) आप ही उस स्वयं-सिद्ध की उत्पत्ति बनती है, आप ही उस निराकार की मूर्ति बनती है, और आप ही उसकी प्रतिष्ठा का स्थान बन जाती है;

(13.1001) आप ही इस इच्छा-रहित की इच्छा, उस पूर्ण की तृप्ति, और उस कुल-रहित की जाति और गोत्र हो जाती है।

(13.1002) उस अनिर्वचनीय का लक्षण, उस अपार का प्रमाण, उस मन-रहित का मन और बुद्धि बन जाती है।

(13.1003) उस निराकार का आकार, व्यापार-रहित का व्यापार, और निरहंकार का अहंकार बन बैठती है।

(13.1004) उस नाम-रहित का नाम, उस जन्म-रहित का जन्म बनती है, और आप ही उसके कम और क्रिया बन जाती है।

(13.1005) आप ही उस निर्मल के गुण, उस चरण-रहित के चरण, उस श्रवण-रहित के श्रवण, उस नयन-रहित के नयन,

(13.1006) भावातीत के भाव, और निरवयव के अवयव, किंबहुना, उस पुरुष के सब विकार आप ही बन जाती है।

(13.1007) इस प्रकार यह प्रकृति अपनी सर्वव्यापकता के कारण उस अविकारी को विकार के वश करती है।

(13.1008) तब, जैसे चन्द्रमा अमावस्या के दिन लुप्त हो जाता है वैसे ही उसका पुरुषत्व इस प्रकृतिस्थिति से लुप्त हो जाता है।

(13.1009) एक रत्ती-भर भी हलका सोना बहुत से सोने में मिलाया जाय तो जैसे कस हलका हो जाता है,

(13.1011) अथवा सन्ध्याकाल जैसे साधु का भी अपवित्र स्थान में डाल देता है, अथवा प्रकाश रहते हुए भी जैसे आकाश मेघों से ढँक जाता है,

(13.1011) जैसे दूध पशु के पेट में ढँका रहता है, अथवा अग्नि जैसे लकडी में गुप्त रहती है, अथवा रत्न का दीपक जैसे वस्त्र से आच्छादित हो,

(13.1012) अथवा राजा जैसे पराधीन हो, अथवा सिंह रोग से व्याप्त हो, वैसे ही पुरुष प्रकृति की संगति से स्वतेज से वंचित हो जाता हैं।

(13.1013) जागता हुआ नर जैसे अकस्मात् निद्रा के वश हो स्वप्न के सुख-दुःख-भोग के अधीन हो जाता है,

(13.1014) वैसे ही प्रकृति के होने से पुरुष को गुण भागने पड़ते हैं। उदासीन पुरुष भी स्त्री के द्वारा जैसे अधीन हो जाता है

(13.1015) वैसे ही उस जन्म-रहित का भी हाल हो जाता है। जब वह गुणों का संग करता है तो शरीर में जन्म-मृत्यु के घाव पड़ने लगते हैं।

(13.1016) परन्तु हे पाण्डुसुत! वे इस प्रकार होते हैं जैसे तपा हुआ लोहा पीटने से अग्नि का ही घात कहा जाता है;

(13.1017) अथवा पानी हिलने से जैसे प्रतिबिम्ब इधर-उधर हिलता है और लोगों का अनेक चन्द्र दिखाई देने लगते हैं;

(13.1018) अथवा दर्पण के समीप रहने से जैसे मुख का द्वितीयता प्राप्त होती है; अथवा कुंकुम के कारण स्फटिक जैसा लाल दिखाई देता है

(13.1019) वैसे ही गुण के संग से जन्म-रहित पुरुष जन्म लेता-सा मालूम पड़ता है, अन्यथा नहीं।

(13.1020) भली बुरी योनियाँ ऐसी समझो जैसे संन्यासी का स्वप्न में शूद्र इत्यादिक होना।

(13.1021) अतएव केवल पुरुष को जन्म वा भोग नहीं होते। इन सब का कारण गुण-संग ही है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 13.22 ॥

(13.1022) पुरुष प्रकृति के बीच खड़ा है, परन्तु इस प्रकार कि जैसे जुही की बेल का आश्रयभूत खम्भा। वस्तुतः उसमें और प्रकृति में पृथ्वी और आकाश का अन्तर होता है।

(13.1023) हे किरीटी! यह पुरुष प्रकृति-नदी के वट का मेरु है, जो उसमें प्रतिबिम्बित तो होता है परन्तु उसके प्रवाह से बह नहीं जाता।

(13.1024) प्रकृति का जन्म और नाश होता है परन्तु वह बना ही रहता है। अतएव वह ब्रह्मदेव से ले कर सब विश्व का शासनकर्ता है।

(13.1025) प्रकृति उसके कारण जीती हैं। उसी के होते हुए वह जग उत्पन्न करती है। इसलिए वह उसका भर्ता है।

(13.1026) हे किरीटी! अनन्त काल में ये सृष्टियाँ मिल कर कल्पान्त के समय जिसके पेट में प्रवेश करती हैं,

(13.1027) वह माया का स्वामी ब्रह्माण्डगोल का चालक अपनी अपारता के द्वारा प्रपंच की गणना करता हैं।

(13.1028) इस देह के बीच जिसे परमात्मा कहते हैं सो वही हैं।

(13.1029) हे पाण्डुसुत! ऐसा जा कहा जाता है कि प्रकृति के परे एक वस्तु है सो यथार्थ में वही पुरुष है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ 13.23 ॥

(13.1030) जो इस पुरुष का स्पष्टतः जानता है और गुण के कर्म प्रकृति-मूलक हैं,

(13.1031) और `यह रूप है और यह उसकी छाया है,` `यह जल है और यह मृगजल है,' – इत्यादि निर्णय जिससे होता है

(13.1032) ऐसा प्रकृति और पुरुष का विवेचन, हे अर्जुन! जिसके मन को प्रकट हो जाय,

(13.1033) वह शरीर के द्वारा चाहे सकल कर्म करे, परन्तु आकाश जैसा धूल से मलिन नहीं होता वैसा बना रहता है।

(13.1034) शरीर प्राप्त होते हुए जो शरीर के माह के वश नहीं होता वह शरीर छोड़ने पर पुनः जन्म नहीं लेता।

(13.1035) प्रकृतिपुरुषविवेक उस पर ऐसा एक अलौकिक उपकार करता है।

(13.1036) अब अन्तःकरण में सूर्य के समान इस विवेक का उदय होने के लिए अनेक उपाय हैं। उसका वर्णन सुनो।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ 13.24 ॥

(13.1037) हे सुभट! कोई विचार की अँगीठी बना कर उसमें आत्मा के अनात्मरूपी हलके सोने की पुट दे

(13.1038) छत्तीस प्रकार के कस के भेदों का नाश कर निश्चय से शुद्ध आत्मरूपी सोना चुन लेते हैं।

(13.1039) कोई उस आत्मा को आत्मध्यान की दृष्टि से, आत्मरूप हो, देखते हैं;

(13.1040) कोई भाग्यवशात् सांख्य-योग की रीति से तथा कोई कर्म के आश्रय से उस आत्मा में चित्त को लाते हैं।

(13.1041) इन चार प्रकारों से जो मुझमें पूर्ण मिल जाते हैं उन्हें कुछ भोक्तव्य नहीं बचता।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ 13.25 ॥

(13.1042) उपयुक्त उपायों-द्वारा वे निश्चय से इस सम्पूर्ण भ्रान्तिमय संसार के पार हो जाते हैं,

(13.1043) परन्तु कोई कोई ऐसा भी करते हैं कि अपने अभिमान को दूर भगा कर विश्वास से एक के ही वचनों का आश्रय करते हैं।

(13.1044) जो हिताहित देखते हैं, हानि होती देख कर दयार्द्र होते हैं, तथा दुःखितों की खबर ले दुःख हरते और सुख देते हैं

(13.1045) उन पुरुषों के मुख से जो कुछ निकलता है उसे जो लोग प्रेम से सुन कर भली भाँति शरीर और मन से तदनुसार आचरण करते हैं

(13.1046) उनके वचन सुनने के लिए जो सम्पूर्ण व्यवहार अलग हटा देते हैं, और उन अक्षरों पर अन्तःकरण का राई-नून उतारते हैं,

(13.1047) वे भी हे कपिध्वज! इस मृत्युरूपी समुद्र-समुदाय के पार भली भाँति निकल जाते हैं।

(13.1048) ऐसे-ऐसे बहुत से उपाय एक ही वस्तु जानने के हैं।

(13.1049) बस बहुत हुआ, अब सब अर्थ के मन्थन करने से जो सिद्धान्त-रूपी मक्खन निकलता है वही कहे देते हैं।

(13.1050) हे पाण्डुसुत! इससे तुम्हें अनुभव की प्राप्ति भी बनी रहेगी और कष्ट भी कुछ न होंगे।

(13.1051) इसलिए अब हम ऐसे ज्ञान का विवेचन करते हैं, और अन्य मत-वादों का खण्डन कर शुद्ध फलितार्थ का वर्णन करते हैं।

> यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
> क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ 13.26 ॥

(13.1052) क्षेत्रज्ञ शब्द से हमने तुमसे जो आत्मस्वरूप व्यक्त किया और क्षेत्र नाम से जो सब वर्णन किया

(13.1053) उन एक-दूसरों के संयोग से सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं। जैसे वायु के संग से जल में तरंग उत्पन्न होती हैं,

(13.1054) अथवा सूर्य-किरण और बंजर के संयोग से जैसे मृगजल की बाढ़ प्रकट होती है,

(13.1055) अथवा वर्षा की धाराओं से पृथ्वी के भीगते ही जैसे नानाविध अंकुर उगते हैं,

(13.1056) वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर में जो कुछ जीव-नाम से प्रसिद्ध है वह प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है।

(13.1057) अतएव अर्जुन! भूतव्यक्तियाँ पुरुष और प्रकृति से भिन्न नहीं हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ 13.27॥

(13.1058) वस्त्र यद्यपि तन्तु नहीं है तथापि वह तन्तु से ही व्याप्त है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से ईश्वर और सृष्टि की एकता समझनी चाहिए

(13.1059) प्राणी बहुत हैं, एक से एक उत्पन्न होते हैं, परन्तु प्राणियों का अनुभव अलग-अलग हैं।

(13.1060) इनके नाम भी अलग-अलग हैं, व्यापार भी अलग-अलग हैं, और सब के रूप भी जुदे-जुदे हैं —

(13.1061) यह देख कर हे किरीटी! यदि तुम अपने मन में भेद रक्खो तो कोटि जन्म तक यहाँ से बाहर न निकल सकोगे।

(13.1062) जैसे एक ही तूँबी के लम्बे, टेढ़े, गोल, और अनेक प्रकार के उपयोग में आनेवाले फल होते हैं,

(13.1063) वे सरल हों या टेढे हों परन्तु जैसे वे बेर के नहीं कहे जाते, वैसे ही भूत औघट हैं परन्तु ब्रह्म सरल है।

(13.1064) अनेक अंगारों के कणों में उष्णता जैसे समान ही रहती है, वैसे ही अनेक जीवराशियों में परमेश्वर समान है।

(13.1065) आकाश-भर में वर्षा की धाराएँ बहती हैं, परन्तु हे वीर! पानी जैसे एक ही है, वैसे ही इन भूताकारों के सर्वांग में परमेश्वर है।

(13.1066) ये प्राणी भिन्न हैं परन्तु ब्रह्म समान है, जैसे घट और मठ में आकाश समान है।

(13.1067) इस भूताभास का नाश होता है, परन्तु आत्मा अविनाशी बना रहता है, जैसे केयूर इत्यादि अलंकारों में सोने का कस बना रहता है;

(13.1068) एवं जीव-धर्म-रहित ब्रह्म को जो जीवों से अभिन्न देखता है वह ज्ञानियों में उत्तम ज्ञानी है।

(13.1069) हे वीरेश! वह ज्ञानियों का नेत्र है और नेत्रवानों में नेत्रवान् है। यह स्तुति नहीं, वह अत्यन्त भाग्यवान् है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ 13.28 ॥

(13.1070) यह शरीर गुण और इन्द्रियों की थैली है; वात, पित्त, और कफ इन धातुओं की त्रिकुटी है; और पंचमहाभूतों, का एक अत्यन्त बुरा मिश्रण है।

(13.1071) स्पष्टतः यह पाँच डंकों का एक बिच्छू है जो शरीर में पाँच जगह काटता है। यह जीवरूपी व्याघ्र को मृगों के रहने की जगह मिल गई है,

(13.1072) तिस पर भी इस शरीर के अनित्य-भाव-रूपी पेट में नित्य-ज्ञानरूपी छुरी कोई नहीं मारता।

(13.1073) हे पाण्डुसुत! जो मनुष्य इस देह में रहते हुए आत्मघात नहीं करता और अन्त में उस पद में मिल जाता है

(13.1074) जहाँ योगी जन योग और ज्ञान की महिमा के द्वारा कोटि जन्म का उल्लंघन कर ऐसी प्रतिज्ञा-पूर्वक निमग्न हो जाते हैं कि अब यहाँ से न निकलेंगे,

(13.1075) जो पद आकार का परतीर हैं, जो ध्वनि की परसीमा है और जो परब्रह्म तुर्यावस्था का मध्यगृह हैं,

(13.1076) सागर में गंगा इत्यादि नदियों के समान जहाँ मोक्ष-सहित सब गतियाँ विश्राम लेती हैं,

(13.1077) जो सुखरूपी पद इसी देह में सद्गुरु की पूजा के द्वारा वही प्राप्त कर सकता है जो प्राणियों की विषमता के कारण अपनी बुद्धि का भेद नहीं होने देता,

(13.1078) तथा जैसे करोडों दीपों में एक ही तेज समान हैं वैसे ही ईश्वर सर्वत्र बना है

(13.1079) ऐसी समता देखते हुए हे पाण्डुसुत! जो मनुष्य जीवन धारण करता है वह निश्चय से मृत्यु और जन्म के वश नहीं होता।

(13.1080) इसलिए उस भाग्यवान की हम अनेक बार स्तुति करते हैं, क्योंकि वह समतारूपी शय्या पर शयन कर रहा हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ 13.29॥

(13.1081) जो यह यथार्थतः जानता है कि मन और बुद्धि जिनमें प्रमुख हैं ऐसी ज्ञानेन्द्रियों के और सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों के कर्म प्रकृति ही करती हैं,

(13.1082) घर क लोग घर में काम-काज करते हैं परन्तु घर कुछ नहीं करता, अभ्र आकाश में घूमते हैं परन्तु आकाश स्थिर रहता है

(13.1083) वैसे ही प्रकृति आत्मा के प्रकाश से अनेक कार्य करने के लिए गुणों में विचलित होती है, परन्तु आत्मा आश्रय-स्तम्भ हैं और कौन कर्म कर रहा है यह नहीं जानता;

(13.1084) (इस प्रकार के निर्णय का जिसके अन्तःकरण में प्रकाश होता है) वह अकर्ता आत्मा को निश्चय से देख चुकता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ 13.30॥

(13.1085) किन्तु हे अर्जुन! मनुष्य तभी ब्रह्म सम्पन्न होता है जब ये भिन्न-भिन्न भूताकार एकरूप दिखाई दे।

(13.1086) जल में जैसी लहरें, स्थल में जैसे परमाणुओं के कण, सूर्य्य के मण्डल में जैसी किरणें,

(13.1087) अथवा देह में जैसे अवयव, मन में जैसे सम्पूर्ण भाव, एक ही वह्नि में जैसी सब चिनगारियाँ,

(13.1088) वैसे ही ये सब भूताकार एक ही के हैं ऐसा जब यथार्थ में दिखाई देता है तभी ब्रह्मसम्पत्तिरूपी जहाज हाथ लगता है।

(13.1089) फिर जहाँ-तहाँ ब्रह्म ही दिखलाई देता है, किंबहुना अपार सुख का लाभ प्राप्त होता है।

(13.1090) हे पार्थ! इस विवेचन से तुम्हें प्रकृतिपुरुषव्यवस्था की यथार्थ प्रतीति हो चुकी होगी।

(13.1091) अमृत का जैसे चुल्लू में लेना, अथवा द्रव्य के निधान को जैसे आँखों से देखना, वैसे ही यह लाभ समझना चाहिए।

(13.1092) अजी, इस अनुभव के बल से तुम जो अपने चित्त में विचार कर रहे हो वह अभी मत करो,

(13.1093) परन्तु एक-दो गहन विचार हम तुम्हें और बताते हैं उन्हें मन लगा कर सुनो।

(13.1094) इस प्रकार देव ने कहा और निरूपण का आरम्भ किया, त्योंही अर्जुन सब शरीर अवधानमय कर सुनने लगा।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ 13.31 ॥

(13.1095) जिसे परमात्मा कहते हैं उसे स्वरूपतः ऐसा जाना जैसा कि सूर्य्य — जो जल में रहता हुआ जल में लिप्त नहीं होता,

(13.1096) क्योंकि वह जल के आरम्भ में था, और जल के पश्चात् भी बना रहता है; और जल के बीच जो दिखाई देता है सो दूसरों की दृष्टि से, वस्तुतः नहीं है;

(13.1097) वैसे ही यह कहना सत्य नहीं है कि आत्मा शरीर में है। वह जहाँ का तहाँ है।

(13.1098) जैसे दर्पण में अपना मुख प्रतिबिम्बित होता हुआ दिखाई देता है, वैसे ही आत्मतत्त्व शरीर में बसता दिखाई देता हैं।

(13.1099) उसके और देह के सम्बन्ध की वार्ता सर्वथा निर्मूल है। वायु और बालू का कभी संयोग हो सकता है?

(13.1100) अग्नि और कपास की डोरी कैसे एकत्र हो सकती है? आकाश और पृथ्वी कैसे एक में मिलाये जा सकते हैं?

(13.1101) एक पूर्व की ओर जानेहारा और दूसरा पश्चिम की ओर, ऐसे दो मनुष्यों की भेंट के समान ही यह सम्बन्ध है।

(13.1102) प्रकाश और अन्धकार का, मृत और जीवित का जो सम्बन्ध, वही इस आत्मा और देह का जानो।

(13.1103) जैसे रात और दिन का, सुवर्ण और कपास का साम्य नहीं हो सकता वैसे ही देह और आत्मा का हाल है।

(13.1104) देह पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुआ है, कर्म की डोरियों से गुँथा हुआ है, और जन्म-मृत्यु के चक्के पर चढ़ाया हुआ घूमता हैं।

(13.1105) वह काल-रूपी अग्नि के कुण्ड में डाली हुई एक माखन की गाली है। मक्खी पंख झाड़ती है, बस इतनी ही देर में वह समाप्त हो जाता है।

(13.1106) कदाचित् अग्नि में पड़े तो भस्म हो कर नष्ट हो जाता है और यदि कुत्तों को मिले तो उसकी विष्ठा ही बनती है।

(13.1107) यदि ये दोनों बातें न हों ते वह कीड़ों का समूह बन जाता है। इस प्रकार हे कपिध्वज `इसका परिणाम बुरा हाता है।

(13.1108) देह की ऐसी दुर्दशा होती है परन्तु आत्मा अनादि, सहज, नित्य और शुद्ध है।

(13.1109) वह निर्गुण होने के कारण न पूर्ण है न अपूर्ण है, न क्रिया-रहित है न क्रिया-वान् है, और न सूक्ष्म है न स्थूल है।

(13.1110) निराकार रहने क कारण वह न भासमान् है न भास-रहित है, न प्रकाशित है न अप्रकाशित है, न अल्प है न बहुतेरा है।

(13.1111) शून्यरूप होने के कारण न रीता है न भरा है, न रहित है न सहित है, और न व्यक्त है. न अव्यक्त है।

(13.1112) आत्मा होने के कारण वह न सानन्द है न आनन्द-रहित है, न एक है न अनेक है और न मुक्त है न बद्ध है।

(13.1113) लक्षण-रहित होने के कारण वह न इतना है न उतना है, न बना-बनाया है न बनाया जाता है, और न बोलनेहारा है न मौनी है।

(13.1114) सृष्टि की उत्पत्ति होने से न वह उत्पन्न होता और न सृष्टि के संहार से उसका नाश होता है। वह उत्पत्ति और नाश दोनों का लयस्थान है।

(13.1115) वह अव्यय होने के कारण न मापा जा सकता है न उसका वर्णन किया जा सकता है; वह न बढ़ता है न घटता है; न क्षीण होता और न खर्च होता है।

(13.1116) हे प्रियोत्तम! इस प्रकार के आत्मा को देही समझना मानों आकाश का मठ के आकार का बतलाना है।

(13.1117) वैसे ही उसकी अखण्डता से देहाकार उत्पन्न होते और विलीन होते जाते हैं, परन्तु हे सुमति! वह ये आकार न धारण करता और न त्याग करता है, किन्तु जैसा का तैसा बना है।

(13.1118) आकाश में जैसे रात और दिन होते जाते हैं वैसे ही आत्मसत्ता में शरीर होते जाते हैं।

(13.1119) इसलिए इस शरीर में वह आत्मा न कुछ करता है न कराता है, और न किसी बने-बनाये व्यापार में आसक्त होता है।

(13.1120) अतएव स्वरूप से वह न्यून या पूर्ण नहीं कहा जा सकता तथा देह में रहता हुआ वह देह से लिप्त नहीं होता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ 13.32 ॥

(13.1121) अजी, आकाश कहाँ नहीं है? वह कहाँ नहीं प्रवेश करता? परन्तु जैसे उसे कभी किसी पदार्थ से पीडा नहीं होती,

(13.1122) वैसे आत्मा भी सर्वत्र सब देहों में बना ही रहता है, परन्तु किसी के संगदोष से कभी लिप्त नहीं होता।

(13.1023) इस विषय में यही लक्षण यथार्थ है कि क्षेत्रज्ञ का क्षेत्रविहीन समझना चाहिए।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ 13.33 ॥

(13.1124) चुम्बक आकर्षण से लोहे को चलायमान करता है, परन्तु लोहा कुछ चुम्बक नहीं है। वही अन्तर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में है।

(13.1125) दीपक की ज्योति से घर के व्यवहार होते हैं, परन्तु दीपक और घर में कोटिशः अन्तर है।

(13.1126) हे किरीटी! काष्ठ के गर्भ में अग्नि रहती है, परन्तु वह काष्ठ नहीं है। इसी दृष्टि से इस आत्मा की ओर देखना चाहिए।

(13.1127) अवकाश और नीले आकाश में, सूर्य और मृगजल में, जो अन्तर है वही इस क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में भी देखना चाहिए।

(13.1128) और सब रहने दो। आकाश में से जैसे एक ही सूर्य पृथ्वी इत्यादि जुदे-जुदे लोक प्रकट करता है,

(13.1129) वैसे ही क्षेत्रज्ञ क्षेत्राभास का प्रकाशक है। इस पर अब और कोई प्रश्न वा शंका नहीं रही।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ 13.34 ॥

(13.1130) हे शब्द-तत्त्व के सार के जाननेहारे! ज्ञान-मय बुद्धि वही समझी जानी चाहिए जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जाने।

(13.1131) इनका भेद जानने के लिए चतुर लोग ज्ञानी जनों के द्वार का आश्रय करते है।

(13.1132) इसी हेतु हे सुमति! वे शास्त्र-सम्पत्ति जमाते हैं और शास्त्र-रूपी दूध देनेहारी गाएँ पालते हैं;

(13.1133) और इसी आशा से वे लोग योगरूपी आकाश में धैर्य से चढ़ते हैं;

(13.1134) शरीर इत्यादि को तृण के समान मानते हैं, और अन्तःकरण से सन्तों की पाँवड़ियाँ शिर पर रखते हैं।

(13.1135) ऐसे-ऐसे उपायों से वे ज्ञान की सामग्री प्राप्त कर अन्तःकरण में निश्चय करते हैं।

(13.1136) और फिर इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यथार्थ भेद जान लेते हैं। उनके ज्ञान की हम आरती करते हैं।

(13.1137) जो यह मिथ्या प्रकृति महाभूत आदि अनेक वस्तुओं में भिन्नता से विस्तृत हुई है,

(13.1138) जो शुक और नलिका [1] की नाई बिना सम्बन्ध के सम्बद्ध हुई है, उसे जैसी वह है वैसी ही जो जानता है,

(13.1139) जैसे कोई हार को मिथ्या सर्प न जान कर आँखों से हार ही पहचान ले,

(13.1140) अथवा चाँदी के भ्रम का नाश हो कर जैसे यह सत्य प्रतीति हो जाती है कि सीप सीप ही है

(13.1141) वैसे ही इस भिन्न प्रकृति का जो अन्तःकरण से भिन्नतः देखता है वह, मेरे मत में, ब्रह्म हो जाता।

(13.1142) जो वस्तु आकाश से भी बड़ी है, जो अव्यक्त का परतीर है, जिसके प्राप्त होते ही सम-विषम-भेद नहीं रहता,

(13.1143) आकार जहाँ समाप्त हो जाता है, जीवित्व लीन हो जाता है, जहाँ द्वैत नहीं बच रहता, और जो अद्वितीय है,

(13.1144) वह परमतत्त्व हे पार्थ! वे जो आत्मा और अनात्मा का निर्णय करनेहारे राजहंस हैं, सब प्रकार से बन जाते हैं।

---

[1] दक्षिण में तोते को पकड़ने के लिए जो फन्दा लगाया जाता है उसमें बाँस की एक नली (पोर) लगी रहती है। तोते के उस नली में बैठने से वह घूमने लगती है और तोता उसे और भी मजबूती से पकड़ने की चेष्टा कर फँस जाता है।

(13.1145) यों श्रीकृष्ण ने पाण्डव के अन्तःकरण में इस प्रकार का सम्पूर्ण अनुभव प्रकट कर दिया।

(13.1146) एक कलश का पानी जैसे दूसरे में रितोया जावे वैसे ही श्रीहरि ने निज का अनुभव अर्जुन को दिया;

(13.1147) पर वास्तव में कौन किसे देनेहारा है? जो नर वही नारायण है और श्रीकृष्ण भी अर्जुन का निज की विभूति समझते हैं।

(13.1148) परन्तु अस्तु, यह बात मैं वृथा — बिना पूछे — कह रहा हूँ। बहुत क्या कहा जाय, देव ने अर्जुन का अपना सर्वस्व दे दिया।

(13.1149) परन्तु तो भी अर्जुन मन में तृप्त न हुआ। उसकी तृष्णा अधिकाधिक बढ़ चली।

(13.1150) तेल भर कर जैसे दीपक अधिक प्रकाश देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण का निरूपण सुन कर अर्जुन के मन में और भी अधिक इच्छा उत्पन्न हुई।

(13.1151) तब सुघड़ और उदार रसाई बनानेवाली स्त्री को रसज्ञ भोजन करनेहारे मिलें तो जैसे वह अधिक ढीले हाथों से परोसती हैं,

(13.1152) वैसे हो श्रीकृष्ण का हाल हुआ। अर्जुन के अवधान की उत्सुकता देख कर श्रीकृष्ण के व्याख्यान का चौगुना बल चढ़ा।

(13.1153) अनुकूल वायु से जैसे मेघ इकट्ठे हो जाते हैं, चन्द्र का देख कर जैसे समुद्र भर जाता है वैसे ही श्रोताओं के कारण, प्रेम से, वक्ता के रस की वृद्धि होती है।

(13.1154) संजय ने कहा कि हे राजा! अब श्रीकृष्ण जिससे सम्पूर्ण विश्व को आनन्दमय कर देंगे वह कथा सुनिए।

(13.1155) महाभारत में अपार-बुद्धिमान् व्यास ने भीष्म पर्व में जो कथा कही

(13.1156) उस कृष्णार्जुन-संवाद का हम उत्तम और स्पष्ट शब्दों से ओवी-प्रबन्ध में वर्णन करते हैं।

(13.1157) हम केवल शान्ति की कथा सुनाते हैं जो शृंगार के माथे पर लात मारती है,

(13.1158) और ऐसी प्रेमल देशी भाषा बोलते हैं कि जो साहित्य को सिखावेगी और मधुरता में अमृत का भी नाम धरेगी,

(13.1159) जिसके शब्द आर्द्रता के गुण में चन्द्र की बराबरी करेंगे, रस और रंग को भुलावेंगे और नाद का नाम मिटा देंगे,

(13.1160) तथा पिशाचों के मन में भी सात्विक भाव उत्पन्न करेंगे और देवों के लिए सुनने के साथ ही समाधि का लाभ करा देंगे।

(13.1161) इस प्रकार मैं वाग्विलास का विस्तार कर विश्व को गीतार्थ से भर दूँगा और जगत् के चारों ओर आनन्द की बाड़ी रच दूँगा।

(13.1162) विवेक की दीनता मिट जाय, काम और मन का जीवन की सफलता प्राप्त हो और चाहे जिसे ब्रह्मविद्या की खानि दिखाई दे,

(13.1163) परतत्त्व आँखों से दिखाई दे, सुख का समारोह प्रकट हो, और विश्व महाबोध के सुकाल में प्रवेश करे,

(13.1164) इत्यादि सब घटनाएँ हो, ऐसी वाणी का उपयोग करूँगा। मैंने परमदेव श्रीनिवृत्ति का आश्रय लिया है,

(13.1165) इसलिए उत्तम वर्ण के अक्षरों में उपमा और श्लोकों की भीड़ लगा दूँगा और पद-पद में ग्रन्थार्थ प्रकट करूँगा।

(13.1166) यहाँ तक मुझे श्रीमान् श्रीगुरुराज ने विद्या से परिपूर्ण किया है।

(13.1167) उसी कृपा की सहायता से आपकी सभा में मेरे वचनों का समावेश हुआ है और मुझे गीतार्थ वर्णन करने का लाभ मिला है।

(13.1168) इस पर भी मुझे आप सन्तों के चरण प्राप्त हुए हैं, जिससे मुझे कुछ भी झटक नहीं रही।

(13.1169) हे प्रभु! सरस्वती के पेट से, लीला में भी, कभी गूँगा उत्पन्न नहीं होता तथा लक्ष्मी का पुत्र कभी सामुद्रिक-लक्षणों से हीन नहीं होता।

(13.1170) वैसे ही आप सन्तों के पास अज्ञान की बात ही कहाँ हो सकती है? अतएव मैं नवरसों की वर्षा करूँगा।

(13.1171) ज्ञानदेव ने कहा बहुत क्या कहूँ, हे देव! मुझे अवसर दीजिए कि मैं भली भाँति ग्रन्थ का निरूपण करूँ।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां त्रयोदशोऽध्यायः।

चौदहवाँ अध्याय

(14.1) हे गुरु, हे सकल देवों में श्रेष्ठ, हे बुद्धिरूपी प्रातःकाल के सूर्य, हे आनन्द के उदय करानेहारे! आपका जय-जयकार हो।

(14.2)आप सब के विश्रान्तिस्थान हैं, सोहंभाव के सुशोभित करनेहारे हैं, अथवा लोकरूपी तरंगों के समुद्र हैं। आपका जय-जयकार हो।

(14.3) हे दीनबन्धु, हे निरन्तर दया के सागर, हे शुद्ध-विद्यारूपी वधू के वल्लभ! सुनिए।

(14.4) आप जिन्हें अप्रकट हैं उन्हें यह विश्व ही दिखाई देवा है, परन्तु आप जिन्हें प्रकट होते हैं उन्हें सम्पूर्ण जग आपरूप ही हो जाता है।

(14.5) दूसरों की नजर चुराने की नजरबन्दी संसार में होती है परन्तु आपकी चतुराई कुछ अनोखी हैं जो आप निज को ही चुरा रखते हैं।

(14.6) अजी, इस संसार में सब आप ही भरे हैं, परन्तु इसमें कोई ज्ञानी हैं और कोई माया में फंसे हैं। इस प्रकार आप ही जो

निजस्वरूप में लीला कर रहे हैं, उन आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

(14.7) मैं जानता हूँ कि जगत् में जल की आर्द्रता आपके ही कारण मधुर हुई है। आपके ही कारण पृथ्वी का सहनशीलता प्राप्त हुई है।

(14.8) रवि, चन्द्र इत्यादि आपके सन्मुख सिपाहियों के समान हैं। वे तीनों जगतों का प्रकाशित करते हैं सो आपकी द्युति के प्रकाश के कारण।

(14.9) वायु की जो हलचल होती है वह हे देव! आपके ही बल से; और आकाश तो आप ही में लुकालुकी का खेल खेलता है।

(14.10) बहुत क्या कहें, इस सम्पूर्ण माया का ज्ञान आप ही के कारण होता है, तथा आपका वर्णन करने में श्रुति को भी श्रम हुआ है।

(14.11) वर्णन करने में वेदों की चतुराई तभी तक हैं जब तक आपके स्वरूप का दर्शन नहीं हुआ। दर्शन होते ही उन्हें तथा हमें समान ही मान धारण कर लेना पड़ता है।

(14.12) अजी, सम्पूर्ण जल-मय होने पर प्रलयकाल के मेघों का भी पता नहीं लगता तो फिर

महानदियों की खोज कहाँ लग सकती है?

(14.13) अथवा सूर्य के उदय होने पर चन्द्र जैसे खद्योत-सा हो जाता है वही उपमा आपके सामने हमें, और वेदों को दी जा सकती है।

(14.14) जहाँ द्वैत का ठाँव मिट जाता है, जहाँ परा वाणी समेत वैखरी का लोप हो जाता है उन आपका हम किस मुख से वर्णन कर सकते हैं

(14.15) इसलिए अब स्तुति की चेष्टा छोड़ चुपचाप आपके चरणों पर माथा रखना ही भला है।

(14.16) अतएव हे गुरुराज! आप जैसे हों वैसे ही आपको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरा ग्रन्थकथनरूपी व्यापार सफल होने के हेतु आप मेरे साहूकार बने।

(14.17) कृपारूपी पूँजी निकाल कर मेरी बुद्धिरूपी थैली में भर दें और मुझे ज्ञान से भरा हुआ काव्य बनाने का महत् लाभ प्राप्त करा दें।

(14.18) इस कृपा से मैं अपनी स्थिति सँभाल लूँगा और सन्तों का उत्तम लक्षणों से युक्त विवेक-रूपी कर्णभूषण पहनाऊँगा।

(14.19) महाराज! मेरे नेत्रों में कृपारूपी अंजन डालिये जिससे मेरा मन गीतार्थरूपी द्रव्य का ढूँढ सके।

(14.20) अपने करुणारूपी निर्मल सूर्य का इस प्रकार उदय कीजिए कि जिससे मेरे बुद्धिरूपी नेत्र एकदम सम्पूर्ण शब्दसृष्टि देख सको

(14.21) हे प्रेमियों के शिरोमणि! आप ऐसा वसन्तकाल बन जाये कि जिससे मेरी बुद्धिरूपी विस्तृत बेल में काव्यरूपी फल लग जायँ।

(14.22) हे उदार! अपने प्रेम की दृष्टि से ऐसी वर्षा कीजिए कि मेरी बुद्धिरूपी गंगा में सिद्धान्तों की अत्यन्त बाढ़ आ जाय।

(14.23) हे विश्वैकधाम आपका कृपारूपी चन्द्रमा मेरे लिए काव्यस्फूर्ति की पूर्णमासी कर दे,

(14.24) जिसे देखते ही मेरे ज्ञानरूपी समुद्र में रसिकता का ऐसा ज्वार-भाटा आवे कि वह स्फूर्ति में न समा सके और बह निकले।

(14.25) इस पर श्रीगुरुराज ने सन्तुष्ट हो कर स्तुति तथा विनती के मिस से द्वैत की रचना की गई देख कर कहा

(14.26) कि अब यह वृथा बातें रहते दो, ज्ञेय विषय का उत्तम निरूपण कर ग्रन्थार्थ प्रकट करा और उत्कण्ठा का भंग न होने दे।

(14.27) (तब ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा) ठीक है स्वामी, मैं यही बाट जाह रहा था कि आप अपने श्रीमुख से ग्रन्थ-निरूपण की आज्ञा दें;

(14.28) क्योंकि मैंने यह वासना ही नहीं रक्खी है कि यह निरूपण मैंने किया है अथवा वह मेरे ही कारण हुआ है।

(14.29) दूब का अंकुर स्वभावतः ही अमर रहता है परन्तु उस पर जैसे अमृत की वर्षा हो,

(14.30) उसी प्रकार आपकी कृपा के सहाय से मैं स्पष्टतर और विस्तार-पूर्वक गीता-शास्त्र के मूल पदों का विवेचन करूँगा।

(14.31) अतः जिससे अन्तःकरण में सन्देहों की नाव डूब जावे और जिसे सुनते ही अधिक सुनने की इच्छा बढ़े

(14.32) इस प्रकार मेरी वाणी गुरुकृपा के घर भिक्षा माँग कर मधुरता ले प्रकट हो।

(14.33) पीछे तेरहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह वात कही थी

(14.34) कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से यह जगत् उत्पन्न होता है और गुणों के संग से आत्मा संसारी बनता है।

(14.35) और इसी आत्मा का मायोपाधि-सहित होना उसके सुख-दुःख भागों का कारण है,

तथा गुणातीत होने से वही केवल हो रहता है।

(14.36) उस असंग का किस प्रकार संग लग जाता है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग क्या है और उसे सुख-दुःख इत्यादि भाग कैसे होते हैं,

(14.37) गुण कैसे हैं और कितने हैं, वे किस प्रकार बन्धन करते हैं, तथा गुणातीतों के क्या लक्षण हैं, (38) इन सब बातों का वर्णन करना इस चौदहवें अध्याय का विषय है।

(14.39) अतः अब वैकुण्ठ के निवासी विश्वेश श्रीकृष्ण के उस अभिप्राय का उपक्रम सुनिए।

(14.40) श्रीकृष्ण ने कहा — हे अर्जुन! इस ज्ञान से अवधान की सम्पूर्ण सेना जमा कर लड़ो।

(14.41) पीछे यह ज्ञान हमने तुम्हें अनेक युक्तियों से समझाया है, तथापि अभी तक यह तुम्हारे अनुभव के पेट में प्रविष्ट नहीं हुआ है।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ 14.1 ॥

(14.42) इसलिए हम तुम्हें वही ज्ञान फिर बताते हैं जिसे वेदों ने सबके परे बखाना है।

(14.43) यों तो सब ज्ञान निज का ही है, परन्तु परे इसलिए कहाता है कि हमने स्वर्ग और संसार इत्यादि विषयों में रति कर ली है।

(14.44) इसी कारण से मैं इसे सब ज्ञानों में उत्तम समझता हूँ। क्योंकि यह ज्ञान अग्नि है और दूसरे ज्ञान इसके सामने तृणरूप हैं।

(14.45) जिन ज्ञानों से संसार और स्वर्ग जाने जाते हैं, जिनसे यज्ञ ही उत्तम समझे जाते हैं, जिनकी परखाई वास्तव में द्वैत में ही हो सकती है

(14.46) वे सम्पूर्ण ज्ञान इस ज्ञान से स्वप्नवत् हो जाते हैं। जैसे वायु की लहरों का अन्त में आकाश लील लेता है,

(14.47) अथवा सूर्योदय होते ही जैसे चन्द्र इत्यादि तेजस्वी तारों का लोप हो जाता है, अथवा जल का प्रलय होने से जैसे नद-नदियाँ लुप्त हो जाती हैं,

(14.48) वैसे ही इस ज्ञान का उदय होते ही अन्य ज्ञानों का समुदाय विलीन हे जाता है। इसलिए हे धनंजय! यह ज्ञान सब में उत्तम है।

(14.49) हे पाण्डुसुत! अपनी जो अनादि-मुक्तता है वह इस ज्ञान से हाथ लगती है।

(14.50) इसके अनुभव के बल से सम्पूर्ण विवेकी जन जन्म-मृत्युरूपी संसार को सिर नहीं उठाने देते।

(14.51) विवेक से सन का नियमन कर, स्वाभाविक विश्राम प्राप्त होने पर, वे देह-धारी होते हुए भी वास्तव में देहाभिमानी नहीं रहते,

(14.52) और देह के परिमाण के परे जा कर योग्यता में एकदम मेरे बराबर हो जाते हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ 14.2 ॥

(14.53)हे पाण्डुसुत! वे मेरी नित्यता से नित्य और मेरी पूर्णता से परिपूर्ण हो रहते हैं।

(14.54) मैं जैसा अनन्त और आनन्दरूप हूँ. मैं जैसा सत्य-प्रतिज्ञ हूँ वैसे ही वे हो रहते हैं। उनमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।

(14.55) मैं जो हूँ, जितना हूँ और जैसा हूँ वे भी वही और वैसे ही हो जाते हैं। जैसे घट का भंग होने पर घटाकाश आकाश हो रहता है,

(14.56) अथवा दीपक की अनेक ज्योतियों के मूल ज्योति में मिल जान से जैसी स्थिति होती है,

(14.57) वैसे ही हे अर्जुन! उनके लिए द्वैत की फेरी बन्द दो जाती है और हम-तुम इत्यादि भेद

का लोप हो कर नाम और अर्थ एक ही पंक्ति में आ बैठते हैं।

(14.58) इसी कारण से जब सृष्टि की मूल कल्पना होती है तब भी उन्हें उत्पन्न नहीं दोना पड़ता।

(14.59) सृष्टि के मूलारम्भ में जिनकी देहरचना ही नहीं होती उनका प्रलयकाल में नाश कैसे हो सकता है?

(14.60) अतएव हे धनंजय! वे इस ज्ञान का अनुसरण करते हुए जन्म और क्षय के परे हो मद्रूप हो जाते हैं।

(14.61) इस प्रकार श्रीकृष्ण ने प्रेम से ज्ञान की महिमा वर्णन की. वह इस हेतु से भी की

कि अर्जुन का इस ज्ञान की रति उत्पन्न हो।

(14.62) पर उसकी स्थिति और ही हो गई। वह ऐसा पूर्ण अवधानमय हो गया कि मानों उसके सब शरीर में कान उत्पन्न हो गये हों।

(14.63) अतएव श्रीकृष्ण का हृदय भी प्रेम से भर गया और उनकी निरूपण की इच्छा आकाश में भी समा न सकी।

(14.64) वे बोले, हे प्रज्ञाकान्त अर्जुन! हमारी वक्तृता आज सफल हो चुकी जो हमारे निरूपण के अनुरूप तुम्हारा जैसा श्रोता प्राप्त हुआ है।

(14.65) मैं एक हूँ पर तो भी मुझे त्रिगुणरूपी बहेलिये अनेक देहरूपी पाशों में कैसे बाँध लेते हैं,

(14.66) क्षेत्र के संयोग से मैं इस जगत् को कैसे उत्पन्न करता हूँ, अब इस विषय का निरूपण सुनो।

(67) इसे क्षेत्र नाम इस कारण दिया जाता है कि इसमें मेरे संगरूपी बीज से प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ 14.3 ॥

(14.68) और भी, इसका नाम महत्ब्रह्म इस कारण है कि यह महत्तत्त्व इत्यादि की विश्रान्ति का स्थान है।

(14.69) यह विकारों की बहुत कुछ वृद्धि करता है इस कारण भी इसे महत्ब्रह्म कहते हैं।

(14.70) अव्यक्त मत में इसका नाम अव्यक्त है, और सांख्यवादियों के मत में इसी को प्रकृति कहते हैं।

(14.71) हे बुद्धिमानों के राजा! वेदान्ती इसे माया कहते हैं। और कहाँ तक वृथा वर्णन करें? यही अज्ञान है।

(14.72) हे धनंजय! निज को निज-स्वरूप की जो विस्मृति हुई है वही इस अज्ञान का स्वरूप है। (73) एक बात और है कि आत्मज्ञान के समय यह अज्ञान दिखाई नहीं देता, जैसे दीपक से देखने से अँधेरा दिखाई नहीं देता,

(14.74) दूध की मलाई जैसे दूध हिलाने पर नहीं रहती और स्थिर रखने से जम जाती है,

(14.75) अथवा जब न जागृति रहती है न स्वप्न रहता है और न समाधि रहती है तब जैसे घोर निद्रा की स्थिति होती है,

(14.76) अथवा वायु उत्पन्न न होने पर आकाश जैसे वन्ध्या के समान रीता रहता है, वैसी ही स्थिति निश्चय से इस अज्ञान की है।

(14.77) जैसे कभी-कभी यह निश्चयात्मक नहीं जान पड़ता कि सन्मुख दिखाई देनेवाली वस्तु खम्भा है वा मनुष्य है परन्तु कुछ आभास तो भी दिखाई देवा है,

(14.78) उसी प्रकार ब्रह्म जैसा है वैसा जब यथार्थ में दिखाई नहीं देता परन्तु कुछ जुदा ही दिखाई देता है,

(14.79) अथवा न रात है न दिन है उस बीच के काल को जैसे सन्ध्या कहते हैं, उसी प्रकार जब न विपरीत ज्ञान होता है और न आत्मज्ञान होता है

(14.80) ऐसी जो एक दशा है उसे अज्ञान कहते हैं, और जिस चैतन्य पर उस अज्ञान का आवरण है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

(14.81) अज्ञान की प्रतिष्ठा बढाना और अपना स्वरूप न जानना ही क्षेत्रज्ञ का रूप है।

(14.82) इन्हीं दोनों का संयोग अच्छी तरह से समझ लो। यह माया का नैसर्गिक स्वभाव है।

(14.83) ब्रह्म-स्वरूप ही भूल से निज को अज्ञानी जैसा समझने लगा और न जाने कौन-कौन से अनेक रूप धारण करने लगा।

(14.84) जैसे कोई रंक भ्रमिष्ठ हो कहने लगे "अरे जा, मैं राजा हूँ" अथवा जैसे कोई मूर्च्छित हो स्वर्गलोक में जावे,

(14.85) वैसे ही आत्म-दृष्टि तिरछी हो जाने से जो-जो कुछ दिखाई दे वही सृष्टि कहलाती है। उसे मैं ही उत्पन्न करता हूँ।

(14.86) जैसे स्वप्न के माह के वश मनुष्य अकेला होते पर भी बहुतेरी सृष्टि देखता है वैसी ही दशा आत्मस्मृति-रहित जीवात्मा की होती हैं।

(14.87) यही निश्चित सिद्धान्त हम आगे और विस्तार से वर्णन करेंगे। तथापि तुम यही प्रतीति जाग्रत रक्खो

(14.88) कि यह अविद्या मेरी गृहिणी है, अनादि है, तरुणी है, और इसके गुण अनिर्वचनीय हैं।

(14.89) अभाव ही इसका रूप है। इसकी आकृति बहुत बड़ी है। यह अज्ञानियों के समीप रहती हैं। (90) वास्तव में जब मैं स्वयं सो जाता हूँ तब यह जागती है, और मेरी सत्ता क सम्भोग से गर्भिणी होती है।

(14.91) महत्ब्रह्मरूपी पेट में आठों विकारों के द्वारा प्रकृति गर्भ की वृद्धि करती है।

(14.92) आत्मा और प्रकृति दोनों के संग से प्रथम बुद्धि-तत्त्व उत्पन्न होता है, और बुद्धि-तत्त्व से मन प्रकट होता है

(14.93) मन की स्त्री ममता अहंकार तत्त्व की रचना करती हैं जिससे महाभूत उत्पन्न होते हैं।

(14.94) और भूतों का स्वभावतः विषय और इन्द्रियों से परस्पर सम्बन्ध रहता हैं, इसलिए इनके संग से विषय और इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं!

(14.95) विकारों का क्षोभ होते ही त्रिगुण प्रकट होते हैं और तत्काल वासना का जन्म होता है।

(14.96) जल का संयोग होते ही जैसे उत्पन्न होनेहारे वृक्ष का आकार मानों बीज-कणिका मन में नियत कर लेती है,

(14.97) वैसे ही अविद्या मेरे संग से अनेकरूप – जगत् के अंकुर धारण करने लगती है!

(14.98) फिर हे सुजनश्रेष्ठ! उस गर्भ-गोल का आकार कैसे प्रकट होता है सो सुनो।

(14.99) उसमें अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुजरूपी अवयव फूटते हैं।

(14.100) आकाश और वायु के द्वारा गर्भ के रस की वृद्धि होने से अण्डज अवयव निकलता है।

(14.101) अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण होने के कारण जल और अग्नि की अधिकता होने से स्वेदज अवयव उत्पन्न होता है।

(14.102) 'आप' और पृथ्वी के अधिकांश से, और निकृष्ट दर्जे के तमोगुण से स्थावर अर्थात् उद्भिज अवयव उत्पन्न होता है।

(14.103) और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को पाँच कर्मेन्द्रियों की सहायता और मन, बुद्धि इत्यादि की सिद्धता ही जरायुज अवयव का हेतु है।

(14.104) इस प्रकार ये चारों जिसके कर और चरण हैं, स्थूल महाप्रकृति जिसका सिर है,

(14.105) प्रवृत्ति जिसका बढ़ा हुआ पेट है, निवृत्ति जिसकी सपाट पीठ है, और जिसके ऊपरी शरीर भाग में आठ प्रकार की देवयोनियाँ हैं,

(14.106) आनन्दी स्वर्गलोक जिसका कण्ठ है, मृत्युलोक जिसका मध्य भाग है, और पाताल जिसका सुन्दर नितम्ब है,

(14.107) ऐसा एक सुन्दर पुत्र इस माया से उत्पन्न हुआ जिसके बाल्यत्व की पुष्टि तीनों लोकों के विस्तार से होती है!

(14.108) चौरासी लाख योनियाँ इस बालक की अँगुलियों की गाँठें हैं। इस प्रकार यह बालक प्रति दिन बढ़ता है।

(14.109) अनेक प्रकार के देह और अवयवों में नामरूपी अलंकार पहना कर माया उसे नित्य-नूतन मोहरूपी दूध पिला कर बढ़ाती है।

(14.110) जुदी-जुदी सृष्टियाँ इस बालक के हाथों की अँगुलियाँ हैं, और भिन्न-भिन्न देहों का अभिमान उनमें पहनी हुई अँगूठियाँ हैं।

(14.111) इस प्रकार एक ही चराचर-रूपी सुन्दर, अज्ञानी और महान पुत्र उत्पन्न कर माया प्रतिष्ठित हो रही है।

(14.112) ब्रह्मा इस बालक के प्रातःकाल हैं, विष्णु मध्याह्न हैं, और शंकर सन्ध्याकाल हैं।

(14.113) यह महाप्रलय-रूपी शय्या पर खेलते-खेलते शान्ति से सो रहता है और फिर कल्प का उदय होने पर विषमज्ञान के कारण जागृत हो जाता है।

(14.114) इस प्रकार हे अर्जुन! यह बालक मिथ्या दृष्टि से एक के पीछे एक युगरूपी पग डालता हुआ क्रीडा करता है।

(14.115) संकल्प इसका मित्र है। अहंकार इसका सेवक है और ज्ञान से इसका अन्त हो जाता है।

(14.116) अब अधिक वर्णन रहने दो। इस प्रकार माया जो विश्व उत्पन्न करती है मेरी सत्ता ही उसकी सहकारिणी होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ 14.4 ॥

(14.117) अतएव दे पाण्डुसुत! मैं पिता हूँ, माया माता है, और यह जगत् हमारा पुत्र है।

(14.118) शरीर जुदे-जुदे देख कर चित्त में भेद न रखना चाहिए; क्योंकि जगत् में मन, बुद्धि इत्यादि प्राणिगण एक ही हैं।

(14.119) अजी, एक ही देह में क्या जुदे-जुदे अवयव नहीं होते? वैसे ही वह विश्व विचित्र होता हुआ भी एक ही है,

(14.120) जैसे कि ऊँची-नीची, और छोटी-बड़ी ढालें जुदी-जुदी होने पर भी एक ही बीज से उत्पन्न होती है।

(14.121) और हमारा सम्बन्ध ऐसा है जैसे मिट्टी का बना हुआ घट मिट्टी का पुत्र माना जाय, अथवा जैसे वस्त्र कपास का नाती कहा जाय,

(14.122) अनेक तरंगों की परम्परा जैसे समुद्र की सन्तति समझी जाय। हमारा और चराचर जगत् का सम्बन्ध ऐसा ही है।

(14.123) अतएव अग्नि और ज्वाला दोनों जैसे केवल अग्नि ही हैं, वैसे ही सब कुछ मैं ही हूँ और सब सम्बन्ध मिथ्या है।

(14.124) यदि यों कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति होते ही मेरा स्वरूप मिट जाता है, तो जगत् का कौन प्रकाशित करता है? प्रकाशित होने के कारण क्या स्वयं माणिक का लोप हो जाता है?

(14.125) सुवर्ण का अलंकार बनता हैं तो क्या उसका सुवर्णत्व नष्ट हो जाता है? अथवा कमल विकसित होता है तो क्या वह कमलत्व से वंचित हो जाता है?

(14.126) हे धनंजय! अवयवी मनुष्य को अवयवों का आच्छादन है. अथवा इसका रूप ही वही है कहो भला।

(14.127) जुवार का बीज उगने पर जो भुट्टा आता है उससे उस बीज की न्यूनता पाई जाती है कि वृद्धि?

(14.128) अतः मैं ऐसा नहीं हूँ कि जगत् को जुदा करने से दिखाई दूँ, क्योंकि मैं ही सम्पूर्ण जगत् हूँ।

(14.129) हे वीर! इस सत्य और निश्चित सिद्धान्त की अपने अन्तःकरण में गाँठ बाँध लो।

(14.130) मैंने निज को भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रकट किया है तथापि में ही गुणों से बँधा हुआ दिखाई देता हूँ।

(14.131) हे कपिध्वज! जैसे स्वप्न में मनुष्य निज का मरण-दुःख भोगता है,

(14.132) अथवा जैसे पीलिया से पीड़ित मनुष्य की आँखों से पीला दिखाई देता हैं और उस पीलेपन का ज्ञान भी उन्हीं आँखें को होता है,

(14.133) अथवा जैसे सूर्य प्रकाशता है तब मेघ प्रकट होते हैं, और उसका अस्त भी उसी के द्वारा दिखाई देता है,

(14.134) अपने ही शरीर से उत्पन्न हुई अपनी छाया देख कर कोई भय पावे तो क्या वह कोई दूसरी वस्तु रहती है?

(14.135) इसी प्रकार मैं इन अनेक शरीरों को प्रकट कर अनेक-रूप हो जाता हूँ और यह सम्बन्ध भी मैं ही देखता हूँ।

(14.136) सम्बन्ध होते हुए भी उसका बन्धन न होना ही मेरा ज्ञान होना है। वह बन्ध स्वभावतः मेरे अज्ञान से उत्पन्न होता है।

(14.137) अब हे अर्जुनदेव! मैं निज को किस गुण से और किस प्रकार से बन्ध जैसा दिखाई देता हूँ, सुनो।

(14.138) और गुण कितने हैं, उनके क्या लक्षण हैं, उनके नामरूप क्या हैं और वे कब उत्पन्न हुए हैं इत्यादि मर्म भी सुनो।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ 14.5 ॥

(14.139) उन तीनों को सत्त्व, रज, और तम कहते हैं। प्रकृति उनकी जन्मभूमि हैं।

(14.140) उनमें सत्त्व उत्तम है, रज मध्यम है, और तम स्वभावतः तीनों में कनिष्ठ है।

(14.141) ये तीनों गुण एक ही वृत्ति में दिखाई देते हैं। जैसे एक ही देह में तीनों अवस्थाएँ दिखाईं देती हैं;

(14.142) अथवा जैसे हीन सुवर्ण के संयोग से ज्यों-ज्यों सुवर्ण की तौल बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों सोने का कस भी हलका होता जाता है,

(14.143) अथवा जैसे आलस के वश हो जाग्रति गँवा दी जाय तो सुषुप्ति दृढ हो बैठती है,

(14.144) वैसे ही अज्ञान का स्वीकार करने से जो वृत्ति उठती है वह सत्त्व और रज के द्वारा विस्तृत होती है और फिर तमोरूप हो जाती है।

(14.145) हे अर्जुन! ये गुण हुए। अव हम इनके बन्धन के लक्षण का वर्णन करते हैं।

(14.146-47) यह आत्मा ही थोड़ा-सा क्षेत्रज्ञ-दशा में प्रवेश करता है और जब तक कि जन्म से ले कर मरण तक देह-धर्मों की

प्रतिष्ठा का उपभोग न ले ले तब तक यही कल्पना करता रहता है कि मैं देहरूप ही हूँ।

(14.148) जैसे मछली के मुँह में ज्योंही आटे की गोली पड़ती त्योंही धीमर बंसी का खींच लेता हैं

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ 14.6 ॥

(14.149) – वैसे ही सत्त्वरूपी व्याधा सुख और ज्ञान के पाश से इस आत्मा को खींचता है। फिर वह मृग जैसा तड़फता,

(14.150) ज्ञान से क्षुब्ध होता, और मानों ज्ञातृत्वरूपी लात मार कर गाँठ का आत्मसुख बहा देता है।

(14.151) कोई उसकी विद्या का सन्मान करे तो उसे सन्तोष होता है, थोड़ा-सा लाभ हो तो उसे हर्ष होता हैं, यह जानकर कि मैं सन्तुष्ट हूँ वह निज को धन्य समझने लगता है।

(14.152) वह समझता है कि मेरा कितना बड़ा भाग्य है कि आज मेरे समान सुखी दूसरा कोई नहीं हैं। इस प्रकार वह अष्ट सात्विक भावों के गर्व से फूलता है।

(14.153) इतना ही नहीं किन्तु उसे और दूसरा बन्धन लगता है। उसके शरीर में विद्वत्तारूपी भूत का संचार हो जाता है।

(14.154) उसे इस बात का दुःख नहीं होता कि खुद ज्ञान-स्वरूप हो कर भी मुझे उसकी विस्मृति हो गई है, किन्तु विषयज्ञान से वह आकाश में फूला नहीं समाता।

(14.155) राजा जैसे स्वप्न में दरिद्री हो भिक्षा माँगे तो दो दाने मिलते ही निज को इन्द्र मानने लगता है,

(14.156) वही हाल, हे पाण्डुसुत! देहातीत का — देहवन्त हो जाने पर — बाह्य-ज्ञान के कारण होने लगता है।

(14.157) वह प्रवृत्तिशास्त्र समझता है, यज्ञविद्या जानता है, किंबहुना, उसे स्वर्ग का भी ज्ञान हो जाता है।

(14.158) और वह समझता है कि आज मेरे सिवाय कोई ज्ञानी नहीं है, चातुर्यरूपी चन्द्र के लिए मेरा चित्त गगन हो रहा है।

(14.159) इस प्रकार सत्त्व गुण जीव का सुख और ज्ञान की नाथें लगा कर लूले मनुष्य को बैल जैसा बना देता है।

(14.160) अब यही आत्मा जिस प्रकार रज से बाँधा जाता है उसका वर्णन सुने।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ 14.7 ॥

(14.161) इसे रज इसी लिए कहते हैं कि वह जीव को रिझाना जानता है। वह अभिलाषा से सदा युवा बना रहता है।

(14.162) वह जीव में थोड़ा-सा प्रवेश करता है त्योंही उसे काम की धुन लग जाती है और वह तृष्णारूपी वायु पर आरूढ़ हो जाता है।

(14.163-64) उसकी इच्छा इतनी प्रबल होती है कि उसके सामने घी से सींचा हुआ प्रखर अग्नि का प्रज्वलित कुण्ड भी अत्यन्त अल्प दिखाई देता है। दुःख भी उसे मधुर लगता है, और इन्द्रपद भी उसे अल्प दिखाई देता है।

(14.165) इस प्रकार तृष्णा की वृद्धि होने से मेरु भी हाथ लग जाय तो भी वह चाहता है कि कोई और दारुण वस्तु ले लूँ।

(14.166) वह कौड़ी-कौड़ी के लिए जीवन को निछावर करने लगता है और एक तृण के लाभ से भी निज को कृतार्थ समझता है।

(14.167) यह सोच कर कि आज गाँठ का द्रव्य खर्च कर दूँ ते कल क्या करूँगा, वह आशा से बड़े-बड़े उद्यम करता है।

(14.168) वह सोचता है कि स्वर्ग का जाऊँ तो वहाँ क्या खाऊँगा। अतएव वह यज्ञ करने की चेष्टा करता है।

(14.169) एक से एक बढ़ कर व्रत करता है, और यज्ञ आदि कर्मों का कामना के सिवाय हाथ नहीं लगाता।

(14.170) जैसे ग्रीष्मान्त की वायु विश्राम लेना नहीं जानती वैसे ही यह रजोगुणी जीव व्यापार के विषय में फँसा रात और दिन नहीं देखता।

(14.171-72) उसके सामने मछली क्या चंचल होगी? वह स्वर्ग या संसार की आशा से क्रियारूपी अग्नि में ऐसे वेग से प्रवेश करता है मानों स्त्री का नेत्र-कटाक्ष हो। वैसी चपलता विद्युत् में भी नहीं है।

(14.173) इस प्रकार वह देहातीत जीव देह में प्रवेश कर तृष्णा की शृंखला ले अपने ही गले में पहनने की चेष्टा करता है।

(14.174) इस प्रकार देही का इसी देह में रजोगुण का दारुण बन्धन होता है। अब तमोगुण के कौशल्य का वर्णन सुनो।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ 14.8 ॥

(14.175) आँख में जिसका परदा आ जाने से व्यवहार की दृष्टि मन्द हो जाती है, जो मोहरूपी रात्रि के काले मेघ के समान है,

(14.176) अज्ञान का जीवन जिस एक वस्तु पर निर्भर हैं, जिससे सब जगत् मत्त हो नाचता है,

(14.177) जो अविचार का महा-मन्त्र है, जो मूर्खतारूपी मद्य का पात्र है, अधिक क्या कहें जीवों के लिए जो मोहनास्त्र है

(14.178) वह हे पार्थ! तम है। वह देह का ही आत्मा माननेवालों को उपर्युक्त लक्षणों की घटना द्वारा चारों ओर से कस कर बाँधता है!

(14.179) वह शरीर से यद्यपि एक ही है तथापि चराचर में भरा रहता है, और उसके सिवाय जगत् में दूसरी वस्तु नहीं रहती।

(14.180) इसके कारण मनुष्य की सब इन्द्रियाँ जड़ हो जाती हैं, मन में मूढता समाती है, और दृढ आलस छा जाता है।

(14.181) शरीर ऐंठता है, सम्पूर्ण कार्यों में अरुचि उत्पन्न हेती है, और केवल जमहाइयों की रेल-पेल हो जाती है।

(14.182) हे किरीटी! वह मनुष्य आँखें खुली होने पर भी नहीं देखता, न बुलाने पर भी हाँ कह उठता है,

(14.183) नीचे गिरा पत्थर जैसे कनियाना वा मुरकना नहीं जानता, वैसे ही वह मनुष्य करवट ले कर बदलना नहीं जानता।

(14.184) पृथ्वी पाताल को जाय अथवा ऊपर आकाश भी आ गिरे, तथापि उठने की इच्छा ही उसमें उत्पन्न नहीं होती।

(14.185) राम से लेटे हुए उसके अन्तःकरण में उचित या अनुचित किसी बात का भी स्मरण नहीं होता; केवल जहाँ का तहाँ लोटते रहने की ही बुद्धि होती है।

(14.186) वह हथेलियाँ उठा कर, उन पर गाल रख कर, अथवा पाँवों में मस्तक जमा कर बैठता है।

(14.187) निद्रा की तो उसके हृदय में अत्यन्त प्रीति रहती. है। सोते हो स्वर्ग का भी तुच्छ समझता है।

(14.188) ब्रह्मदेव का आयुष्य प्राप्त हो और सोते ही रहें, इसके अतिरिक्त उसे दूसरी इच्छा नहीं रहती;

(14.189) अथवा रास्ता चलते-चलते यदि कहीं अकस्मात् लेटने के साथ ही आँख लग जाय तो नींद के सामन वह अमृत को भी स्वीकार नहीं करता।

(14.190) वैसे ही यदि बरबस कभी किसी व्यापार में प्रवृत्त हो तो उसका वह व्यापार अन्धे के, क्रोध से किये हुए, व्यापार की तरह ज्ञान-शून्य होता है।

(14.191) वह यह नहीं जानता कि कब कैसी चाल चलनी चाहिए, किससे क्या बोलना चाहिए, कौन-सी बात साध्य है और कौन-सी असाध्य है।

(14.192) सम्पूर्ण दावाग्नि का अपने पंखों से पोंछ लेने की अभिलाषा से जैसे पतंग उसमें जा पड़ता है

(14.193) वैसे ही वह धीरज से निषिद्ध कर्मों के विषय में ही साहस रखता है। बहुत क्या कहूँ, उससे ऐसे-ऐसे प्रमाद होते हैं।

(14.194) सारांश, तमोगुण शुद्ध और निरुपाधि आत्मा को निद्रा, आलस्य और प्रमादरूपी तीन बन्धों से बाँधता है।

(14.195) जैसे अग्नि अब काष्ठ में भर जाती है तो वह काष्ठाकार दिखाई देती है, अथवा जैसे आकाश घट से परिच्छिन्न हो तो वह घटाकाश रूप दिखाई देता है,

(14.196) अथवा भरे हुए सरोवर में जैसे चन्द्र प्रतिबिंबित होता है वैसे ही गुणों के पाश में बँधा हुआ आत्मा दिखाई देता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ 14.9 ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ 14.10 ॥

(14.197) जब कफ और वात का अभिभूत कर शरीर में पित्त व्याप्त हो जाता है, तो वह जैसे देह का सन्तप्त कर देता है,

(14.198) अथवा जब वर्षा और ग्रीष्म का जीत कर शीतकाल ही छा जाता है, तब जैसे सब आकाश शीतमय हो रहता है,

(14.199) अथवा स्वप्न और जागृतावस्था का लोप हो कर जब सुषुप्ति आ जाती है, तब जैसे क्षण-भर चित्त की वृत्ति तद्रूप ही हो जाती है,

(14.200) वैसे ही जब सत्त्वगुण रज और तम का जीत कर अपनी प्रतिष्ठा जनाता है तब जीव कहता है कि मैं सुखी हूँ।

(14.201) उसी प्रकार सत्त्व और रज का लोप होकर जब तम को महत्व प्राप्त होता है, तब जीव सहज ही असावधान हो जाता हैं।

(14.202) तथा जब सत्त्व और तम का लील कर रजोगुण वृद्धि पाता है

(14.203) तब देह में रहनेहारा आत्मा कर्म का छोड़ और कुछ भी भला नहीं समझता।

(14.204) इस प्रकार इन तीन श्लोकों में तीनों गुणों का निरूपण हुआ। अब प्रेम के साथ सत्त्व आदि गुणों की वृद्धि के लक्षण सुनो।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ 14.11 ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ 14.12 ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ 14.13 ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ 14.14 ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ 14.15 ॥

(14.205) रज और तम का जीत कर इस देह में सत्त्व-गुण की वृद्धि होने से ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं, –

(14.206) वसन्त ऋतु में जैसे कमलों की सुगन्ध फैलती है, वैसे ही सत्त्व-गुणाश्रित मनुष्य की प्रज्ञा अन्तःकरण में न समा कर बाहर निकलती है।

(14.207) इसकी सब इन्द्रियों के घर विवेक टहल करता है। उसके कर-चरणों का भी आँखें होती हैं।

(14.208) राजहंस की चोंच लगते ही जैसे दूध और पानी के झगड़े का निर्णय हो जाता है,

(14.209) वैसे ही उसकी इन्द्रियाँ भी दोषादोष के विचार का निर्णय करती हैं। और नियम मानों उसकी सेवा के उद्देश्य से उसका आश्रय करते हैं।

(14.210) जो सुनने के योग्य नहीं है सो उसके कान छोड़ देते हैं, जो देखना उचित नहीं है सो उसकी दृष्टि तज देती है, और जो अवाच्य है सो उसकी जीभ टाल देती है।

(14.211) दीपक के सामने जैसे अँधेरा भाग जाता है, वैसे ही निषिद्ध विषय उसकी इन्द्रियों के सामने नहीं आते।

(14.212) वर्षाकाल में जैसे महानदी में बाढ़ आती है वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रों में उसकी बुद्धि बढ़ी हुई दीखती है।

(14.213) पूर्णमासी के दिन चन्द्र की प्रभा जैसे सारे आकाश-भर में फैलती है, वैसे ही उसकी वृत्ति सम्पूर्ण ज्ञानों में विकास पाती है।

(14.214) उसकी वासना का संकोच हो जाता है प्रवृत्ति पीछे हटती है, और मत का विषयों की हीक आ जाती है;

(14.215) एवं सत्त्व की वृद्धि हो तो उपयुक्त लक्षण प्रकट होते हैं और यदि ऐसे समय में मृत्यु हो जाय

(14.216) तो --जैसे सुकाल प्राप्त हुआ हो। और घर में पक्वान्न बना हो और उस समय स्वर्ग से यदि कोई प्रेमी जन पाहुना आ जाय

(14.217) तो इधर जैसी घर में सम्पत्ति है वैसी ही उदारता और धर्म की बुद्धि होने के कारण कीर्ति और परलोक दोनों क्यों न प्राप्त होंगे;

(14.218) वैसे ही हे धनंजय! उस सत्त्वगुणी मनुष्य की उत्तम योग्यता होने के कारण उसका सत्त्व से युक्त देह और कहाँ जा सकता है?

(14.219) क्योंकि जो शरीर भोग भोगने के लिए ही समर्थ है उसका त्याग कर सत्त्वगुण का आचरण करनेहारा जो मनुष्य शुद्ध तत्त्व ले निकलता है

(14.220) वह जो जाता हो से एकदम पुनः सत्त्व की ही मूर्ति बन जाता हैं। बहुत क्या कहें, उसे ज्ञानियों में जन्म प्राप्त हाता है।

(14.221) कहो हे धनुर्धर! राजत्व कायम रहते हुए यदि राजा पर्वत पर जा खड़ा हो तो क्या कुछ न्यून हो जाता है?

(14.222) अथवा यहाँ का दीपक यदि कोई पड़ोस के गाँव में ले जाय तो वह जैसा वहाँ भी दीपक ही बना रहता हैं,

(14.223) वैसे ही शुद्ध सत्त्व की वृद्धि, ज्ञान की वृद्धि-सहित बुद्धि का विचार-समुद्र में तैराने लगती है,

(14.224) और महत्तत्व इत्यादि की परिपाटी का विचार कर, अन्त में विवेक-सहित, आत्म-स्वरूप में लीन हो। जाती है।

(14.225) जो छत्तीस तत्त्वों के परे सैंतीसवाँ तत्त्व है, अथवा जो सांख्य मतानुसार चौबीस तत्वों के परे पच्चीसवाँ तत्व है, और जो तीनों देहों का निरसन होने पर स्वभावतः चौथा देह है,

(14.226) वह सर्वरूप सर्वोत्तम ब्रह्म जिसे सुलभ हो गया है ऐसे ज्ञानी के द्वारा उस सत्त्वगुणी मनुष्य को निरूपम देह का लाभ होता है।

(14.227) इसी प्रकार, देखो, जब तम और सत्त्व गुणों का अधोमुख बैठा कर रजोगुण प्रतिष्ठा पाता है

(14.228) और शरीररूपी गाँव में अपने कार्य की गड़बड़ मचा देता है तो ये लक्षण प्रकट होते हैं, –

(14.229) आँधी आकर जैसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ ऊपर ले उड़ती है वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त होने की मुक्तता हो जाती है;

(14.230) परदारागमन इत्यादि करता हुआ वह मनुष्य उसे विपरीत आचरण नहीं समझता, और बकरी के मुँह के समान इन्द्रियों का चाहे जहाँ चरने देता है।

(14.231) उसका लोभ यहाँ तक मनमाना आचरण करता है कि जो वस्तु उसकी घात में न आ सके वही उससे बचती है।

(14.232) और हे धनंजय! कोई भी उद्यम उसके सामने आ जाय तो वह उसमें प्रवृत्त होता हुआ उसमें से हाथ नहीं निकालता।

(14.233) वह मन्दिर बनाना या अश्वमेघ करना ऐसी कोई दुर्घट धुन पकड़ बैठता है;

(14.234) नगर बसाना, जलाशय खुदवाना, नानाविध बड़े-बड़े बगीचे लगाना

(14.235) ऐसे-ऐसे महान कार्यों के समारम्भों का आरम्भ करता है। इस लोक की और परलोक की वासनाएँ उसके लिए काफी नहीं होतीं।

(14.236) वह ऐसा दुर्घट लोभ रखता है कि समुद्र भी उससे हार खाता है, और अग्नि की उसके सामने तीन कौड़ी की भी प्रतिष्ठा नहीं रहती।

(14.237) इच्छा उसके मन के आगे आगे आशारूपी दौड दौड़ती है, और सम्पूर्ण विश्व का वह उस इच्छा के पाँवों तले पाँवडा बना बिछा देता है।

(14.238) रजोगुण की वृद्धि होने से ये लक्षण सिद्ध होते हैं। इस लक्षण-समुदाय की उपस्थिति में यदि मरण प्राप्त हो

(14.239) ते वह मनुष्य इन्हीं सब चिह्नों-समेत दूसरे देह में प्रवेश करता है, तथापि उसने मनुष्ययोनि ही प्राप्त होती है।

(14.240) परन्तु दरिद्री मनुष्य यद्यपि राजमन्दिर में सुख का उपभोग ले तथापि क्या वह कभी राजा बन सकेगा?

(14.241) बैल को चाहे किसी श्रीमान की बरात में ले जाओ तथापि उसकी घास नहीं छूटती।

(14.242) वैसे ही उस रजोगुणी मनुष्य का ऐसों के ही सहवास का लाभ होता है. कि उसे रात और दिन व्यापार से विश्राम नहीं मिलता।

(14.243) तात्पर्य यह कि जो रजोगुण के दह में डूब कर देह छोड़ देता है वह जड़ कर्मों में श्रद्धा रखनेवालो के कुल में जन्म लेता है।

(14.244) इसी प्रकार जब रज और सत्त्व-वृत्ति का अभिभूत कर तमोगुण उन्नत होता है

(14.245) तब शरीर में अन्तर्बाह्य जो चिह्न प्रकट होते हैं उनका भी हम वर्णन करते हैं। श्रोत्रबल से भली भाँति सुनो।

(14.246) उस समय मन ऐसा हो जाता है जैसा कि अमावस्या की रात का रवि और चन्द्र से विहीन गगन होता है।

(14.247) अन्तःकरण स्फूर्ति-हीन, शून्य और ऊजड़ पड जाता है और उसमें से विचार का नाम मिट जाता हैं।

(14.248) बुद्धि अपनी मृदुता यहाँ तक छोड़ देती है, कि पत्थर का भी कुछ नहीं समझती। स्मरण हद के पार निकाल दिया सा दिखाई देता है।

(14.249) अविवेक के नशे से शरीर अन्तर्बाह्य भर जाता है और एक मूर्खता ही उसे आलिंगन देती है।

(14.250) इन्द्रियों के सन्मुख मूर्तिमान आचारभंग खड़ा रहता है और मरते तक इसके कर्म अनाचार की ओर ही झुकते हैं।

(14.251) और भी देखा जाता है कि घुग्घू का जैसे अँधेरे में ही दिखाई देता है, वैसे ही उसका चित्त दुष्कर्म से ही आनन्दित होता है।

(14.252) उसका चित्त निषिद्ध वस्तुओं में से चाहे जिसकी इच्छा करें, इन्द्रियाँ उसी ओर दौड़ती हैं।

(14.253) वह मदिरा पिये बिना ही डोलता है, सन्निपात के बिना ही बड़बड़ाता है, और प्रेम के बिना ही पागल जैसा भूला हुआ रहता है।

(14.254) चित्त उड़ जाता है परन्तु वह उन्मनी अवस्था नहीं, वह केवल मोह के नशे के वश हो जाता है।

(14.255) सारांश, जब तमोगुण अपनी सामग्री-सहित उन्नत होता है, तब ये चिह्न बढ़े हुए होते हैं।

(14.256) और प्रसंगवशात् ऐसे लक्षणों की उपस्थिति में मृत्यु आ जाय तो वह मनुष्य उन सब लक्षणों-सहित तमोगुण में ही प्रवेश करता है।

(14.257) राई अपना गुण बीज में रख कर नष्ट हो जाय और वृक्षरूप से उगे तो राई के अतिरिक्त क्या कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है?

(14.258) आग से दीपक की ज्योति सुलगाई जाय और आग बुझा दी जाय, तथापि जहाँ वह ज्योति लगेगी वहाँ सब अग्निमय ही हो जावेगा,

(14.259) वैसे ही संकल्प को तमोगुण की पोटली में बाँध कर देह का त्याग किया जाय तो वह देह फिर तमोरूप ही होता है।

(14.260) अब बहुत क्या कहा जाय, जो कोई तमोगुण की वृद्धि होते हुए मृत्यु पाता है वह पशु या पक्षी, अथवा झाड़ या कीटकरूप से उत्पन्न होता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ 14.16 ॥

(14.261) इसी लिए श्रुतियों में कहा है कि सुकृत वह है जो सत्त्व-गुण से उत्पन्न हो।

(14.262) इसी लिए स्वभावतः उसमें सुख और ज्ञान-रूपी अपूर्व निर्मल और सात्विक फल लगते हैं।

(14.263) और जो रजोगुण क्रियाएँ हैं वे कटु इन्द्रायण के फल की तरह बाहर से सुखरूप दिखाई देती हैं परन्तु दुःख ही फलती हैं;

(14.264) अथवा निमकौड़ियों की फसल ऊपर से जैसी सुन्दर परन्तु भीतर से विष के समान कड़वी होती है वैसे ही वे रजोगुण के फल भी होते हैं।

(14.265) विषांकुर से जैसे विष ही उत्पन्न होता है वैसे ही तामस कर्म जितना है उससे अज्ञानरूपी फल ही पकता हैं।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ 14.17 ॥

(14.266) अतएव हे अर्जुन! दिनमान का हेतु जैसे सूर्य है वैसे ही संसार में सत्त्व ही ज्ञान का हेतु है।

(14.267) और निज का विस्मरण जैसे द्वैत का हेतु है वैसे ही रज लोभ का कारण है।

(14.268) उसी प्रकार हे प्रबुद्ध! मोह, अज्ञान और प्रमाद, इन मलिन दोषसमूहों का बार-बार तमोगुण ही कारण होता है।

(14.269) एवं हथेली के आँवले के समान हमने विवेक की दृष्टि से तीनों गुणों का अलग-अलग वर्णन किया।

(14.270) इनमें रज और तम की वृद्धि से निपतन होता है, तथा सत्त्व के बिना मनुष्य ज्ञान की ओर नहीं आता।

(14.271) अतएव जैसे ज्ञानी जन सबको छोड़ चौथी भक्ति का स्वीकार करते हैं, वैसे ही कोई आजन्म सात्विक वृत्ति रखने का ही व्रताचरण करते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ 14.18 ॥

(14.272) इस प्रकार जो सत्वाचरण करते रहते हैं उन्हें देह छोड़ने पर स्वर्ग का लाभ हाता है।

(14.273) वैसे ही जिनका जीवन और मृत्यु रजोगुण में ही होती है वे मृत्युलोक में मनुष्य-जन्म पाते हैं।

(14.274) वहाँ एक ही देहरूप थाली में सुखदुःखरूपी खिचड़ी खानी पड़ती है और मार्ग में बैठी हुई मृत्यु कभी नहीं टलती।

(14.275) उसी प्रकार तमोगुण में जो शरीर छोड़ते हैं उन्हें नरक-भूमि की सनद मिलती है।

(14.276) सारांश, वस्तु की सत्ता से ये तीनों गुण सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं।

(14.277) परन्तु वस्तु निज-स्वरूप से पूर्ण होती हुई निज का गुणरूप समझ कर गुणों के कार्यों का अनुकरण करती है।

(14.278) जैसे स्वप्न में बना हुआ राजा शत्रु की चढ़ाई देखता हुआ अपने में ही अपना जय या पराजय देखता है,

(14.279) वैसे ही स्वर्ग, मृत्यु और नरक गुणों की वृत्ति के भेद हैं। अन्यथा इस दृष्टि का छोड़ दो तो सब केवल ब्रह्म ही है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ 14.19 ॥

(14.280) परन्तु यह बात रहने दो। तथापि यह ध्यान रक्खो कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए हमने पहल जो एक बात कही थी उसे फिर सुनो।

(14.281) यह जान लो कि ब्रह्म की सत्ता द्वारा ये तीनों गुण ही स्वभावतः देह के मिस से उत्पन्न होते हैं।

(14.282) ईंधन के आकार में जैसे अग्नि ही प्रकट होती है, अथवा सम्पूर्ण वृक्षों के रूप में जैसे पृथ्वी का अन्तर्गत जल ही साकार हुआ दिखाई देता है,

(14.283) अथवा दही के रूप में जैसे दूध ही परिणत हाता है, अथवा ईख के रूप में जैसे मिठास ही मूर्तिमती होती है,

(14.284) वैसे ही ये तीनों गुण अन्तःकरण-सहित देहरूप हो जाते हैं। यही वस्तुतः बन्धन का कारण है;

(14.285) तथापि हे धनुर्धर! यह आश्चर्य देखे कि इतनी उलझन होते हुए भी मोक्ष का विस्तार कुछ कम नहाँ हाता।

(14.286) यद्यपि तीनों गुण अपने-अपने धर्मानुसार देह के संचित या क्रियमाण कर्म करते हैं, तथापि ज्ञानियों की गुणातीतता कुछ कम नहीं होती।

(14.287) इस प्रकार जो सहज मुक्ति प्राप्त होती है उसे अब हम तुम्हें सुनाते हैं, क्योंकि तुम ज्ञानरूपी कमल के भ्रमर हो।

(14.288) हम जो एक सिद्धान्त वर्णन कर चुके हैं कि गुणों में जो चैतन्य है वह गुणों के समान नहीं है, वही बात यह है।

(14.289) ज्ञान होने पर यह गुण-संसार ऐसा दिखाई देता है जैसे जागृत होने पर स्वप्न जान पड़ता है।

(14.290) अथवा जैसे तीर पर बैठ कर देखनेवाला मनुष्य जान लेता है कि बार बार हिलता हुआ, तरंगों में दिखाई देनेहारा, प्रतिबिम्ब मेरा ही है,

(14.291) अथवा नट ने कुशलता से वेष बदला हो तथापि वह जैसे निज का नहीं भूलता वैसे ही ज्ञानी जन इस गुणसमूह से एकरूप न हो कर इस के साक्षी रहते हैं।

(14.292) जैसे आकाश तीनों ऋतुओं को धारण करता हुआ अपनी भिन्नता में कुछ कमी नहीं होने देता

(14.293) वैसे ही जो गुणों के परे है, और गुणों में स्वभावतः सिद्ध है, उस मूल अहंकार में जिसका अहंकार जा बैठे

(14.294) और वहाँ से देखते हुए जिसे दिखाई दे कि मैं साक्षी और अकर्ता हूँ और ये गुण ही सम्पूर्ण कर्मों के नियोजक हैं;

(14.295) सत्त्व, रज और तम इन भेदों से जो कर्म का विस्तार है वह इन्हों गुणों का विकार है

(14.296) और इनमें मैं ऐसा हूँ जैसे वन में वनश्री की शोभा का कारण वसन्त होता है,

(14.297) अथवा जैसे तारागणों का लुप्त होना, सूर्यकान्त मणि का प्रकाशित होना, कमलों का विकसित होना अथवा अन्धकार का नाश होना,

(14.298) इनमें से कोई भी बात सूर्य नहीं करता वैसे ही मैं अकर्त्ता होता हुआ देह में सत्तारूप हूँ,

(14.299) मैं गुणों को प्रकट करता हूँ.तथा उनका साक्षी हूँ, गुण-धर्मों का पोषण मेरे हो कारण होता है और इनका निरास होने पर जो शेष रहता है वही मैं हूँ;

(14.300) इस प्रकार जिसमें विवेक का उदय हो उसे, हे धनंजय! गुणातीतता ऊर्ध्व मार्ग से प्राप्त होती है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ 14.20 ॥

(14.301) फिर निर्गुण ब्रह्म जो वस्तु है उसे वह ठीक जान लेता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा वह वही ब्रह्मरूप टीका लगाये रहता है।

(14.302) बहुत क्या, हे पाण्डुसुत! जैसे नदी समुद्र में पहुँच जाती है, वैसे वह गुणातीत मनुष्य उपयुक्त रीति से मेरे भाव का प्राप्त दो जाता है।

(14.303) नली पर से उड़ कर तोता जैसे वृक्ष की शाखा पर जा बैठे वैसे ही वह मद्रूपी मूल-अहंकार को जा पहुँचता है –

(14.304) अर्थात् हे ज्ञानी अर्जुन! जो अज्ञानरूपी निद्रा में जोर से खर्राटे ले सो रहा था वह आत्म-स्वरूप में जाग्रत हो जाता है;

(14.305) अथवा हे वीरेश! बुद्धि-भेद-रूपी दर्पण उसके हाथ से गिर पड़ता है जिससे वह प्रकृति के मुख का आभास देखने से वंचित है जाता हैं।

(14.406) हे वीर! जब देहाभिमान-रूपी वायु का चलना बन्द दे जाता है तब जीव और ईश्वर-रूपी तरंग और समुद्र की एकता हो जाती है।

(14.307) अतः वर्षाकाल के अन्त में सब मेघसमूह जैसे आकाश में मिल जाते हैं वैसे हो वह गुणातीत मनुष्य एकदम मुझमें मिल जाता है।

(14.308) और वास्तव में वह मद्रूप होता हुआ देह में रहता है, इस लिए वह देह से उत्पन्न हुए गुणों के वश नहीं होता।

(14.309) जैसा काँच के घर से दीप का प्रकाश नहीं रोका जा सकता, अथवा समुद्र से वड़वानल नहीं बुझाई जा सकती,

(14.310) वैसे ही आने-जानेवाले गुणों से उसका ज्ञान मलिन नहीं होता। आकाश में जैसा चन्द्र, वैसा ही वह देह में बना रहता है।

(14.311) तीनों गुण अपने-अपने बल से देह का अलग-अलग भेष दे नचाते हैं, परन्तु वह अपने अहंकार का उनका खेल देखने के लिए नहीं पहुँचाता।

(14.312) यहाँ तक कि वह, अन्तरात्मा में निश्चल रह, शरीर में क्या होता है सो भी नहीं जानता।

(14.313) साँप जैसे अपने शरीर की केंचुली छोड़ कर बिल में घुस जाता है, और तब उस केंचुली की रक्षा करने की ओर वह ध्यान नहीं देता, वैसे ही इस गुणातीत मनुष्य का हाल होता है;

(14.314) अथवा सूख कर जीर्ण हुए कमल की सुगन्ध जैसे आकाश में मिल जाती है और फिर लौट कर कमल की ओर नहीं आती,

(14.315) वही हाल आत्मस्वरूप में मिल जाने से उस गुणातीत का हो जाता है। उस समय वह नहीं जानता कि शरीर किन लक्षणों का और कैसा है।

(14.316) इस लिए जन्म, जरा, मरण इत्यादि जो शरीर के छः गुण हैं वे देह में ही रह जाते हैं। उसे उनसे सम्बन्ध नहीं रहता।

(14.317) घट टूट कर उसकी खपरियाँ अलग हो जाय, तो जैसे घटपरिच्छिन्न आकाश स्वभावतः महदाकाश ही हो रहता है,

(14.318) वैसे ही यदि देह-बुद्धि का नाश होने पर आत्मस्मृति हो तो क्या आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ रह जावेगा?

(14.319) इस प्रकार वह मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञान के साथ देह में रहता है, इस लिए मैं उसे गुणातीत कहता हूँ।

(14.320) श्रीकृष्ण के इन वचनों से अर्जुन का ऐसा आनन्द हुआ जैसा कि मेघों का शब्द सुन कर मोर को होता है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ 14.21 ॥

(14.321) उस आनन्द के साथ अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा कि महाराज! जिसमें इस प्रकार ज्ञान रहता है वह किन चिह्नों से जाना जाता है?

(14.322) निर्गुण होता हुआ वह किस प्रकार व्यवहार करता है! गुणों का कैसे निवारण करता है? सो हे कृपा के मूलस्थान! वर्णन कीजिए।

(14.323) अर्जुन के इस प्रश्न पर षड्गुणों के राजा श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया सो सुनो।

(14.324) वे बोले — हे पार्थ! हमें तुम्हारे प्रश्न पर आश्चर्य मालूम होता है। तुम क्या यही बात पूछते हो? उस पुरुष को वास्तव में गुणातीत अर्थात् गुणों के पार गया हुआ कहना ही मिथ्या है;

(14.325) क्योंकि जिसे मैं गुणातीत कहता हूँ वह कभी गुणों के अधीन रहता ही नहीं, अथवा गुणों में व्यापार करता हुआ दिखाई देने पर भी वह गुणों के वश में नहीं रहता।

(14.326) परन्तु गुणों की हलचल के बीच रहते हुए उनके अधीन होना या उनके वश न होना कैसे जाना जाय,

(14.327) इस बात का यदि तुम्हें सन्देह हो तो तुम सुख से पूछ सकते हो उसका हम वर्णन करते हैं सुनो।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ 14.22 ॥

(14.328) यद्यपि रजोगुण के बल से शरीर से कम उत्पन्न होने पर प्रवृत्ति फँसा ले,

(14.329) तथापि कर्म सफल होने से उस पुरुष को यह अभिमान नहीं होता कि मैं कर्म करनेहारा हूँ; अथवा निष्फल होने से भी उसकी बुद्धि का कुछ उकताहट नहीं होती।

(14.330) वैसे ही, जब सत्त्वगुण की प्रबलता से सब इन्द्रियों में ज्ञान प्रकाशित हाता है, तब वह उत्तम ज्ञान के कारण सन्तोष से नहीं फूलता,

(14.331) अथवा तमोगुण बढ़ जाने से वह मोह या भ्रम के वश भी नहीं होता, तथा न अज्ञान से दुःखी होता और न अज्ञान का अंगीकार करता है।

(14.332) मोह के समय ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा नहीं रखता, और ज्ञान के समय न कर्म का त्याग करता है, न दुःखी होता है।

(14.333) सूर्य जैसे प्रातःकाल, मध्याह्नकाल या सायंकाल इन तीनों कालों की गिनती नहीं रखता वैसे ही वह गुणातीत पुरुष रहता है।

(14.334) उसे क्या किसी दूसरे क ज्ञान से ज्ञान की प्राप्ति की अपेक्षा रहती है? समुद्र क्या वर्षा के पानी से परिपूर्ण होता है?

(14.335) अथवा कर्म में प्रवृत्त होने से क्या उस पुरुष की कर्मठता जान पड़ती है? हिमालय पर्वत क्या कभी शीत से कँपता है?

(14.336) अथवा मोह उत्पन्न होने से क्या उस पुरुष के ज्ञान का नाश हो सकता है? ग्रीष्म क्या महाअग्नि को जला सकता है?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ 14.23 ॥

(14.337) उसी प्रकार, सब गुणागुणों का कार्य स्वयं आप ही होने के कारण उसे किसी एक वस्तु की जुदाई नहीं मालूम होती।

(14.338) ऐसे अनुभव के साथ वह देह में इस प्रकार रहता है, जैसे कोई मार्ग से चलता हुआ बटोही किसी प्रतिबन्ध के कारण बीच में ठहर गया है।

(14.339) रणभूमि के समान उसकी न जीत होती है और न हार, वैसे ही वह न गुणों के वश होता और न उनसे कर्म करवाता है।

(14.340) अथवा वह ऐसा उदासीन रहता है जैसे शरीर में रहनेवाला प्राण, या घर आया हुआ ब्राह्मण-अतिथि, या चौरस्ते का खम्भा।

(14.341) हे पाण्डव! मृगजल के आन्दोलन से जैसे मेरु पर्वत नहीं डिगता वैसे ही वह गुणों के आवागमन से नहीं हिलता-डुलता।

(14.342) बहुत कहाँ तक कहें, आकाश जैसे वायु से नहीं हिलता, सूर्य जैसे अन्धकार से नहीं लीला जाता,

(14.343) अथवा जागते हुए मनुष्य को जैसे स्वप्न का भ्रम नहीं होता, वैसे ही उस पुरुष को गुण नहीं बाँध सकते।

(14.344) वह निश्चय से गुणों के वश नहीं होता परन्तु उन्हें दूर से कुतूहल के साथ देखता है, मानों वे पुतलियाँ हों और आप खेल देखने-बाला प्रेक्षक

(14.345) वह सत्कर्म के द्वारा सात्विक गुणों में, रजो-विषयक कर्मों के द्वारा रजोगुण में, और तम-मोहादिक विषयों में व्यवहार करता है।

(14.346) परन्तु सूर्य जैसे लौकिक व्यवहारों का साक्षी है वैसे ही वह निश्चय से जानता है कि ये गुणों की क्रियाएँ उसी की सत्ता से होती हैं।

(14.347)समुद्र में ज्वार-भाटा होता है, सोमकान्त मणि पसीजती है, चन्द्र-विकासी कमल खिलते हैं, परन्तु चन्द्र जैसे कुछ नहीं करता,

(14.348) अथवा आकाश में वायु चलती और बन्द होती है, परन्तु आकाश जैसे निश्चल रहता है, वैसे हो जो गुणों की गड़बड़ से नहीं डिगता

(14.349) उस पुरुष का, हे अर्जुन! उपर्युक्त लक्षणों के कारण गुणातीत समझना चाहिए। अब वह पुरुष जो आचरण करता हैं सो सुनो।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ 14.24 ॥

(14.350) हे किरीटी! जैसे वस्त्र में आगे-पीछे सूत के सिवाय और कुछ नहीं रहता वैसे ही वह चराचर में मेरा ही रूप देखता है।

(14.351) इसलिए जैसे श्रीहरि अपने वैरी अथवा भक्तों का समान ही फल देते हैं, वैसे ही वह सुख और दुःख का समान जान कर ही आचरण करता है।

(14.352) यों भी, स्वभावतः सुख-दुःख तभी भोगे जाते हैं जब मनुष्य देह-रूपी जल में मछली बन कर रहे।

(14.353) उस देहाभिमान का त्याग कर वह पुरुष आत्मस्वरूप प्राप्त कर चुका होता हैं। जैसे अनाज की उड़ावनी कर बीज निकाल लिया जाता है,

(14.354) अथवा प्रवाह छोड़ कर गंगा समुद्र में मिलती है तो जैसे उसका खलबलाना एकदम बन्द हो जाता है,

(14.355) वैसे ही हे धनंजय! जो आत्मस्वरूप में बस्ती करता है उसे आप ही आप देह में रहते हुए सुख-दुःख समान हो जाते हैं।

(14.356) जैसे खम्भे को रात और दिन समान ही हैं, वैसे ही आत्मानन्द में निमग्न पुरुष के देह में प्राप्त हुए सुख-दुःख समान हैं।

(14.357) सोते हुए मनुष्य के शरीर को साँप का स्पर्श, अथवा उर्वशी अप्सरा का आलिंगन, दोनों समान दी हैं, वैसे ही स्वरूपस्थित पुरुष को देह के सुख-दुःख समान ही होते है।

(14.358) इसलिए उसे सुवर्ण और गोबर में अन्तर नहीं जान पड़ता, अथवा रत्न और पत्थर में भी कुछ भेद नहीं दिखाई देता।

(14.359) मूर्तिमान स्वर्ग प्राप्त हो, अथवा बाघ ऊपर आ पड़े, तथापि उसकी आत्मबुद्धि का कदापि भंग नहीं होता।

(14.360) जैसे मरा हुआ जीव कभी जीवित नहीं होता, अथवा भूँजा हुआ बीज कभी उगता नहीं, वैसे ही उसकी एकरूपता की स्थिति का भंग नहीं होता।

(14.361).'आप ब्रह्मदेव हैं' — इस प्रकार उसकी स्तुति कीजिए, अथवा — 'तू नीच है' — इस प्रकार निन्दा कीजिए, परन्तु राख जैसे न जलती है न बुझती है,

(14.362) वैसे ही निन्दा और स्तुति उसे कुछ भी नहीं जान पड़ती। सूर्य के घर न अँधेरा रहता है न दिया-बाती होती है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ 14.25 ॥

(14.363) ईश्वर समझ कर उसकी पूजा की जाय, अथवा चोर मान कर उसे क्लेश दिया जाय, अथवा उसे वृषभ और हाथियों से युक्त राजा बना दिया जाय,

(14.364) अथवा चाहे उसके पास मित्र आ बसे, अथवा कोई शत्रु प्राप्त हो, परन्तु जैसे सूर्य का तेज रात या दिन नहीं जानता,

(14.365) अथवा छहों ऋतुओं के आने से जैसे आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे ही उस पुरुष के मन को विषमता नहीं जान पड़ती।

(14.366) और भी एक बात सुनो। वह आचरण करता है तथापि उसे कोई व्यापार उत्पन्न हुआ नहीं दिखाई देता,

(14.367) क्योंकि जब उसने कर्मारम्भों का त्याग कर दिया तब प्रवृत्ति का अन्त ही हो जाता है, जिसमें कर्मों के फल जल जाते हैं।

(14.368) उसके मन में संसार या स्वर्ग के विषय में कोई इच्छा हो उत्पन्न नहीं होती। जो स्वभावतः प्राप्त हो उसी फल का वह उपभोग लेता है।

(14.369) पत्थर जैसे न सुखी होता है और न दुःखी, वैसे ही उसके मन ने कर्तव्याकर्तव्य व्यापारों का त्याग किया रहता है।

(14.370) अब कहाँ तक विस्तार करें, इतने से ही जान लो कि जिसका उपर्युक्त आचार हो वही यथार्थ में गुणातीत है।

(14.371) फिर श्रीकृष्णनाथ ने कहा कि अब जिस उपाय से मनुष्य गुणों के पार जा सकता है सो सुनो।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 14.26 ॥

(14.372) जो मनुष्य चित्त में दूसरा विषय न रख कर भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह गुणों का नाश कर सकता है।

(14.373) अतएव मैं कैसा हूँ, भक्ति कैसी होती है, एकनिष्ठ भक्ति का क्या लक्षण है, सब बातें स्पष्ट कहनी चाहिए।

(14.374) हे पार्थ! सुनो। संसार में मैं ऐसा हूँ जैसे रत्न का तेज और रत्न (यानी एक ही वस्तु), (375) अथवा जैसे द्रवत्व ही पानी हैं, अवकाश ही आकाश हैं, या मधुरता ही शक्कर है दूसरी वस्तु नहीं।

(14.376) जैसे अग्नि ही ज्वाला है, कमलदल का ही नाम जैसे कमल है, वृक्ष ही जैसे शाखा या फूल इत्यादि हैं,

(14.377) अथवा आकर्षित किया हुआ हिम ही जैसे हिमाचल कहा जाता अथवा जमा हुआ दूध ही जैसे दही कहलाता है,

(14.378) वैसे ही विश्व के नाम से सम्पूर्ण मैं ही प्रकट हुआ हूँ। चन्द्रकला को जैसे चन्द्र से छील कर अलग करने की आवश्यकता नहीं है,

(14.379) जमा हुआ घी जैसे पिघलाया न जाय तथापि घी ही है, अथवा कंकण जैसे गलाया न जाय तथापि सोना ही हैं,

(14.380) वस्त्र की तह जैसे खोली न जाय तथापि तन्तु ही है, घट जैसे चूर न किया जाय तथापि मट्टी ही हैं,

(14.381) वैसे ही मैं ऐसा नहीं हूँ कि विश्वत्व दूर करते पर ही दिखाई दूँ। सब विश्व-समेत मैं ही हूँ।

(14.382) इस प्रकार मुझे जानना अव्यभिचारिणी भक्ति कहाती है। संसार में कुछ भी भेद जान पड़ा कि वह व्यभिचार हुआ।

(14.383) इसलिए भेद को छोड़ अभेद-चित्त से निज के समेत सब मद्रूप ही जानो।

(14.384) हे पार्थ! जैसे सोने के ताबीज में सोने का ही कुन्दा रहता है वैसे ही निज को कोई दूसरा मत मानो।

(14.385) रश्मि जैसे सूर्य की होती है, सूर्य से ही उत्पन्न होती है, परन्तु सूर्य से ही लगी हुई है, ऐसे ही निज को जानो।

(14.386) पृथ्वी पर जैसे परमाणु रहते हैं, अथवा हिमाचल में जैसे हिमकण रहते हैं, वैसे ही निज को मुझमें जानो।

(14.387-388) तरंगें छोटी हों परन्तु जैसे वे समुद्र से भिन्न नहीं रहतीं, वैसे ही जब दृष्टि ऐसी एकता से विकसित होती है कि मैं ईश्वर में हूँ, अतएव जुदा नहीं हूँ, तब उसे हम भक्ति कहते हैं।

(14.389) ज्ञान की उत्तम स्थिति भी इसी दृष्टि का समझनी चाहिए, तथा योग का सर्वस्व भी यही है।

(14.390) समुद्र और मेघ दोनों के बीच जैसे अखण्ड धारा लगी रहने से दोनों एक हुए दिखाई देते हैं वैसे ही यह भक्ति की वृत्ति प्रवृत्त होती हैं;

(14.391) अथवा जैसे कुएँ के मुँह और आकाश में कोई जोड न रह कर दोनों एक में ही मिल रहते हैं वैसे ही वह भक्त परमपुरुष में मिला रहता है।

(14.392) सूर्यबिम्ब से लेकर जल में पड़े हुए उसके प्रतिबिम्ब तक, जैसे सूर्य-प्रभा का ही उत्कर्ष दिखाई देता है वैसे ही उस भक्त की सोहंवृत्ति हो जाती है।

(14.393) इस प्रकार जब उससे ईश्वर तक उसकी सोहंवृत्ति प्रकट होती है, तब वह उस वृत्ति-समेत आप ही आप ईश्वर में लीन हो जाता है।

(14.394) जैसे सैन्धव का कण जल में गलते ही उसका गलना बन्द हो जाता है,

(14.395) अथवा घास का जला कर आग जैसे आप भी बुझ जाती है, वैसे ही भेद का नाश कर ज्ञान आप भी नहीं रहता।

(14.396) यह भेद नहीं रहता कि मैं दूर हूँ और भक्त यहीं है। अनादि काल से जो हमारी एकता है वही बनी रहती है।

(14.397) फिर गुणों को जीतने की बात ही नहीं रहती, क्योंकि वहाँ एकता की प्राप्ति की चेष्टा भी बन्द हो जाती है।

(14.398) बहुत क्या कहें, हे मर्मज्ञ अर्जुन! ऐसी जो दशा है वही ब्रह्मत्व है। यह दशा उसे प्राप्त होती है जो मेरी भक्ति करता है,

(14.399) और इन लक्षणों से युक्त जो मेरा भक्त हो उसकी यह ब्रह्मता पतिव्रता कामिनी बनती है।

(14.400) जैसे गंगा के प्रवाह में जो पानी बहता हुआ जाता है उसके लिए योग्य स्थल समुद्र ही है, दूसरा नहीं,

(14.401) वैसे ही हे किरीटी! जो ज्ञान-दृष्टि से मेरी भक्ति करता है वह ब्रह्मता के मुकुट का चूड़ामणि बनता है।

(14.402) इसी ब्रह्मत्व को सायुज्यता कहते हैं। इसी का नाम चौथा पुरुषार्थ है।

(14.403) परन्तु यह देख कर कि मेरी सेवा ब्रह्मत्व का पहुँचने का मार्ग है, कहीं यह न समझ लेना कि मैं ब्रह्मत्व का साधन हूँ, क्योंकि

(14.404) मेरे अतिरिक्त ब्रह्म कुछ दूसरी वस्तु नहीं है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ 14.27 ॥

(14.405) हे पाण्डव! ब्रह्मनाम का जो अर्थ हैं वह मैं ही हूँ। इन शब्दों से मेरा ही वर्णन किया जाता है।

(14.406) हे मर्मज्ञ! चन्द्रमण्डल और चन्द्रमा जैसे दो वस्तुएँ नहीं हैं वैसे ही मुझमें और ब्रह्म में भेद नहीं।

(14.407) जो नित्य है, अचल है, अनावृत है, धर्मरूप हैं, अपार है, अद्वितीय है,

(14.408) बहुत क्या कहूँ, अपना ही नाश कर ज्ञान जिस सिद्धान्त के अपरिमित स्थान में लीन होता हैं वह वस्तु मैं ही हूँ।

(14.409) सुनिए, इस प्रकार उस एकनिष्ठ भक्तों के प्रेमी श्रीकृष्ण ने अर्जुन वीर से निरूपण किया।

(14.410) तब धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय! यह बात तुमसे किसने पूछी थी? बिना पूछे वृथा क्यों बोलते है।?

(14.411) मेरी चिन्ता का निरसन करो। विजय की बात कहो। तब संजय ने मन में कहा — विजय की बात ही छोड़ो।

(14.412) संजय ने विस्मययुक्त मन से निरूपण के रस की उत्तमता की बड़ाई कर कहा कि इस धृतराष्ट्र का भाग्य कैसा है कि इसे युद्ध ही सूझ रहा है!

(14.413) तथापि कृपालु ईश्वर प्रसन्न हो ऐसा करे कि वह इस ज्ञान का भोग ले सके और उसका मोहरूपी महारोग दूर हो जाय!

(14.414) ऐसा विचारते हुए संजय ने श्रीकृष्ण के संवाद की ओर चित्त दिया, तो उसके चित्त में हर्ष की उमंग आ गई।

(14.415) अब संजय उस आनन्द के आविर्भाव से श्रीकृष्ण का संवाद वर्णन करेंगे।

(14.416) निवृत्तिनाथ के ज्ञानदेव कहते हैं कि उन्हीं शब्दों का भाव में आपके हृद्गत करता हूँ, सुनिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां चतुर्दशोऽध्यायः।

पन्द्रहवाँ अध्याय

(15.1) अब मैं उत्तम प्रकार से अपने हृदय की चौकी बना कर उस पर श्रीगुरु की पाँवड़ियों की प्रतिष्ठा करता हूँ।

(15.2) उन पर एकतारूपी अंजलि में सर्वेन्द्रियरूपी फूलों की कलियाँ भर कर पुष्पांजलि की अर्घ्य अर्पण करता हूँ,

(15.3) तथा उनके अनन्य भावरूपी जल से शुद्ध की हुई गुरुनिष्ठा के वासनारूपी चन्दन का लेप करता हूँ।

(15.4) उनके सुकुमार पदों में, प्रेम-रूपी सुवर्ण को शुद्ध कर के तैयार किये हुए, नूपुर पहनाता हूँ।

(15.5) उनकी अँगुलियों में एकनिष्ठता से जगमगाते हुए दृढ अनुराग-रूपी छल्ले पहनाता हूँ।

(15.6) उनके मस्तक पर आनन्दरूपी, सुगन्धित, आठ पातों का, खिला हुआ कमल चढ़ाता हूँ जो मानों अष्ट सात्विक भावों से विकसित हुआ हो।

(15.7) उनके सन्मुख अहंकार-रूपी धूप जलाता हूँ, तथा निरभिमानता के दीप से उनकी आरती करता हूँ, और निरन्तर ऐक्यभाव से उन्हें आलिंगन देता हूँ।

(15.8) श्रीगुरु के चरणों में अपनी काया और प्राणरूपी पाँवड़ियाँ पहनाता हूँ, और उनके चरणों पर से भोग और मोक्षरूपी राई-नोन उतारता हूँ।

(15.9) इस प्रकार श्रीगुरु-चरणों की सेवा से मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा कि जिसकी प्राप्ति से सकल पुरुषार्थों का समुदाय मुझे पट्टाभिषेक करेगा,

(15.10) जिससे मेरे ज्ञान को ऐसा तेज प्राप्त होगा कि वह ब्रह्म में ही विश्राम पावेगा तथा वह मेरी वाचा को अमृत का समुद्र बना देगा,

(15.11) जिससे व्याख्यान के समय शब्दों में ऐसी मधुरता प्राप्त होगी कि उस वक्तृता पर से करोड़ों पूर्ण-चन्द्रों की निछावर कर दी जावे,

(15.12) तथा वह वाणी श्रोताओं को ऐसी ज्ञानरूपी दिवाली प्रकाशित कर दिखावेगी कि जैसे सूर्य के आश्रय से पूर्व दिशा जगत् को प्रकाश की सम्पत्ति अर्पण करती है।

(15.13) उस सौभाग्य से मुझे ऐसी वाणी प्राप्त होगी कि उसके सामने वेद भी अल्प जान पड़ेंगे और कैवल्य भी उतनी शोभा न देगा।

(15.14) उस वाचारूपी लता की ऐसी उत्तम बहार आवेगी कि मानों संसार को श्रवण सुखरूपी मण्डल के नीचे वसन्त ऋतु के सुख का उपभोग मिल रहा हो।

(15.15) और आश्चर्य सुनो। जिसका ठाँव न पा कर मन-सहित वाणी पीछे पलट आती है वह ईश्वर उस वाणी के वश हो जावेगा,

(15.16) और जो वस्तु ज्ञान को अवगत नहीं होती, जो ध्यान के भी वश नहीं होता, वह अगोचर वस्तु उस वाणी से प्रकट हो जावेगी।

(15.17) श्रीगुरु के चरणकमलों का अनुराग प्राप्त हो तो वाणी को उपर्युक्त सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।

(15.18) श्रीज्ञानदेव कहते हैं कि बहुत क्या वर्णन करूँ, श्रीगुरुचरणों का प्रेम आज मेरे सिवाय और कहीं नहीं है।

(15.19) क्योंकि मैं नन्हा बालक हूँ और अपने गुरु का इकलौता हूँ, इसलिए उनकी कृपा एक मेरी ही ओर प्रवृत्त हुई है।

(15.20) देखिए, जैसे मेघ अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति चातकों के लिए खाली कर देता है वैसा ही सद्गुरु ने मेरे लिए किया है।

(15.21) इस कारण मैं वृथा बक बक करने लगा तो मुझे गीता जैसे माधुर्य का लाभ हो गया।

(15.22) प्रारब्ध अनुकूल हो तो मिट्टी भी रत्नरूप हो जाती है। आयुष्य सबल हो तो मृत्यु भी प्रेम करती है।

(15.23) उबलते पानी में चाहे कंकर छोड़े हों, तथापि श्रीजगन्नाथ की कृपा हो तो भूख के समय प्राप्त होते ही वे अमृत-तुल्य चावल बन जाते हैं।

(15.24) इसी प्रकार जो श्रीगुरु किसी को अंगीकार कर लें तो उसको सब संसार मोक्षमय हो जाता है।

(15.25) देखिए, क्या श्रीनारायण ने पाण्डवों की हीन स्थिति की कथा को ही पुराणों की योग्यता नहीं दे दी?

(15.26) उसी प्रकार श्रीनिवृत्तिराज ने मेरे अज्ञान को ज्ञान की योग्यता प्राप्त करा दी है।

(15.27) परन्तु अब यह बात रहने दो। इस विषय में बोलते हुए प्रेम उमड़ा आता है। गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कितना उल्लास हो रहा है!

(15.28) मैं अब उसी उल्लास से, गीता के अभिप्राय सहित, आप सन्तों के चरणों का आश्रय करता हूँ,

(15.29) और उस अभिप्राय के निवेदन का आरम्भ करता हूँ। चौदहवें अध्याय के अन्त में श्रीकैवल्यपति ने यह निर्णय किया।

(15.30) कि जिसके हाथ ज्ञान प्राप्त हुआ हो वही मोक्ष के लिए समर्थ होता है। जैसे सौ यज्ञ करनेहारे को स्वर्ग की सम्पत्ति प्राप्त होती है,

(15.31) अथवा जो ब्रह्म-कर्म करता है वही ब्रह्मदेव होता है दूसरा नहीं,

(15.32) अथवा जो नेत्रवान् हो उसी को सूर्य के प्रकाश का लाभ होता है, वैसे ही ज्ञान ही मोक्ष का जीवन है

(15.33) तथापि इस विषय का विचार करते हुए कि जगत् में ज्ञान की योग्यता किसे प्राप्त होती है केवल एक ही बात दिखाई देती है।

(15.34) आँखों में अंजन लगाने से पाताल का द्रव्य भी दिखाई दे सकता है, परन्तु वे आँखें उस मनुष्य की-सी होनी चाहिए, जो उलटा जन्मा हो,

(15.35) वैसे ही ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, परन्तु उसके लिए मन ऐसा शुद्ध होना चाहिए कि ज्ञान स्थिर रह सको

(15.36) इसलिए श्रीकृष्ण ने अपने विवेचन से यह सिद्ध किया कि ज्ञान की स्थिरता कभी विरक्तता के बिना नहीं होती।

(15.37) तथा विरक्तता किस प्रकार मन को जयमाल पहनाती है, इस विषय में भी सर्वज्ञानी श्रीहरि ने निर्णय कर दिया

(15.38) कि जैसे भोजन को बैठा हुआ मनुष्य यह जानते ही कि रसोई विष मिला कर राँधी गई है, थाली का त्याग कर चला जाता है,

(15.39) वैसे ही यदि इस सम्पूर्ण संसार की अनित्यता का ज्ञान हो जाय तो वैराग्य पीछे दौड़ता है।

(15.40) अब इस संसार की अनित्यता का स्वरूप श्रीकृष्ण इस पन्द्रहवें अध्याय में उसे वृक्षाकार की उपमा दे बखानते हैं।

(15.41) सहज ही किसी पेड़ को उखाड़ लो तो वह जैसा उलटा हुआ हाथ आता है, और शीघ्र ही सूख जाता है, वैसा यह संसार का भाड़ नहीं है।

(15.42) इस प्रकार श्रीकृष्ण संसार का आवागमन बन्द करने के हेतु, रूपक की कुशलता के साथ, निरूपण करते है।

(15.43) इस पन्द्रहवें अध्याय का यही हेतु है कि संसार का मिथ्यात्व सिद्ध हो और अहंकार स्वस्वरूप में स्थित हो।

(15.44) अब ग्रन्थ के इस सम्पूर्ण गर्भितार्थ का मैं विस्तार से सहृदयतापूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे सुनिए।

(15.45) महा-आनन्दरूपी समुद्र के पूर्णमासी के पूर्णचन्द्र द्वारका के नरेन्द्र श्रीकृष्ण ने कहा,

(15.46) हे पाण्डुकुमार! स्वस्वरूपी घर को जाते हुए मार्ग में जो विश्वाभास प्रतिबन्ध करता है

(15.47) सो यह जगडम्बर है। यह संसार नहीं, इसे एक विशाल फैला हुआ वृक्ष ही समझो।

(15.48) परन्तु अन्य वृक्षों की नाई इसकी जड़ें नीचे और शाखाएँ ऊपर नहीं होती, इसलिए यह किसी के ध्यान में नहीं आता।

(15.49) जड़ में आग लगा दी जाय अथवा कुल्हाड़ी का घाव किया जाय तो, ऊपरी भाग कितना भी विस्तृत हो तथापि,

(15.50) साधारण वृक्ष जड़ से टूटने के कारण शाखाओं-सहित गिर पड़ेगा; परन्तु इस वृक्ष में वैसी बात कहाँ है? टूटने के लिए यह वृक्ष सहल नहीं है।

(15.51) हे अर्जुन! यह कुतूहल वर्णन करने में अलौकिक मालूम होता है कि इस वृक्ष की बाढ़ नीचे की ओर होती है।

(15.52) जैसे सूर्य की ऊँचाई न जाने कितनी है, परन्तु उसकी किरणों का समुदाय नीचे की ओर फैलता है, वैसे ही यह संसार भी एक आश्चर्यकारक झाड़ है।

(15.53) और जैसे कल्पान्त के जल से आकाश व्याप्त हो जाता है, वैसे ही जगत् में जो कुछ है वह सब इसी वृक्ष से व्याप्त है।

(15.54) अथवा सूर्य के अस्त होने पर रात्रि जैसे अँधेरे से भर जाती है, वैसे ही यह वृक्ष आकाश में समाया हुआ है।

(15.55) खाने के लिए इसमें न कोई फल लगता है और न सूँघने के लिए कोई फूल लगता है। जो कुछ है सो सब यह वृक्ष ही है।

(15.56) इसकी जड़ ऊपर है परन्तु यह उखड़ा हुआ नहीं है। इसी लिए यह सर्वदा हरा-भरा रहता है।

(15.57) और यद्यपि हम करते हैं कि इसकी जड़ ऊपर होती है तथापि नीचे की ओर भी इसकी कई जड़ें होती हैं।

(15.58) यह प्रबलता से चारों ओर उगा हुआ है, जैसे कि पीपल या बड़ जिसके बीज-बीज में शाखाओं का विस्तार होता है।

(15.59) और भी हे धनंजय! यह भी नहीं कि इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ नीचे की ओर ही होती हों।

(15.60) ऊपर की ओर भी इसकी शाखाओं के अपार समूह फैले हुए हैं।

(15.61) मानो आकाश ही पल्लवित हुआ हो, अथवा वायु ही वृक्षाकार हो रही हो अथवा जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाएँ मूर्तिमती हो गई हों,

(15.62) ऐसा यह एक विश्वरूपी ऊर्ध्वमूल निविड़ वृक्ष उत्पन्न हुआ है।

(15.63) अब इसका ऊर्ध्व क्या है, जड़ किस प्रकार की है, अथवा इसका अधोमुखत्व या इसकी शाखाएँ कैसी हैं,

(15.64) अथवा इस वृक्ष की जो जड़ें नीचे की ओर हैं वे क्या हैं, ऊर्ध्व शाखाएँ कैसी है,

(15.65) और यह अश्वत्थ नाम से क्यों प्रसिद्ध है, तथा आत्मज्ञानियों ने इसके विषय में क्या-क्या निर्णय किये हैं

(15.66) इत्यादि बातें हम तुम्हें उत्तम प्रकार से ऐसे स्पष्ट निरूपण द्वारा समझाते हैं कि तुम्हें प्रतीति हो जाय!

(15.67) हे सुभग! सुनो, यह निरूपण तुम्हारे ही सुनने योग्य है। अन्तःकरण सब शरीर अवधानमय कर दोष

(15.68) इस प्रकार ज्योंही यादववीर श्रीकृष्ण ने प्रेम से भर हुए वचन कहे, त्योंही मानो अवधान ही अर्जुनरूप से मूर्तिमान् हो गया।

(15.69) अर्जुन का श्रवणावधान ऐसा बढ़ गया कि देव का निरूपण उसके सामने अल्प दिखाई देने लगा; मानो दसों दिशाएँ आकाश को आलिंगन दे रही हों।

(15.70) श्रीकृष्ण के वचन रूपी सागर के लिए अर्जुन मानों दूसरा अगस्त्य ही उत्पन्न हो गया जो एकदम सम्पूर्ण उनके निरूपण का घूँट ही लिया चाहता हो।

(15.71) इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अमर्याद उभराती हुई अर्जुन की उत्सुकता देखी, तो उन्हें जो आनन्द हुआ उससे उन्होंने उसकी बलैयाँ लीं।

श्रीभगवानुवाच

> ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
> छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ 15.1 ॥

(15.72) और फिर उन्होंने कहा कि हे धनंजय! इस वृक्ष का ऊर्ध्व वह है जिसे केवल इसी वृक्ष के कारण ऊर्ध्वता दिखाई देती है,

(15.73) अन्यथा जिसके मध्य, ऊर्ध्व वा अध आदि भेद नहीं होते, जहाँ अद्वैत की ही एकता है,

(15.74) जो सुनाई न देनेवाला शब्द है, सूँघी न जानेवाली सुगन्ध है, जो रति बिना ही प्राप्त हुआ मूर्तिमान् आनन्द है,

(15.75) जिसके इस पार और उस पार वही है, आगे-पीछे वही है, जो स्वयं अदृश्य रहता हुआ, तथा अन्य कोई दृश्य न रहते हुए भी, देखता है

(15.76) जिसको उपाधिरूपी द्वैत की सहायता मिलते ही नामरूप-रूपी संसार प्रकट होता है,

(15.77) जो ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ही केवल नाम-रूप है, जो सुख के निष्कर्ष से भरा हुआ आकाश है,

(15.78) जो न कार्य है न कारण, जो द्वैत हो न अद्वैत, जो स्वयं ही निज को जाननेहारा है,

(15.79) ऐसा जो परब्रह्म परमात्मा है वह इस वृक्ष का ऊर्ध्व है। अब इसकी जड़ से अंकुर फूटने की रीति यों है।

(15.80) जो वास्तव में कुछ न होने पर भी माया नाम से प्रसिद्ध है, अथवा वन्ध्या स्त्री की सन्तति की कथा की भाँति

(15.81) जो न सत्य है न असत्य है, जो इस प्रकार की है कि विचार का नाम भी नहीं सह सकती, जिसे अनादि कहते हैं,

(15.82) जो मानों अनेक सिद्धान्तों की सन्दूकची है, जगद्रूपी अभ्र का आकाश है, सम्पूर्ण आकारवान् वस्तुओं का तह किया हुआ वस्त्र है,

(15.83) जो जगद्रूपी वृक्ष का बीज है, जो प्रपंचरूपी चित्र खींचने की भूमि है, जो विपरीत ज्ञानरूपी प्रकाशित दीपक है

(15.84) वह माया ब्रह्म के समीप ऐसी है जैसे मानों हुई नहीं। वास्तव में ब्रह्म का ही प्रभाव प्रकट होता है।

(15.85) जैसे नींद हमें मूढ़ बना देती है, अथवा दीपक में जैसे काजल और मन्द ज्योति हो जाती है,

(15.86) तथा स्वप्न में जैसे प्रियतम के पास सोई हुई तरुणी उसे जगा कर, सचमुच में आलिंगन किये बिना ही उसको आलिंगन करती और काम की वासना जाग्रत कराती है,

(15.87) वैसे ही ब्रह्मस्वरूप में माया प्रकट हुई है। अतः जो अपने स्वरूप का अज्ञान है वही हे धनंजय! इस संसार-वृक्ष की पहली जड़ है।

(15.88) ब्रह्म-स्वरूप का — अपना — अज्ञान ही इस वृक्ष के ऊर्ध्व भाग में घनीभूत कन्द बन जाता है। इसी को वेदान्त में संसार का बीजभाव कहते हैं।

(15.89) घोर अज्ञान अथवा सुषुप्ति को बीजांकुर भाव कहते हैं, और स्वप्न और जागृति उसका फलभाव कहा जाता है।

(15.90) वेदान्त में इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है। परन्तु यह बात रहने दो। सम्प्रति यह सिद्ध हुआ कि इस संसार-वृक्ष का मूल अज्ञान है।

(15.91) उसका ऊर्ध्व निर्मल आत्मा है, और वह मायारूपी दृढ थाँवला (आलबाल) बाँधता है जिसमें से नीचे ऊपर जड़ें निकलती हैं।

(15.92) प्रथम जो जड़ें अनेक भिन्न-भिन्न सन्देहों के रूप में प्रकट होती हैं वही चारों ओर अंकुरित हो नीचे की ओर फैलती हैं।

(15.93) इस प्रकार इस संसार-तरु का मूल जब ऊपर से जोर करता है तो नीचे की ओर उसके अंकुरों का समूह प्रकट होता है।

(15.84) फिर उनमें से प्रथम ज्ञान-वृत्ति अर्थात् महत्तत्वरूपी एक कोमल और विकसित पत्ती निकलती है।

(15.95) और सत्त्व, रज और तम-रूपी तीन प्रकार का जो अहंकार है वही मानो एक तीन पत्तीवाला अंकुर अधोमुख फूटता है।

(15.96) वह बुद्धि की शाखा का आश्रय कर अनेक भेदांकुरों की वृद्धि करता है, और उनसे हरा-भरा होने पर उसमें से मनरूपी शाखा निकलती है।

(15.97) इस प्रकार उस मूल में से उसकी दृढता और भेदरूपी कोमल रस के द्वारा अन्तःकरण चतुष्टयरूपी शाखाओं के अंकुर फूटते है।

(15.98) फिर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूतरूपी सुन्दर सीधी कोंपलें निकलती है।

(15.99) और उनमें से श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ और उनके विषय-रूपी कोमल और विचित्र पत्तियाँ फूटती हैं।

(15.100) शब्दांकुर प्रकट होते ही श्रोत्रेन्द्रियाँ आगे बढ़कर सुनने की इच्छा पूर्ण करती हैं।

(15.101) स्पर्शांकुरों में शरीर की त्वचारूपी बेलें और पल्लव मानों दौड़कर आ लगते हैं और फिर उनसे और अनेक नूतन विकार उत्पन्न होते हैं।

(15.102) फिर जब रूपरूपी पत्ते विकसित होते हैं तब आँखों दूर तक दौड़ती हैं और व्यामोहता भली भाँति पल्लवित हो जाती है;

(15.103) तथा ज्योंही रस की शाखा वेग से और अधिकाधिक बढ़ती है, त्योंही जीभ की स्वादेच्छारूपी अनेक पल्लव निकलते हैं।

(15.104) उसी प्रकार गन्ध के अंकुर निकलते ही घ्राणरूपी शाखा दृढ होती है और वहाँ आनन्द से लोभ का दल आ बैठता है।

(15.105) इस प्रकार महत्तत्व, अहंबुद्धि, मन और महाभूतों का समुदाय ये सब संसार के अन्त तक विस्तृत होते रहते हैं।

(15.106) किंबहुना, संसार अधिकतर इन्हीं आठों विभागों में विस्तृत है। परन्तु जैसे जितनी सीप हो उतने ही अधिष्ठान पर भ्रम से चाँदी की प्रतीति होती है,

(15.107) अथवा समुद्र का विस्तार ही जैसे उसकी तरंगों का विस्तार दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म ही इस अज्ञान-मूल संसार-वृक्ष के स्वरूप से दिखाई देता है।

(15.108) और मनुष्य जैसे अपने स्वप्न का सब परिवार आप ही बन जाता है वैसे ही यह सब विस्तार उसी एक ब्रह्म का है, तथा वही इस विस्तार का कारण है।

(15.109) परन्तु यह सब रहने दो। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त प्रकार से एक ऐसा आश्चर्यजनक वृक्ष प्रकट होता है जिसमें महत्तत्व इत्यादि अंकुर और नीचे की ओर फूटी शाखाएँ होती हैं।

(15.110) अब इसे ज्ञानी लोग अश्वत्थ क्यों कहते हैं उसका कारण भी हम सुनाते हैं, सुनो।

(15.111) अश्वत्थ का अर्थ यह है कि यह प्रपंचरूपी वृक्ष दूसरे दिन प्रातःकाल होने तक एकसा नहीं रहता।

(15.112) क्षण न व्यतीत होते जैसे मेघ अनेक रंग बदलता है, अथवा जैसे विद्युत पूरे क्षण भर नहीं ठहरती,

(15.113) कंपायमान होते हुए कमल-पत्र पर जैसे जल नहीं ठहरता, अथवा व्याकुल मनुष्य का चित्त जैसे स्थिर नहीं रहता,

(15.114) वैसी ही इस संसार-वृक्ष की स्थिति है। इसका क्षण-क्षण में नाश होता जाता है, इसलिए इसे अश्वत्थ कहते हैं।

(15.115) अश्वत्थ शब्द से साधारणतः पीपल का अर्थ होता है। परन्तु श्रीहरि के वचनों का यह भाव नहीं है।

(15.116) अन्यथा विषयों को पीपल कहना मुझे तो भला दिखाई देता है। परन्तु आपको लौकिक बातों से क्या मतलब?

(15.117) अतएव इस प्रस्तुत अलौकिक ग्रन्थ का ही विवरण सुनिए। इस संसारवृक्ष को इसकी क्षणिकता के कारण ही अश्वत्थ कहते हैं।

(15.118) इस वृक्ष की और भी एक बड़ी प्रसिद्धि इसके अविनाशित्व के विषय में है। परन्तु उसका भीतरी अर्थ यह है कि

(15.119) जैसे समुद्र एक ओर से मेघों के द्वारा रितोया जाता है तथा दूसरी ओर नदियाँ उसे भरती रहती हैं,

(15.120) जिससे ऐसा जान पड़ता है कि वह परिपूर्ण ही है, – न कभी घटता और न बढ़ता है, – परन्तु यह भूल तभी तक होती है जब तक मेघ और नदी रूपी कली नहीं खुलती, (भाव यह कि

नदियों का बहना और वर्षा होना बन्द हो जाय तो समुद्र के न सूखने का भेद खुले)

(15.121) वैसे ही इस वृक्ष की उत्पत्ति और लय — शीघ्रता से होने के कारण — जान नहीं पड़ता, इसलिए संसार इसे अव्यय समझता है।

(15.122) यों भी दान-शील पुरुष जैसे खर्च करने के कारण ही संचय करनेहारा समझा जाता है, वैसे ही इस वृक्ष का निरन्तर व्यय होने से ही यह अव्यय जान पड़ता है।

(15.123) अथवा जैसे अत्यन्त वेग से दौड़ता हुआ रथ का चक्र भूमि से लगता हुआ नहीं जान पड़ता,

(15.124) वैसे ही प्राणि-रूपी शाखा कालान्तर से सूख कर जब टूट कर गिर जाती है तो उसके स्थान में और करोड़ों अंकुर निकलते हैं,

(15.125) और आषाढ़ मास में उमड़े हुए मेघों के समान यह नहीं जान पड़ता कि वह एक शाखा कब टूट गई और दूसरी करोड़ों कब उत्पन्न हो गई।

(15.126) जैसे महाकल्प के अन्त में ज्योंही इस उत्पन्न हुई सृष्टि का नाश हो जाता है, त्योंही दूसरी सृष्टि का विस्तृत वन उत्पन्न हो जाता है,

(15.127) जैसे प्रचंड संहार-वायु से ज्योंही प्रलयान्तरूपी छाल निकल जाती है त्योंही नवीन कल्प की आरम्भरूपी पत्तियों का समुदाय प्रकट हो जाता है,

(15.128) ईख की वृद्धि के संग जैसे गँडेरी पर गँडेरी बढ़ती जाती है, एक मनु के पश्चात् जैसे दूसरा मनु होता जाता है, एक वंश के बाद जैसे दूसरा वंश उत्पन्न होता जाता है,

(15.129) जैसे कलियुग के अन्त में ज्योंही चारों युगरूपी छाल गिर पड़ती है, त्योंही फिर कृतयुगरूपी नई छाल झट से उत्पन्न हो जाती है,

(15.130) जैसे वर्तमान वर्ष समाप्त होते ही वह दूसरे वर्ष का मूल हो जाता है, जैसे यह नहीं जान पड़ता कि पहले दिन का अन्त हो रहा है कि दूसरे दिन का आरम्भ हो रहा है,

(15.131) जैसे वायु के झोंकों की सन्धियाँ नहीं जान पड़ती, वैसे ही इस संसार की अनन्त शाखाओं का गिरना और उत्पन्न होना भी नहीं जान पड़ता।

(15.132) एक शरीर-रूपी अंकुर के टूटते ही अनेक शरीरांकुर उगते जाते हैं। इस प्रकार यह संसार-वृक्ष अव्यय जैसा जान पड़ता है।

(15.133) जैसे बहता हुआ जल ज्योंही वेग से आगे बढ़ता है त्योंही और भी जल उसे पीछे से मिलता जाता है, उसी प्रकार यह संसार अस्थिर है, तो भी लोग उसे स्थिर मानते हैं।

(15.134) अथवा पलक मारते मारते करोड़ों बार टूटते और उत्पन्न होनेवाली समुद्र-तरंगें जैसे अज्ञानियों को नित्य जान पड़ती हैं,

(15.135) कौआ अपनी एक ही पुतली को तरलता से दोनों ओर फेरता है तो जैसे लोगों को भ्रम होता है कि उसकी दो आँखें हैं,

(15.136) लट्टू अत्यन्त वेग से घूमे तो जैसे पृथ्वी में गड़ा हुआ जान पड़ता है वैसे ही इस संसार की उत्पत्ति और लय के वेग की अधिकता की भूल का हेतु है।

(15.137) किंबहुना, अँधेरे में वेग से बनैटी फिराने से जैसे चक्राकार आकृति दिखाई देती है,

(15.138) वैसे ही यह न जान कर कि यह संसार-वृक्ष निरन्तर उत्पन्न और नष्ट होता रहता है और लोग भ्रम से इसे अव्यय समझते हैं।

(15.139) परन्तु जो इसका वेग पहचानते हैं, जो जानते हैं कि क्षणिक है, उन्हें मालूम है कि यह एक निमिष में करोड़ों बार उत्पन्न होता और नाश पाता जाता है।

(15.140) तात्पर्य यह कि इस भव-वृक्ष का मूल अज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं। वास्तव में इसका अस्तित्व मिथ्या है। इस प्रकार जिसने इस वृक्ष को क्षणिक जान लिया है

(15.141) उसे हे पाण्डुसुत! मैं सर्वज्ञ भी ज्ञानी समझता हूँ। वेदों के सिद्धान्तों के अनुसार वही वन्द्य है।

(15.142) सम्पूर्ण योग की समृद्धि उसी एक के उपयोगी हुई समझनी चाहिए। बहुत क्या कहें, ज्ञान भी उसी के कारण जीवन धारण करता है।

(15.143) अब बहुत वर्णन रहने दो। क्योंकि जो इस प्रकार संसार-वृक्ष की अनित्यता जानता है उसका कौन वर्णन कर सकता है?

> अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
> अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥
> 15.2 ॥

(15.144) इस प्रपंच-रूपी अधःशाखी वृक्ष की बहुतेरी शाखाएँ सीधी ऊपर की ओर फूटती हैं।

(15.145-46) और जो हमने इस विषय के आरम्भ में कहा था कि जो शाखाएँ नीचे की ओर फैलती हैं वे मूल बनती हैं और उनके नीचे भी और बेलें और पल्लव फूटते हैं उसका भी हम सरल शब्दों से विवेचन करते हैं, सुनो।

(15.147) अज्ञान रूपी मूल दृढ होने से वेद-रूपी बड़े विशाल वनों-सहित महत्तत्व आदि की बहार आती है।

(15.148) प्रथम उस जड़ में से स्वेदज, फिर जरायुज, फिर उद्भिज, और अण्डज-रूपी चार विशाल शाखाएँ निकलती हैं।

(15.149) उन एक एक के शरीर से चौरासी लाख शाखाएँ फूटती हैं, और उनसे फिर अनेक जीव-रूपी शाखाएँ निकलती हैं।

(15.150) सरल शाखाओं से नाना प्रकार की सृष्टि-रूपी आड़ी शाखाएँ मालाकार उत्पन्न होती हैं।

(15.152) स्त्री, पुरुष और नपुंसक व्यक्ति-भेद-रूपी डालें स्वाभाविक विकार-रूपी बोझे से आन्दोलित होती है।

(15.152) वर्षाकाल मे जैसे आकाश में नवीन मेघ छा जाते हैं वैसे ही अज्ञान के कारण सम्पूर्ण आकार विस्तार पाते हैं।

(15.153) फिर अपने शरीर के भार से शाखाएँ झुकती है और एक दूसरी में उलझती हैं, जिससे गुणक्षोभ-रूपी वायु उत्पन्न होती है।

(15.154) और गुणों के उस अपरिमित क्षोभ से यह ऊर्ध्व-मूल वृक्ष तीन जगह से फट जाता है।

(15.155) इस प्रकार रजोगुण के झोंके से अत्यन्त आन्दोलित होने पर मनुष्य-जातिरूपी शाखा ऊँची उठती है।

(15.156) वह न ऊपर न नीचे बल्कि बीच में ही अड़ जाती है और उसमें से चार-वर्ण-रूपी आड़ी शाखाएँ फूटती हैं।

(15.157) उनमें विधि और निषेध वाक्यों से विस्तार पाये हुए वेदरूपी अपूर्व और उत्तम पल्लव अपनी अपनी शक्ति के अनुसार डोलते हैं।

(15.158) अर्थ और काम के विस्ताररूपी अग्र पल्लव जमते हैं।

(15.159) फिर प्रवृत्ति-मार्ग की वृद्धि की इच्छा से अनेक शुभ और अशुभ कर्मों की अगणित छोटी छोटी डालें निकलती हैं।

(15.160) वैसे ही पूर्व-भोग क्षीण होने पर ज्योंही शरीररूपी सूखी डालें गिरती हैं त्योंही नये शरीरों की वृद्धि के अंकुर उत्पन्न होते जाते हैं,

(15.161) और सुन्दर शब्द इत्यादि स्वाभाविक और मोहक रंगों से विचित्रित विषय-रूपी नूतन पल्लव नित्य उगते जाते हैं।

(15.162) इस प्रकार रजोगुणरूपी प्रचण्ड वायु से मनुष्य-शाखाओं के झुण्ड की वृद्धि होती है। उसे ही संसार में मनुष्य-लोक कहते हैं।

(15.163) वैसे ही जब रजोगुण-रूपी वायु क्षणभर बन्द हो जाती है, और तमोगुण-रूपी भयंकर हवा चलती है

(15.164) तब इसी मनुष्य-शाखा की, नीचे की ओर, कुकर्मरूपी डाले निकलती है और उनमें नीच-वासनारूपी पल्लव फूटते हैं।

(15.165) और एकदम कुमार्गरूपी सीधे पर मजबूत अंकुर निकलते हैं जिनमें से प्रमाद-रूपी पत्ते, पल्लव और डालें उत्पन्न होती हैं।

(15.166) यजुर्वेद और सामवेद में जो निषेध-वचन कहे हैं वे उनके अग्रभाग में डोलते हुए पल्लव हैं।

(15.167) परपीड़ाकारक शास्त्र जो जारण, मारण इत्यादि प्रतिपादन करते है वे मानो पल्लव हैं

(15.168) जिनके साथ ज्यों ज्यों वासनारूपी बेलें विस्तृत होती जाती हैं त्यों त्यों अकर्मरूपी पीड़ें बढ़ती और जन्मरूपी शाखाएँ आगे आगे दौड़ती हैं।

(15.169) और कर्मभ्रष्टों की भूल के कारण चाण्डाल इत्यादि निकृष्ट जातियों की शाखाओं की जालियाँ बनती

(15.170) तथा पशु, पक्षी, शूकर, बाघ, बिच्छू, साँप इत्यादि आड़ी-टेढ़ी शाखाओं के झुण्ड बनते जाते हैं।

(15.171) परन्तु हे पाण्डव! ऐसी शाखाओं में नित्य नूतन नरक-भोग-रूपी फल आता है।

(15.172) और, उनमें हिंसा-विषय की प्रवृति करने में कुकर्म-संग के द्वारा श्रेष्ठता पानेवाले जन्म-रूपी अंकुर उगते हैं।

(15.173) इस प्रकार तरु, तृण, लोहा, मिट्टी, पत्थर इत्यादि रूपवाली शाखाएँ होती जाती हैं और वैसे ही उनके फल भी होते जाते हैं।

(15.174) हे अर्जुन! सुनो, मनुष्य से स्थावर तक इस प्रकार शाखाओं की वृद्धि होती है,

(15.175) इसलिए जो मनुष्य-रूप डालें हैं, उन्ही को नीचे की शाखाओं का मूल समझना चाहिए क्योंकि उन्हीं से इस संसारतरु की विस्तार होता है।

(15.176) अन्यथा, हे पार्थ! ऊपर की ओर का मुख्य मूल देखो तो यह नीचे की शाखाएँ मध्यस्थ दिखाई देंगी।

(15.177) परन्तु तामसी और सात्विक अथवा बुरे-भले कर्म-रूपी अंकुर इन्हीं नीचे ऊपर की शाखाओं में फूटते हैं।

(15.178) और हे अर्जुन! वेदत्रयरूपी पत्ते और कोई शाखाओं में नहीं लगते क्योंकि वेद की विधियाँ मनुष्य के सिवाय और किसी के विषय नहीं हैं।

(15.179) इसलिए ये मनुष्यतनुरूपी शाखाएँ यद्यपि ऊर्ध्व-मूल से उत्पन्न होती है तथापि कर्मवृद्धिशाखाओं की जड़ें यही हैं।

(15.180) और जैसे अन्य वृक्षों में भी शाखा-वृद्धि होने से जड़ें दृढ होती है, और ज्यों ज्यों जड़ें दृढ होती हैं त्यों त्यों उस वृक्ष का विस्तार होता जाता है,

(15.181) वैसे ही इस शरीर में जब तक कर्म होता है तब तक देह की बढ़ती होती है, और तब तक देह है तब तक व्यापार का न करना नहीं हो सकता।

(15.182) इस प्रकार जगज्जनक श्रीकृष्ण ने कहा कि यह बात मेटी नहीं जा सकती कि मनुष्य-शरीर ही अन्य-कर्मरूपी शाखाओं का मूल है।

(15.183) फिर जब तमो-गुण-रूपी दारुण आँधी शान्त हो जाती है और सत्त्वगुण-रूपी महा तूफान छूटता है,

(15.184) तब इसी मनुष्य-देहरूपी जड़ों से सुवासनारूपी अंकुर निकलते हैं और उनमें से सुकृत-रूपी पल्लव फूटते हैं।

(15.185) ज्ञान की वृद्धि के साथ प्रज्ञाकौशल्य की तीक्ष्ण डालें निमिष भर में विस्तृत हो निकलती हैं।

(15.186) बुद्धि की लम्बी डालें स्फूर्ति के बल से दृढ होतीं और बुद्धितेज के सहाय से विवेक पर्यन्त लम्बी बढ़ती हैं।

(15.187) फिर उनमें से बुद्धिरस से भरे आस्थारूपी पत्तों से सुशोभित सीधे सद्वृत्तिरुपी अंकुर फूटते हैं।

(15.188) और एकदम सदाचाररूपी अनेक कोंपलें फूटती है जो वेद-वाक्य ध्वनि से सनसनाती रहती हैं।

(15.189) तथा उनमें से शिष्टाचार और अनेक यज्ञादिकर्मविस्तार-रूपी पत्तियाँ निकलती रहती हैं

(15.190) इस प्रकार नियम-दमरूपी गुच्छों से युक्त तपरूपी शाखाएँ बढ़ती हैं और प्रेम से वैराग्यशाखाओं को छाती से लगाती हैं।

(15.191) विशिष्ट-व्रतरूपी टहनियाँ धैर्यरूपी तीक्ष्ण नोकों से युक्त हो जन्मरूपी वेग से ऊपर उठती हैं

(15.192) और बीच में जो वेदरूपी सघन कोंपल रहती है उसकी सुविद्यारूपी फड़फड़ाहट, जब तक सत्त्वरूपी वायु चलती है तब तक, होती रहती है।

(15.193)धर्मशाखाएँ विस्तृत होती है और उनमें से जन्मशाखा सीधी निकलती हुई दिखाई देती है, और उसमें स्वर्गादिक फल लगते हैं

(15.194) तथा उपरति की रक्तता से लाल दीखती हुई धर्म-मोक्ष-शाखाओं की पत्तियाँ नित्य नूतन बढ़ती रहती है।

(15.195) रवि, चन्द्र, इत्यादि श्रेष्ठ ग्रह, पितर, ऋषि, विद्याधर इत्यादि आड़ी शाखाओं के भी भेद बढ़ते हैं

(15.196) और उनमें भी ऊँचे गुह्यफलरूपी पींड़ से इन्द्रादिक महाशाखाओं के झुण्ड उत्पन्न होते हैं

(15.197) तथा उनके भी ऊपर तपोधनी ऋषियों की शाखाएँ उठती हैं। मरीची, कश्यप इत्यादि ऊपरी शाखाएँ हैं

(15.198) एवं लगातार शाखाओं पर शाखाएँ लगी हैं। ऊर्ध्व शाखाओं का ऐसा विस्तार मूल में छोटा पर अग्रभाग की ओर बड़ा और श्रेष्ठ-फलदायक होता है।

(15.199) इन शाखाओं के भी और ऊपरवाली शाखाओं में जो फल लगते हैं, उनमें से ब्रह्मा और शिव पर्यन्त नोकदार अंकुर निकलते हैं

(15.200) और फलों के भार से वे दुगुनी नीचे झुक जाती हैं, यहाँ तक कि वे फिर जड़ से ही जा लगती हैं।

(15.201) सामान्य वृक्ष की शाखा भी जो फलों से भर जाती है, वह झुक कर जड़ से लग जाती है।

(15.202) वैसे ही हे पाण्डव! ये ज्ञानवृद्धि की शाखाएँ, जहाँ से यह संसार-वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी मूल से भिड़ जाती है।

(15.203) इसलिए ब्रह्मा या शिव के परे जीव की वृद्धि नहीं होती। उसके परे फिर ब्रह्म ही रह जाता है।

(15.204) परन्तु अस्तु! इस प्रकार ब्रह्मा इत्यादि अपने सामर्थ्य से ऊर्ध्वमूल ब्रह्म की बराबरी नहीं कर सकते।

(15.205) और भी जो ऊपरी शाखाएँ सनक इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है वे फल और मूल का स्पर्श न कर ब्रह्म में ही भर गई है।

(15.206) इस प्रकार मनुष्य से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त पल्लव-युक्त शाखाओं की उत्तम बढ़ती होती रहती है।

(15.207) हे पार्थ! ऊपर की ब्रह्मा इत्यादि शाखाओं की मूल-शाखाएँ मनुष्य ही हैं। इसलिए हमने इन्हें नीचे की ओर की जड़ें कहा है।

(15.208) इस प्रकार हमने तुमसे इस ऊर्ध्वमूल और नीचे-ऊपर-शाखावाले अलौकिक संसार-वृक्ष का वर्णन किया।

(15.209) और यह जो विधान किया था कि इसकी नीचे की ओर भी जड़ें रहती है उसकी उपपत्ति भी विस्तारपूर्वक कह सुनाई। अब इस वृक्ष का उन्मूलन कैसे किया जाता है सो सुनो।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ 15.3 ॥

(15.210) हे किरीटी! कदाचित् तुम अपने मन में सोचते होगे कि इतने बड़े झाड़ का उन्मूलन करनेहारी कौन-सी वस्तु हो सकती है?

(15.211) क्योंकि इस वृक्ष की ऊपरवाली शाखाएँ ब्रह्मलोक की सीमा तक बढ़ी ुहई हैं और इसका मूल तो निराकार ब्रह्म में ही है,

(15.212) नीचे की ओर भी इसकी अधःशाखाएँ विस्तृत हुई हैं, और मध्यभाग में भी दूसरी, मनुष्यरूपी, जड़ें फैली हुई हैं;

(15.213) इस प्रकार विस्तृत और दृढ यह वृक्ष है, अतएव इसका अन्त कौन कर सकता है? परन्तु ऐसी क्षुद्र कल्पना मन में मत आने दो।

(15.214) इसके उन्मूलन में परिश्रम ही क्या होते है? बालक से हौवे को दूर भगाना क्या चीज हैं?

(15.215) आकाश में दीखनेहारे अभ्रों के किले क्या गिराने पड़ते हैं? खरहे के सींग क्या तोड़ने पड़ते हैं? आकाश-पुष्प का अस्तित्व हो तो उसे तोड़ने की सम्भावना हो!

(15.216) वैसे ही हे वीर! यह संसार कोई सचमुच का वृक्ष नहीं है। तो फिर इसने उन्मूलन में कष्ट ही क्या हो सकते हैं?

(15.217) हमने जो जड़ों और शाखाओं के विस्तार के विषय में वर्णन किया उसे वन्ध्या के घर-भरे बालकों के समान समझो।

(15.218) स्वप्न में कहे हुए वचन चेत आने पर किस काम के? वैसे ही इस संसार-वृक्ष की कथा को भी निर्मूल ही समझो।

(15.219) अन्यथा जैसा हमने वर्णन किया वैसा यदि इसका मूल अचल होता और वैसा यह सत्य होता।

(15.220) तो उसे उन्मूलन करनेवाला कौन माई का लाल उत्पन्न हो सकता था? आकाश क्या कभी फूँक से उड़ सकता है?

(15.221) अतएव हे धनंजय! हमने जो वर्णन किया वह माया का वर्णन किया। मानों जैसे राजा को कछुई के घी का कलेवा

परोसा गया हो। (अर्थात् असम्भव घटना बतलाई; क्योंकि जब कछुई के दूध ही नहीं होता तो फिर घी कहाँ से होगा?

(15.222) मृगजल के सरोवर केवल दूर से ही देख लो, अन्यथा क्या वह जल, धान या केले के वृक्षों को उपयोगी हो सकता है?

(15.223) मूल अज्ञान ही मिथ्या है तो फिर उसका कार्य कहाँ से सत्य हो सकता है? अतएव संसार-वृक्ष निश्चय से मिथ्या है।

(15.224) परन्तु ऐसी जो उक्ति है कि इसका अन्त नहीं होता वह भी एक प्रकार से सत्य ही है।

(15.225) क्योंकि जब तक चेत नहीं आता तब तक क्या निद्रा का अन्त होता है? अथवा रात बीतने के पूर्व ही क्या प्रातःकाल हो सकता है?

(15.226) वैसे ही हे पार्थ! जब तक विवेक सिर नहीं ऊँचा करता तब तक इस संसार-वृक्ष का अन्त नहीं होता।

(15.227) जब तक चलती हुई वायु जहाँ की तहाँ शान्त न हो जाय, तब तक तरंगों को अनन्त ही कहना चाहिए।

(15.228) अतएव जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर मृगजल का आभास मिट जाता है अथवा जैसे दीपक बुझाने पर प्रभा का लोप हो जाता है,

(15.229) वैसे ही जब मूल-बीज अविद्या का नाश करनेहारा ज्ञान प्रकट होता है तभी इस संसार-वृक्ष का अन्त होता है, अन्यथा नहीं।

(15.23) उसी प्रकार ऐसी जो वार्ता है कि यह वृक्ष अनादि है वह भी मिथ्या नहीं — उपर्युक्त अभिप्राय के अनुरूप ही।

(15.231) क्योंकि संसार-वृक्ष में कुछ सत्यता तो हुई नहीं, तो फिर जो नहीं है उसका आरम्भ ही क्या हो सकता है?

(15.232) सत्य वस्तु जहाँ से उत्पन्न होती है उसे आदि कहना योग्य है। परन्तु जो हुई नहीं वह कहाँ से उत्पन्न हुई कही जा सकती है?

(15.233) अतएव, जिसका न जन्म हुआ न अस्तित्व है उसकी माता कौन है बताओ? तात्पर्य यह कि इसके न होने के कारण ही इसे अनादि कहते हैं।

(15.234) वन्ध्या के पुत्र की जन्म-पत्रिका कैसे बन सकती है? आकाश के नीलवर्ण धरती की कल्पना कैसे सत्य हो सकती है?

(15.235) हे पाण्डव! आकाश-पुष्प का डंठल कौन तोड़ सकता है?

(15.236) जैसे घट का प्रागभाव किसी के उत्पन्न किये बिना ही सिद्ध है, वैसे ही यह सम्पूर्ण वृक्ष भी अनादि समझो।

(15.237) इस प्रकार हे अर्जुन!सका न आदि है, न अन्त है। बीच में ही किसी प्रकार इसकी स्थिति दिखाई देती है परन्तु वह मिथ्या है।

(15.238) जैसे मृगजल न किसी कैलास पर्वत से गिरता है और न किसी समुद्र में जा मिलता है, परन्तु बीच में ही झूठ-मूठ दिखाई देता है,

(15.239) वैसे ही वास्तव में इस संसार के आदि और अन्त नहीं है, और वह कभी सत्य भी नहीं है, परन्तु नवल मिथ्यात्व देखिए कि उसका प्रतिभास मात्र होता है।

(15.240) इन्द्रधनुष जैसे अनेक रंगों से चित्रित दिखाई देता है वैसे ही यह वृक्ष अज्ञान से सत्य सा जान पड़ता है।

(15.241) इस प्रकार, बहुरूपिये के भेष से जैसे लोग भूल में पड़ते है वैसे ही इस संसार की स्थिति के समय अज्ञानियों की दृष्टि में भूल पड़ती है।

(15.242) और यद्यपि आकाश में न होती हुई भी नीलिमा दिखाई देती है तथापि वह जैसे प्रत्येक क्षण में उत्पन्न और विलीन होती है,

(15.243) (स्वप्न मिथ्या है परन्तु क्या वह एक-सा ही बना रहता है?) वैसे ही यह आभास भी क्षण में विलीन हो जाता है।

(15.244) देखने से इसका अस्तित्व जान पड़ता है; परन्तु जल में दिखाई देनेहारे प्रतिबिम्ब से जैसे वानर की स्थिति हो जाती है वैसे ही इस आभास को सत्यतः ग्रहण करने की चेष्टा करने पर भी वह हाथ नहीं लगता।

(15.245) इसकी उत्पत्ति और नाश इतनी शीघ्रता से होते रहते हैं कि समुद्र की लहरों की उत्पत्ति और नाश उसकी बराबरी नहीं कर सकते। और विद्युत भी उन से होड़ बाँधने के योग्य नहीं होती।

(15.246) ग्रीष्म-काल के अन्त की वायु जैसे आगे-पीछे नहीं देखती, वैसे ही यह संसाररूपी महावृक्ष भी स्थिर नहीं रहता,

(15.247) एवं इस वृक्ष का न आदि है न अन्त है, न स्थिति है न रूप है, तो फिर इसके उन्मूलन में क्या आयास पड़ सकता है?

(15.248) जो वास्तव में न होता हुआ भी अपने अज्ञान के ही कारण बढ़ा हुआ था उसे हे किरीटी! आत्मज्ञान के शस्त्र से तोड़ डालो।

(15.249) अन्यथा, एक ज्ञान के अतिरिक्त जितने इसे तोड़ने के उपाय करोगे उनसे तुम इस वृक्ष में और भी अधिक उलझ जाओगे।

(15.250) और फिर इसकी ऊपर-नीचे की शाखा और उपशाखाओं में कहाँ तक घूमते रहोगे? इसलिए इसका मूल जो अज्ञान है उसे यथार्थ-ज्ञान से छाँट डालो;

(15.251) नहीं तो रस्सी होकर भी जो साँप दिखाई देता है उसे मारने के लिए लकड़ी खोजना वृथा परिश्रम करना है।

(15.252) मृगजलरूपी गंगा के पार जाने के हेतु नाव के लिए दौड़नेहारा जैसे किसी जंगल के नाले में सचमुच ही डूब जाय,

(15.253) वैसे ही इस न होते संसार का अन्त करने के लिए अन्य उपायों की खोज करता करता मनुष्य अपना नाश कर लेगा तथा उसका भ्रम और अधिक बढ़ जावेगा।

(15.254) अतएव, हे धनंजय! स्वप्न में लगे हुए घाव की औषधि जैसे जागृति ही है, वैसे ही इस अज्ञान-मूल संसार के लिए ज्ञान ही एक शस्त्र है।

(15.255) परन्तु बुद्धि में इतना वैराग्यरूपी नूतन और अटूट बल होना चाहिए कि यह शस्त्र सहज में चलाते बने।

(15.256) वैराग्य उत्पन्न होते ही धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का यह समझ कर त्याग कर देना चाहिए कि वे कुत्ते के तात्कालिक वमन के सदृश हैं।

(15.257) हे पाण्डव! यहाँ तक पदार्थमात्र की हीक आने लगे — ऐसा दृढ वैराग्य होना चाहिए।

(15.258) फिर देहाहंकाररूपी म्यान में से निकाल कर अहमात्मरूपी शस्त्र — जो विवेकरूपी सिल पर पैनाया गया हो, जो ब्रह्मास्मि-बोधरूपी तीक्ष्ण से युक्त हो और जिसमें पूर्ण-एकता-ज्ञानरूपी उबटन लगा हो, –

(15.259) एकदम हाथ में धरना चाहिए।

(15.260) परन्तु एक-दो बार अपनी निश्चयरूपी मूठ का बल आजमा लेना चाहिए और अत्यन्त शुद्ध-मननरूपी तौल को सँभालना चाहिए।

(15.261) फिर ज्ञानरूपी शस्त्र और स्वयं तुम जब निदिध्यासन के द्वारा एकरूप हो जाओगे तो प्रहार के लिए दूसरी वस्तु ही न रहेगी।

(15.262) ऐसा यह आत्मज्ञान का शस्त्र, जो अद्वैतज्ञान का निष्कर्ष है वह, वह इस संसार-वृक्ष को कभी बचने न देगा।

(15.263) जैसे वायु शरत्काल के आरम्भ में आकाश का सम्पूर्ण कचरा उड़ा देती है, अथवा सूर्य उदय होते ही जैसे अन्धकार का घूँट पी जाता है,

(15.264) अथवा जागृति होते ही जैसे स्वप्न की गड़बड़ का ठाँव ही मिट जाता है, वैसी ही स्थिति आत्मानुभव की धार लगे हुए शस्त्र के चलाने से होती है।

(15.265) उस समय, चाँदनी में जैसे मृगजल नहीं दीखता वैसे ही ऊर्ध्व या अधोमूल अथवा नीचे की शाखाएँ या उपशाखाएँ कुछ भी दिखाई न देंगी।

(15.266) इस प्रकार हे वीरश्रेष्ठ! आत्मज्ञान के खंग से इस संसाररूपी ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ का छेदन कर।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ 15.4 ॥

(15.267) इदंवृत्ति के परे जो अहंता-रहित रूप प्रसिद्ध है वह अपना स्वरूप स्वयं आप ही देखना चाहिए।

(15.268) परन्तु मूढ जन जैसे दर्पण के आधार से एक रूप को भिन्न देखते हैं, वैसा इस आत्मस्वरूप का देखना नहीं हैं।

(15.269) हे वीर! यह देखना ऐसा ही जैसे जल का सोता कुएँ में भरने के पूर्ण उद्गम में ही भरा रहता है,

(15.270) अथवा पानी सूख जाने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में ही मिल जाता है, अथवा घट फूट जाने पर घटाकाश जैसे आकाश में मिल जाता है,

(15.271) अथवा ईन्धनांश समाप्त होते ही अग्नि जैसे फिर अपने स्वरूपमय हो जाती है।

(15.272) जीभ जैसे अपना ही स्वाद चाखे, आँखें अपनी ही पुतलियाँ देखें, वैसा ही यह निजस्वरूप का देखना है।

(15.273) अथवा प्रकाश जैसे प्रकाश में जा मिले, आकाश आकाश में जा मिले, अथवा जल जलाशय में जा मिले

(15.274) वैसा ही स्वयं आप ही अद्वैत स्वरूप को देखना है। यह बात हम निश्चय से कहते हैं।

(15.275) जिसे द्रष्टा न होकर देखा चाहिए, किसी वस्तु का ज्ञाता न होकर जानना चाहिए, जिस स्थान को आद्य पुरुष कहते हैं

(15.276) उसके विषय में वेद, उपाधि का आश्रय कर, वृथा मुँह चलाते और नामरूपों का वर्णन करते है।

(15.277) मुमुक्षु जन संसार और स्वर्ग से ऊब कर, योग और ज्ञान का आश्रय कर, पुनः लौट कर न आने की प्रतिज्ञा से, जिस स्थान को जाने के लिए निकलते हैं,

(15.278) जिसके लिए विरक्त जन संसार के आगे निकल उसे प्रतिज्ञापूर्वक जीतते और ब्रह्मलोकरूपी कर्मपर्वत का भी उल्लंघन कर आगे निकल जाते हैं,

(15.279) ज्ञानी जन अहंता इत्यादि अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों को छोड़ जिस घर का पट्टा प्राप्त करते हैं,

(15.280) जिस स्थान से यह विश्व-परम्परा अभागियों को सूखी आशावृद्धि के समान बढ़ रही है,

(15.281) जिस वस्तु के अज्ञान के कारण इस महान् संसार का ज्ञान प्रकट हुआ है तथा

(15.282) जगत् में अवास्तव हम-तुम-भाव का प्रतिपालन हो रहा है, उस आद्य-वस्तु को हे पार्थ! स्वयं आपरूप हो देखना चाहिए, मानों जैसे हिम को हिम ही जोड़ता हो।

(15.283) हे धनंजय! उस वस्तु का एक लक्षण और है। उसकी भेंट होते ही वहाँ से कोई लौट कर नहीं आता।

(15.284) पर उसकी भेंट उन्हीं को होती है जो पुरुष ज्ञान के द्वारा सर्वत्र ऐसे एकरूप हो गये हैं जैसे मानों महाप्रलय का जल ही भरा हुआ हो।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
15.5॥

(15.285) वर्षा के अन्त में जैसे मेघ आकाश का त्याग कर चले जाते हैं, वैसे ही जिन पुरुषों के मनों ने मोह और मान को छोड़ दिया है, या

(15.286) जो पुरुष विकारों के पंजे में वैसे ही नहीं फँसते, जैसे कि दरिद्री मनुष्य ने नातेदार उसका तिरस्कार करते हैं,

(15.287) केले का वृक्ष फलते ही जैसे उसकी बाढ़ समाप्त हो जाती है, वैसे ही जिनकी क्रिया आत्मस्वरूप के लाभ से प्रबल हो धीरे-धीरे बन्द हो जाती है,

(15.288) वृक्ष में आगल लगी देखकर जैसे पक्षी इधर-उधर भाग जाते है, वैसे ही जिन्हें देखकर सम्पूर्ण विकल्प भाग जाते हैं,

(15.289) सकल तृणरूपी दोष उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीरूपी भेद-बुद्धि जिनमें नहीं रहती,

(15.290) सूर्योदय होते ही जैसे रात्रि आप ही आप चली जाती है वैसे ही जिनका देहाहंकार अविद्या सहित चला गया है,

(15.291) आयुष्य-हीन जीव को जैसे शरीर एकदम छोड़ देता है, वैसे ही जिन्हें मोहकारक द्वैत ने छोड़ दिया है,

(15.292) पारस को जैसे लोहे का दारिद्रय रहता है, अथवा सूर्य को जैसे अँधेरा नहीं जुड़ता, वैसे ही जिन्हें द्वैत-बुद्धि का अकाल बना रहता है,

(15.293) देह में सुख-दुःख के रूप से जो द्वन्द्व दिखाई देते हैं, वे जिनके सन्मुख आते भी नहीं,

(15.294) स्वप्न का राज्य या मरण जैसे जागृत होने पर हर्ष या शोक का हेतु नहीं होता,

(15.295) अथवा गरुड़ जैसे कभी सर्पों से पराजित नहीं होते, वैसे ही जो सुख-दुःखरूपी द्वन्द्व या पाप-पुण्यों के वश नहीं होते,

(15.296) जो विवेकी राजहंस अनात्मारूपी जल का त्याग कर आत्मरसरूपी दूध का पान करते हैं,

(15.297) पृथ्वीतल पर वर्षा कर सूर्य जैसे पुनः अपना रस अपने बिम्ब में खींच लेता है

(15.298) वैसे ही आत्मभ्रम के कारण जो ब्रह्मवस्तु अनेक-रूप से बिखरी हुई है, उसे जो पुरुष निरन्तर ज्ञान-दृष्टि से एकरूप कर लेते हैं,

(15.299) किंबहुना, गंगा का प्रवाह जैसे समुद्र में जा डूबता है वैसे ही जिनका विवेक आत्मनिश्चय में ही डूब रहा है,

(15.300) आकाश जैसे यहाँ से अन्यत्र नहीं जाता वैसे ही सर्वत्र आत्मा होने के कारण जिन्हें और कुछ अभिलाषा नहीं होती,

(15.301) अग्नि के पर्वत पर जैसे कोई बीज नहीं उगता वैसे ही जिनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता,

(15.302) मन्दराचल निकाल लेने पर क्षीर-समुद्र जैसा निश्चल हो रहा था, वैसे ही जिनमें काम की ऊर्मि नहीं उठती,

(15.303) सम्पूर्ण कलाओं से तृप्त हुआ चन्द्रमा जैसे किसी भाग में न्यून दिखाई नहीं देता वैसे ही जिनमें अपेक्षारूपी न्यूनता नहीं रहती

(15.304) (यह अनुपम वर्णन कहाँ तक करें) वायु के सन्मुख जैसे परमाणु नहीं रहता वैसे ही जिन्हें विषयों का नाम भी नहीं भाता,

(15.305) ऐसे जो पुरुष ज्ञानरूपी अग्नि में तृप्त हो ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त हो गये हैं, वे उस पद मे ऐसे मिल जाते है, जैसे सोने में सोना।

(15.306) यदि तुम पूछो कि “उस पद में मिल जाते हैं” कहने से किस पद का निर्देश किया तो सुनो। वह पद ऐसा पद है कि जिसका नाश नहीं होता।

(15.307) तथा वह ऐसा नहीं है कि जो दृश्यरूप से दिखाई दे अथवा ज्ञेयरूप से जाना जा सके, अथवा, ‘यह अमुक है’ यों पहचाना जा सको

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ 15.6 ॥

(15.308) दीपक के उजियाले से अथवा चन्द्रमा के प्रकाश से, और तो क्या कहें, सूर्य के प्रकाश से भी जो कुछ दिखाई देता है

(15.309) उस सब दृश्य का दिखाई देना जिसका न देखना है, जिसके अगोचर रहते हुए विश्व का आभास होता है,

(15.310) जैसे सीप का भाव ज्यों ज्यों विलीन होता है त्यों-त्यों चाँदी का रूप सत्य जान पड़ता है, अथवा रस्सी के भाव को लोप होने से सर्प की सत्यता उत्पन्न होती है,

(15.311) वैसे ही चन्द्र-सूर्य इत्यादि जो तेजोगोल दिखाई देते हैं वे जिस अधिष्ठान पर प्रकाशते हैं

(15.312) वह वस्तु मानों एक तेजो-राशि है जो सम्पूर्ण भूतमात्रों में समान ही भरी है और जो चन्द्र और सूर्य के हृदय में भी प्रकाशती है।

(15.313) इस प्रकार से चन्द्रमा और सूर्य मानों ब्रह्म के प्रकाश में केवल परछाई डालनेहारे हैं। तात्पर्य यह कि तेजस्वी पदार्थों में जो तेज है सो ब्रह्म का ही प्रभाव है।

(15.314) और जैसे सूर्योदय के समय चन्द्रमा-सहित नक्षत्रों का लोप हो जाता है, वैसे ही जिसका प्रकाश होते ही सूर्य और चन्द्र-सहित सम्पूर्ण जगत् का लोप हो जाता है,

(15.315) अथवा जागृत होते ही जैसे स्वप्न की सवारी का अन्त हो जाता है, अथवा सन्ध्या के समय जैसे मृगजल नहीं रहता,

(15.316) वैसे ही जिस वस्तु में कोई आभास नहीं रहता उसे मेरा मुख्य धाम जानो।

(15.317) जो पुरुष आगे बढ़ कर वहाँ पहुँच जाते हैं वे फिर महा-समुद्र में मिले हुए स्रोतों के समान पीछे नहीं पलटते।

(15.318) अथवा लवण की बनाई हुई हथिनी समुद्र में डाली जाय तो वह जैसे पलट कर नहीं आती

(15.319) अथवा अग्नि की ज्वालाएँ जैसे आकाश में उठती हैं तो पीछे नहीं लौटती, अथवा तपे हुए लोहे पर डाला हुआ जल जैसे फिर हाथ नहीं लगता

(15.320) वैसे ही जो पुरुष शुद्ध ज्ञान के द्वारा मुझसे एकरूप हो जाते हैं, उनका जन्म-मरण का मार्ग ही बन्द हो जाता है।

(15.321) इस पर प्रज्ञारूप पृथ्वी के राजा अर्जुन ने कहा, महाराज! आपका बड़ा प्रसाद हुआ! परन्तु मेरी एक बिनती की ओर देव ध्यान दें।

(15.322) हे देव! जो स्वयं आप से एकरूप हो जाते हैं और फिर आप से भिन्न रहते हैं या अभिन्न?

(15.323) जो अनादिसिद्ध भिन्न ही रहते हों तो 'वे पलट कर नहीं आते' कहना अयुक्त है। क्योंकि भ्रमर जो फूलों का चुम्बन करते हैं वे क्या फूल ही हो जाते हैं?

(15.324) नहीं। लक्ष्य से भिन्न रहते हुए बाण जैसे लक्ष्य का स्पर्श कर फिर पलट कर गिर पड़ते हैं, वैसे ही वे भी लौट आते हैं।

(15.325) अथवा यदि वे पुरुष स्वभावतः आपके ही रूप हैं तो कौन किससे जा मिलता है? शस्त्र आप ही अपने में कैसे घुस सकता है?

(15.326) इसलिए हे देव! जैसे अवयव और शिर का वैसे ही आपसे अभिन्न जीवों का और आपका संयोग अथवा वियोग होना नहीं कहा जा सकता

(15.327) तथा जो सर्वथा आपसे भिन्न हैं वे तो कभी एकरूप हो ही नहीं सकते। फिर वे पलट कर आते हैं या नहीं इस वृथा उक्ति का क्या प्रयोजन है?

(15.328) अतएव, हे सर्वतोमुखी श्रीकृष्ण! मुझे यह समझाइए कि वे कौन हैं जो आपको प्राप्त कर फिर पलट कर नहीं आते।

(15.329) अर्जुन के इस आक्षेप से सर्वज्ञों के मुकुटमणि श्रीकृष्ण शिष्य का ज्ञान देखकर सन्तुष्ट हुए।

(15.330) वे बोले कि हे महामति! जो मुझे प्राप्त कर फिर लौट कर नहीं आते वे मुझसे भिन्न और अभिन्न दोनों रीति से रहते हैं।

(15.331) गहरे विवेक से देखा जाय तो जो मैं हूँ वही स्वभावतः वे हैं, अन्यथा ऊपरी ओर देखने से वे भिन्न भी दिखाई देते है।

(15.332) जल पर जैसे तरंग हिलोरते हुए भिन्न दिखाई देते हैं पर वस्तुतः वे जल ही हैं,

(15.333) अथवा सुवर्ण के जुदे-जुदे अलंकार जैसे भिन्न दिखाई देते हैं पर असल में सब सुवर्ण ही है

(15.334) वैसे ही, हे किरीटी! ज्ञान की दृष्टि से वे पुरुष मुझसे अभिन्न हैं। परन्तु मेरे अज्ञान के कारण भिन्नता दिखाई देती है।

(15.335) सत्य वस्तु के विचार से देखो तो मैं जो एक ही हूँ, उसके संग दूसरी वस्तु ही कहाँ है जिससे भिन्नाभिन्न व्यवहार उत्पन्न हो सके?

(15.336) सूर्य के बिम्ब का वर्तुल यदि सम्पूर्ण आकाश को ही अपने में समा कर विद्यमान रहे तो प्रतिबिम्ब कहाँ जा कर पड़ेगा और रश्मियाँ कहाँ प्रवेश करेंगी?

(15.337) अथवा हे धनंजय! कल्पान्त के जल से क्या खाड़ियाँ भर लेने की घटना हो सकती है?वैसे ही मुझ अद्वैत और अविक्रिय के अंश कैसे हो सकते है?

(15.338) परन्तु जैसे सीधा बहता हुआ जल अन्य प्रवाह के मेल से टेढ़ा बहने लगता है, पानी के कारण जैसे सूर्य दूसरा दिखाई देने लगता है,

(15.339) आकाश चौकोन है या गोल है यह कैसे जाना जाय, परन्तु वह जैसे जिस घट या मठ का आच्छादन करे वैसा ही कहा जाता है,

(15.34) निद्रा के आधार से मनुष्य जिस स्वप्न में राजा बना जाता है इस समय उस (राजा) का शासित संसार भी क्या वही अकेला नहीं बनता?

(15.341) अथवा उत्तम सोलह के भाव के सोने के कस अशुद्ध सोने से मिलने के कारण जैसे भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे ही जब मेरा शुद्ध स्वरूप स्वमाया से आच्छादित होता है।

(15.342) तब एक अज्ञान प्रकट होता है। उससे ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूँ और फिर सोच कर ऐसा निश्चय होता है कि मैं शरीर हूँ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ 15.7 ॥

(15.343) इस प्रकार जब शरीर-परिमित ही प्रतीत होता है, तब उसकी अल्पता के कारण मेरा अंश जान पड़ता है।

(15.344) वायु के कारण समुद्र का जल तब तरंगाकार हो उछलता है तो जैसे वह समुद्र का थोड़ा-सा अंश ही दिखाई देता है,

(15.345) वैसे ही हे पाण्डुसुत! इस जीव-लोक में मैं जड़ को चेतना देनेहारा, देह में अहंता उपजानेहारा जीव जान पड़ता हूँ।

(15.346) जीवों की बुद्धि द्वारा गोचर जो यह सब व्यापार है यही 'जीव-लोक' शब्द का अभिप्राय है।

(15.347) जन्म और मृत्यु को सत्य मानने के लिए ही मैं जीव-लोक या संसार समझता हूँ।

(15.348) इस प्रकार के जीव-लोक में मुझे ऐसा समझो जैसे जल के परे रहनेहारा चन्द्र जल में दिखाई देता है।

(15.349) हे पाण्डव! स्फटिक का टुकड़ा कुंकुम पर रक्खा हो तो लोगों को आरक्त दिखाई देगा, पर वास्तव में में आरक्त नहीं रहता।

(15.350) वैसे ही मेरे अनादित्व का भंग नहीं होता, मेरा अक्रियत्व भी खंडित नहीं होता; तथा मेरा कर्ता-भोक्ता दिखाई देना भ्रान्ति समझो।

(15.351) बहुत क्या कहूँ, शुद्ध आत्मा ही प्रकृति से एक जीव हो, निज पर ही प्रकृतिधर्म के कर्मों का आरोपण करता है

(15.352) तथा श्रोतृ इत्यादि मन-समेत छहों इन्द्रियाँ जो प्रकृति से उत्पन्न हुई हैं, उन्हें अपनी समझ कर व्यापार में प्रवृत्त होता है।

(15.353) स्वप्न में जैसे संन्यासी आप ही अपना कुटुम्ब बनता है और फिर उसके मोह से इधर-उधर दौड़ता है,

(15.354) वैसे ही आत्मा अपनी विस्मृति के कारण आप ही प्रकृति-रूप होकर उसी में अनुरक्त होता है।

(15.355) वह मनरूपी रथ पर चढ़ता है, श्रवण-द्वार से निकलता है, और शब्दरूपी वन मे प्रवेश करता है,

(15.356) तथा प्रकृति की बागडोर त्वचारूपी दिशा की ओर खींच कर स्पर्शरूपी घोर वन में घुसता है।

(15.357) किसी समय वह नेत्रद्वार से निकल कर रूपरूपी पर्वत पर इधर-उधर घूमता है,

(15.358) अथवा हे सुभट! रसना के मार्ग से रसरूपी गुहा में प्रवेश करता है।

(15.359) अथवा कभी यह मेरा अंश घ्राणमार्ग से निकल कर सुगन्धरूपी दारुण वन के पार चला जाता है।

(15.360) इस प्रकार देह और इन्द्रियों का नायक यह जीव मन को छाती से लगा शब्द इत्यादि विषयों के साधनों का भोग लेता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

गृहित्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ 15.8 ॥

(15.361) परन्तु जीव का यह कर्तृव्य या भोक्तृत्व तभी दिखाई देता है जब वह किसी शरीर में प्रवेश करे।

(15.362) जैसे हे धनंजय! सम्पत्तिमान् और विलासी मनुष्य तभी जाना जाता है जब वह किसी राजा के रहने योग्य स्थान में बसे।

(15.363) वैसे ही, देखनेहारों को अहंकार की वृद्धि या विषयेन्द्रियों की धींगा-धींगी तभी दिखाई देती है जब जीव किसी देह का आश्रय करे,

(15.364) तथा जब वह शरीर का त्याग करता है तब भी इस इन्द्रिय-समुदायरूपी सम्पत्ति को अपने संग ले जाता है।

(15.365) जैसे अतिथि का अपमान करने से वह अपने संग अपमान करनेहारे का पुण्य भी खींच ले जाता है,

(15.366) अथवा अस्त हुआ सूर्य जैसे लोगों के नेत्रों के प्रकाश को भी संग ले जाता है, और रहने दो, पवन जैसे सुगन्ध हर ले जाता है।

(15.367) वैसे ही हे धनंजय! यह देहराज जब देह का त्याग करता है, तो इन इन्द्रियों को, जिनमें छठवाँ एक मन है, अपने साथ ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ 15.9 ॥

(15.368) फिर वह संसार में या स्वर्ग में जहाँ-जहाँ और जैसे-जैसे देहों का आश्रय करता है, वहाँ-वहाँ मन इत्यादि भी फिर से पूर्ववत् प्रवृत्त हो जाते हैं,

(15.369) जैसे दीपक बुझा देने से वह प्रभा-सहित अदृश्य हो जाता है परन्तु फिर से अँजोरते ही फिर वही वैसा ही प्रकाशमान् हो जाता है।

(15.370) तथापि हे किरीटी! यह व्यवस्था अविवेकियों की दृष्टि से ही ऐसी मालूम होती है,

(15.371) क्योंकि वे यह सत्य मानते हैं कि आत्मा देह धारण करता है और वही विषयों का भोग लेता है तथा देह का त्याग भी वही करता है।

(15.372) अन्यथा जन्म होना या मृत्यु होना, कर्म करना या भोग लेना ये सब धर्म वस्तुतः प्रकृति के हैं, जिनको आत्मा अपने समझता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ 15.10 ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ 15.11 ॥

(15.373) शरीर का एक आकार तैयार होता है और उसमें चेतना उत्पन्न होती है। उस हलचल को देखकर लोग कहते हैं कि जन्म हुआ।

(15.374) तथा उसके संग से इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में व्यापृत होती हैं, उसे हे सुभद्रापति! भोग लेना कहते हैं।

(15.375) तदनन्तर भोग लेते-लेते जब देह क्षीण हो छूट जाता है, और चेतना नहीं दिखाई देती तो कहते हैं कि मृत्यु हो गई।

(15.376) परन्तु हे पाण्डव! वृक्ष वायु से डोलते हुए दिखाई दें क्या तभी वायु माननी चाहिए? वृक्ष का हिलना नहीं दिखाई देता तब क्या वायु नहीं रहती?

(15.377) अथवा दर्पण सामने रक्खो और उसमें अपना स्वरूप देखो तभी क्या उस स्वरूप की उत्पत्ति समझनी चाहिए? उसके पूर्व क्या वह स्वरूप नहीं था?

(15.378) तथा दर्पण को हटा लेने से स्वरूपाभास का लोप हो जाता है तब क्या यह समझ लेना चाहिए कि हम नहीं है।

(15.379) शब्द वास्तव में आकाश से उत्पन्न होता है, परन्तु वह जैसे मेघों पर आरोपित किया जाता है, अथवा लोग जैसे अभ्रों की गति को चन्द्रमा की गति समझते हैं,

(15.380) वैसे ही वे अन्ध जन मोह के कारण देह का उत्पन्न होना और नाश होना अविकारी आत्मसत्ता पर निश्चित करते हैं।

(15.381) परन्तु, आत्मा आत्मा की ही जगह है तथा शरीर में दिखाई देनेवाले धर्म शरीर के ही हैं, यह जाननेहारे दूसरे ही होते हैं।

(15.382) जिनके नेत्र, ज्ञान के कारण, इस देह-रूपी आच्छादन को ही देख कर नहीं रह जाते। किन्तु जैसे सूर्य की किरणें ग्रीष्म ऋतु में तीव्रता से निकलती हैं,

(15.283) वैसी ही जिनकी स्फूर्ति विस्तृत विवेक के द्वारा स्वरूप में जा बैठती है, वे ज्ञानी जन आत्मा को ऐसा देखते हैं

(15.284) जैसा कि प्रत्यक्ष तारागणों से भरा हुआ गगन, जो समुद्र में प्रतिबिम्बित होता है, पर जो उसमें अपनी जगह से टूट कर नहीं गिरता।

(15.285) आकाश आकाश की ही जगह रहता है और समुद्र में जो दिखाई देता है सो मिथ्या है, वैसे ही वे देह में आत्मा को देखते हैं।

(15.286) प्रवाह में दिखाई देनेवाली हलचल का कारण प्रवाह ही है। इस दृष्टि से देखिए तो जैसे यह निश्चय होता है कि चन्द्रिका चन्द्रमा में ही निश्चल है

(15.387) अथवा गड्ढा ही भरता या सूखता है पर जैसे सूर्य जैसा का तैसा बना रहता है, वैसे ही वे ज्ञानी जम देह की उत्पत्ति और मृत्यु होती देख कर भी मुझको अविक्रिय जानते हैं।

(15.388) घट या मठ की घटना होती है, और पश्चात् उसका भंग हो जाता है, परन्तु आकाश वैसा ही भरा हुआ बना है,

(15.389) वैसे ही वे निश्चय से जानते हैं कि आत्मसत्ता अखण्ड बनी है और उसमें अज्ञान-दृष्टि की कल्पना से शरीर का जन्म और उसकी मृत्यु होती है।

(15.390) शुद्ध आत्मज्ञान के द्वारा वे जानते हैं कि परब्रह्म न घटता है न बढ़ता है, और न वह कोई चेष्टा करता है न कराता है।

(15.391) परन्तु चाहे ज्ञान भी प्राप्त हो, बुद्धि परमाणु की भी खोज ले सके, सम्पूर्ण शास्त्रों का रहस्य हाथ आ जाय

(15.392) परन्तु उस विद्वत्ता के अनुरूप यदि अन्तःकरण में वैराग्य का प्रवेश न हुआ हो तो मुझे सर्वात्मा से भेंट नहीं हो सकती।

(15.393) मुख में विवेक भरा हो पर अन्तःकरण में विषयों की बस्ती हो तो हे धनुर्धर! यह सत्य जानो कि उस मनुष्य को मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती।

(15.394) स्वप्न में बर्रानेवालों के ग्रन्थों से क्या संसार का उलझाव मिट सकता है? अथवा स्पर्श करने से ही क्या पोथी पढ़ने का कार्य हो सकता है?

(15.395) आँखें बाँध कर मोती नाक से लगाये जायँ तो उनका मोल-भाव कैसे मालूम हो सकेगा?

(15.396) वैसे ही, चित्त में अहंकार बसता हो, और सम्पूर्ण शास्त्रों का मौखिक अभ्यास हो तो ऐसे कोटि जन्म हो जायँ तथापि मेरी प्राप्ति न होगी।

(15.397) मैं जो एक हूँ और सम्पूर्ण भूतमात्र में व्यापक हूँ, उस व्याप्ति का अब निरूपण करता हूँ, सुनो।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ 15.12 ॥

(15.398) जिससे सूर्यसहित सम्पूर्ण विश्वरचना प्रकट होती है वह प्रकाश आदि से अन्त तक मेरा समझना चाहिए।

(15.399) सूर्य जल का शोषण कर अस्त हो जाता है, तदनन्तर जो फिर से आर्द्रता पहुँचती है वह हे पाण्डुसुत! चन्द्र में रहनेहारी मेरी ही कान्ति है।

(15.400) और जो निरन्तर दहन या पचन-क्रिया करती है वह अग्नि में रहनेहारी दीप्ति भी मेरी ही है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ 15.13 ॥

(15.401) भूतल में मैंने ही प्रवेश किया है। इसी से समुद्र के महाजल में भी यह पृथ्वीरूपी रजःकणों का ढेला नहीं गलता

(15.402) और पृथ्वी जो अपार चराचर भूतमात्र को धारण करती है सो मैं ही उसमें प्रवेश कर धारण करता हूँ।

(15.403) गगन में भी हे पाण्डुसुत! मैं चन्द्रमा के रूप से एक चलता हुआ अमृत का सरोवर ही भरा हुआ हूँ।

(15.404) उसमें से जो किरणें निकलती हैं, उनसे मैं ही अनन्त रस-प्रवाहों के द्वारा सम्पूर्ण औषधियों का कोश भरता हूँ।

(15.405) इस प्रकार मैं सकल धान इत्यादि धान्यमात्र का सुकाल करता हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियों को अन्न द्वारा जीवन देता हूँ।

(15.406) अन्न पकाया जाता है परन्तु जिससे उसे पचाकर जीव समाधान का भोग ले वह दीपन यों ही कैसे हो सकता है?

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ 15.14॥

(15.407) इसलिए सकल प्राणियों के शरीर में नाभिस्थान की जगह अँगीठी बना कर उसकी जठराग्नि भी हो किरीटी! मैं ही बनता हूँ।

(15.408) तथा पेट में प्राण और अपान वायु की जुड़ी हुई धौंकनी से रात-दिन धोंक-धोंक कर न जाने कितना अन्न पचाता हूँ।

(15.409) शुष्क हो या स्निग्ध हो, अच्छा पका हुआ हो या भूँजा हुआ हो, सब — चारों प्रकार का — अन्न मैं ही पचाता हूँ।

(15.410) भाव यह है कि मैं ही सम्पूर्ण प्राणिगण हूँ उनका निर्वाह करनेहारा जीवन भी मैं ही हूँ और जीवन का मुख्य साधन जो अग्नि है वह भी मैं ही हूँ।

(15.411) अब इससे अधिक मैं अपनी व्यापकता की अपूर्वता और क्या वर्णन करूँ? संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है। सर्वत्र मुझे ही देख लो।

(15.412) तो फिर कोई प्राणी सर्वदा सुखी और कोई अत्यन्त दुःख से आक्रान्त दिखाई देते हैं सो किस वेष के कारण?

(15.413) नगर-भर में यदि एक ही दीपक से सब दीपक लगाये गये हों तो फिर उनमें कोई अप्रकाशित क्यों रह जायँ?

(15.414) ऐसा यदि तुम मन में तर्क-वितर्क करते हो तो उस शंका का भी हम निवारण करते हैं, सुनो।

(15.415) यह बात वस्तुतः मिथ्या नहीं है कि सर्वत्र मैं ही हूँ। परन्तु मैं प्राणियों को उनकी बुद्धि के अनुसार ही प्रकट होता हूँ।

(15.416) जैसे आकाश का गुण जो ध्वनि है सो एक ही है, परन्तु वह जुदे-जुदे वाद्यों में भिन्न-भिन्न नादरूप हो बजती है,

(15.417) अथवा सूर्य एक ही है परन्तु जुदे-जुदे लोक-व्यवहारों के कारण उसका भिन्न-भिन्न उपयोग होता है,

(15.418) अथवा जल बीजधर्म के अनुरूप वृक्षों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मेरा स्वरूप भी सम्पूर्ण जीवों में परिणत हुआ है।

(15.419) अजी! जैसे अज्ञानियों और चतुरों के सन्मुख रखा हुआ दुलड़ा हार अज्ञानियों को सर्प प्रतीत होता है पर ज्ञानियों को सुख का हेतु होता है,

(15.420) और रहने दो, जैसे स्वाती का जल सीप में मोती और सर्प में विष उत्पन्न करता है वैसे ही ज्ञानियों को मैं सुखरूप हूँ और अज्ञानियों को दुःखरूप।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ 15.15 ॥

(15.421) अन्यथा सब प्राणियों के अन्तःकरण में 'मैं अमुक हूँ' जो एक बुद्धि रात-दिन स्फुरती है सो मैं हूँ।

(15.422) परन्तु सत्समागम करते करते, योग और ज्ञान का अभ्यास करते करते, वैराग्य-सहित गुरुचरणों की उपासना करते करते

(15.423) उन सत्कर्मों के द्वारा जिनके अशेष अज्ञान का नाश हो जाता है और जिनकी बुद्धि आत्मस्वरूप में विश्राम पाती है

(15.424) वे स्वयं अपना स्वरूप देखकर उस दर्शन से मुझ आत्मरूप से सर्वदा सुखी होते हैं। उस सुख का कारण मेरे अतिरिक्त क्या कोई दूसरी वस्तु है?

(15.425) हे धनंजय! सूर्योदय होने पर जैसे सूर्य के प्रकाश से ही सूर्य को देखते हैं, वैसे ही मुझे जानने के लिए मैं ही कारण होता हूँ।

(15.426) परन्तु केवल शरीराभिमानियों की सेवा करते हुए और संसार की प्रतिष्ठा सुनते हुए ही जिनकी अहंता शरीर में ही डूब रही हैं.

(15.427) वे स्वर्ग और संसार की प्राप्ति के लिए कर्म-मार्ग में दौड़ते हुए दुःख के चुने हुए भाग के ही विभागी होते हैं।

(15.428) तथापि यह प्राप्ति भी हे अर्जुन! उन अज्ञानियों को मेरे ही कारण होती है। जैसे निद्रा के लिए भी जागृति ही कारण होती है.

(15.429) अथवा अभ्र से सूर्य छिप जाता है सो भी जैसे सूर्य के ही कारण जाना जाता है, वैसे ही प्राणी जो मुझे न जानते विषयों का सेवन करते हैं, सो भी मेरे ही कारण।

(15.430) हे धनंजय! तात्पर्य यह कि, निद्रा या जागृति का हेतु जैसे प्रबोध ही है, वैसे ही जीवों के ज्ञान या अज्ञान का मूल मैं ही हूँ।

(15.431) जैसे सर्पत्व या रस्सी का अधिष्ठान रस्सी ही है, वैसे ही संसार के ज्ञान या अज्ञान की सिद्धि मेरे ही कारण है।

(15.432) मैं जैसा हूँ वैसा मुझे न पहचान कर वेद ने मुझे जानने की चेष्टा की इससे उसके विभाग हो गये।

(15.433) तथापि पूर्व तथा पश्चिम को बहती हुई नदियों की अन्तिम सीमा जैसे समुद्र ही है, वैसे ही उन शाखा-भेदों से निःसन्देह मैं ही जाना जाता हूँ।

(15.434) और जैसे आकाश में वायु की सुगन्धयुक्त लहरों की खोज नहीं मिलती, वैसे ही महासिद्धान्त के पास पहुँचते ही शब्द-सहित श्रुति का भी लोप हो जाता है;

(15.435) तथा जहाँ सम्पूर्ण श्रुति-समूह लज्जित हो रहे ऐसा जो एकान्त-स्थल है उसे मैं ही यथावत् प्रकाशित करता हूँ।

(15.436) तदनन्तर श्रुति-सहित सम्पूर्ण जगत् जहाँ निःशेष विलीन हो जाता है उस शुद्ध आत्मज्ञान का जाननेहारा भी मैं ही हूँ। निद्रा से जब

(15.437) चेत आता है तब जैसे स्वप्न में दिखाई देनेवाला द्वैत निःसन्देह नहीं रहता तथापि अपनी एकता भी निज को ही प्रतीत होती है,

(15.438) वैसे ही मैं भी, द्वैत के न रहने के कारण, अपनी अद्वितीयता जानता हूँ और उस बोध का कारण जाननेहारा भी मैं ही हूँ।

(15.439) तथा हे वीर! कपूर जले तो न काजल होता है न अग्नि ही अवशेष बचती है

(15.440) वैसे ही जो अविद्या का समूल नाश करता है वह ज्ञान भी जब नष्ट हो जाता है, तब वास्तव में न तो अभाव रहता है और न भाव ही कहा जाता सकता है।

(15.441) जो विश्व का नाम-निशान तक मिटा ले जाय उस चोर को कौन कहाँ खोज सकता है? तात्पर्य यह है कि ऐसी जो कोई एक स्थिति होती है वह निर्मल स्वरूप मैं हूँ।

(15.442) इस प्रकार कैवल्य श्रीकृष्ण ने जड़ और अजड़ की व्याप्ति का निरूपण करते हुए अपने उपाधिरहित स्वरूप में ही अन्तिम विराम किया।

(15.443) वह सम्पूर्ण ज्ञान अर्जुन के हृत्पट इस प्रकार चित्रित हो गया जैसे आकाश में उदित हुआ चन्द्रमा क्षीरसागर में प्रतिबिम्बित हुआ हो।

(15.444) अथवा जैसे किसी निर्मल दीवार पर सामने की भीत पर लिखा हुआ चित्र प्रतिबिम्बित दिखाई दे वैसी ही स्थिति अर्जुन और श्रीकृष्ण के बीच ज्ञान की हुई।

(15.445) वस्तु-स्वभाव अत्यन्त श्रेष्ठ हैं; ज्यों ज्यों उसकी प्राप्ति होती है त्यों त्यों उसका माधुर्य बढ़ता जाता है। अतएव, अनुभवियों के राजा अर्जुन ने कहा —

(15.446) हे देव! अपनी व्यापकता का निरूपण करते हुए आपने प्रसंग-वशात् जिस निरुपाधिक स्वरूप का वर्णन किया

(15.447) वह एक बार मुझे पूर्ण समझा दीजिए। इस पर श्रीद्वारकानाथ ने कहा, बहुत अच्छा।

(15.448) वास्तव में हे अर्जुन! हमें भी सप्रेम और अखण्ड बोलने की इच्छा रहती है, परन्तु क्या किया जाय, ऐसा प्रश्न करनेहारा ही नहीं मिलता।

(15.449) आज मानों हमारे मनोरथ सफल हुए जो तुम एक मिल गये, क्योंकि केवल एक तुमने ही मुँह खोल के प्रश्न किया है।

(15.450) जिसका उपयोग अद्वैत से भी बढ़ कर है उस अनुभव का सूचक प्रश्न पूछ कर तुमने हमें निजी सुख प्राप्त कर दिया है।

(15.451) जैसे दर्पण समीप आ जाय तो मनुष्य को अपने नेत्र आप ही दिखाई देते हैं, वैसे ही हे निर्मल संवादियों के शिरोमणि! तुम हमें दर्पणरूप जान पड़ते हो।

(15.452) हे बन्धु! तुम्हारा हमारा सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि ज्ञान न होने के कारण तुम प्रश्न करो और फिर हम तुम्हें निरूपण सुनाने बैठे।

(15.453) ऐसा कह कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गले से लगा लिया और कृपादृष्टि से उसकी ओर हेरा और फिर कहा

(15.454) कि वास्तव में दोनों ओंठों से जैसे एक ही शब्द निकलता है, दोनों चरणों से एक ही गति उत्पन्न होती है, वैसे ही तुम्हारा प्रश्न और हमारा निरूपण है।

(15.455) तात्पर्य यह है कि संसार में तुम्हें और हमें एक ही समझना चाहिए। जहाँ प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों एक ही हैं।

(15.456) ऐसा कह प्रेम से भूले हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को आलिंगन दे चुप हो रहो परन्तु फिर शंकित हो बोले कि इतना प्रेम योग्य नहीं है।

(15.457) ईख के रस की भेली बनाते समय जैसे उसमें जरा-सा लवण अलना पड़ता है [1] वैसे ही जो यह रसीला संवाद-सुख जम रहा है उसमें यदि द्वैत न हो तो वह बिगड़ जावेगा।

(15.458) अर्जुन और हम नर-नारायण है, अतएव हम में पहले से ही कुछ भेद नहीं है। परन्तु अब यह प्रेम का वेग जहाँ का तहाँ शान्त करना चाहिए।

(15.459) यह सोच कर तत्काल श्रीकृष्ण ने कहा कि हे वीरेश! तुमने क्या प्रश्न किया?

(15.460) इधर अर्जुन उस समय श्रीकृष्णस्वरूप में घुल रहा था। उसे प्रश्न की वार्ता सुन फिर से देह-स्थिति की स्मृति हुई।

(15.461) तब अर्जुन ने गद्गद वाणी से कहा, महाराज! अपने निरुपाधिक स्वरूप का वर्णन कीजिए।

(15.462) यह सुन कर वे शार्ङ्गी उस स्वरूप प्रकटीकरण करने से उद्देश्य से उपाधि का दो प्रकार से निरूपण करते हैं।

(15.463) यदि किसी को यह आशंका हुई हो कि प्रश्न निरुपाधिक स्वरूप के विषय में है फिर उपाधि का वर्णन क्यों किया जाता है

(15.464) तो जैसे मट्ठे के अंश के अलगाने को ही माखन निकालना कहते हैं, उत्तम सोना शुद्ध करने के हेतु जैसे निकृष्ट सोना अलग किया जाता है,

(15.465) जैसे सेवार ही हाथ से हटाना पड़ता है, अन्यथा पानी जैसे का तैसा भरा ही रहता है, जैसे अभ्र ही निकल जाना चाहिए फिर आकाश तो वैसे ही सिद्ध है,

(15.466) जैसे ऊपरी तुषों को झड़ाकर अलग करते ही धान के कण हाथ लगने में देर नहीं लगती

(15.467) वैसे ही जहाँ विचार के द्वारा उपाधि और उपहित वस्तुओं का अन्त हुआ तहाँ निरुपाधिक वस्तु ही बच रहती है; इसमें पूछना ही क्या है।

(15.468) और जैसे नाम न ले कर ही कुल-स्त्री अपने पति का निर्देश करती है, वैसे ही शब्द के स्तब्ध होने से ही उस अवर्णनीय वस्तु का निर्देश होता है।

(15.469) तात्पर्य यह कि यह स्वरूप अकथनीय है। उसका वर्णन उपर्युक्त रीति से ही हो सकता है। इसलिए प्रथम उपाधिलक्षण कहना चाहिए।

(15.470) पड़वा (प्रतिपदा) की चन्द्ररेखा स्पष्टतः दिखाने के लिए जैसे प्रथम शाखा दिखाई जाती है, वैसा ही यह उपाधि का वर्णन है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ 15.16 ॥

(15.471) फिर श्रीकृष्ण ने कहा हे सव्यसाची! इस संसाररूपी नगर की बस्ती छोटी-सी अर्थात् केवल दो पुरुषों की है।

(15.472) सम्पूर्ण आकाश में जैसे रात और दिन यहीं दोनों वस्तुएँ रहती हैं, वैसे ही इस संसार-रूपी राजधानी में यही दो पुरुष है।

(15.473) तीसरा पुरुष एक और है, परन्तु उसे इन दोनों का नाम भी नहीं भाता। अपना उदय होते ही वह इन दोनों का इन नगर समेत नाश कर डालता है।

(15.474) परन्तु इस समय उसकी वार्ता रहने दो। पहले इन दोनों की कथा सुनो जो इस संसार-नगर में बसने के उद्देश्य से आये हैं।

(15.475) इनमें से एक अन्धा है, भ्रमयुक्त है, और पंगु है। दूसरा पूर्णांग और भला चंगा है। इन दोनों का समागम ग्राम-गुण के कारण हुआ है।

(15.476) एक का नाम क्षर है और दूसरे को अक्षर कहते हैं। इन दोनों से ही सब संसार भरा है।

(15.477) अब हम इस अभिप्राय का पूर्ण विवेचन करते हैं कि यह क्षर कौन है और अक्षर के क्या लक्षण हैं।

(15.478) हे धनुर्धर! महदाहंकार से ले कर तृणाग्र तक

(15.479) जो कुछ छोटी या बड़ी, जंगम या स्थावर वस्तु है, अधिक क्या कहें, जो कुछ भी मन या बुद्धि से गोचर है,

(15.480) जिसकी घटना पंचमहाभूतों से होती है, जो नाम और रूप के हाथ लगी है, जो तीन गुणों की टकसाल में ढाली जाती है,

(15.481) जिस सुवर्ण से भूताकृति-रूप सिक्के बनाये जाते हैं, जिन कौड़ियों से काल जुआ खेलता है,

(15.482) जो वस्तु विपरीत ज्ञान से ही जानी जाती है, जो प्रति-क्षण उत्पन्न होती और विलीन होती जाती है,

(15.483) जिस भ्रान्तिरूपी वन की लकड़ी से सृष्टि के स्वरूप की रचना होती है, बहुत क्या कहें, जिस वस्तु का नाम जगत् है,

(15.484) जो हमने प्रकृति नाम से आठ प्रकार की अलग वर्णन की थी, तथा जिसे क्षेत्र नाम दे उसके छत्तीस भाग किये थे,

(15.485) पिछली बात कहाँ तक कहें, अभी इसी अध्याय में हमने रूपक के द्वारा जिसका वृक्षाकार रूप किया था

(15.486) उस सम्पूर्ण साकार वस्तु को अपने रहने का स्थान समझ कर चैतन्य तदनुसार ही हो गया है।

(15.487) जैसे सिंह कुएँ में प्रतिबिम्बित हो और अपना प्रतिबिम्ब देख कर क्षोभयुक्त हो और उस क्षोभ के आवेश में कुएँ में कूद पड़े,

(15.488) अथवा आकाश जैसे जल में भी बना है तथापि उसमें ऊपरी आकाश प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही अद्वैत रहते हुए भी चैतन्य द्वैत का आश्रय करता है।

(15.489) इस प्रकार हे अर्जुन! आत्मा साकार-नगर की कल्पना कर उसमें विस्मृतिरूपी निद्रा लेता है।

(490) परन्तु इस नगर में आत्मा का शयन ऐसा समझो जैसे कोई स्वप्न में शय्या देखे और उस पर निद्रा

ले।

(15.491) उस निद्रा के वेग में आत्मा मानो मैं सुखी या दुःखी कहता हुआ घर्राटे मार रहा हैं, तथा अहंता या ममता द्योतक शब्दों से बर्रा रहा है।

(15.492) यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मैं गोरा, अंगहीन या अव्यंग हूँ, यह पुत्र, धन या कान्ता मेरी ही है न?

(15.493) इत्यादि स्वप्न का आश्रय कर जो संसार और स्वर्गरूपी वन में इधर-उधर दौड रहा हैं उस चैतन्य का नाम हे अर्जुन! क्षर पुरुष है।

(15.494) और सुनो। जो क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारा जाता है, अथवा जो दशा जगत् में जीव कहाती हैं,

(15.495) जो अपनी विस्मृति के कारण सब में अनुगत हुआ है उस आत्मा का निर्देश क्षर पुरुष नाम से किया जाता हैं।

(15.496) वह वस्तुतः पूर्ण है इसी लिए उसे पुरुष कहते हैं तथा वह देहरूपी पुर में सोया हुआ है इसलिए भी उसका नाम पुरुष पड़ा हैं।

(15.497) और उसको क्षरता का मिथ्या जाल इस कारण लगाया गया है कि वह उपाधिरूप ही बन गया है।

(15.498) जैसे हिलोरते हुए नाले के जल के संग उसमें प्रतिबिम्बित हुई चन्द्रिका भी आन्दोलित हुई दिखाई देती है वैसे हो आत्मा भी उपाधि के विकारों जैसा दिखाई देता है;

(15.499) तथा नाला जैसे सुख जाता है और साथ ही चन्द्रिका का भी लोप हो जाता है वैसे ही उपाधि का नाश होते ही औपाधिक आत्मा भी नहीं दिखाई देता।

(15.500) इस प्रकार उपाधि के कारण उसे क्षणिकता प्राप्त होती है और उस विनाशित्व के कारण उसे क्षर नाम प्राप्त हुआ है।

(15.501) अतः इस सब जीव-चैतन्य को क्षर पुरुष समझो। अब हम अन्तर का निरूपण करते हैं।

(15.502) हे धनुर्धर! अक्षर नामक जो दूसरा पुरुष है वह पर्वतों मेरु के समान मध्यस्थ है

(15.503) क्योंकि जैसे मेरु पृथ्वी, पाताल या स्वर्ग इन तीनों लोकों से त्रिधा भिन्न नहीं होता वैसे ही वह पुरुष ज्ञान या अज्ञान से भिन्न नहीं होता।

(15.504) अथवा, न यथार्थ ज्ञान से एकरूप होना और न अनेकता के द्वारा द्वैत-रूप होना ऐसा

जा नितान्त अज्ञान है वही अक्षर का रूप है।

(15.505) जिसका रजःकणत्व सम्पूर्ण नष्ट हो गया है परन्तु जिसके घट आदि बासन नहीं बनाये

गये हैं उस मिट्टी के पिण्ड के समान जो मध्यस्थ है,

(15.506) जैसे सरोवर सुख जाने पर उसमें न तरंग` रहती हैं न पानी, वैसे ही जिसकी आकार-रहित स्थिति रहती है,

(15.507) हे पार्थ! जैसे जागृति का नाश हो चुके और स्वप्न की कुछ भी घटना न हो ऐसी निद्रा के समान जिसका स्वरूप है,

(15.508) सम्पूर्ण विश्व विलीन हो जाय और आत्म-बोध प्रतीत न हो ऐसी जो स्थिति है, उस केवल अज्ञान-दशा का नाम अक्षर है।

(15.509 अमावस्या के दिन जैसे सब कलाओं से परित्यक्त चन्द्रमा का केवल चन्द्रत्व ही रह जाता है वैसा ही स्वरूप अक्षर का समझे।

(15.510) सब उपाधियों का नाश होने पर यह जीव-दशा जहाँ प्रवेश करती है, फल-रूप से परिणत होने पर वृक्ष जैसे बीज में ही स्थित हो रहता है

(15.511) वैसे ही उपाधिगत चैतन्य उपाधि-सहित जहाँ थम रहता है उसे अव्यक्त कहते हैं।

(15.512) घोर अज्ञान-रूप जो सुबुद्धि है सो बीज-भाव कहाता है, और स्वप्न या जागृति फल-भाव कहलाता है

(15.513) एवं वेदान्त में जे बीजभाव नामक रूप कहा है वह इस अक्षर पुरुष का स्थान है।

(15.514) जहाँ से विपरीत ज्ञान का विकास हो जागृति, स्वप्न तथा बुद्धि का अपार वन प्रकट होता है,

(15.515) हे किरीटी! जहाँ से जीवत्व संसार का उत्पन्न करता हुआ स्वयं उत्पन्न होता है, वही उन दोनों के भेद का लयस्थान अक्षर पुरुष है।

(15.516) दूसरा जो संसार में 'क्षर' पुरुष प्रसिद्ध है, जो जागृति में या स्वप्न में शरीर में क्रीडा करता है, वह अवस्था जहाँ से उत्पन्न होती है,

(15.517) जो अज्ञान, घोर सुषुप्ति इत्यादि नामों से विख्यात हैं, तथा इसी एक बात के अतिरिक्त जो केवल ब्रह्म-प्राप्ति ही हैं,

(15.518) जिसके अनन्तर हे वीर! स्वप्न या जागृति न आती तो जिसे सचमुच में ब्रह्मभाव ही कह सकते थे,

(15.519) जिस आकाश-स्थिति से प्रकृति और पुरुष दोनों उत्पन्न होते हैं, जिस अवस्था में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूपी स्वप्न दिखाई देता हैं,

(15.520) और सब रहने दे, जो इस अधःशाखी संसाररूपी वृक्ष का मूल हैं वही अक्षर पुरुष का स्वरूप है।

(15.521) इसे पुरुष क्यों कहते हैं? यह पूरा सोया हुआ रहता है इसलिए, तथा यह माया-रूपी पुर में सोया हुआ रहता है इस कारण भी।

(15.522) और विकारों का आवागमन जो अन्यथा ज्ञान का स्वरूप है उसका जिसमें भान नहीं होता वह सुषुप्ति इसी पुरुष का रूप है।

(15.523) अतः इसका विनाश आप ही आप नहीं है सकता; तथा ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से भी इसका अन्त नहीं होता।

(15.524) अतएव, संसार में वेदान्त का यह सिद्धान्त, कि यह पुरुष अक्षर है, प्रसिद्ध हैं।

(15.525) तात्पर्य यह कि जो जीवरूपी कार्य का कारण है और माया-संग ही जिसका लक्षण है उस चैतन्य का अक्षर पुरुष ही जानो।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ 15.17 ॥

(15.526) अब संसार में जागृति और स्वप्न जो दो अवस्थाएँ हैं वे अन्यथा ज्ञान के द्वारा जिस घोर अज्ञान तत्व में विलीन हो जाती हैं

(15.527). उस अज्ञान का जब ज्ञान में लय होता है, और ज्ञान ही सन्मुख`रहता हैं, तब जैसे अग्नि काष्ठ का जला कर स्वयं भी जलती है,

(15.528) वैसे ही ज्ञान अज्ञान का नाश कर आप भी ब्रह्मस्वरूप का परिचय दे चला जाता है और तदनन्तर ज्ञातृत्व से विहीन जो जाननेहारा बच रहता है

(15.529) वह उत्तम पुरुष हैं, जो मानों तीसरा या अन्तिम पुरुष है तथा जो पूर्वोक्त दोनों पुरुषों से अलग है।

(15.530) हे अर्जुन! जैसे सुषुप्ति और स्वप्न से जागृतावस्था नितान्त भिन्न बोध का परिचय देनेवाली रहती है,

(15.531) अथवा जैसे सूर्य-किरण और मृगजल से सूर्यमण्डल अत्यन्त भिन्न होता है, वैसे ही यह उत्तम पुरुष भिन्न है।

(15.532) अथवा काष्ठ में रहनेहारी अग्नि जैसी काष्ठ से भिन्न रहती है वैसे ही यह उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर से भिन्न है।

(15.533) कल्पान्त के समय जैसे सर्वत्र एक ही समुद्र पूर्ण हो अपनी सीमा का उल्लंघन कर नद-नदियों का एकाकार कर चलता है,

(15.534) प्रलय के तेज से जैसे दिन और रात का अन्त हो जाता है वैसे ही उस उत्तम पुरुष के समीप न स्वप्न की, न सुषुप्ति की और न जागृति की वार्ता रहती है।

(15.535) तथा जहाँ न एकत्व है, न द्वैत है, अथवा जहाँ यह भी जान नहीं पड़ता कि कुछ है या नहीं,

(15.536) ऐसी जो कोई एक स्थिति है उस स्थिति का उत्तम पुरुष जाने। वह परमात्मा नाम से विख्यात है।

(15.537) यह वर्णन भी हे पाण्डुसुत! उस पद से एक न होने के कारण जीवत्व का अभिमान धरने से ही किया जाता है। जैसे बूड़ते हुए मनुष्य का वर्णन कोई तटस्थ करे

(15.538) वैसे ही हे किरीटी! वेद भी विवेक के किनारे खड़े हो परतीरस्थ परमात्मा का वर्णन करते हैं।

(15.539) क्षर और अक्षर दोनों पुरुष इसी पार हैं ऐसा देख कर ही उत्तम पुरुष के परतीरस्थ आत्मा कहते हैं।

(15.540) हे अर्जुन! इस प्रकार परमात्मा शब्द से पुरुषोत्तम की सूचना होती है।

(15.541) अन्यथा मौन ही जिसका शब्द है, सम्पूर्ण वस्तु-मात्र का ज्ञान न लोना जिसका ज्ञान है, किसी वस्तु के स्वरूप का न होना जिसका अस्तित्व है, ऐसी जो वस्तु है,

(15.542) सोऽहंभाव का भी जहाँ अस्त हो जाता है, वक्ता ही जहाँ वक्तव्य रूप हो जाता है, जहाँ दृश्य — द्रष्टा-सहित — विलीन हो जाता हैं,

(15.543) परन्तु जैसे बिम्ब और प्रति-बिम्ब के बीच रहनेहारी प्रभा हाथ नहीं लगती तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है

(15.544) अथवा नाक और फूल के बीच रहनेवाली सुगन्ध दिखाई नहीं देती तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व नहीं हैं,

(15.545) वैसे ही द्रष्टा और दृश्य दोनों के विलीन हो जाने पर क्या रह जाता है सो कौन कह

सकता है? परन्तु ऐसी जो स्थिति है उसकी प्रतीति ही उस पुरुषोत्तम का रूप है।

(15.546) जो प्रकाश्य वस्तु के बिना ही प्रकाशता है, जो शासितव्य वस्तु के बिना ही शासन करता है, जे निज से ही सब आकाश का बसाता है,

(15.547) जो स्वयं नाद के सुनने योग्य नाद है, स्वाद के चखने योग्य स्वाद है तथा आनन्द के ही भागने योग्य आनन्द है,

(15.548) जो पूर्णता का परिणाम हे, जो सब पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, जहाँ विश्रान्ति का भी विश्राम समाया हुआ है,

(15.549) जो सुख को प्राप्त हुआ सुख है, जो तेज को उपलब्ध हुआ तेज है, जिस महाशून्य में शून्य भी विलीन हो। गया है,

(15.550) जो स्वयं विकसित होने पर भी शेष रहता है, जो संहार का भी संहार कर बच रहता है, जो बड़ी से बड़ी वस्तु से भी अनेकशः बड़ा है,

(15.551) जैसे सीप चाँदी न हो कर भी अज्ञानी का चाँदीरूप से प्रतीत हेती है,

(15.552) अथवा सुवर्ण जैसे स्वयं गुप्त न रह कर अनेक अलंकार-रूपों में छिपा हुआ रहता है, वैसे ही जो वास्तव में विश्व न होता हुआ विश्व का धारण किये है,

(15.553) यह रहने दो, जल और तरंग में जैसे भिन्नता नहीं है वैसे ही जो आप ही जगत् की सत्ता और प्रकाशरूप है,

(15.554) हे वीरेश! जल में दिखाई देनेहारे चन्द्र का कारण जैसे यह पूर्णचन्द्र है, वैसे ही जो आप ही अपने उदय और अस्त का कारण होता है

(15.555) तथा जो विश्व के प्रकट होने से न कुछ होता या उसके लय से न कहीं जाता, जैसे रात और दिन भिन्न होने से सूर्य द्विधा नहीं होता

(15.556) वैसे ही जिसका कभी भी या किसी कारण से भी कुछ भी क्षय नहीं होता, जिसकी तुलना स्वयं उसी से हो सकती है,

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ 15.18 ॥

(15.557) हे धनंजय! जो आप ही निज को प्रकाशित करता है, बहुत क्या कहूँ, जिसे द्वैत नहीं है,

(15.558) ऐसा उपाधिरहित पुरुष एक मैं हूँ, जो क्षर और अक्षर पुरुषों से उत्तम हूँ। अतएव वेद और शास्त्र मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ 15.19 ॥

(15.559) परन्तु यह रहने दो। हे धनंजय। ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से जो मुझ पुरुषोत्तम का पहचान लेता है

(15.560) उसके लिए यह दिखाई देता हुआ त्रिभुवन उसी प्रकार वृथा हो जाता है जिस प्रकार जागृत होने पर निज का ज्ञान होता है और स्वप्न मिट जाता है;

(15.561) अथवा, हार हाथ में लेते ही जैसे सर्पाभास का भय मिट जाता है वैसे ही मेरा ज्ञान होने पर वह व्यक्ति मिथ्या ज्ञान के वश नहीं होता।

(15.562) जो जानता है कि अलंकार सुवर्ण ही है वह अलंकारता को मिथ्या समझता है। वैसे ही जिसने मुझे जान कर भेद का त्याग कर दिया है,

(15.563) और जो समझता है कि सर्वत्र सच्चिदानन्द स्वरूप से एक मैं ही स्वयंसिद्ध हूँ, तथा जो मुझे निज से अभिन्न जानता है

(15.564) उसी ने सब कुछ जाना है — यह बात कहना भी उसके विषय में न्यून ही है क्योंकि उसके लिए तो द्वैत का नाम-निशान भी नहीं बच रहता।

(15.565) अतः हे अर्जुन! मेरे भजन के लिए वही योग्य है। जैसे गगन के आलिंगन के लिए गगन ही योग्य है,

(15.566) जैसे क्षीरसागर की पहुनई क्षीरसमुद्र बन कर ही हो सकती है, अथवा जैसे अमृतरूप हो कर ही अमृत में मिलना हो सकता है,

(15.567) जैसे उत्तम सोने में मिलाने के लिए उत्तम सोना ही चाहिए, वैसे ही मेरी भक्ति की सम्भावना मद्रूप होकर ही हो सकती है।

(15.568) अजी! गंगा समुद्र से भिन्न होती तो समुद्र में कैसे मिल जाती? वैसे ही मद्रूप न होते हुए मेरी भक्ति करना केवल एक सम्बन्ध जोड़ना है।

(15.569) सारांश, तरंग जैसे सब प्रकार से समुद्र से अनन्य रहता है वैसे जो मुझे भजता है

(15.570) उसका भजन मैं — सूर्य और प्रभा की जिस प्रेम के कारण एकता उसी योग्यता का समझता हूँ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ 15.20॥

(15.571) इस प्रकार इस अध्याय के आरम्भ से यहाँ तक किया हुआ निरूपण सब शास्त्रों की एकवाक्यता से प्राप्त है, तथा कमलदल सरीखे उपनिषदों की सुगन्ध हैं।

(15.572) यह हमने श्रीव्यास की प्रज्ञा से शब्दब्रह्म का मन्थन कर बना-बनाया सारभूत माखन निकाला है।

(15.573) यह गीता ज्ञानामृत से भरी हुई गंगा हैं, विवेकरूपी क्षीरसमुद्र की नवलक्ष्मी है,

(15.574) अतएव यह अपने पदों से, वर्णों से, अर्थ से, जीव से, प्राणों से मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु होना जानती ही नहीं।

(15.575) उसके सन्मुख जाते ही क्षर और अक्षर पुरुषों का पुरुषत्व नष्ट हो गया हैं, और फिर उसने अपना सर्वस्व मुझ पुरुषोत्तम का समर्पित कर दिया है।

(15.576) इसलिए यह गीता जो तुमने अभी हाल ही सुनी है सो मुझ आत्मा के कारण ही जगत् में पतिव्रता कहलाती है।

(15.577) असल में यह शास्त्र शब्दों से कहने योग्य नहीं है। यह संसार का पराभव करनेहारा शास्त्र है। इसके अक्षर आत्मा का प्रकटीकरण करनेहारे मन्त्र हैं।

(15.578) हे अर्जुन! हमने जो तुम्हें यह गीता कह बताई सो मानों तुमने हमारा गुप्त धन उखाड़ लिया।

(15.579) हे पार्थ! चैतन्य-शंकररूपी मेरे मस्तक में जो गंगारूपी धन रक्खा था उसके लिए आज तुम श्रद्धानिधि गौतम बन गये।

(15.580) हे धनंजय! अपनी स्वच्छता के द्वारा जो सन्मुख खड़े रहनेहारे को उसका निजस्वरूप दिखा देता है उस दर्पण का ही काम आज तुमने हमारे संग किया है।

(15.581) अथवा जैसे समुद्र चन्द्रमा और तारागणों से भरे हुए आकाश का निज में समा लेता है वैसे ही तुमने गीता-सहित मुझे अन्तःकरण में रख लिया है।

(15.582) हे सुभट! त्रिविध पापों ने तुम्हें छोड़ दिया है। अतः तुम गीता-सहित मेरे वसतिस्थान बन गये हो।

(15.583) परन्तु इसमें कहना ही क्या है? क्योंकि गीता मेरी ज्ञानलता है। इसे जो जानता है वह सम्पूर्ण अज्ञान से मुक्त हो जाता है।

(15.584) हे पाण्डुसुत! सेवन करने से यह अमृत की नदी राग का नाश कर योग्य जनों का अमृतत्व समर्पण करती है।

(15.585-586) यह गीता ऐसी है। इसे जानते ही मोह का नाश हो जाने में क्या आश्चर्य हैं? इसके सहाय से तो आत्मज्ञान — जिस आत्मज्ञान से कर्म अपने आयुष्य का अन्त कर विलीन हो जाता है — के द्वारा आत्मस्वरूप में मिल जाते हैं।

(15.587) हे वीरविलास अर्जुन! खोई हुई वस्तु को प्रकट कर खोज जैसे स्वयं मिट जाती है वैसे ही कर्मरूपी मन्दिर पर ज्ञान भी कलश हो चढ़ता है।

(15.588) इससे ज्ञानी मनुष्य के कर्म की क्रिया समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अनाथों के सखा श्रीकृष्ण ने कथन किया।

(15.589) श्रीकृष्ण के श्रीमुख का अमृत पार्थ के हृदय में न समा कर उभर रहा था, अतः वह श्रीव्यास की कृपा से संजय को भी प्राप्त हो गया।

(15.590) वही अमृत संजय धृतराष्ट्र का पिला रहा था! इसी लिए उसे प्राणान्त का समय कष्टप्रद नहीं हुआ।

(15.591) यों तो गीता श्रवण के समय वह अनधिकारी मालूम होता था परन्तु अन्त में उसे वही उत्तम गति मिली जो अधिकारियों को मिलती है।

(15.592) अंगूर की बेल को दूध देते समय वह वृथा गया सा जान पड़ता है परन्तु फल पकने पर जैसे वह दुगुना हुआ दिखाई देता है

(15.593) वैसे ही श्रीहरि के सुख के वचन संजय से सप्रेम कहे तो उनसे उस अन्ध धृतराष्ट्र को भी यथाकाल आनन्द हुआ।

(15.594) वही कथा जैसी कुछ, अपने स्थूल ज्ञान के कारण, मेरी समझ में आई या न आई वैसी मैंने भाषा के शब्दों में निवेदित की।

(15.595) सेवती का स्वरूप देख कर अरसिकों का कुछ विशेषता नहीं जान पड़ती परन्तु उसकी विशेषता सुगन्ध हर ले जानेवाले भ्रमर ही जानते हैं।

(15.596) अतः जो सिद्धान्त आप रसिकों को मान्य हो उसी का आप ग्रहण करें; जो अयुक्त है उसे छोड़ दें; क्योंकि अज्ञान स्वभावतः बालक का स्वरूप ही है।

(15.597) बालक यद्यपि अज्ञानी हो तथापि उसे देख कर माता-पिता का हर्ष हृदय में नहीं समाता तथा वे उसका अत्यन्त कौतुक मानते है।

(15.598) वैसे हो आप सन्त मेरे माता-पिता हैं। आपकी भेट होते ही मैं लाड़ से बोलता हूँ, ग्रन्थ का तो केवल बहाना समझिए।

(15.599) ज्ञानदेव कहते हैं कि अब में विश्वात्मक स्वामी श्रीनिवृत्तिराज यह वाग्पूजा ग्रहण करे।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां पञ्चदशोऽध्यायः।

सोलहवाँ अध्याय

(16.1) अब मैं विश्वाभास का अस्त कर उदित होनेवाले और अद्वैत-रूपी कमलिनी का विकास करनेहारे अनोखे सूर्य का वन्दन करता हूँ

(16.2) जो अविद्यारूपी रात्रि को दूर कर ज्ञानाज्ञानरूपी चाँदनियों का नाश करता है, और ज्ञानियों के लिए आत्मबोधरूपी सुदिन प्रकाशित करता है,

(16.3)जिसका प्रातःकाल होते ही जीवरूपी पक्षी आत्मज्ञान रूपी आँखें खोलते और देहाभिमानरूपी घोंसलों में से बाहर निकलते हैं,

(16.4) जिसका उदय होते ही सूक्ष्म-देहरूपी कमल के गर्भ में क्षीण हो रहनेवाला जीव-चैतन्यरूपी भ्रमर बन्ध से मुक्त हो जाता है,

(16.5) शास्त्र इत्यादि-रूपी विकट स्थलों में भेदरूपी नदी के दोनों तीरों पर जो बुद्धि और ज्ञान विरह से व्याकुल हो आक्रोश कर रहे हैं

(16.6) उन चक्रवाकों की जोड़ी को जो चिदाकाशभुवन का दीपक समाधानरूपी मेल के भोग का लाभ करा देता है,

(16.7) जिसके प्रातःकाल का प्रकाश होते ही भेदरूपी चोरी का समय बीत जाता है और पान्थिक योगी आत्मसाक्षात्काररूपी बाट चलने लगते हैं,

(16.8) जिसकी विवेकरूपी किरणों के संग से ज्ञानरूपी सूर्यकान्तमणि की चिनगारियाँ झड़तीं और संसाररूपी अरण्य का जलाती हैं,

(16.9) जिसके तीव्र किरणसमूह के, आत्मस्वरूपरूपी पथरीली धरती पर स्थिर होते ही महासिद्धिरूपी मृगजल की बाढ़ आती है,

(16.10) जिसके सोहंरूपी मध्याह्नकाल के समय आत्मबोधरूपी शिखर पर आते ही आत्मभ्रमरूपी परछाई पावों-तले छिप जाती है,

(16.11) उस समय जब मायारूपी रात ही नहीं रहती तो विश्वरूपी स्वप्नसहित अन्यथाज्ञानरूपी निद्रा को कौन आश्रय देता है?

(16.12) अतएव उस अद्वैतज्ञान-रूपी नगर में महानन्द की भीड़ लग जाती है और

सुखानुभव के लेन-देन की मन्दी हो जाती है;

(16.13) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जिसके उत्तम दिन प्रकाश से सर्वदा मुक्त कैवल्य का लाभ होता है,

(16.14) जो निजधामाकाश का राजा सर्वदा उदित है और उदित होते ही पूर्वे इत्यादि दिशाओं-सहित उदय और अस्त का नाश कर देता है,

(16.15) और जो ज्ञान सहित अज्ञान का अन्त कर देता है, तथा ज्ञान और अज्ञान दोनों से छिपी हुई जो वस्तु है उसे प्रकट करता है। बहुत क्या वर्णन करें, वह सम्पूर्ण उषाकाल कुछ भिन्न ही वस्तु

(16.16) वह ज्ञानसूर्य दिन और रात का परतीर है। उसे कौन देख सकता है? जिसने प्रकाशितव्य पदार्थों के बिना ही प्रकाश का सुकाल कर दिया है

(16.17) उस ज्ञानसूर्य श्रीनिवृत्ति को मैं बारबार केवल नमस्कार ही करता हूँ। क्योंकि स्तुति करना शब्दों की बाधा ही करना हैं।

(16.18) देव की महिमा के प्रमाण से स्तुति तभी ठीक है। सकती है जब स्तुति का विषय बुद्धि के संग विलीन हो जाय।

(16.19) जो सम्पूर्ण विषयों के न जानने से ही जाना जा सकता हैं, मौन को आलिंगन देने से हो जिसकी स्तुति हो सकती है, अन्य रूप न होने से ही जिसकी प्रतीति निज में हो सकती है,

(16.20) जिसकी स्तुति करने के लिए वैखरी वाणी पश्यन्ती और मध्यमा को लील लेती और फिर परा सहित विलीन हो जाती है,

(16.21) ऐसे आपको हे गुरु! मैं सेवकरूप से इस वाचनिक स्तुति के अलंकार पहनाता हूँ। हे अद्वयानन्द आपसे इनके स्वीकार की विनती करना भी न्यून है।

(16.22) परन्तु दरिद्रों यदि अमृत का सागर देखे तो उसे योग्यायोग्य स्वागत की विस्मृति हो जाती है और वह साग-भाजी से ही उसकी पहुनई करने के लिए दौड़ता हैं।

(16.23) उस समय वस्तुतः उसकी साग-भाजी का ही बहुत समझना चाहिए। उसके हर्षवेग की ओर ही ध्यान देना चाहिए। आरती कर दिव्यस्वरूप देवता को प्रकाशित करने की चेष्टा में आरती करनेहारे की भक्ति ही देखनी चाहिए।

(16.24) बालक यदि योग्यायोग्य जाने तो बालकपन ही क्या रहा? पर सचमुच वह माता ही है जो उससे सन्तुष्ट होती है।

(16.25) अजी! गंगा के पीछे-पीछे नाले का जल भी आ मिलता है तो क्या वह उसे 'दूर हट' कहती है?

(16.26) भृगु का कितना अपराध था पर उसको प्रेम का उपचार समझ कर क्या शार्ङ्गधर उनके गुरुत्व से सन्तुष्ट नहीं हुए?

(16.27) अथवा अन्धकारमय आकाश जब दिनपति के सन्मुख आता है तो क्या वह उसे `दूर हट' कह देता है?

(16.28) वैसे ही मैंने आपको भेद-बुद्धि की तुला में रख सूर्योपमा के माप से तौलने की जो चेष्टा की उसके लिए एक बार क्षमा कीजिए।

(16.29) जिन्होंने आपको ध्यानरूपी नेत्रों से देखा और वेद इत्यादि वाणियों से आपकी स्तुति की, जैसे उनकी चेष्टाएँ आपने सह लीं वैसे मुझे भी क्षमा कीजिए;

(16.30) तथा मैं एक सामान्य मनुष्य और आपके गुणों पर लुब्ध हुआ हूँ, इसे अपराध न समझिए। चाहे जो कीजिए परन्तु मैं कभी अतृप्त न उठूँगा।

(16.31) मैं गीतारूपी आपके सुन्दर प्रसादामृत का वर्णन करने के लिए उद्यत हुआ तो उससे भाग्यवशात् मुझे दुगुने बल का लाभ हो गया।

(16.32) मेरी वाचा ने कई कल्पों तक सत्यालाप का तप किया होगा जिससे हे प्रभु! मुझे इस गीतारूपी महाद्वीप की फल-प्राप्ति हुई।

(16.33) मैंने अनेक असाधारण पुण्यों का आचरण किया होगा वही पुण्य आज मुझे आपके गुण-वर्णन का बल समर्पण कर उत्तीर्ण हो गये।

(16.34) अजी! मैं जीवित्वरूपी अरण्य में एक मरणरूपी गाँव में आ पड़ा था, वह संकट आज बिलकुल मिट गया।

(16.35) जो गीता-नाम से प्रसिद्ध है, जो अविद्या का जीत कर बलवती हुई है वह आपकी कीर्ति सर्वथा स्तुत्य है।

(16.36) यदि निर्धन के घर कुतूहल से महालक्ष्मी आ बैठे तो क्या उसे निर्धन कहा जा सकता है?

(16.37) अथवा अन्धकार के स्थान में भाग्य से सूर्य आ जावे तो क्या वह अन्धकार ही संसार के लिए प्रकाशरूप न हो जावेगा?

(16.38) जिस देव की महिमा ऐसी हैं कि सम्पूर्ण विश्व उसके एक परमाणु की भी बराबरी नहीं कर सकता वह देव भी क्या, भाव के बल से, प्राप्त नहीं हो सकता?

(16.39) वैसे ही वास्तव में मेरा गीता का निरूपण करना आकाश-पुष्प का सूँघना है परन्तु आप समर्थ ने वह इच्छा पूर्ण कर दी हैं।

(16.40) (ज्ञानदेव कहते हैं कि) अतएव मैं आपकी कृपा से गीता के इन अगाध श्लोकों का स्पष्ट निरूपण करता हूँ।

(16.41) पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धान्त का विवरण किया।

(16.42) उत्तम वैद्य जैसे शरीरगत दोषों के रूप का वर्णन करता है वैसे ही श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण उपाधि का वृक्षोपमा की परिभाषा द्वारा निरूपण किया।

(16.43) और अविनाशी जीवात्मा का जो पुरुषरूप वर्णन किया उससे उपाधिगत चैतन्य का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया।

(16.44) अनन्तर 'उत्तम पुरुष' के बहाने शुद्ध आत्मतत्त्व ही प्रकट कर दिया

(16.45) तथा आत्मप्राप्ति का आन्तरिक और श्रेष्ठ साधन जो ज्ञान है उसका रूप भी विशद कर दिया।

(16.46) इसलिए अब इस अध्याय में निरूपण करने योग्य कुछ नहीं बचा है। अब केवल गुरु

और शिष्य दोनों का प्रेम ही दिखाई दे रहा है,

(16.47) एवं ज्ञानी इस विषय को पूर्णतः समझ चुके हैं, परन्तु अन्य मुमुक्षु जन शंकित होते हैं।

(16.48) हे मर्मज्ञ! जो ज्ञान के द्वारा मुझ पुरुषोत्तम से आ मिलता है वही सर्वज्ञ हैं तथा वही भक्ति की सीमा है —

(16.49) यह बात जो पन्द्रहवें अध्याय के एक श्लोक में त्रैलोक्यनायक श्रीकृष्ण ने कही उसमें इन्होंने सन्तोष के साथ प्रायः ज्ञान की ही स्तुति की।

(16.50) जिससे द्रष्टा, प्रपंच का नाश कर, दर्शन के साथ ही दृष्ट-रूप हो जाय और जीव आनन्द के साम्राज्य पर आरूढ़ हो जाय

(16.51) ऐसा बलवत्तर उपाय ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा नहीं हैं। देव कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान सम्पूर्ण उपायों में राजा है।

(16.52) अतएव आत्म-जिज्ञासुओं ने, अन्तःकरण में प्रसन्न हो, उस ज्ञान पर से अपने जीव की निछावर कर डाली है।

(16.53) परन्तु यह प्रेम का लक्षण है कि जिस वस्तु में वह लग जाता है उसमें अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है

(16.54) अतएव जिज्ञासुओं का जब तक भली भाँति ज्ञान की प्रतीति नहीं होती तब तक उन्हें अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति करने की और प्राप्त ज्ञान की रक्षा करने की उत्कण्ठा अवश्य होगी।

(16.55) इसलिए — वह यथार्थ ज्ञान कैसे अधीन किया जा सकता है तथा अधीन होने पर उसकी वृद्धि की चेष्टा कैसे की जा सकती है,

(16.56) अथवा ऐसी कौन-सी विरोधी वस्तु है जा ज्ञान का उपजने ही नहीं देती और उपजे तो उसे टेढे-मेढे मार्ग में लगा देती है — इत्यादि बातें जिससे मालूम हों।

(16.57) और जो ज्ञानियों का विघ्नकर्ता है उसे रास्ते से लगा दें तथा ज्ञान का जो हितकारी है उसी का सब भावों से विचार करें

(16.58) ऐसी जो आप सब जिज्ञासुओं के मन में इच्छा उत्पन्न हुई है उसे पूर्ण करने के लिए श्रीलक्ष्मीपति और अधिक निरूपण करते हैं।

(16.59) अब वे उस दैवी सम्पत्ति की प्रशंसा बखानेंगे जिससे ज्ञानियों का उत्तम जन्म का लाभ होता है तथा उनकी शान्ति की भी वृद्धि होती है।

(16.60) अज्ञान के अधीन होने से जिस में राग और द्वेष का आश्रय मिलता है उस घोर

आसुरी सम्पत्ति का भी वे वर्णन करेंगे।

(16.61) इष्ट या अनिष्टकारक दोनों कुतूहल-कारिणी सम्पत्तियाँ यही हैं। इस बात का उपक्रम नवें अध्याय में हो चुका है।

(16.62) वहीं उनका आगे विचार किया जाता परन्तु उतने में दूसरा प्रस्ताव आ पड़ा; तथापि देव अब प्रसंगानुसार निरूपण करते हैं।

(16.63) उस निरूपण के लिए इस सोलहवें अध्याय का सम्बन्ध पिछले अध्याय से लगाना चाहिए।

(16.64) परन्तु अस्तु, प्रस्तावित ज्ञान के. हित या अहित के लिए यही दोनों सम्पत्तियाँ समर्थ हैं।

(16.65) इनमें से प्रथम उस देवी सम्पत्ति का वर्णन सुनो जो मुमुक्षु-मार्ग को पहुँचाती हैं, तथा जो मोहरूपी रात्रि में धर्मरूपी मशाल है।

(16.66) संसार में सम्पत्ति उसे कहते हैं जिस एक के सम्पादन से एक दूसरे की वृद्धि करनेवाले अनेक पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है।

(16.67 इस देवी सम्पत्ति से सुख की प्राप्ति होती है, और देवगुण के कारण वही एक आश्रय करने के योग्य है, अतएव उसे देवी सम्पत्ति कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ 16.1 ॥

(16.68) अब सुनो। उन देवगुणों में जो सबसे आगे है, उसे अभय कहते हैं।

(16.69) बाढ़ में न कूदो तो जैसे डूबने का डर नहीं लगता, अथवा पथ्य सेवन करनेहारे के घर जैसे राग की सम्भावना नहीं होती,

(16.70) उसी प्रकार अहंकार की कर्माकर्म की ओर की प्रवृत्ति रोक कर संसार का भय छोड़ देना,

(16.71) अथवा ऐक्य भाव के विस्तार-द्वारा सम्पूर्ण जगत् का आत्मस्वरूप जान कर भयवार्ता का हद के पार निकाल बाहर करना,

(16.72) अथवा जल लवण को डुबाने जाय तो जैसे लवण ही जल बन जाता है वैसे ही स्वयं अद्वैत हो जाने पर भय का नाश हो जाना

(16.73) इसी को अभय कहते हैं। यह सम्पूर्ण सम्यक् ज्ञान की सीमा है।

(16.74) अब जिसे सत्त्वशद्धि कहते हैं से इन लक्षणों से पहचानना चाहिए। राख जैसे न जलती है न बुझती है,

(16.75) अथवा जैसे चन्द्र, अमावस्या की क्षय की स्थिति पीछे छोड़, पड़वा की वृद्धि की अपेक्षा न करके, बीच में ही अति सूक्ष्म अवस्था में रहता है,

(16.76)अथवा गंगा जैसे वर्षाकाल के अनन्तर तथा ग्रीष्म ऋतु से मण्डित होने के पूर्व बीच के काल में निज स्वरूप से रहती है,

(16.77) वैसे ही संकल्प और विकल्पों से आकर्षित न हो कर रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्ति छोड़ कर बुद्धि आत्मानन्द का उपभोग लेती हुई रहे,

(16.78) इन्द्रियगण यदि कोई अनुकूल या प्रतिकूल विषय बतावें तो कोई कुछ करे तो भी चित्त में विस्मय न उठे,

(16.79) जैसे पति किसी अन्य नगर को जाता है तो पतिव्रता उस विरह-दुःख के सामने कैसी भी हानि या लाभ को नहीं गिनती,

(16.80) वैसे ही सत्स्वरूप की रुचि के कारण उसमें बुद्धि अनन्य हो रहे, ऐसी जा अवस्था है वह — केशी दैत्य के मारनेहारे श्रीकृष्ण कहते हैं — सत्त्वशुद्धि है।

(16.81) अब, आत्मलाभ के हेतु ज्ञान या योग इन दो में से जिस एक की अपने अन्तःकरण में इच्छा भरी हो

(16.82) उसमें सम्पूर्ण चित्त-वृत्ति का इस प्रकार समर्पण करना जैसे कि कोई निष्काम मनुष्य अग्नि में पूर्णाहुति समर्पण करता है,

(16.83) अथवा जैसे कोई कुलीन मनुष्य अपनी कन्या उत्तम कुल में ही समर्पित करता है, अथवा लक्ष्मी जैसे श्रीमुकुन्द में स्थिर हो रही है

(16.84) वैसे ही विकल्प-रहित हो योग और ज्ञान में ही वृत्तिस्थ होना, कृष्णनाथ कहते हैं, तीसरा गुण अर्थात् ज्ञानयोगव्यवस्था है।

(16.85) अब काया, वाचा, मन से, तथा यथाप्राप्त धन से, शत्रु हो तो भी किसी आर्त की वंचना न करना,

(16.86) हे धनंजय! वृक्ष जैसे पान्थिक को फूल, फल, छाया, मूल या पत्तों से भी वंचित नहीं रखता

(16.87) वैसे ही अवसर आने पर मन से तथा धन से दुःखी जनों के इच्छानुसार उन्हें उपयोगी होना,

(16.88) दान कहलाता है जो मोक्षरूपी द्रव्य प्रकट करनेवाला अंजन है। अस्तु, अब दम का लक्षण सुनो।

(16.89) वह विषयों और इन्द्रियों का सम्मेलन वियुक्त कर डालता है। फिटकरी जैसे पानी का गँदलापन अलग कर देती है

(16.90) वैसे ही.इन्द्रियद्वारों को विषय-मात्र की हवा नहीं लगने देता तथा उन्हें बाँध कर प्रत्याहार के हाथ सौंप देता है,

(16.91) प्रवृत्ति का आन्तरिक चित्त-प्रदेश तक पीछे हटा कर दशों द्वारों में वैराग्य की आग सुलगा देता है,

(16.92) श्वासोच्छवासों से भी बहुसंख्यक और कठिन व्रताचरण करता है और रात-दिन इस प्रकार व्रताचरण करते हुए उसे अवकाश नहीं मिलता।

(16.93) दम जिसे कहते हैं उसका स्वरूप उक्त प्रकार का होता है। अब संक्षेप से यज्ञ का अर्थ कहते हैं, सुनो।

(16.94) ब्राह्मण से लगा कर स्त्री आदि तक अपने-अपने अधिकार के अनुसार

(16.95) जिसके लिए जो आचरण सर्वोत्तम हो, जो देवता या धर्म भजनीय हो; उसका उसे शास्त्रानुसार या विधिपूर्वक यजन करना चाहिए।

(16.96) ब्राह्मण का यजनादि षट्कर्म करना और शूद्र का उसका वन्दन करना ये दोनों यज्ञ समान ही हैं।

(16.97) अतः सबों का अपने-अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ करना चाहिए। परन्तु उसमें फलाशारूपी विष न मिलाना चाहिए;

(16.98) तथा — मैं यज्ञ-कर्ता हूँ यह भाव देहद्वारों से बाहर न निकलने देना चाहिए, किन्तु स्वयं वेदाज्ञा का आश्रयस्थान बन रहना चाहिए।

(16.99) हे अर्जुन! शास्त्रोक्त यज्ञ ऐसा रहता है। यह मोक्षमार्ग का एक ज्ञानवान् संगाती है।

(16.100) अब, जैसे गेंद को भूमि पर मारना मारना नहीं उसे फिर हाथ में लेने की चेष्टा है, अथवा खेत में बीज फेंकना फेंकना नही अगली फसल की ओर ध्यान दे बोना है,

(16.101) अथवा रक्खी हुई वस्तु ढूँढ़ने के लिए जैसे दीपक का आदर किया जाता है, अथवा शाखा-फलों के हेतु जड़ में पानी सींचा जाता है,

(16.102) और रहने दो, स्वयं अपना रूप देखने के लिए जैसे दर्पण बार बार प्रेम से स्वच्छ किया जाता है,

(16.103) वैसे ही प्रतिपादन करने के योग्य जो ईश्वर है वह गोचर हो जाय इस लिए निरन्तर श्रुतियों का अभ्यास करना,

(16.104) ब्राह्मणों का ब्रह्मसूत्र पढ़ना, और अन्यों का तत्व प्राप्त करने के लिए स्तोत्र या नाममन्त्र का पठन करना,

(16.105) हे पार्थ ¦ स्वाध्याय कहाता है। अब तप शब्द का अभिप्राय कहते हैं, सुनो।

(16.106) अपने सर्वस्व का दान कर देना, अन्यथा खर्च करना वृथा समझना, जैसे वनस्पतियाँ फल कर स्वयं सूखती हैं,

(16.107) अथवा जैसे धूप स्वयं अग्नि में जल कर सुगन्धि फैलाती है, अथवा जैसे शुद्ध किया हुआ सोना तौल में कम होता है, अथवा चन्द्र जैसे कृष्णपक्ष की वृद्धि करता हुआ निज का हास करता है,

(16.108) वैसे ही हे वीर! आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्राण, इन्द्रिय और शरीर का ह्रास करना ही तप है;

(16.109) अथवा तप का रूप यद्यपि भिन्न हो तथापि यह जान लो कि जैसे राजहंस दूध में चोंच डालता है

(16.110) वैसे ही जो ऐसा विवेक उत्पन्न करता है कि जो उदित होते ही देह और जीव का संगठन तोड़ दे,

(16.111) तथा जैसे जागृति में निद्रा-सहित स्वप्न डूब जाता है वैसे ही जिससे आत्मा की ओर दृष्टि देते हुए बुद्धि का विस्तार कुण्ठित हो जाय

(16.112) उस आत्मावलोकन में जो प्रवृत्त होना है सो तप है। हे धनुर्धर! यह तप का निर्णय हुआ।

(16.113) अब, माता का दूध जैसे बालक के हितार्थ रहता है, चैतन्य जैसे अनेक भूतों में समान रहता है, वैसे ही सब प्राणियों से सुजनता रखना ही आर्जव है।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ 16.2 ॥

(16.114) जगत् के सुख के हेतु शरीर से, वाणी से और अन्तःकरण से चेष्टा करना अहिंसा का रूप जाना।

(16.115) अब, जो तीक्ष्ण ही परन्तु मृदु हो, जैसे कोई चमेली की खिली हुई कली अथवा चन्द्रमा का शीतल तेज,

(16.116) दिखाने के साथ ही जो रोग का निवारण करती है और जीभ को भी जो कड़वी नहीं लगती वह औषधि ही नहीं, तो फिर उसे उपमा क्या दी जा सकती है?

(16.117) परन्तु जैसे पानी ऐसा मृदु रहता है कि कमलदल उसमें हिलोरते हैं तो भी नहीं चुभता और वैसे तो पहाड़ के भी फोड डालता है

(16.118) वैसे ही जो सन्देह का नाश करने में लोहे के समान तीक्ष्ण होता है, परन्तु श्रव्यगुण में जो मधुरता का भी लजाता है,

(16.119) जिसे कुतूहल से सुनते ही कानों को वाणी-सी फूटती है और यथार्थता के बल से जो ब्रह्म का भी भेद करता है,

(16.120) बहुत क्या कहें, प्रिय होने के कारण जो किसी की प्रतारणा नहीं कर सकता और यथार्थ होता है तथापि जो किसी का मर्मभेद नहीं करता,

(16.121) (अन्यथा बहेलिये का गायन भी सचमुच मधुर रहता है परन्तु वास्तव में देखे तो वह घातक होता है, अग्नि भी सब प्रत्यक्ष करती है परन्तु ऐसे सत्य का नाश हो!,

(16.122) श्रवण में मधुर हो पर अर्थ में जो हृदय के टुकड़े करे वह वाणी नहीं राक्षसी है

(16.123) परन्तु) जैसे अपराध के समय माता का स्वरूप ऊपर से क्रोधयुक्त और लालन करने में पुष्प के समान कामल होता है,

(16.124) वैसे ही जो सुनने में सुखदायक होता है और परिणाम में यथार्थ होता है उस विकार-रहित भाषण का सत्य कहते हैं।

(16.125) अब, पत्थर पर जल सींचते ही रहो तथापि जैसे उसमें अंकुर नहीं फूटते, अथवा काँजी का कितना भी मन्थन करो तथापि इसमें से जैसे मक्खन नहीं निकलता,

(16.126) साँप की केंचुली के सिर पर लात मारने से भी जैसे वह फन नहीं फैलाती, अथवा वसन्तकाल भी हो तथापि जैसे आकाश में फूल नहीं लगते,

(16.127) अथवा रम्भा के स्वरूप का देख कर भी जैसे शुक्राचार्य के मन में काम नहीं उत्पन्न हुआ, अथवा राख में घी छोड़ने से भी जैसे अग्नि प्रदीप्त नहीं होती,

(16.128) वैसे ही जिन शब्दों से बालक भी क्रोधयुक्त हो जाय ऐसे शब्दों के बीजाक्षर भी यदि क्रोध लाने के हेतु इकट्ठे किये जायँ

(16.129) तथापि जैसे ब्रह्मदेव के पाँव पड़ने से भी मृत मनुष्य सजीव नहीं होता वैसे ही जिसमें यत्न करने से भी क्रोध की लहर न उठें,

(16.130) ऐसी अवस्था को अक्रोधत्व जानो। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से वर्णन किया।

(16.131) अब, मृत्तिका का त्याग करने से जैसे घट का भी त्याग हो चुका, अथवा तन्तु के त्याग से वस्त्र का या बीज के त्याग से वटवृक्ष का भी त्याग हो चुका,

(16.132) अथवा जैसे भीत का त्याग करने से उस पर लिखे हुए सम्पूर्ण चित्रों का भी त्याग हो चुका अथवा निद्रा के त्याग से जैसे नाना प्रकार के स्वप्नजाल का भी त्याग हो चुका,

(16.133) अथवा जल के त्याग से जैसे उसकी तरंगों का, वर्षा के त्याग से जैसे मेघों का, अथवा धन के त्याग से जैसे उपभोगों का भी त्याग हो चुकता है,

(16.134) वैसे ही बुद्धिमानों को देहात्मबुद्धि का त्याग कर सम्पूर्ण सांसारिक विषयों का त्याग कर देना चाहिए।

(16.135) श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसका नाम त्याग है। यह सुन कर भाग्यवान अर्जुन ने कहा ठीक है,

(16.136) अब मुझे शान्ति का लक्षण स्पष्ट कर बताइए तब श्रीकृष्ण ने कहा बहुत अच्छा, सुनो।

(16.137) ज्ञेय और ज्ञाता को विलीन कर जब वास्तव में ज्ञान भी विलीन हो जाता है उस स्थिति को शान्ति कहते हैं।

(16.138) प्रलयकाल का जल जैसे जगत् के विस्तार को डुबा कर, केवल आप ही घना भरा रह जाता है

(16.139) और फिर व्यवहार में यह भेद नहीं रहता कि यह उसका उद्गम है, यह प्रवाह है या यह समुद्र है; (बल्कि यह जाननेवाला भी कौन बच रहता है कि यह सब जल ही है)

(16.140) वैसे ही ज्ञेय से आलिंगन देते ही ज्ञातृत्व ही पेट में समा जाय और फिर जो बच रहे वही हे किरीटी! शान्ति का रूप है।

(16.141) अब, उत्तम वैद्य जैसे पीड़ाकारक रोग के निवारण करने के पूर्व यह नहीं सोचता कि यह अपना है और यह पराया है,

(16.142) अथवा गाय के कीचड़ में फँसी हुई देख कर उसके दुःख से व्याकुल होनेवाला मनुष्य जैसे यह नहीं सोचता कि यह दुधैल है या नहीं,

(16.143) अथवा डूबते हुए का निकालनेहारा कोई सकरुण मनुष्य जैसे उससे यह नहीं पूछता कि तू ब्राह्मण है या शूद्र बल्कि वह यही चाहता है कि इसे निकाल कर इसके प्राण बचाऊँ,

(16.144) अथवा किसी पापी ने दुर्भाग्य से किसी पतिव्रता को नग्न किया हो, तथापि जैसे शिष्ट पुरुष उसे वस्त्र पहनाये बिना नहीं देखता

(16.145) वैसे अज्ञान, प्रमाद, इत्यादि दोषों के कारण या पूर्व-जन्मकृत दोषों के कारण जो सब निन्द्य विषयों में डूबे हुए रहते है

(16.146) उन्हें उत्तम रीति से सहाय कर उनके सलते हुए दुःख भुलवाना,

(16.147) दूसरों के दोषों का अपनी दृष्टि से शुद्ध कर फिर उन पर कृपा करना,

(16.148) जैसे पूजा कर फिर देव का दर्शन लेना, बीज बो कर फिर खेत में जाना, अतिथि को सन्तुष्ट कर प्रसाद ग्रहण करना है,

(16.149) वैसे ही अपने गुणों से दूसरों की न्यूनता दूर कर फिर उनकी ओर दृष्टि देना,

(16.150) कभी भी उनका मर्मभेद न करना, उनके दुष्कर्म प्रकट न करना, उन्हें नाम न रखना,

(16.151) वरन् जिस उपाय से वे पतित जन फिर से उठ खड़े हों वही करना, पर उनके मर्मों पर कभी घाव न करना,

(16.152) है किरीटी! नीच को भी उत्तम की बराबरी का समझने के अतिरिक्त दृष्टि में किसी दोष का न होना,

(16.153) यह सब अपैशुन्य का स्पष्ट लक्षण है। यह मोक्ष-मार्ग की एक मुख्य पालकी है।

(16.154) अब, दया ऐसी होती है। जैसे पूर्ण चन्द्र की चाँदनी शीतलता देने के विषय में यह नहीं देखती कि यह छोटा है या यह बड़ा है

(16.155) वैसे ही जो सदयता से दुखियों के दुःख हरने के विषय में यह विवेचना नहीं करता कि यह उत्तम मनुष्य है या अधम,

(16.156) संसार में जल जैसे आप शरीर से नष्ट हो जाता है पर तृण के भी छूटते हुए प्राणों की रक्षा करता है,

(16.157) वैसे ही जो दूसरों के दुःख से सदयता से व्याकुल हो निज के प्राण देना भी अल्प समझता है,

(16.158) गड्ढा भरे बिना पानी जैसे बाहर नहीं बहता वैसे ही जो थके हुए मनुष्य का सन्तोष किये बिना आगे नहीं बढ़ता,

(16.159) पाँव में काँटा चुभे तो जैसी व्यथा हाता है, वैसा जो दूसरों के संकटों से दुःखी होता है,

(16.160) अथवा कोई शीतल पदार्थ पाँव में लगने से जैसे आँखों को तरावट पहुँचती है. वैसे ही जो दूसरों के सुख से सुखी होता रहता है,

(16.161) बहुत क्या कहें, संसार में जल जैसे तृषितों के लिए ही भरा रक्खा है, वैसे ही दुःखितों के हितार्थ ही जिसका जीवन है,

(16.162) उस पुरुष को हे वीरराज मूर्तिमान् दया जानो। उसका जन्म होते ही मैं उसका ऋणी हो उसे प्राप्त हो जाता हूँ।

(16.163) अब, कमल का फूल अन्तःकरण-पूर्वक सूर्य का अनुसरण करता है पर सूर्य जैसे उसकी सुगन्ध में हाथ नहीं लगाता,

(16.164) अथवा वसन्त के पीछे-पीछे वन-शोभा की अक्षौहिणी ही प्राप्त होती है पर वह जैसे उसका स्वीकार न करता चला जाता है,

(16.165) यह रहने दो, महासिद्धि-सहित लक्ष्मी भी प्राप्त हो तथापि महाविष्णु के निकट उसकी कुछ भी गिनती नहीं,

(16.166) वैसे ही ऐहिक वा पारलौकिक भोग अपनी इच्छा के सेवक बन रहें तथापि उनका उपभोग लेने का विचार भी मन में न लाना चाहिए।

(16.167) बहुत क्या, जिसमें कुतूहल से भी अन्तःकरण में विषय की अभिलाषा न हो ऐसी दशा का अलोलुपता जानो।

(16.168) अब, मधुमक्खी का जैसा उसका छत्ता, जलचरों को जैसा जल, अथवा पक्षियों को जैसा यह प्रतिबन्ध-रहित आकाश,

(16.169) अथवा बालक पर जैसा माता का स्नेह अथवा वसन्त के स्पर्श से युक्त जैसी मलयगिरि की कोमल वायु,

(16.170) नेत्रों को जैसे प्रियजन की भेंट, अथवा कछुई के बच्चों पर जैसी उसकी दृष्टि, वैसी ही कोमल रीति से सब भूतमात्र में व्यापार करना,

(16.171) – स्पर्श में अति मृदु, खाने में स्वादयुक्त, सूँघने में सुगन्धित और शरीर से जो उज्ज्वल है

(16.172) ऐसा कपूर बहुतेरा खाने से यदि हानिकारक न होता तो उक्त कोमलता को कपूर की उपमा दी जा सकती थी,

(16.173) पर गगन जैसे महाभूतों को निज में लिये है तथा परमाणु में भी समाया हुआ है एवं विश्व के ही स्वरूप का है

(16.174) वैसे ही, बहुत क्या कहूँ, जगत् के जी और प्राणों के अनुसार अपना जीवन रखना ही — मार्दव है।

(16.175) अब, हार जाने से जैसे राजा लज्जा से दुःखी होता है, अथवा नीच स्थिति में जाने से जैसे मानी मनुष्य तेजहीन हो जाता है,

(16.176) अथवा अकस्मात् चाण्डाल के घर आ जाने से जैसे संन्यासी का अत्यन्त लज्जा उत्पन्न होती है,

(16.177) रण में से क्षत्रियों के भाग जाने की लज्जास्पद बात जैसे कौन सह सकता है? अथवा पतिव्रता का जैसे वैधव्य निमन्त्रण दें,

(16.178) रूपवती को कोढ़ हो जाय, किसी माननीय सज्जन को कोई निन्दास्पद दोष लगाया जाय तो जैसे उसके प्राणों पर संकट बीतता है,

(16.179) वैसे ही इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में शव के समान जीते रहना तथा बारबार उत्पन्न हो-हो कर मरना,

(16.180) गर्भ के रक्त या मूत्र के रस की मूर्ति बन कर रहना,

(16.181) बहुत रहने दो, देह धारण कर नामरूप का स्वीकार करना आदि बातों से अधिक और कुछ लज्जास्पद नहीं है,

(16.182) अतः ऐसे-ऐसे सम्पूर्ण दोषों के कारण शरीर से उकता जाना ही है लज्जा है जो साधुओं को हुआ करती है। निर्लज्जों का उपर्युक्त बातें प्रिय होती हैं।

(16.183) अब, डोरी टूटने से जैसे कठपुतलियों का नाचना बन्द हो जाता है वैसे ही प्राणायाम से कर्मेन्द्रियाँ का व्यवहार बन्द हो जाता हैं,

(16.184) अथवा सूर्य के अस्त होने के कारण जैसे उसकी किरणों का विस्तार भी बन्द हो जाता है. वैसा ही हाल मनोजय करने से बुद्धि और इन्द्रियों का होता है;

(16.185) एवं मन और प्राणों का संयमन करने से दसों इन्द्रियों का पंगु हो जाना उक्त लक्षण के कारण अचापल्य कहलाता है।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ 16.3 ॥

(16.186) अब, ईश्वर-प्राप्ति के हेतु ज्ञानयोग में प्रवृत्त होने पर जैसे धैर्य की न्यूनता नहीं रहती,

(16.187) अग्नि में प्रवेश करने से मृत्यु सरीखी हानि प्राप्त हो तथापि पतिव्रता स्त्री जैसे अपने प्राणेश्वर के हेतु उस हानि की परवा नहीं करती,

(16.188) वैसे ही विषरूपी विषयों के समुदाय को आत्मनाथ की प्राप्ति के लिए नियोजित कर शून्यमार्ग में दौड़ने की जो इच्छा होती है,

(16.189) जहाँ निषेध का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, विधि की कोई मर्यादा नहीं रक्खी जाती, अन्तःकरण में महासिद्धि की भी इच्छा नहीं उत्पन्न होती

(16.190) इस प्रकार जो मन स्वभावतः ईश्वर की ओर दौड़ता है, उसका नाम आध्यात्मिक तेज है।

(16.191) अब सब सहनेहारों में श्रेष्ठ होते हुए भी गर्व का न होना ही क्षमा है, जैसे कि शरीर रोम धारण किये है पर उसे उनकी खबर भी नहीं।

(16.192) और इन्द्रियों की गति मस्त हो जाय, अथवा प्रारब्धानुसार वे रोग-क्षुब्ध हो जाये, अथवा हिताहितों की प्राप्ति या अप्राप्ति

(16.193) इत्यादि सभी बातों की एक ही समय महाबाढ़ भी आ जाय, तथापि जो मनुष्य को अगस्त्य ऋषि से भी धैर्यवान बना स्थिर रखती है,

(16.194) आकाश में उठी हुई अत्यन्त बड़ी धूम की रेखा को वायु जैसे एक ही झोंके में उड़ा देती है

(16.195) वैसे ही हे पाण्डव! आधिभौतिक, आधिदैविक या आध्यात्मिक इत्यादि संकट प्राप्त हो तो उनका जो नाश करती है

(16.196) तथा चित्त-क्षोभ के समय जो धैर्य बनाये रख स्थिरता रखती है वह धृति कहलाती है।

(16.197) अब शुचिता ऐसी होती है जैसे शुद्ध किये हुए सोने का कलश गंगा के जल से भरा हो।

(16.198) क्योंकि शरीर से निष्काम आचरण करना और अन्तःकरण में शुद्ध विवेक रखना अन्तर्बाह्य शुचित्व का ही रूप है।

(16.199) और गंगा का जल जैसे पाप और सन्ताप दोनों का नाश करता हुआ तथा तट पर के वृक्षों का पोषण करता हुआ समुद्र को जाता है,

(16.200) अथवा सूर्य जैसे संसार का अँधेरा मिटाता हुआ और सुन्दर प्रासाद प्रकट करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा के लिए निकलता है,

(16.201) वैसे ही बद्धों को मुक्त करते हुए, डूबे हुओं का निकालते हुए, दुःखियों के संकट मिटाते हुए,

(16.202) बहुत क्या कहें, रात-दिन दूसरों का सुख बढ़ाते हुए स्वार्थ में प्रवेश करना,

(16.203) तथा अपने कार्य के लिए प्राणिमात्र के मार्ग में अहित की इच्छारूपी प्रतिबन्ध न करना,

(16.204) हे किरीटी! अद्रोहत्व है। यह हमें जैसा दिखाई दिया वैसा हमने वर्णन किया।

(16.205) और हे पार्थ! गंगा जैसे शंकर के मस्तक पर पहुँच कर संकुचित हो गई है वैसे ही सन्मान से सर्वथा लजाना

(16.206) हे सुमति! सर्वदा अमानित्व जानो। पीछे हम इसका बहुत-कुछ वर्णन कर चुके हैं वही फिर कहते हैं।

(16.207) ब्रह्म-सम्पदा इन छब्बीस गुणों से युक्त रहती है। वह मानों मोक्षरूपी राजा का अग्रहार है;

(16.208) अथवा यह देवी सम्पत्ति माता वैराग्य-रूपी सगर के भाग्य से इन गुणरूपी तीर्थों से युक्त नित्य-नूतन गंगा ही है;

(16.209) अथवा मानों यह मुक्तिरूपी वाला इन गुणपुष्पों की माला लेकर निरपेक्ष वैराग्यरूप वर का कण्ठ खोज रही हैं;

(16.210) अथवा इन छब्बीस गुणों की ज्योति लगा कर मानों गीता ही अपने आत्मारूपी निज पति का नीराजन करने के लिए प्राप्त हुई है;

(16.211) अथवा इस गीता-समुद्र में यह देवी-सम्पत्ति एक शुक्ति दिखाई देती है और ये गुण उसमें से निकले हुए निर्मल मोती जान पड़ते.हैं।

(16.212) अधिक क्या वर्णन करूँ, ब्रह्मसम्पदा स्वभावतः इस प्रकार प्रकट होती है। दैवी गुणराशिरूपी सम्पत्ति का वर्णन तो हो चुका।

(16.213) अब, दोषरूप काँटों से जड़ी हुई आन्तरिक दुःखों की जो बेल हैं उस आसुरी-सम्पत्ति का हम वर्णन करते हैं।

(16.214) यद्यपि वह अनुपयोगी है तथापि त्याज्य वस्तु के त्याग करने के लिए उसे जानना चाहिए। इसलिए अपनी श्रवण-शक्ति को दुरुस्त कर सुनो।

(16.215) घोर पापों ने मानों नरकदुःख की महिमा बढ़ाने के हेतु जो सम्मेलन किया है वही यह आसुरी-सम्पत्ति है,

(16.216) अथवा विषवर्ग के समूह का ही नाम जैसे कालकूट है वैसे ही यह आसुरी सम्पत्ति दोषों का ही समुदाय है।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ 16.4 ॥

(16.217) अब, इन आसुरी-दोषों में जिस वीर की श्रेष्ठता की कीर्ति है वह दम्भ ऐसा हैं।

(16.218) जैसे संसार में अपनी माता का नग्न कर दिखाने से, तीर्थ-रूपिणी होने पर भी, वह पतन का कारण होती है,

(16.219) अथवा जैसे गुरूपदिष्ट विद्या को चौरस्ते में चिल्ला कर प्रकट करने से वह इष्टदा होने पर भी अनिष्ट का हेतु बनती है,

(16.220) अथवा जैसे बाढ़ में डूबते हुए को जो तुरन्त ही बचा कर परतीर पर पहुँचा देती है उस नाव को यदि कोई सिर से बाँध ले तो वही डुबा देती है,

(16.221) हे पाण्डुसुत! जैसे जीवन का कारण जो अन्न है उसी का सेवन करते समय यदि कोई उसका वर्णन करे तो वह विषरूप हो जाता है,

(16.222) वैसे ही इह-परलोक का सखा जो धर्म है उसके लिए यदि घमण्ड किया जाय तो तारनेहारा होने पर भी वह पाप का हेतु हो जाता है।

(16.223) इसलिए धर्म के विस्तार को वाणी के चौरस्ते पर दिखाने से धर्म का अधर्म बन जाना ही दम्भ जानो।

(16.224) अब, मूर्ख की जिह्वा पर चार अक्षरों के छींटे पड़ते ही वह जैसे तत्त्वज्ञानियों की सभा को कुछ नहीं समझता,

(16.225) अथवा चाबुक-सवारों का घोड़ा जैसे ऐरावत को भी तुच्छ मानता है, अथवा कँटीली बाड़ी (बाड़) पर चढ़ा हुआ गिरगिट जैसे स्वर्ग को भी तुच्छ समझता है,

(16.226) तृणरूपी ईंधन प्राप्त होते हो अग्नि जैसे आकाश की ओर दौड़ती है, डबरे का जल पा कर ही मीन जैसे समुद्र को कुछ नहीं समझती,

(16.227) वैसे ही स्त्री, धन, विद्या, स्तुति इनकी अधिकाई से ऐसा मत्त हो जाना, जैसे कि कोई दरिद्री एक दिन परान्न मिलने से मत्त हो जावे,

(16.228) अथवा अभ्र की छाया मिलते ही जैसे कोई अभागी घर तोड़ डाले, अथवा जैसे कोई मूर्ख मृगजल को देख जलाशय तोड़ डाले,

(16.229) बहुत क्या कहें, सम्पत्ति के कारण इस-इस प्रकार से उन्मत्त होना दर्प है। ये वचन अन्यथा मत समझे।

(16.230) और जगत् को वेदों में विश्वास है, और ईश्वर श्रद्धा से पूज्य है, तथा जगत् में प्रकाश देनेहारा एक सूर्य ही है,

(16.231) संसार में स्पृहणीय वस्तु एक सार्वभौमपद है, और जीवित रहना ही निश्चय से सबों का प्रिय है,

(16.232) इसलिए यदि उत्साह से इनका वर्णन करने जाइए तो उसे सुन कर जो मत्सर करता और फूलने लगता

(16.233) और कहता है कि खा डालो उस ईश्वर को, विष दो उस वेद को जो मेरी महिमा की मर्यादा का भंग करता है;

(16.234) पतंग को जैसे ज्योति नहीं भाती, खद्योत का जैसे सूर्य से घृणा उत्पन्न होती है, एक टिटहरी ने जैसे समुद्र से भी स्पर्धा की थी,

(16.235) वैसे ही जो अभिमान के मोह के कारण ईश्वर का नाम भी नहीं सहता; पिता को कहता है कि यह मेरा सौत जैसा बैरी है,

(16.236) ऐसा जो मान्यता से फूला हुआ हो वह उन्मत्त अभिमानी मानों नरक का एक रूढ़ मार्ग है।

(16.237) दूसरों का सुख देखने का बहाना होते ही जो मनोवृत्ति को क्रोधाग्रिरूपी विष चढ़ जाता है,

(16.238) तपे हुए तेल को ठण्डे जल की भेंट होते ही जैसे अग्नि भड़कती है, चन्द्रमा को देखते ही जैसे सियार मन में जलता है,

(16.239) विश्व की अवस्था जिससे प्रकाशित होती है उस सूर्य का उदय देख कर प्रातःकाल ही जैसे पापी घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं,

(16.240) जैसे संसार के लिए सुख-कारी प्रातःकाल चारों का मृत्यु से भी निकृष्ट मालूम होता है, अथवा जैसे सर्प-द्वारा पिया गया दूध भी विष हो जाता है,

(16.241) अथवा बड़वाग्नि जैसे अगाध समुद्र-जल का पान करने पर भी जलती है और कभी शान्ति नहीं पाती,

(16.242) वैसे ही ज्यों-ज्यों दूसरों के विद्या, विनोद, ऐश्वर्य इत्यादि सौभाग्य दिखाई दें त्यों-त्यों जो रोष दुगना हो उसे क्रोध जानो।

(16.243) जिसका मन सर्प की बाँबी हो?, आँखें छूटे हुए बाण हों, भाषण बिच्छुओं की वर्षा हो,

(16.244) और अन्य क्रियासमूह फौलादी आरा हो, इस प्रकार जिसका बहिरन्तर तीक्ष्ण हैं

(16.245) उसे मनुष्यों में अधम, पारुष्य का अवतार ही जाना। अब अज्ञान का लक्षण सुनो।

(16.246) शीतल या उष्ण स्पर्श का भेद जैसे पत्थर नहीं जानता, अथवा जन्मान्ध जैसे रात और दिन नहीं पहचानता,

(16.247) पेट में आग लग रही हो तो जैसे कोई खाने के विषय खाद्याखाद्य का विचार नहीं करता, अथवा पारस जैसे यह भेद नहीं करता कि यह सोना है अथवा लोहा,

(16.248) अथवा करछी जैसे अनेक रसों में प्रवेश करती है परन्तु स्वयं रसस्वाद चाखना नहीं जानती,

(16.249) अथवा वायु जैसे भले-बुरे मार्ग की परीक्षा नहीं करती, वैसे ही कर्तव्याकर्तव्य के विषय में अन्धत्व होना

(16.250) बालक जैसे स्वच्छ या मलिन न देख कर जो दीखे उसे केवल मुँह में ही डाल लेता है

(16.251) वैसे ही पाप-पुण्य की खिचड़ी कर खाने पर बुद्धि को कड़वी या मधुर न मालूम होना, ऐसी जो दशा है

(16.252) उसका नाम अज्ञान है। ये वचन अन्यथा नहीं हैं। इस प्रकार हम छहों दोषों के लक्षण कह चुके।

(16.253) इन छहों दोषों के आश्रय से यह आसुरी सम्पत्ति बलवती हुई है। जैसे सर्प का शरीर छोटा-सा पर विष बड़ा होता है,

(16.254) अथवा जैसे तीनों अग्नियों की पंक्ति देखने में छोटी-सी मालूम होती है परन्तु उसकी प्राणाहुति के लिए विश्व भी पूरा नहीं पड़ता,

(16.255) अथवा त्रिदोष हो जाने पर जैसे ब्रह्मदेव की शरण जाने से भी मृत्यु नहीं टलती, वैसे ही ये उन तीनों के दूने छः दोष जानो।

(16.256) इन सम्पूर्ण छहों से यह आसुरी सम्पत्ति उभराई हुई है इसलिए वह न्यून नहीं है।

(16.257) परन्तु जैसे कभी दुष्टग्रहों का समुदाय एक ही राशि में स्थित हो जाता है, अथवा जैसे निन्दा करनेहारे के समीप सम्पूर्ण पाप पहुँच जाते हैं,

(16.258) मरनेहारे के शरीर को जैसे सभी रोग व्याप्त कर लेते हैं, अथवा जैसे बुरे मुहूर्त्त पर बुरे योग आ मिलते हैं,

(16.259) अथवा जैसे कोई विश्वास करनेहारा चोरों के हाथ लग जाता है, अथवा कोई थका हुआ मनुष्य बाद में आ पड़ता है, वैसे ही ये दोष मनुष्य का अनिष्ट करते हैं,

(16.260) अथवा मृत्यु के समय बकरी को जैसे सात डंकों का बिच्छू मार देता है वैसे ही मनुष्य का ये छहों दोष आ लगते हैं।

(16.261) मोक्षमार्ग की ओर जिसने पानी छोड़ दिया हैं, जो संसार से निकलता नहीं चाहता, इसी लिए उसमें डूबा रहता है

(16.262) अधम योनियों से उतरते हुए हे किरीटी! जो स्थावरों के नीचे आ बैठता है,

(16.263) और वर्णन रहने दो, उस मनुष्य में ये छहों दोष आसुरी सम्पत्ति को बढ़ाते हैं यह जानो।

(16.264) इस प्रकार ये दोनों सम्पत्तियाँ जो संसार में प्रसिद्ध हैं हमने अलग-अलग लक्षणों-सहित कह बताई।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ 16.5 ॥

(16.265) इन दोनों में पहली, जिसे हमने दैवी कहा वह, मानों मोक्षरूपी सूर्य का प्रकाशित अरुणोदय है;

(16.266) और दूसरी जो आसुरी सम्पत्ति है वह मानों जीव के लिए मोहरूपी लोहे की साँकल हैं।

(16.267) परन्तु यह सुन कर मन में डरो मत। दिन क्या रात्रि का डर रखता है?

(16.268) हे धनंजय! यह असुरी सम्पत्ति उसके बन्धन के लिए है जो इन छहों दोषों का आश्रय बचता है।

(16.269) तुमने तो हे पाण्डव! हमने जो दैवी गुणों का वर्णन किया उनके समुद्र बन जन्म लिया है।

(16.270) इसलिए हे पार्थ! तुम इस देवी सम्पत्ति के स्वामी हो कर कैवल्य के सुख को प्राप्त हो।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ 16.6 ॥

(16.271) दैव और आसुर-सम्पत्तिवान् मनुष्यों के व्यवहार का प्रसिद्ध मार्ग अनादिकाल से सिद्ध है।

(16.272) जैसे निशाचर रात्रि के समय व्यापार करते हैं और मनुष्य इत्यादि दिन के समय व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं,

(16.273) वैसे ही हे किरीटी! संसार में दैवी और राक्षसी दोनों सृष्टियाँ अपने-अपने व्यापार के अनुसार चलती हैं।

(16.274) इनसे से देवी सम्पत्ति का वर्णन हस पीछे ज्ञानवर्णन इत्यादि प्रस्ताव के समय उत्तम रीति से विस्तार-सहित कर चुके हैं।

(16.275) अब जो आसुरी सृष्टि है वहाँ की वार्ता कहते हैं, खूब ध्यान से सुनो।

(16.276) वाद्य के बिना किसी को ध्वनि नहीं सुनाई दे सकती, अथवा पुष्प के बिना जैसे मकरन्द नहीं मिल सकता

(16.277) वैसे ही यह आसुरी प्रकृति भी एक-आध शरीर का स्वीकार किये बिना केवल अकेली गोचर नहीं होती।

(16.278) ईधन में प्रकट हुई अग्नि जैसे दिखाई देती है, वैसे ही प्राणियों के शरीर का आश्रय ले रही यह प्रकृति हाथ लगती है।

(16.279) उस समय प्राणियों की देह-दशा ऐसी हे जाती हो जैसी कि ईख की। ईख की बाढ़ की ही तरह उसके आन्तरिक रस की भी बाढ होती है।

(16.280) अब हे धनंजय! हम उन प्राणियों का वर्णन करते हैं जो आसुरी दोषों के समूह से बने है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ 16.7 ॥

(16.281) इस ज्ञान का कि पुण्य में प्रवृत्त होना चाहिए और पाप से निवृत्त होना चाहिए उनके मन में अन्धकार रहता है।

(16.282) कोसे (टसर) का कीड़ा जैसे निकलने या प्रवेश करने के मार्ग की ओर चित्त न दे कर शीघ्र ही संकट में पड़ता है,

(16.283) अथवा मूर्ख जैसे इस आगे की बात का, कि दिया हुआ ऋण वसूल होगा कि न होगा, विचार न करके चोरों का द्रव्य दे देता है

(16.284) वैसे ही आसुर जन प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों नहीं जानते और शुचित्व तो वे स्वप्न में भी नहीं देखते।

(16.285) कोयला अपना कालापन छोड़ दे, चाहे कौआ भी सुफेद हो जावे, राक्षस भी मांस खाने से उकता जावे,

(16.286) परन्तु हे धनंजय! मद्य का पात्र जैसे कभी पवित्र नहीं होता वैसे ही आसुर प्राणियों को शुचिता नहीं रहती।

(16.287) विध्युक्त कर्मों की इच्छा करना, अथवा अपने पूर्वजों की रीति के अनुसार चलना, अथवा शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करना इत्यादि बातें वे जानते ही नहीं।

(16.288) जैसे बकरी का चरना या वायु का चलना या अग्नि का जलना चाहे जैसा होता है,

(16.289) वैसे ही वे आसुरजन स्वेच्छा को आगे कर आचरण करते है। सत्य से वे उन्हें सर्वदा वैर ही होता है।

(16.290) बिच्छू अपने डंक से यदि गुदगुदी पैदा करे तभी उनके सत्य भाषण बोलने की सम्भावना हो सकती है।

(16.291) अपान द्वार से कभी सुगन्ध का निकलना हो सके तभी उन आसुरों के समीप सत्य दिखाई दे सकता है।

(16.292) इस प्रकार वे कुछ न करते हुए स्वभावतः बुरे होते हैं। अब उनके भाषण की अपूर्वता का वर्णन करते है।

(16.293) वास्तव में ऊँट का शरीर कैसे भला-चंगा हो सकता है? वैसा ही आसुरों का भी हाल है। वह वर्णन भी अवसरानुसार सुनो

(16.294) हम स्पष्ट कहते है कि धुँवारे का मुँह जैसा धुँवे के भभके उगलता है वैसे ही उनके शब्द होते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ 16.8 ॥

(16.295) यह जगत् एक अनादि स्थल हैं, इसका नियन्ता ईश्वर है, यहाँ न्यायान्याय आचरणों का निर्णय वेद की कचहरी में होता हैं;

(16.296.) वेद जिसे अन्यायी कहता है उसे नरकभोग का दण्ड भोगना पड़ता है और वह जिसे न्यायी कहता है वह सुख से स्वर्ग में जीवन धारण करता है।

(16.297) हे पार्थ! यह जो विश्व-व्यवस्था अनादिकाल से चली है उसे वे सब वृथा समझते हैं।

(16.298) वे कहते हैं कि यज्ञों ने मूर्ख याज्ञिकों का ठग लिया है, प्रतिमा या लिंगों ने देवों पर विश्वास करा कर पागल लोगों का फँसाया है, और गेरुवे कपड़े पहननेवाले योगी भी समाधि के भ्रम में फँसे हैं।

(16.299) संसार में अपनी शक्ति के अनुसार जो कुछ मिले उसका उपभोग लेने के अतिरिक्त क्या और कोई पुण्य है?

(16.300) अथवा निज की निर्बलता के कारण यदि विषयों का उपार्जन नहीं हो सकता है तो विषय-सुख से विहीन हो दुःखी होना ही पाप है।

(16.301) धनवानों के प्राण लेना यद्यपि पाए हो तथापि उनका सर्वस्व हाथ लगना वास्तव में पुण्य का फल है।¦

(16.302) बलवान का निर्बल को खाना जो निषिद्ध कर्म कहा जाय तो मछलियों का निर्वंश क्यों नहीं हो जाता?

(16.303) और यदि ऐसा कहा कि प्रजासाधन के हेतु उत्तम कुल देख कर कुमार और कुमारी का विवाह उत्तम मुहूर्त पर करना चाहिए,

(16.304) तो पशु-पक्षी इत्यादि के विवाह — जिनकी सन्तति की गणना नहीं की जा सकती — कौन से विधि-विधान-पूर्वक हुए हैं?

(16.305) चोरी कर लाया हुआ धन किसे विषरूप हुआ है? अपनी रुचि के अनुसार व्यभिचार करने से क्या कोई कोढ़ी हो जाता है?

(16.306) इसलिए ईश्वर अपना स्वामी है, वह धर्माधर्म का भोग करवाता है, और जो धर्माधर्म करता है वही परलोक में सुख-दुःख भोगता है

(16.307) आदि विधान करना, परलोक या देव दिखाई नहीं देता इसलिए, वृथा है। करनेहारा ही मर जाता है तो भोगों के लिए स्थल ही कौन-सा रहा?

(16.308) वास्तव में स्वर्गलोक में उर्वशी के संग इन्द्र जैसा सुखी है वैसा ही कृमि भी नरक में पड़ा हुआ सन्तोष मानता हैं।

(16.309) अतएव नरक या स्वर्ग पाप या पुण्य के स्थल नहीं हैं, क्योंकि दोनों स्थानों में कामसुख का ही भोग हैं

(16.310) एतावता सकाम स्त्री-पुरुषों के युग्मों के संयोग से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है;

(16.311) और वह अपने स्वार्थ के लिए अपने इच्छानुसार जिन-जिन वस्तुओं का पोषण करता हैं उनका नाश भी परस्पर द्वेष के द्वारा काम ही करता है।

(16.312) अतः काम के अतिरिक्त इस जगत् का दूसरा मूल ही नहीं है। यह उन आसुरों का मत है।

(16.313) अस्तु, अब इस निन्दास्पद वर्णन का विस्तार नहीं करते! इसका वर्णन करना वृथा बालना है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ 16.9 ॥

(16.314) वे आसुर जन ईश्वर के विरुद्ध केवल बकबक ही करते हैं। यह भी नहीं कि अन्तःकरण में कोई एक निश्चय रखते हो।

(16.315) बहुत क्या, निज को खुल्लमखुला पाखण्डी कहला कर अन्तःकरण में मानों नास्तिकता का एक निशान खड़ा कर देते हैं।

(16.316) उस समय स्वर्ग के लिए आदर अथवा नरक का डर आदि वासनाओं का अंकुर ही जल जाता हैं,

(16.317) और हे सुहृद! वे केवल अपने देहरूपी खोल में विषयरूप कीचड़ में अपवित्र जल के बुलबुले के समान डूब जाते हैं।

(16.318) जलचरों की जब मृत्यु आती है तब देह में ढीमर उपस्थित हो जाते हैं, अथवा शरीर छूटने का समय आता है तो रोगों का उदय हो जाता है,

(16.319) अथवा केतु का उदय जैसे जगत् के अहित के हेतु होता है वैसे ही वे आसुर जन लोगों की मृत्यु के लिए ही जन्म लेते है।

(16.320) अशुभरूपी वृक्ष उगने पर उसके जो अंकुर फूटें वैसे ही वे हैं; अथवा वे मानों पाप के चलते-फिरते कीर्तिस्तम्भ हैं।

(16.321) और अग्नि जैसे आगे-पीछे जलाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती वैसे ही वे हर किसी का विपरीत ही करते हैं।

(16.322) अब श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं कि ऐसे कर्म वे जिस बल के सहाय से करते है उसका वर्णन सुनो।)

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ 16.10 ॥

(16.323) जाल पानी से नहीं भरता। आग ईधन से शान्त नहीं होती। ऐसे कभी न अघानेहारों में श्रेष्ठ जो भूखा काम है

(16.324) उसका प्रेम अन्तःकरण में रख। हे पाण्डव! वे दम्भ, सन्मान इत्यादि का समुदाय इकट्ठा करते हैं।

(16.325) हाथी के मत्त दे जाने से जैसे मदिरा की विशेषता प्रकट होती है वैसे ही ज्यों-ज्यों शरीर वृद्ध होता जाता हैं, त्यों-त्यों वे अभिमान से फूलते हैं

(16.326) और आग्रह के स्थल भी वही बनते हैं। उस पर उन्हें मूर्खता जैसा सहायक मिल जाता है फिर उनके निश्चय की स्थिति का क्या वर्णन करें!

(16.327) जिनसे दूसरों को दुःख हो, जिनसे दूसरों के अन्तःकरण व्याकुल हो, ऐसे कर्म करते हुए उनकी जन्मवृत्ति दृढ हो जाती है।

(16.328) फिर वे अपने कर्मों की शेखी मारते हैं और सब संसार को धिक्कारते हैं और दसों दिशाओं में अपनी वासना का जाल फैलाते हैं।

(16.329) ऐसे गुणों के विस्तार से, जैसे कोई धर्मार्थ छोड़ी हुई गाय खेतों का नाश करती फिरती है वैसे, वे पापों की ही महिमा बढ़ाते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ 16.11 ॥

(16.330) केवल उपयुक्त सामग्री के सहाय से वे कर्म में प्रवृत्त होते हैं तथा जीवन के अनन्तर की भी चिन्ता करते हैं।

(16.331) जो पाताल से भी गहरी होती है, जिसकी विशालता के सामने आकाश भी छोटा है, तथा जिसके सन्मुख त्रिभुवन एक अणु के बराबर भी नहीं है,

(16.332) जो भोगरूपी वस्त्र का माप करनेहारी है, जैसे रमणी अपने प्रिय वल्लभ को छोड़ना नहीं जानती वैसे ही जो हृदय में निरन्तर चिन्तन करती है,

(16.333) ऐसी अपार चिन्ता को वे सर्वदा बढ़ाते रहते हैं और अन्तःकरण में निःसार विषय इत्यादि का सेवन करते हैं।

(16.334) स्त्रियों के गीत सुनने चाहिए, आँखों से स्त्रियों के रूप देखने चाहिए, सब इन्द्रियों से स्त्रियों का ही आलिंगन करना चाहिए;

(16.335) जिस पर से अमृत की निछावर की जावे ऐसा सुख स्त्री के अतिरिक्त है ही नहीं, इस प्रकार का निश्चय उनके चित्त में रहता है।

(16.336) और उसी स्त्री-भोग के लिए वे स्वर्ग, पाताल या दिशाओं की सीमा के बाहर भी दौड़ते फिरते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ 16.12॥

(16.337) मछली जैसे बिना विचारे बड़ी आशा से आमिष का कौर लील लेती है, वही हाल उनका विषयों की आशा से हो जाता है।

(16.338) जिस वस्तु की इच्छा हो वह तो प्राप्त नहीं होती पर सुखी आशा-सन्तति बढ़ाते-बढ़ाते वे कोसे के कीड़े बन जाते हैं

(16.339) और जो अभिलाष फैलाते हैं उसका अपूर्ण होना ही द्वेष है; एव उनका पुरुषार्थ काम या क्रोध के सिवाय कोई अधिक नहीं हैं।

(16.340) सिपाही जैसा दिन को मालिक के आगे-आगे चलता हैं और रात को पहरा देता है, अर्थात् जैसे हे पाण्डव! इसे रात और दिन विश्राम ही नहीं मिलता,

(16.341 वैसे ही काम ऊँचे से ढकेलता है तो वे क्रोध की टेकड़ी पर आ गिरते हैं, तथापि वे राग और द्वेष के प्रेम के कारण कहीं फूले नहीं समाते।

(16.342) मन के अभिलाषानुसार विषय-वासना का समुदाय इकट्ठा किया हो। तथापि उसका भोग तो द्रव्य के ही द्वारा ही सकेगा, कि नहीं?

(16.343) अतएव उस भोग के लिए आवश्यक द्रव्य का उपार्जन करने के हेतु वे चारों ओर से संसार से छीना-झपटी करते हैं।

(16.344) किसी के अवसर देख मारते हैं, किसी का सर्वस्व हर लेते हैं, किसी के नाश के लिए अनेक यन्त्रों का प्रबन्ध करते हैं।

(16.345) जैसे बहेलिये जंगल का जाते समय फन्दे, बोरे, जालियाँ, कुत्ते, बाज पक्षी, चिमटियाँ, भाले इत्यादि ले जाते हैं,

(16.346) और अपना पेट पालने के लिए प्राणियों के झुण्ड के झुण्ड मार के लाते हैं, वैसा ही निकृष्ट कर्म वे आसुर लोग करते है।

(16.347) दूसरों के प्राणों का घात कर द्रव्य प्राप्त करते हैं और द्रव्य मिलने पर उन्हें अन्तःकरण में अत्यन्त सन्तोष होता हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ 16.13 ॥

(16.348) वे मन में कहते हैं कि आज हमने बहुतेरों की सम्पत्ति हस्तगत कर ली। हम धन्य हुए कि नहीं?

(16.349) इस प्रकार ज्योंही वे निज की प्रशंसा करते हैं त्योंही मन में और भी अभिलाषा उत्पन्न होती हैं। और साथ ही वे सोचने लगते हैं कि कल और दूसरों का धन हर लावेंगे

(16.350) तथा यह जितना धन प्राप्त किया है उतनी पूँजी से शेष सब चराचर का नफा प्राप्त करेंगे,

(16.351) और इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के धन के स्वामी हमीं बनेंगे और फिर जिसे देखेंगे उसे बचने न देंगे।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ 16.14 ॥

(16.352) ये शत्रु जिनका हमने वध किया है थोड़-से है; और भी अनेकों को मारेंगे और फिर हमीं अकेले प्रतिष्ठा के साथ रहेंगे।

(16.353) फिर हमारे जो आज्ञाधारक होंगे उनके अतिरिक्त अन्यों का नाश कर डालेंगे। बहुत क्या कहें, संसार में ईश्वर हमीं हैं।

(16.354) हम भोगरूपी राज्य के राजा हैं। आज हम सब सुखों के आश्रय हैं, अतएव इन्द्र भी हमारे सन्मुख तुच्छ है।

(16.355) हम काया-वाचा-मन से जो करना चाहें वह कैसे न होगा? आज हमारे अतिरिक्त आज्ञा-पालन करानेहारा दूसरा कौन है?

(16.356) काल तभी तक बलवान् समझना चाहिए जब तक उसे महाबलवान् हम नहीं दिखाई दिये। सच तो यह हैं कि सुख की एकमात्र राशि हमीं हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ 16.15 ॥

(16.357) कुबेर धनाढ्य कहलाता है पर वह भी हमें नहीं पाता। हमारे समान सम्पत्ति विष्णु के भी नहीं है।

(16.358) हमारे कुल के महत्व अथवा हमारी जाति या गोत्रसमुदाय के सामने ब्रह्मा भी कुछ घटिया जान पड़ता है।

(16.359) अतएव ईश्वर इत्यादि सब वृथा नाम की ही प्रतिष्ठा बघारते हैं। हमारी बराबरी कर सके ऐसा कोई भी नहीं है।

(16.360) जादू-टोना जो लुप्त हो गया है उसका हम उद्धार करेंगे। शत्रुओं को पीडा करनेहारे यज्ञों की भी स्थापना करेंगे।

(16.361) जो लोग हमारी स्तुति गावेंगे, हमारा वर्णन करेंगे, नाट्य या नाच कर हमें रिझावेंगे उन्हें हम जो वे माँगेंगे से देंगे।

(16.362) मादक अन्न या पान सेवन कर, स्त्रियों का आलिंगन कर, हम त्रिभुवन में आनन्दरूप हो रहेंगे।

(16.363) बहुत क्या वर्णन करें, वे आसुरी प्रकृति से उन्मत्त हुए जन इस प्रकार अपरिमित मनोरथों के वश हो आकाश-पुष्प सूँघने की चेष्टा करते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ 16.16 ॥

(16.364) ज्वर के आवेश में रोगी जैसे चाहे जैसी बकबक करता है वैसे ही वे आसुर जन संकल्प के वश हो बका करते हैं।

(16.365) अज्ञान-रूपी धूल में जा पड़ने से वे आशारूपी आँधी के संग मनोरथरूपी आकाश में घूमते रहते हैं।

(16.366) आषाढ़ के मेघ जैसे निरन्तर बन रहते हैं, अथवा समुद्र की लहरें जैसे अखण्डित रहती हैं वैसे ही वे सदैव अनेक मनोरथों की इच्छा करते हैं।

(16.367) एवं उनके हृदयों में मनोरथों की बेलों की जालियाँ बन जाती हैं मानों कमलों के फूल काँटों से फट गये हों;

(16.368) अथवा हे पार्थ! पत्थर पर जैसे कोई हाँड़ी फूट जाय और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाय वैसे उनका अन्तःकरण अनेकधा हो जाता है।

(16.369) तब फिर ज्यों-ज्यों रात होती है त्यों-त्यों जैसे अँधेरा अधिक होता जाता है वैसे ही उनके हृदय में मोह बढ़ता जाता है।

(16.370) और ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है त्यों-त्यों विषय-प्रीति भी बढ़ती जाती हैं और जहाँ विषय हैं तहाँ पाप का ठौर है।

(16.371) बहुतेरे पाप मिल कर जब अपना बल प्रकट करते हैं तो जीते-जी मानों नरक ही उपस्थित हो जाता है।

(16.372) अतएव हे सुमति! जो मनोरथों का पालन करते है वे उस नरक को बस्ती पाते हैं।

(16.373 जहाँ तलवार की धार के समान तीक्ष्ण पत्तों के वृक्ष हैं, खैर के अंगारों के पर्वतों हैं और तपे हुए तेल के उफनते हुए समुद्र हैं,

(16.374) जहाँ यातनाओं की पंक्ति ही नित्य-नूतन यमदण्ड है, उस दारुण नरकलोक में वे जा पड़ते हैं।

(16.375) ऐसे नरक के चुने हुए भाग में जिन-जिनका जन्म होता है वे भी देखो तो यज्ञ-यागादि करने में भूले हुए रहते हैं।

(16.376) यों तो वे सब यज्ञादि क्रियाओं की मूर्तियाँ ही हैं परन्तु हे धनंजय! उनका आचरण केवल नटों के समान होने के कारण वे क्रियाएँ विफल हो जाती हैं।

(16.377) जैसे कुलटा स्त्रियाँ वल्लभ की प्रीति सम्पादन कर केवल पति के अस्तित्व से ही सन्तोष मानती हैं,

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ 16.17 ॥

(16.378) – वैसे ही वे आप ही निज को श्रेष्ठ समझ कर असामान्य गर्व से फूलते हैं।

(16.379) गलाये हुए लोहे के खम्भे अथवा आकाश में ऊँचे बढ़े हुए पर्वत जैसे नम्र होना नहीं जानते वैसा ही उनका भी हाल समझो।

(16.380) वे अपनी भलाई से आप ही अन्तःकरण में सन्तुष्ट हो और सब का तृण से भी तुच्छ समझते हैं।

(16.381) हे धनुर्धर! इसके अतिरिक्त वे धनरूपी मदिरा से मत्त हो कर्तव्याकर्तव्य के विचार को अलग कर देते हैं।

(16.382) जिनके समीप उपयुक्त सामग्रियाँ हैं उनके पास यज्ञ की वार्ता ही क्या पूछना है! तथापि पागल क्या नहीं करते!

(16.383) एवं किसी समय वे मूर्खता-रूपी मदिरा की धुन में यज्ञों की भी अवहेलना आरम्भ कर देते हैं।

(16.384) न कुण्ड बनाते हैं, न वेदी, न मण्डप, और न योग्य साधन-सामग्री रखते हैं तथा विधि से और उनसे तो सदा ही विरोध रहता है।

(16.385) देव या ब्राह्मण का नाम लिये हुए तो हवा भी आड़ी नहीं जा सकती — ऐसी जहाँ स्थिति है तहाँ देव या ब्राह्मण कौन आने लगा?

(16.386) पर चतुर लोग जैसे कृत्रिम बछ्डा बना कर गाय के सन्मुख रख दूध दुह लेते हैं

(16.387) वैसे ही वे आसुर जन बड़ी महत्वाकांक्षा रख कर यज्ञ के नाम से सम्पूर्ण जगत् का निमन्त्रण कर व्यवहार के बहाने सब को लूटते है।

(16.388) एवं जो कुछ वे अपने उत्कर्ष के लिए हवन करते है उससे मानों सर्वशः प्राणियों के नाश की इच्छा करते हैं।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ 16.18 ॥

(16.389) और फिर स्वयं अपने दीक्षितपन का मानों डंका और नौबत बजा कर संसार में वृथा डौंड़ी पीटते हैं,

(16.390) तथा उस महत्व से उन अधमों का और अघिक घमण्ड चढ़ता है। जैसे अन्धकार का काजल के पुट दिये जाय

(16.391) उसी प्रकार उनकी मूर्खता घनीभूत होती हैं, उनका औद्धत्य बढ़ता है तथा अहंकार और अविचार दुगुना होता है।

(16.392) फिर मानों दूसरे बलवान् की वार्ता ही बिल्कुल मिटा देने के लिए उनमें बलवानों से भी अधिक बल आ जाता है।

(16.393) इस प्रकार अहंकार और बल का ऐक्य हो जाने से उनका दर्प-रूपी समुद्र अपनी सीमा-रेखा का उल्लंघन कर उफनाता है।

(16.394) दर्प के उभड़ने से काम का पित्त भी भड़कता है और उसके प्रकोप से क्रोधाग्नि भी खूब भभक उठती है;

(16.395) तब जैसे ग्रीष्मऋतु में तेल या घी के कोठे मे अत्यन्त प्रखर आग लगे और उस पर हवा भी खूब तेज चले

(16.396) वैसे ही जिनमें अहंकार बलवान् गया हो और दर्प, काम और क्रोध से वह संयुक्त हो गया हो,

(16.397) वे हे वीरेश! अपने इच्छानुसार किन प्राणियों का वध कर हिंसा न करेंगे?

(16.398) हे धनुर्धर! पहले तो वे जारण-मारण इत्यादि में अपना ही मांस या रक्त खर्च करते हैं।

(16.399) उसमें जिन शरीरों को वे पीडा देते हैं उसमें रहनेवाला मैं जो आत्मा हूँ उसे वे घाव सहने पड़ते हैं;

(16.400) तथा वे जारण-मारण करनेहारे और जो कुछ उपद्रव करते हैं उसमें मुझ चैतन्य को ही पीडा पहुँचती है।

(16.401) उनके जारण-मारण से कदाचित् कोई बच जाय तो उस पर वे दुर्जनता का पत्थर फेंकते हैं।

(16.402) पतिव्रता या सत्पुरुष, दानशील याज्ञिक, तपस्वी या कोई असाधारण संन्यासी

(16.403) अथवा कोई भक्त या महात्मा आदि जो मेरे निज के निवास-स्थान वेद-विहित होम-धर्मों से शुद्ध हुए हैं

(16.404) उन्हें वे दुर्जन द्वेषरूपी तीखे कालकूट विष का लेप कर दुर्वचनों के तीव्र बाण मारते हैं।

तानहं द्विषतः क्रुरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ 16.19 ॥

(16.405) इस प्रकार जो सब तरह से मुझसे ही वैर करने में प्रवृत्त हैं उन पापियों का मैं क्या करता हूँ सो सुनो।

(16.406) मनुष्य-देह को एक वस्त्राच्छादन समझ कर संसार से रूठने की योग्यता उनसे मैं हर लेता हूँ और उन्हें ऐसे रखता हूँ

(16.407) कि उन मूर्खों को क्लेश-रूपी गाँव का घूरा या संसारसमुद्र का पनघट जैसी तमोयोनियों की वृत्ति ही दे देता हूँ;

(16.408) और फिर मैं ऐसा करता हूँ कि जहाँ आहार के नाम से तृण भी नहीं उगता ऐसे वन के रहनेहारे बाघ बिच्छू इत्यादि वे बनें।

(16.409) वहाँ वे भूख से अत्यन्त व्याकुल हो निज को ही काट-काट खाते और मर-मर कर फिर जन्म लेते ही रहते हैं;

(16.410) अथवा मैं उन्हें सर्प बनाता हूँ जो बिल में अटका हुआ निज की विषाग्नि से अपने ही शरीर की त्वचा जला लेता है;

(16.411) तथा, लिया हुआ श्वास बाहर छोड़ने में जितना काल लगता है उतनी भी विश्रान्ति उन दुर्जनों का न मिले

(16.412) ऐसी स्थिति में रख कर मैं उन्हें उस क्लेश में से, कोटिशः कल्प भी गिनती में थोडे हो उतने काल तक, बाहर नहीं निकालता।

(16.413) तथापि अन्त में उन्हें जहाँ जाना पड़ता है वहाँ का यह पहला मुकाम समझा। अन्त के स्थान को पहुँचने पर जो दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं उनके सामने अन्य दुःख कुछ दारुण नहीं हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ 16.20॥

(16.414) आसुरी सम्पत्ति इतनी घोर रहती है। वह सम्पत्ति नहीं, इन लोगों की प्राप्त की हुई अधोगति ही समझो।

(16.415) इसके अनन्तर व्याघ्र इत्यादि तामस योनियों में जो थोड़ी-सी देहाधाररूपी स्वस्थता रहती है

(16.416) उसका हेतु भी मैं हर लेता हूँ। और फिर उनके लिए सब कुछ एकदम तमोरूप ही हो जाता है, जहाँ जाने से कि अँधेरा भी काला-कलूटा हो जाता है।

(16.417) पाप को भी जिनसे घृणा होती हैं, नरक जिनसे डरता हैं, खेद भी जिनसे खिन्न हो मूर्च्छित होता है,

(16.418) मल जिनके सम्बन्ध से मलिन होता है, सन्ताप जिनसे सन्तप्त होता है, जिनके नाम से महाभय भी काँपता हैं,

(16.419) पाप जिनसे उकता जाते है, अमंगल का भी जिन्हें देख असगुन होता तथा छूत भी जिनकी छूत से डरती है,

(16.420) ऐसे इस संसार के निकृष्ट जनों में जो अधम हैं उनका जन्म, उन आसुरों को, तामस योनियाँ भोगने के पश्चात्, प्राप्त होता है।

(16.421) हाय! वर्णन करते हुए वाणी को रोना आता है तथा स्मरण होते ही मन पीछे हटता है। हाय! हाय!¦ इस मूर्खों ने कितना पाप जोड़ रक्खा है।

(16.422) वे ऐसी आसुर सम्पत्ति का उपार्जन क्यों करते हैं जिससे ऐसी अधोगति प्राप्त होती है?

(16.423) इसलिए हे धनुर्धर! जहाँ आसुर-सम्पत्तिवाले लोग रहते हैं उस मार्ग से हो न चलता चाहिए.

(16.424) तथा दम्भ इत्यादि छहों दोष जिनमें सम्पूर्ण बसते हैं उनका त्याग करना चाहिए, इसमें — सच पूछो तो — कहना ही क्या है?

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ 16.21 ॥

(16.425) काम. क्रोध और लोभ इन तीनों का बल जहाँ विशेष बढ़ा हों वहाँ अशुभ ही उपजे समझो।

(16.426) हे धनंजय! हर किसी को अपना ही दर्शन देने के लिए सब दुःखों ने इन तीनों को मार्ग-दर्शक बना रक्खा है,

(16.427) अथवा पापियों को नरक भागने के लिए पहुँचाने के हेतु उनका मेल मानों संसार में पापों की एक जंगी-सभा ही है।

(16.428) नरक नरक तभी तक पोथियों में सुन लो जब तक ये तीनों हृदय में जागृत नहीं होते।

(16.429) अपाय इन्हीं के कारण सुगम हो जाते हैं। यातना इन्हीं के कारण सस्ती हो जाती और हानि हानि कुछ नहीं हैं, इन तीनों का होना ही हानि है।

(16.430) हे सुभट! बहुत क्या कहें, हमने ऊपर जिस निकृष्ट नरक का वर्णन किया था यह त्रिपुटी उसका द्वार है।

(16.431) इन काम, क्रोध, लोभ के बीच जो दिल से रहेगा उसे नरकपुरी की सभा यहीं प्राप्त हो जावेगी।

(16.432) अतएव हे किरीटी! सब विषयों में इस कामादि दोषों की निकृष्ट त्रिपुटी का निरन्तर त्याग ही करना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ 16.22 ॥

(16.433) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों में से कोई भी पुरुषार्थ तभी सिद्ध हो सकता है जब इस दोष-समुदाय का त्याग किया जाय।

(16.434) जब तक ये तीनों जागृत हैं तब तक देव भी कहते हैं कि कल्याण की प्राप्ति की वार्ता हमारे कान नहीं सुन सकते।

(16.435) जिसे निज की प्रीति हो, जो आत्मनाश से डरता हो उसे यह मार्ग ही न लेना चाहिए तथा सावधान रहना चाहिए।

(16.436) समुद्र में तैरने के लिए जैसे कोई छाती से पत्थर बाँध कर कूदे, अथवा जीते रहने के लिए कालकूट भाजन करे,

(16.437) वैसी कार्यसिद्धि इन काम, क्रोध और लोभ से होती है। इसलिए इनका नाम ही मिटा दो।

(16.438) जो कदाचित् यह तीन कड़ियों की साँकल टूट जाय तो अपने मार्ग से सुख से चलते बनेगा।

(16.439) त्रिदोष शरीर से निकल जायँ, चुगली, चोरी, छिनाली, तीनों दुर्गुणों से नगर मुक्त हो जाय, अथवा अन्तःकरण के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सन्ताप शान्त हो जाये, तो जैसा सुख होता है

(16.440) वैसा ही सुख संसार में काम आदि तीनों दोषों का त्याग करने से प्राप्त होता हैं, तथा मोक्ष-मार्ग में सज्जनों की संगति प्राप्त होती है।

(16.441) फिर प्रबल सत्संग से और सच्छास्त्र के बल से जन्म-मृत्यु-रूपी पथरीला जंगल पार हो सकता है

(16.442) और फिर गुरुकृपा से उस नगरी का लाभ होता है जो सदा भली भाँति सम्पूर्ण आत्मानन्द से बसी हैं।

(16.443) वहाँ प्रेमियों की जो परम सीमा हैं उस आत्मा-रूपी माता की भेंट होती है और उसे हृदय से लगाते ही यह सांसारिक कोलाहल बन्द है जाता हैं।

(16.444) अतः जो काम-क्रोध-लोभ को झटकार कर इनसे दूर खड़ा होगा वही ऐसे लाभ का स्वामी होगा।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ 16.23 ॥

(16.445) अन्यथा जो आत्मचोर ऐसा करना नहीं चाहता और काम इत्यादि दोषों के बीच सिर दिये रहता है,

(16.446) संसार में सब पर समान कृपावान और हिताहित दिखानेवाला दीपक जो श्रेष्ठ वेद है उसका जो अवमान करता है,

(16.447) जो विधि की मर्यादा नहीं रखता, आत्महित की इच्छा नहीं रखता, केवल इन्द्रियों की इच्छा बढ़ाता जाता है,

(16.448) जो मानो इसी शपथ का पालन करता है कि काम, क्रोध और लोभ का पीछा न छोड़ूँगा, तथा जो स्वेच्छाचार के असीम वन में प्रवेश करता है

(16.449) उसे फिर कभी मुक्तता-रूपी नदी का पानी पीने के लिए नहीं मिल सकता। उस सुख की कहानी उसे स्वप्न में भी दुर्लभ है।

(16.450) और परलोक का नाश तो उसका निश्चय से होता ही है परन्तु उसे ऐहिक भाग भी भागने का लाभ नहीं होता।

(16.451) जैसे कोई ब्राह्मण मछली के लोभ से धीमरों में मिल जाय पर वहाँ भी नास्तिक कहलाया जाय

(16.452) वैसे ही विषयों की इच्छा से जो अपना परलोक खो देता है मरण उसे और दूसरी ओर ले जाता है।

(16.453) इस प्रकार न परलोक वा स्वर्ग और न ऐहिक विषयों का भोग मिलता है, फिर वहाँ मोक्ष-प्राप्ति का मौका ही कैसे हो सकता है?

(16.454) अतः जो काम के अधीन हो बलात्कार से विषयों का सेवन करना चाहता है उसे न विषय मिलते हैं, न स्वर्ग मिलता है। उसका उद्धार नहीं होता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ 16.24 ॥

(16.455) इसलिए हे तात! जिसे निज पर करुणा हो उसे वेदों के सन्देश की अवज्ञा न करनी चाहिए।

(16.456) पतिव्रता स्त्री जैसे पति की सम्मति के अनुसार चल अनायास आत्महित प्राप्त कर लेती है,

(16.457) अथवा शिष्य जैसे श्रीगुरु के वचनों की ओर ध्यान रखता हुआ प्रयत्न से आत्मारूपी घर में प्रवेश कर लेता है,

(16.458) अथवा अपना रक्खा हुआ धन प्राप्त करना हो तो जैसे दीपक आगे कर देखना चाहिए,

(16.459) वैसे ही जो सब पुरुषार्थों का स्वामी होना चाहता है उसे हे पार्थ! श्रुति-स्मृति के शिर पर धारण करना चाहिए।

(16.460) शास्त्र जिसका त्याग कहता है वह राज्य हो तथापि उसे तृणवत् समझना चाहिए, तथा शास्त्र जिसका ग्रहण कहता है वह विष भी हो तो भी उसे विरुद्ध न समझना चाहिए।

(16.461) ऐसी वेदनिष्ठा हो जाय तो हे सुभट! कौन-सा अनिष्ट प्राप्त हो सकता है?

(16.462) अहित से बचानेवाली और हितोपदेश कर समृद्धि करनेवाली संसार में श्रुति से बढ़ कर दूसरी माता नहीं है।

(16.463) अतएव जब तक ब्रह्म से एकरूपता न हो जाय तब तक किसी को श्रुति न छोड़नी चाहिए। तुम्हें भी इसकी ऐसी ही विशेष सेवा करनी चाहिए।

(16.464) क्योंकि हे अर्जुन! सम्प्रति तुमने, धर्मबल से युक्त हो, शास्त्र और उनका अर्थ चरितार्थ करने के लिए जन्म लिया है।

(16.465) फिर स्वभावतः तुम धर्मराज के भ्राता हे इसलिए वेद के विपरीत न चलना चाहिए।

(16.466) कर्तव्याकर्तव्य का जब विचार करना हो तब शास्त्रों के द्वारा ही परीक्षा करती चाहिए, और जो अकृत्य ठहरे इसे बुरा समझ कर त्याग देना चाहिए।

(16.467) और जो सत्य कर्तव्य ठहराया जाय उसका, अपने शरीर से अच्छी तरह, प्रेम से आचरण करना चाहिए;

(16.468) कयोंकि हे सुबुद्धि! सम्पूर्ण विश्व की प्रामाणिकता के सिक्के की मुहर आज तुम्हारे हाथ में है। लोक-संग्रह के लिए तुम निश्चय से योग्य हो।

(16.469) इस प्रकार से श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण आसुरवर्ग का वर्णन कर वहाँ से मुक्त होने का मार्ग भी अर्जुन को दिखा दिया।

(16.470) इस पर अर्जुन जो अन्तःकरण का भाव पूछेगा उसे सावधानता के कानों से सुनिए।

(16.471) संजय ने श्रीव्यास के आज्ञानुसार जैसे धृतराष्ट्र का समय व्यतीत कराया, वैसे मैं भी श्रीनिवृत्ति की कृपा से आपके सन्मुख निवेदन करता हूँ।

(16.472) आप सन्त मुझ पर्वत पर अपनी कृपादृष्टि की वर्षा करें तो मैं भी, जितना आप चाहें, योग्य हो जाऊँगा।

(16.472) अतएव मैं, ज्ञानदेव, कहता हूँ कि अपना अवधान मुझे प्रसाद में दीजिए। इससे मैं सनाथ हो जाऊँगा।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां षोडशोऽध्यायः॥

सत्रहवाँ अध्याय

(17.1) हे श्रीगुरुराज, हे गणेन्द्र! जिनकी योग-समाधि के द्वारा जगत् का विकसित स्वरूप विलीन हो जाता है उन आपको में नमन करता हूँ।

(17.2) यह जगत् जो त्रिगुण-रूपी त्रिपुरों से वेष्टित है तथा जीवरूपी किले में बन्द है उसे आत्मा-रूपी शंकर आपका स्मरण करते ही मुक्त कर देते हैं।

(17.3) अतएव शिव से तुलना करने से गुरुत्व में आप ही अधिक दिखाई देते हैं। तथापि आप लघु भी हैं क्योंकि आप माया-जल के पार लगा देनेवाली नौका हैं।

(17.4) जो आपके विषय में मूढ हैं उनके लिए आप वक्रतुण्ड हैं, परन्तु ज्ञानियों के लिए आप निरन्तर सरल ही हैं।

(17.5) आपकी दृष्टि देखने में सूक्ष्म दिखाई देती है परन्तु आप नेत्र खेलते और बन्द करते ही उत्पत्ति और प्रलय दोनों आसानी से कर देते हैं।

(17.6) प्रवृत्ति-रूपी कान हिलाते ही मदगन्ध-युक्त वायु से आकर्षित होनेहारे जीव-रूपी भ्रमर आपके गण्डस्थल पर ऐसे शोभा देते हैं मानों आपकी नील कमलों से पूजा की गई हो।

(17.7) अनन्तर जब निवृत्ति-रूपी कान की झटकार से भ्रमर उड़ जाते या पूजा का विसर्जन हो जाता है तब आपके निर्मुक्त शरीर का लावण्य शोभा देता है।

(17.8) आपकी वामांगी जो माया है उसकी नृत्यक्रीड़ा जो यह जगद्रूप आभास है वह वास्तव में ताण्डव के मिस से आपके ही कौशल्य का परिचय देता है।

(17.9) यह रहने दीजिए। हे आश्चर्यकर्ता आपसे जिसका बन्धुत्व का सम्बन्ध `हो जाता है वह बन्धुत्व के व्यवहार से वंचित हो रहता है।

(17.10) बन्धन मिटते ही वह — आपके जगद्बन्धु — भाव के द्वारा आप में ही आनन्द प्राप्त कर लेता है।

(17.11) हे देवराज! जिसके मिस से आप ही दूसरे रूप से दिखाई देते हैं उस द्वैत के लिए उसका शरीर भी शेष नहीं रहता।

(17.12) आपको जुदा समझ कर जो अनेक उपायों की ओर दौड़ते हैं उनके लिए आप प्रायः पीछे ही रह जाते हैं।

(17.13) जो ध्यान के द्वारा आपको मन में रखने की चेष्टा करता है उसके लिए आप उसके प्रदेश में नहीं रहते, पर जो ध्यान भी भूल जाता है उस पर आप प्रेम करते हैं।

(17.14) जो सिद्ध सर्वज्ञ बन रहता है वह भी वास्तव में आपको नहीं जानता। वेदों की जैसी वाणी भी आपके कानों तक नहीं पहुँचती।

(17.15) मौन आपका राशिनाम हो रहा है, फिर मैं कहाँ तक स्तुति करने का हौसला रक्खूँ। जो दिखाई देवा है वह तो सब माया है फिर किसका भजन करूँ।

(17.16) आप देव और मैं आपका सेवक होना चाहूँ तो इस प्रकार भेद करने से दोष ही प्राप्त होगा। इसलिए महाराज! मैं अब आपका कोई नहीं होता।

(17.17) हे अद्वय, हे आराध्य मूर्ति! जब कोई सर्वथा कुछ भी न हो। तभी आपको प्राप्त कर सकता है; आपका यह मर्म मैं जानता हूँ।

(17.18) अतएव, लवण जैसे भिन्न न रहता हुआ जल से युक्त हो जाता है, वैसे ही मैं आपका नमन करता हूँ। और अधिक क्या कहूँ

(17.19) रीता घड़ा समुद्र में डाला जाय तो वह जैसा उभराता हुआ भर जाता है, अथवा बत्ती जैसे दीप के संग से दीपक ही बन जाती है

(17.20) वैसे ही हे श्रीनिवृत्ति, मैं आपको। नमन करने से पूर्ण हो गया हूँ। अब मैं गीतार्थ प्रकट करता हूँ।

(17.21) `सोलहवें अध्याय के अन्त में अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण देव ने इस सिद्धान्त का निर्णय किया

(17.22) कि हे पार्थ! कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्था का प्रबन्ध करने के लिए तुम्हें सर्वथा शास्त्र ही एक प्रमाण मानना चाहिए।

(17.23) इस पर अर्जुन ने मन में कहा कि ऐसा क्यों होना चाहिए कि कर्म के लिए शास्त्र के बिना गति ही न.हो।

(17.24) मनुष्य `कब सर्प का फन पा कर उसमें से मणि निकाले और कब सिंह की नाक का बाल तोड़े?

(17.25) उसी बाल में और वही मणि पोह कर पहने तभी क्या उसे अलंकार मिल सकता है? अन्यथा क्या वह रिक्त-कण्ठ से रहेगा?

(17.26) वैसे ही शास्त्र अपरिच्छिन्न हैं, उनसे कौन कब काम ले सकता है? तथा वे एक-वाक्यता के पद पर कब पहुँच सकते हैं?

(17.27) और एकवाक्यता भी हो तथापि उसके अनुसार अनुष्ठान करने के लिए समय कब मिल सकता है? आयुष्य का विस्तार इतना कहाँ है?

(17.28) शास्त्रपरिचय, द्रव्य, देश और काल आदि सबकी अनुकूलता एकत्र हो, ऐसा सुयोग सबके हाथ कहाँ लगता है?

(17.29) इस लिए प्रायः शास्त्र का साधन प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में अविद्वान मुमुक्षुओं के लिए क्या गति है?

(17.30) यह अभिप्राय पूँछने के लिए अर्जुन ने जो प्रस्ताव किया वही सत्रहवें अध्याय की भूमिका है।

(17.31) सब विषयों से जो निरिच्छ हो गया है, जो सकल कलाओं में प्रवीण है, अर्जुनरूप से जो श्रीकृष्ण के चित्त का भी आकर्षण करनेहारा एक अपूर्व कृष्ण है,

(17.32) जो शूरता का अधिष्ठान है, सोमवंश की शोभा है, सुख इत्यादि उपकार करना जिसका खेल

है,

(17.33) जो प्रज्ञारूपी स्त्री का प्रियोत्तम है, ब्रह्मविद्या का विश्रान्ति-स्थान है और जो श्रीकृष्ण का सहचारी मनोधर्म है,

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ 17.1 ॥

(17.34) – उस अर्जुन ने कहा — हे तमालपत्र के समान नीलवर्ण श्रीकृष्ण! हे इन्द्रियों को दिखाई देनेहारे ब्रह्म! आपके वचन हमें संशय-कारक जान पड़ते हैं

(17.35) क्योंकि आपने यह क्योंकर कहा कि प्राणियों को शास्त्र के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता?

(17.36) ऐसा हो तो जिन्हें शास्त्रानुकूल देश नहीं प्राप्त होता, शास्त्राभ्यास करने के लिए काल का अवकाश नहीं मिलता, शास्त्राभ्यास करानेहारा गुरु भी प्राप्त नहीं होता

(17.37) तथा जो सामग्री अभ्यास के लिए आवश्यक होती है वह भी जिन्हें यथाकाल प्राप्त नहीं होती,

(17.38) प्रारब्ध अनुकूल नहीं होता, बुद्धि सहाय नहीं करती, इस प्रकार जो शास्त्रसम्पादन नहीं कर सकते,

(17.39) किंबहुना, शास्त्र के विषय में जो एक नख के बराबर भी प्राप्ति नहीं कर सकते इसलिए जिन्होंने शास्त्रविचार की खटपट ही छोड़ दी है,

(17.40) परन्तु शास्त्र का निर्णय कर तथा उसके अनुसार पवित्र अनुष्ठान कर जो परलोक पधारे हैं

(17.41) उनके समान होने की जो मन में इच्छा रख उन्हीं के आचरित-मार्ग से चलते हैं,

(17.42) हे गुरु ¦! किसी पाठ के अक्षरों के नीचे ही बालक जैसे देख-देख लिखता है, अथवा अन्धा जैसे आँख-वाले साथी को आगे कर पीछे-पीछे चलता है,

(17.43) वैसे ही जो सर्वशास्त्रनिपुण लोगों का आचरण प्रमाण मान कर उस पर श्रद्धा रखते हैं

(17.44) और श्रद्धा से शिव इत्यादि देवों का पूजन, भूमि इत्यादि वस्तुओं का महादान और अग्निहोत्र इत्यादि यजन करते हैं,

(17.45) उन्हें हे पुरुषोत्तम! सत्त्व, रज या तम इनमें से कौन-सी गति होती हैं, सुनाइए।

(17.46) इस पर जो वैकुण्ठभूमि के मुख्य दैवत हैं, जो वेदरूपी कमल के पराग हैं, जिनकी अंगच्छाया से यह जगत् जीवन धारण करता है,

(17.47) सहज-बुद्धि पाया हुआ काल तथा अलौकिक रूप से विस्तार पाया हुआ और अद्वितीय गूढ़ और आनन्दरूपी मेघ

(17.48) ये जिस बल के द्वारा प्रशंसा पाते हैं वह बल जिसके शरीर का है उन श्रीकृष्ण ने निज मुख से कहा (48)-

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ 17.2 ॥

(17.49) हे पार्थ!¦ तुम्हारी अभिरुचि हम जानते हैं। तुम शास्त्राभ्यास को एक प्रतिबन्ध समझते हो

(17.50`) और केवल श्रद्धा से परमपद प्राप्त करना चाहते हो। परन्तु हे प्रबुद्ध! यह बात इतनी सहज नहीं है।

(17.51) हे किरीटी! वह श्रद्धा हो तो भी ऐसा विश्वास नहीं हो सकता कि वह निर्मल श्रद्धा है। ब्राह्मण क्या शूद्र के संसर्ग से शूद्र नहीं हो जाता?

(17.52) गंगाजल भी हो तथापि यह विचार देखो कि यदि वह मद्य के बासन में रक्खा हो, तो कुछ भी हो, उसे न पीना चाहिए।

(17.53) चन्दन शीतल होता है, परन्तु अग्नि से सम्बन्ध हो जाने पर क्या वह दाहक नहीं हो सकता?

(17.54) हीन सुवर्ण को गला कर उस पर उत्तम सोने का पुट दिया हो तो उसे उत्तम समझ कर लेने से हे किरीटी! क्या हानि नहीं है?

(17.55) वैसे ही श्रद्धा का स्वरूप सचमुच स्वभावतः सुन्दर है परन्तु जब वह प्राणियों के भाग में आती है

(17.56) ते प्राणी तो सब स्वभावतः अनादि माया के प्रभाव के कारण त्रिगुणों के ही बने हुए होते हैं।

(17.57) उनमें से जब दो गुण दब जाते हैं और एक उन्नत होता है तब जीवों की वृत्तियाँ उसी उन्नत गुण के अनुसार होती हैं,

(17.58) वृत्तियों के अनुरूप उनका मन हो जाता है, मन के अनुसार वे क्रियाएँ करते हैं और जैसी क्रियाएँ करते हैं मरने पर वैसा ही शरीर धारण करते हैं।

(17.59) जैसे बीज नष्ट हो जाता है पर उसका वृक्ष होता है, और वृक्ष नष्ट हो जाता है पर बीज में समाया रहता है, इस प्रकार करोड़ों कल्प बीत जाय परन्तु पदार्थ की जाति का नाश नहीं होता

(17.60) वैसे ही जन्मान्तर अनेक होते जाय परन्तु प्राणियों के त्रिगुणों में अन्तर नहीं पड़ता।

(17.61) इसलिए प्राणियों के भाग में आई हुई श्रद्धा भी इन्हीं तीनों गुणों के अनुसार हो जाती है।

(17.62) कभी शुद्ध सत्त्वगुण बढ़ जाय तो उससे ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परन्तु दूसरे गुण उस एक के विरोधी होते हैं।

(17.63) सत्त्व के सम्बन्ध से श्रद्धा जब मोक्ष-फल की ओर प्रवृत्त होती है तब रज और तम क्योंकर चुप बैठे रहें?

(17.64) अतः सत्त्व के आधार का नाश कर रजो-गुण जब उन्नत होता है तब वही श्रद्धा कर्म करनेहारी हो जाती है।

(17.65) और जब तमरूपी प्रवृत्ति ऊँची उठती है तब वही श्रद्धा भिन्न हो अनेक भागों की इच्छा करती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ 17.3 ॥

(17.66) और हे ज्ञानी! इस जीव-समुदाय में श्रद्धा सत्त्व, रज वा तम के अतिरिक्त नहीं रहती।

(17.67) सारांश श्रद्धा स्वभावतः इन सत्त्व, रज और तम के भेद से त्रिगुणात्मक है।

(17.68) जैसे जल जीवन ही है पर विष के सम्बन्ध से वह मारक हो जाता है, अथवा काली मिर्च के संग तीखा वा ईख के संग मीठा होता है

(17.69) वैसे ही जो प्रायः तम से सम्बद्ध हो सर्वदा उत्पन्न होता वा मरता है उसकी श्रद्धा भी तद्रूप ही प्रकट होती है।

(17.70) काजल में और स्याही में जैसे कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता वैसे ही वह श्रद्धा और तामसी वृत्ति कुछ जुदी नहीं होती।

(17.71) इसी प्रकार राजस जीव में श्रद्धा रजोमय होती है और सात्विक जीव में उसे सम्पूर्ण सत्त्वमय ही जानो।

(17.72) इस तरह से यह सब जगत् सम्पूर्ण श्रद्धा का ही ढला हुआ है,

(17.73) परन्तु इस श्रद्धा में गुणत्रय के कारण जो त्रिविधता के चिह्न बन गये हैं उन्हें पहचान लो।

(17.74) इसलिए जैसे फूल से झाड़ पहचाना जाता है, अथवा सम्भाषण से मनुष्य के अन्तःकरण का परिचय होता है, अथवा भोगों से जैसे पूर्वजन्म के कर्म जाने जाते हैं

(17.75) वैसे ही जिन-जिन चिह्नों से श्रद्धा के तीनों रूप पहचाने जाते हैं उनका वर्णन सुनो।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ 17.4 ॥

(17.76) जिनकी देहरचना सात्विक श्रद्धायुक्त होती है उनकी बुद्धि प्रायः स्वर्ग-विषयक रहती है। (77) वे सकल विद्याएँ पढ़ते हैं, उत्तमोत्तम यज्ञक्रियाएँ करते हैं, बहुत क्या कहें वे देवलोक प्राप्त करते हैं;

(17.78) और हे वीरेश! जे राजसी श्रद्धा के बने हैं वे राक्षसों और पिशाचों को पूजते हैं।

(17.79) अब जो तामसी श्रद्धा है उसका भी हम वर्णन करते हैं। जो केवल पापों की राशि हैं, निर्दय और अत्यन्त कर्कशस्वभाव के हैं,

(17.80) जो प्राणियों के मार कर बलि देते हैं और श्मशान में सन्ध्या के समय अमंगल भूत-प्रेत-समूहों की पूजा करते हैं

(17.81) वे मनुष्य तमोगुण का सार निकाल कर बनाये गये हैं। उन्हें तामसी श्रद्धा के घर जानो।

(17.82) इस प्रकार संसार में श्रद्धा इन तीनों चिह्नों के कारण त्रिविध हो गई है। यह वर्णन हमने इसलिए किया है

(17.82) कि हे प्रबुद्ध! जो सात्विक श्रद्धा है उसी की रक्षा करनी चाहिए और दूसरी दोनों श्रद्धाओं का त्याग करना चाहिए।

(17.84) हे धनंजय! यह सात्विक बुद्धि जिसकी सहकारिणी होती है उसके लिए कैवल्य कोई हौवा नहीं है।

(17.85) वह चाहे ब्रह्मसूत्र न पढ़ा हो, सब शास्त्र उसके देखे हुए न हों, सिद्धान्त स्वतन्त्रतः उसके हाथ न लगे हों,

(17.86) तथापि जिनके रूप से श्रुतिस्मृतियों के अर्थ ही मूर्तिमान हुए हैं, और जो तदनुसार अनुष्ठान कर प्रसिद्ध हुए हैं, ऐसे जा सत्पुरुष हैं

(17.87) उनके आचरण-मार्ग से जो सात्विक मनुष्य श्रद्धापूर्वक चलता हे उसे भी वही फल ऐसा अनायास मिलता है मानों उसके लिए रक्खा ही हुआ था।

(17.88) कोई एक मनुष्य आयास से दिया जलावे और दूसरा उस दिये से दिया लगाने जावे तो क्या प्रकाश उसे वंचित रक्खेगा

(17.89) किसी ने यदि अपार द्रव्य खर्च कर घर बनाया तो क्या उस घर का सुख उसमें कोई दूसरा रहनेवाला नहीं भोग सकता?

(17.90) यह उपमा रहने दीजिए। तालाब क्या, जो खोदता है, उसी की तृषा हरता है? घर में अन्न क्या रसोइये के ही लिए है और दूसरों के लिए नहीं?

(17.91) बहुत क्या कहूँ, गंगा क्या एक गौतम के लिए ही गंगा हैं और जगत् में दूसरों के लिए क्या वह नाली बन जाती है?

(17.92) सारांश, जो एक से एक शास्त्रानुष्ठान में निपुण हैं, जो श्रद्धालु उनका अनुसरण करता है वह मूर्ख हो तो भी तर जाता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ 17.5 ॥

(17.93) अन्यथा जो जन्म भर शास्त्र के नाम खखारना भी नहीं जानते वरन् जो शास्त्रों का अपनी हद नहीं छूने देते,

(17.94) अपने पूर्वजों की क्रियाएँ देख कर जो उन्हें चिढ़ाते हैं, पण्डितों का चुटकियों पर उड़ाते हैं,

(17.95) जो अपनी ही शेखी और धनिकता के घमण्ड के वश है। सचमुच पाखण्डरूपी तप का आदर करते हैं,

(17.96) अपने और दूसरों मे अंग में याज्ञिकों के वस्त्र पहना कर यज्ञपात्र को रक्त और मांस से भर-भर कर

(17.97) जलते हुए कुण्डों में खाली करते और जादू के देवता के मुँह से लगाते हैं, तथा मानता किये हुए बालकों की बलि देते हैं

(17.98) जो हठ की बड़ाई मारते हुए क्षुद्र देवताओं से वर-प्राप्ति के लिए सात-सात दिन तक अन्न त्याग करते हैं,

(17.99) इस प्रकार हे सुहृद! जो तमरूपी क्षेत्र में अपने और दूसरों के लिए पीड़ारूपी बीज बोते हैं जिससे कि फिर वैसा ही फल होता है,

(17.100) हे धनंजय! जिसके निज के बाहु नहीं हैं और जो नाव का भी आश्रय नहीं करता उस मनुष्य का समुद्र में जो हाल होता है,

(17.101) अथवा जो वैद्य से द्वेष करता है और औषधि को लात से उड़ेल देता है वह रोगी जैसे स्वयं व्याकुल ही रहता है,

(17.102) अथवा उपाय न करके कोई अपनी आँखें ही निकाल ले तो वह जैसे आप ही अपनी इच्छा से अन्धा बन जाता है,

(17.103) वही हाल उन असुरों का होता है जे शास्त्र के प्रबन्ध की निन्दा कर मोह से इधर-उधर जंगल में भटकते हैं।

(17.104) काम जो करावे सो वे करते हैं, क्रोध जिसे मारने के लिए प्रवृत्त करे उसे मारते हैं, बहुत क्या कहूँ वे मुझे दुःख-रूपी पत्थरों से पूर देते हैं।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 17.6 ॥

(17.105) वे निज के शरीर का अथवा दूसरों के शरीर को जो-जो पीडा देते हैं उतना सब क्लेश मुझ आत्मा का ही होता है।

(17.106) वास्तव में उन पापियों का स्पर्श वाचा-पल्लव से भी न करना चाहिए, परन्तु हमें जो उनका वर्णन करना पड़ा है वह यही बताने के लिए कि उनका त्याग करना चाहिए।

(17.107) मुर्दे को बाहर निकालते हैं अथवा सम्भाषण से ज्ञात हो जानेवाले शूद्र का त्याग करते हैं, अथवा हाथ में लगी हुई कीचड़ को धो डालते हैं,

(17.108) उस समय मन में शुद्धता का हेतु रहता है, इसलिए उस संसर्ग का कोई दोष नहीं माना जाता; वैसे ही यह वर्णन भी उन पापियों के त्याग के हेतु से किया गया है।

(17.109) अतः हे अर्जुन! तुम इन्हें देखे तो मेरा स्मरण किया करो, क्योंकि इनके विषय में और दूसरा कोई प्रायश्चित्त उपयुक्त न होगा।

(17.110) सारांश जो सात्विक श्रद्धा है उसी एक की सर्वथा भली भाँति और बार-बार रक्षा करनी चाहिए।

(17.111) और इसलिए ऐसे पुरुषों का समागम करना चाहिए जिनसे सात्विक सम्बन्ध की पुष्टि हो तथा सत्त्ववृद्धि के भाग का ही आहार सेवन करना चाहिए।

(17.112) साधारणतः भी यही देखा जाता है कि स्वभाव-वृद्धि के आहार के अतिरिक्त कोई बलिष्ठ हेतु नहीं हैं।

(17.113) हे वीर! तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जो सावधान मनुष्य सेवन मदिरा करता है वह तत्काल उन्मत्त हो जाता है,

(17.114) अथवा जो समाधान्य का बनाया हुआ अन्न सेवन करता है वह वात या श्लेष्मा दोषों से व्याप्त हो जाता है। ज्वर प्राप्त होने पर क्या दूध इत्यादि पदार्थ उसका वारण कर सकते हैं?

(17.115) अथवा अमृतपान करने से मृत्यु का निवारण हो जाता है, अथवा विष जैसे अपना ही जैसा करता है

(17.116) वैसे ही जैसा आहार किया जाय तदनुसार ही धातु का आधार बनता है और जैसी धातु वैसा हो अन्तःकरण का भाव उत्पन्न होता है।

(17.117) जैसे बरतन के तपने से उसके भीतर का जल भी तपता है वैसे ही धातु के अनुसार ही चित्तवृत्ति परिणाम पाती है।

(17.118) इसलिए जो सात्विक अन्न लिया जाय तो सत्त्व की वृद्धि, तथा अन्य प्रकार के अन्नों का सेवन करने से राजस वा तामस वृत्ति बनेगी।

(17.119) अब सात्विक आहार कौन है तथा राजस वा तामस आहार का क्या स्वरूप है, उसका हम वर्णन करते हैं, सुनो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ 17.7 ॥

(17.120) और है वीर! एक ही आहार क्योंकर त्रिविध हुआ है यह भी हम स्पष्ट कर बताते हैं।

(17.121) संसार में अन्न खानेहारे की रुचि के अनुसार बनाया जाता है और खानेहारा तो गुणों का दास रहता है।

(17.122) जो जीव कर्ता वा भोक्ता है वह स्वभावतः गुणों के कारण त्रिविधता पा कर त्रिधा व्यापार करता है।

(17.123) इसलिए आहार त्रिविध है। यज्ञ भी तीन प्रकार का है। तप और दान के व्यापार भी त्रिविध हैं।

(17.124) इनमें से हमने पहले जो आहार वर्णन करने की सूचना दी थी उसका निरूपण करते हैं। उसे भली भाँति सुनो।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ 17.8 ॥

(17.125) भोक्ता जब भाग्यवशात् सत्त्वगुण की और आकृष्ट रहता है तब उसकी रुचि मधुर रसों में बढ़ती है।

(17.126) जो पदार्थ स्वभावतः सुरस रहते हैं, स्वभावतः मीठे रहते हैं, तथा जो स्वभावतः खूब रस से भरे और पके हुए होते हैं,

(17.127) आकार में जो बड़े नहीं होते, स्पर्श में जो अत्यन्त कोमल तथा जीभ का जो सान्द्र और स्वादु होते हैं,

(17.128) जिनमें रस अटूट और मृदु रहता है, जो द्रवभाव से भरे हुए परन्तु कही-कहीं अग्नि की गरमी के कारण जिनका द्रवत्व निकल गया है,

(17.129) जो श्रीगुरु के मुख के अक्षरों के समान तन से छोटे पर परिणाम में बड़े होते हैं, तथा जो छोटे होते हैं तथापि अपार तृप्ति बनी रहती हैं,

(17.130) और ऊपर से जैसे सुन्दर वैसे भीतर से भी मीठे रहते हैं, उन पदार्थों के अन्न पर सात्विक की रुचि बढ़ती है।

(17.131) सात्विक आहार ऐसे गुण और लक्षणों का रहता है। यह आहार आयुष्य का नित्य नूतन रक्षक है।

(17.132) जब शरीर में ऐसे सात्विक रस-रूपी मेघ बरसते हैं तब आयुष्य-रूपी नदी दिन-दिन बढ़ती जाती है।

(17.133) हे सुमति! दिन की वृद्धि के लिए जैसे सूर्य होता है वैसे ही सत्त्व की रक्षा के लिए यह आहार कारण होता है,

(17.134) और शरीर और मन दोनों को इसी आहार के बल का आश्रय मिलता हैं। तो फिर रोग कहाँ से प्रकट हो सकते हैं?

(17.135) एवं सात्विक आहार का सेवन करने से ही शरीर को आरोग्योपभोग-रूपी सौभाग्य प्राप्त होता है

(17.136) तथा इस आहार से सब व्यापार भली भाँति सुखरूप दिखाई देते हैं; इससे आनन्द की मित्रता भी वृद्धिंगत होती है।

(17.137) इस प्रकार इस सात्विक आहार का बहुत बड़ा परिणाम होता है। यह बाह्य और अन्तर दोनों का उपकारी है।

(17.138) अब रजोगुणी मनुष्य की जिन रसों में रुचि `रहती है उन्हें भी प्रसंगवशात् विशद कर बताते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ 17.9 ॥

(17.139) केवल मारक गुण के अतिरिक्त जो कालकूट विष के हो समान कडुए अथवा चूने से भी अधिक दाहक और अम्ल होते हैं,

(17.140) आटे में जैसे पानी डाला जाता है वैसा ही मानों नमक का गोला ही बनाया दो, और उसमें अन्य रस मिलाये गये हों,

(17.141) ऐसे अत्यन्त खारे पदार्थों पर राजसी मनुष्यों की रुचि होती है। राजसी मनुष्य उष्ण पदार्थों के मिस से मानों आग ही लीलता है।

(17.142) वह ऐसे गरम पदार्थ खाना चाहता है कि जिनकी भाफों के अग्रभाग पर दिया जलाना चाहो तो जल जावे।

(17.143) सब्बल [1] की यह बात प्रसिद्ध है कि वह पत्थर का भी फोड़ती पर राजसी मनुष्य ऐसे-ऐसे तीखे पदार्थ खाता है कि जिनसे कोई घाव नहीं होता परन्तु वे चुभते अवश्य हैं।

(17.144) और उसे ऐसी चटनियाँ अत्यन्त भाती हैं जो राख से भी रूखी और अन्तर-बाह्य समान ही रहती हैं।

(17.145) जिन पदार्थों के खाते ही दाँतों की आपस में टक्कर हो उनके मुँह में पड़ते ही उसे आनन्द होता है।

(17.146) जो पदार्थ स्वभावतः चिरपरे हो और फिर उनमें राई पड़ी हो, जिनको खाते हुए नाक और मुँह से धारें बहती हो,

---

[1] पत्थर उखाड़ने आदि के लिए लोहे का यन्त्र।

(17.147) और तो क्या, आग को भी चुप करनेवाले अचार जैसे पदार्थ राजसी मनुष्य को प्राणों से प्यारे होते हैं।

(17.148) इस प्रकार तृप्त न होते हुए जो मनुष्य जिह्वा के वश हो पागल हो जाता है वह मानों अन्न के रूप से पेट में एकदम अग्नि ही भर लेता है।

(17.149) और जब दाह होने लगती हे तब पलंग से धरती पर और धरती से पलंग पर लोट-पाट होता रहता है, तथा उसके मुँह से जल का लोटा भी नहीं छूटता।

(17.150) उसने वे राजस-आहार ग्रहण नहीं किये बल्कि मानों व्याधिरूपी सर्प जो सोया हुआ था उसे जाग्रत करने के लिए नशा ही किया;

(17.151) एवं उसके शरीर में एकदम एक दूसरे से स्पर्धा करनेवाले रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार राजस आहार केवल दुःखरूप फल देता है।

(17.152) हे धनुर्धर! यह राजस आहार का वर्णन हुआ, और हम उसके परिणाम की कथा भी कह चुके।

(17.153) अब तामस मनुष्य का कैसा आहार भाता है उसका भी वर्णन करते हैं। उस पर तुम घृणा न आ दे।

(17.154) भैंस जैसे जूँठन खाती है वैसे ही तामसी मनुष्य जूठा और सड़ा हुआ अन्न खाते हुए कुछ अहित नहीं समझता।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ 17.10 ॥

(17.155) उसी प्रकार, जिस अन्न को पके हुए दोपहर वा एक दिन बीत जाता है उसे तामसी मनुष्य खाता है,

(17.156) अथवा जो अधकच्चा उबाला गया हो।, वा निःशेष जल गया है, तथा जिसका रस निकल गया हो, ऐसा भी अन्न वह खाता है।

(17.157) जो पूर्ण पका हुआ हो, जिसमें रस भरा हुआ दिखाई देता है उस अन्न का अनुभव तामसी मनुष्य को नहीं रहता।

(17.158) कदाचित् उसे कभी ऐसा उत्तम अन्न मिल जाय तो वह उसे तब तक हाथ नहीं लगाता जब तक कि उसमें से दुर्गन्ध न छूटने लगे। व्याघ्र ऐसा ही करता है।

(17.159) जो कई दिनों का बासी हो, जिसमें से स्वाद निकल गया हो, जो सूख गया हो, सड़ गया हो वा फूल गया हो

(17.160) ऐसे अन्न को भी, खाते समय, वह बालक की तरह गड़बड़ कर सान लेता है, अथवा अपनी स्त्री को संग बैठा कर गायों के समान एक थाली में खाता है।

(17.161) इस प्रकार गँदलेपन से जब वह खाता है तब उसे सुखभाजन सा मालूम होता है। परन्तु वह पापी इतने से ही तृप्त नहीं होता;

(17.162) वरन चमत्कार देखिए, जो बुरे पदार्थ निषिद्ध किये गये हैं, अथवा जो सदोष माने गये हैं

(17.163) उन अपेय पदार्थों के पीने के लिए, अथवा अखाद्य पदार्थों के खाने के लिए उस तामसी मनुष्य की इच्छा बढ़ती ही रहती है।

(17.164) सारांश, तामस भोजन करनेहारे की रुचि उपयुक्त प्रकार की रहती है। उसका फल मिलने लिए उसे कुछ दूसरा क्षण नहीं लगता

(17.165) क्योंकि ज्योंही उसका मुख उन अपवित्र पदार्थों का स्पर्श करता है त्योंही वह पाप का भाजन बन जाता है।

(17.166) उस पर जो वह खाता है वह खाना नहीं, केवल पेट भरने की चेष्टा समझनी चाहिए।

(17.167) शिरच्छेद का क्या परिणाम होता हैं, अथवा अग्नि में प्रवेश करने से क्या होता है, क्या इन बातों का अनुभव लेना चाहिए? पर वह ऐसी बातें भी सह लेता है।

(17.168) इस प्रकार श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं रही कि तामस अन्न का परिणाम सात्विक या राजस अन्न से जुदा होता हैं।

(17.169) इसके उपरान्त, अब आहार के समान यज्ञ भी तीन प्रकार का होता है।

(17.170) परन्तु उन तीनों में, हे उत्तम कीर्तिमानों के शिरोमणि! प्रथम सात्विक यज्ञ का मर्म सुनो।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ 17.11 ॥

(17.171) पतिव्रता के मन में जैसे अपने एक प्रिय पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के विषय में काम नहीं उत्पन्न होता,

(17.172) अथवा गंगा जैसे समुद्र का पहुँच कर फिर आगे प्रवेश नहीं करती, अथवा वेद जैसे आत्मा का देख कर चुपचाप हो रहते हैं,

(17.173) वैसे दी जो अपने निज के हित के विषय में सम्पूर्ण चित्तवृत्ति लगा कर उसके फल के लिए अहंकार शेष नहीं रख छोड़ते,

(17.174) वृक्ष के मूल तक पहुँचा हुआ जल जैसे पीछे लौटना नहीं जानता, किन्तु केवल वृक्ष में ही साख जाता है,

(17.175) वैसे ही मन से और शरीर से जो यजन-निश्चय में ही मग्न हो और किसी बात की इच्छा नहीं करते,

(17.176) वे याज्ञिक स्वधर्म का छोड़ अन्य विषयों से विरक्त हो, फलेच्छा-त्याग-पूर्वक जिस सर्वांगसुन्दर यज्ञ का यजन करते हैं,

(17.177) और जैसे दर्पण के द्वारा अपना स्वरूप देखा जाता है, अथवा हथेली का रत्न दीपक द्वारा देखा जाता है,

(17.178) अथवा जिस मार्ग से चलना है वह सूर्य उदय होने पर स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही वेदों क निर्णय देख कर

(17.179) कुण्ड, मण्डप, बेदी और अन्य सामग्री ऐसी जमाते हैं मानों स्वयं वेदों ने ही रची हो,

(17.180) जैसे शरीर के सब अवयवों में उचित अलंकार पहने जायँ वैसे ही जिस यज्ञ में सब पदार्थ जहाँ के तहाँ योग्य प्रबन्ध से रक्खे जाते हैं,

(17.181) बहुत क्या वर्णन करूँ, जैसे सकल अलंकारों से युक्त यज्ञविद्या ही यजन के मिस से मूर्तिमती हो आई हो

(17.182) ऐसा अंग और उपांगों-सहित और प्रतिष्ठा की इच्छा के बिना जो यज्ञ किया जाता है,

(17.183) सब पेड़ों में जैसे तुलसी के पेड का प्रतिपाल अच्छी तरह किया जाता है परन्तु उससे न फल का न फूल का आसरा रहता है,

(17.184) बहुत क्या कहें, इस प्रकार से फलाशा के बिना जो यज्ञ रचा जाता है उसे सात्विक यज्ञ कहते हैं।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ 17.12 ॥

(17.185) अब हे वीरेश! यज्ञ तो पूर्वोक्त प्रकार से ही किया जाय परन्तु जैसे कोई श्राद्ध के दिन राजा को भोजन के लिए निमन्त्रण दे,

(17.186) इस हेतु से कि राजा अपने घर आवेगा तो बहुत लाभ होगा और संसार में कीर्ति भी होगी,

(17.187) वैसे ही यदि वह यज्ञ भी इस हेतु से किया जाय कि उससे स्वर्ग का लाभ तो बना ही हुआ है, और संसार में दीक्षित का भी सन्मान मिले, तो

(17.188) हे पार्थ! इस प्रकार केवल फल की आशा और संसार में बड़ाई अथवा प्रसिद्धि के लिए यज्ञ किया जाय तो उसे राजस यज्ञ कहते हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ 17.13 ॥

(17.189) और पशुपक्षियों के विवाह के समय जैसे काम के अतिरिक्त कोई विवाह करानेवाला जोशी नहीं रहता, वैसे ही तामस यज्ञ में केवल आग्रह ही मुख्य है।

(17.190) वायु को चाहे कहीं मार्ग न मिले, मृत्यु मुहूर्त-चिन्तन किया करे, अग्नि निषिद्ध पदार्थों का जलाने से डर जाय,

(17.191) ये घटनाएँ हो जायँ तथापि तामस मनुष्य के आचार को विधि की मर्यादा नहीं दो सकती। हे धनुर्धर! वह उच्छृंखल होता है।

(17.192) उसे विधि की परवा नहीं रहती। मन्त्र इत्यादि की उसको जरूरत नहीं होती। मक्खी के समान उसका मुँह भी किसी अन्न के विषय में बन्द नहीं होता।

(17.193) जहाँ ब्राह्मण-मात्र से वैरभाव रहता है वहाँ दक्षिणा की गुजर कहाँ हो सकती है, तथा जैसे आँधी का आग की सहायता मिल जाय

(17.194) तो वह सब नाश कर देती है वैसे ही वह श्रद्धा का मुख न देख कर अपना सर्वस्व वृथा खर्च कर देता है, जैसे कि अपुत्र मनुष्य का धन उसकी मृत्यु के पश्चात् वृथा ही लुट जाता है।

(17.195) लक्ष्मी के निवास श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार जो केवल यज्ञ का आभास प्रकट किया जाता है उसका नाम तामस यज्ञ है।

(17.196) अब, गंगा का जल एक ही है पर जुदे-जुदे प्रवाहों में ले जाने से जैसे एक मैला और एक शुद्ध दिखाई देता है

(17.197) वैसे ही तप भी संसार में तीन गुणों के कारण त्रिरूप हो गया है। उनमें से एक प्रकार के तप के आचरण से पाप, और दूसरे से उद्धार होता है।

(17.198) अतः हे सुबुद्धि! वही तप तीन प्रकार का कैसा होता है, यह जानने की इच्छा हो तो प्रथम तप क्या है से सुनो।

(17.199) तप क्या वस्तु है, उसका स्वरूप हम व्यक्त कर बताते हैं और फिर वह तीन गुणों के कारण जैसा भिन्न होता है उसका वर्णन करेंगे।

(17.200) अब, जो उत्तम तप है वह भी त्रिविध है, अर्थात् शारीरिक, मानसिक और शाब्द।

(17.201) इन तीनों में से सम्प्रति शारीरिक का रूप सुनो। जिसे शंकर अथवा श्रीहरि प्रिय होते हैं

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ 17.14 ॥

(17.202) – उसने, आठों पहर अपने प्रिय देवता के मन्दिर की यात्रा इत्यादि करने के लिए, अपने पाँव मानों बेगार में दिये रहते हैं।

(17.203) उसके हाथ, देवता का आँगन सुशोभित करने के लिए, गन्ध पुष्प इत्यादि उपचार लाने के लिए तथा आज्ञा झेलने के लिए, शोभते हैं।

(17.204) दृष्टि से शिवलिंग या श्रीमूर्ति दिखाई देते ही वह शरीर से ऐसा लोट-पाट होता है मानों कोई लकड़ी पड़ी हो।

(17.205) वेद और विनय इत्यादि गुणों में श्रेष्ठ जो ब्राह्मण हैं उनकी उत्तम सेवा करना,

(17.206) अथवा जो प्रवास से या किसी पीडा से या किसी संकट से कष्टी हों उन्हें सुखस्थिति को पहुँचाना,

(17.207) सकल तीर्थों में श्रेष्ठ जो माता-पिता हैं उनकी सेवा के लिए वास्तव में शरीर की निछावर करना,

(17.208) भेंट होते ही जो संसार जैसा दारुण दुःख हर लेता है उस ज्ञानदानी और करुणापूर्ण गुरु का भजन करना,

(17.209) हे सुभट! स्वधर्मरूपी अँगीठी में स्थूलदेह बुद्धि-रूपी हलके सोने को अभ्यास-योगरूपी पुट में रख कर जला देना,

(17.210) प्राणिमात्र में ईश्वर समझ कर उसे नमन करना, परोपकार के द्वारा उसका भजन करना, स्त्रीविषय से इन्द्रियों का पूर्णतः नियमन करना,

(17.211) जन्म के समय ही शरीर से स्त्री-देह का स्पर्श हो पर पश्चात् सम्पूर्ण जन्म-भर शुद्ध रहना,

(17.212) सब में प्राण है यह जान कर तृण को भी धक्का न लगाना, बहुत क्या कहें किसी का छेद वा भेद न करना,

(17.213) इत्यादि शुद्ध व्यापार यदि शरीर से हों तो शारीरिक तप पूर्णता का पहुँच गया समझना चाहिए।

(17.214) हे पार्थ! ये सम्पूर्ण कर्म शरीर की प्रधानता के कारण होते हैं इसलिए में इसे शारीरिक तप कहता हूँ।

(17.215) इस प्रकार शारीरिक तप का रूप व्यक्त कर बताया। अब निष्पाप वाङ्मय या वाचिक तप सुनो।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ 17.15 ॥

(17.216) पारस जैसे लोहे के परिमाण का न घटा कर सबको सोना बना देता है

(17.217) वैसे ही जिस वाणी में ऐसी साधुता दिखाई दे कि वह किसी का जी नहीं दुखाती तथा सुननेहारे का स्वभावतः सुख उपजाती है,

(17.218) जल मुख्यतः वृक्ष को दिया जाता है पर उससे प्रसंगवशात् उस स्थल का तृण भी हरा-भरा रहता है, वैसे ही जो बाणी ऐसी हो कि उसका एक से आलाप करना सभी का हितकारी हो,

(17.219) अमृत की गंगा प्राप्त हो तो वह जैसे प्राणों के अमर करती तथा स्नान करने से पाप या सन्ताप का निवारण करती और माधुर्य भी देती है,

(17.220) वैसे ही जिस वाणी के सुनने से अविचार दूर हो और अपने अनादित्व की भेंट हो तथा जिसे सुनते हुए श्रवणरुचि, अमृत की रुचि जैसी, कभी नहीं उकताती

(17.221) ऐसी वाणी से प्रश्न का उत्तर देना, अन्यथा वेद या भगवन्नाम का आवर्तन करना,

(17.222) जैसे मुख में वेदशाला ही भरी है इस प्रकार वाचारूपी मन्दिर में ऋक् इत्यादि तीनों वेदों की प्रतिष्ठा करना,

(17.223) अथवा शिव या विष्णु के किसी नाम का वाचा पर बसना वास्तव तप कहाता है।

(17.224) फिर लोकपालों के धनी श्रीकृष्ण ने कहा कि अब मानसिक तप का भी वर्णन करते हैं, सुनो।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ 17.16 ॥

(17.225) तरंगों के बिना जैसा सरोवर, मेघों से वियुक्त जैसा आकाश अथवा सर्पों से रहित जैसा चन्दन का उद्यान,

(17.226) अथवा कलाओं की विषमता से वियुक्त चन्द्रमा, अथवा चिन्ता-विरहित राजा अथवा मन्दराचल से रहित जैसा क्षीरसागर,

(17.227) वैसा ही अनेक विकल्पों की जाली पूर्णतः निकल जाने पर जब मन केवल स्वरूपाकार से रह जाता है,

(17.228) बिना उष्णता के प्रकाश, बिना जड़ता के रस अथवा बिना पोलेपन के अवकाश

(17.229) की तरह जब मन अपने स्वरूप से रहता और अपने स्वभाव का इस प्रकार त्याग कर देता है जैसे हिम अपने शरीर का ठण्ड नहीं लगने देता,

(17.230) एवं कलंक-रहित चन्द्रमा जैसा निश्चल, नित्य और परिपूर्ण रहता है वैसा ही मन जब शुद्ध और उल्लसित रहता है,

(17.231) वैराग्य का क्लेश होना जब बन्द हो जाता है, हृदय का धड़धड़ाना और कँपना बन्द हो जाता है और उसके स्थान में आत्मबोध की पूर्णता प्राप्त हो जाती है।

(17.232) अतः शास्त्र-परिशीलन के लिए मुख का व्यापार जो वाचा है उसका भी कभी उपयोग नहीं किया जाता,

(17.233) लवण जैसे अपनी मूलस्थिति अर्थात् जल का स्पर्श करते ही लवण-स्वरूप नहीं रख सकता वैसे ही आत्मलाभ की प्राप्ति के कारण मन जब मनत्व ही नहीं रख सकता

(17.234) तो उसमें ऐसे भाव कहाँ से उठ सकते हैं जिनसे इन्द्रिय-रूपी मार्ग से दौड कर विषय-रूपी नगर प्राप्त किये जाय,

(17.235) अतः जैसे हाथ की हथेली में बाल नहीं रहते वैसे उस समय मन में भी स्वभावतः भावशुद्धि रहती है,

(17.236) बहुत कहाँ तक कहूँ, हे अर्जुन! मन की जब ऐसी स्थिति है। जाती है, तब उस स्थिति का मानसिक तप नाम प्राप्त होता है।

(17.237) परन्तु अस्तु। देव ने कहा कि यहाँ तक हमने मानसिक तप के सम्पूर्ण लक्षणों का वर्णन किया;

(17.238) एवं हमने काया, वाचा और मन के द्वारा जो त्रिविध हुआ है उस सामान्य तप का विवरण कह सुनाया।

(17.239) अब तीन गुणों के संग से यही तप तीन प्रकार से भिन्न हो जाता है उसका विवेचन भी अपने बुद्धिबल के द्वारा भली भाँति ग्रहण करो।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ 17.17 ॥

(17.240) हे ज्ञानी! जिसका अभी वर्णन किया इसी त्रिविध तप का आचरण, पूर्ण श्रद्धा से और फल की इच्छा छोड़ कर, करना चाहिए।

(17.241) जब यह तप पूर्ण सत्त्वशुद्धि के हेतु से आस्तिक्य बुद्धि से किया जाता है तब इसको ज्ञानीजन सात्विक कहते हैं;

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ 17.18 ॥

(17.242) अथवा तपाचरण के द्वारा संसार में द्वैत का मण्डन कर जब महत्वरूपी पर्वतों की शिखा पर बैठने का हेतु होता है,

(17.243) त्रिभुवन का सन्मान मेरे अतिरिक्त और कहीं न जाय, भोजन के समय मुझे सबसे श्रेष्ठ स्थान मिले,

(17.244) मैं सब जगत् की स्तुति का पात्र हो जाऊँ, सब संसार मेरी यात्रा करे,

(17.245) संसार की विविध पूजाओं का मेरे अतिरिक्त आसरा न मिले, तथा मुझे उत्तम प्रकार के बड़े-बड़े उपभोग प्राप्त हों,

(17.246) इस प्रकार जैसे वृद्धा वेश्या अपने बुढ़ापे को ऊपर से शृंगार करके छिपाये रहती है वैसे ही जब निज का महत्व बढ़ाने के हेतु से शरीर या वाणी में तप का मुलम्मा किया जाता है,

(17.247) तथा धन की इच्छा रख कर तप के कष्ट किये जाते हैं तब उस तप को राजस कहते हैं।

(17.248) जिसका दूध एक प्रकार का कीड़ा पी जाता है वह गाय जैसी ब्याने पर भी दूध नहीं देती, अथवा खड़ी फसल चरा डालने पर जैसे नाज हाथ नहीं आता

(17.249) वैसे ही जब अपने तप की बड़ाई मारी जाय तो उसका फल भी बिलकुल ही वृथा होता है।

(17.250) उसका इस प्रकार निष्फल होता देख कर तपस्वी उसे बीच में ही छोड़ देते है, इसलिए उस तप में स्थिरता नहीं रहती।

(17.251) यों भी, जो आकाश में व्याप्त हो रहता हैं और गर्जना से ब्रह्माण्ड का भेद करता है वह अकाल-मेघ क्या एक क्षणभर भी टिकता है?

(17.252) वैसे ही जो राजस तप हैं वह भी फल के विषय में वन्ध्या होता है और उसका आचरण भी टिकाऊ नहीं होता।

(17.253) अब वह तप तामसी रीति से किया जाय तो उससे परलोक और कीर्ति दोनों की हानि होती है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ 17.19 ॥

(17.254) हे धनुर्धर! अन्तःकरण में केवल मूर्खता की हवा भर कर, शरीर को जो बैरी समझते हैं

(17.255) और उसके चारों ओर पंचाग्नि की तप्त ज्वालाएँ सुलगाते हैं, अथवा शरीर को ईंधन बना उसे अग्नि के भीतर जलाते हैं,

(17.256) सिर पर गूगुल जलाते हैं, पीठ पर काँटे बाँधते हैं और शरीर को लकडी बना जला कर अंगार बनाते हैं,

(17.257) श्वासोच्छ्वास करना बन्द करते हैं, वृथा उपवास करते हैं, अथवा मुँह नीचे और पाँव ऊपर कर धूम्रपान करते हैं,

(17.258) ठण्डे पानी में गले तक घुस कर खड़े रहते हैं, और चट्टानों पर या नदी के तीर पर बैठते हैं जहाँ वे जीते-जी अपने शरीर के मांस के टुकड़े तोड़ते हैं;

(17.259) ऐसे नाना प्रकार से शरीर का क्लेश देते हुए हे धनंजय! जो दूसरों का नाश करने के हेतु से तप करते हैं,

(17.260) निज की जड़ता के कारण गिरा हुआ पत्थर जैसे स्वयं टूट कर टुकड़े टुकड़े हो जाता है तथा अपने मार्ग में आई हुई चीजों को भी रगड़ डालता है

(17.261) वैसे ही निज को क्लेश देते हुए, जो सुखी प्राणी हैं उन्हें भी जीत लेने की जो इच्छा करते हैं,

(17.262) बहुत क्या कहें, इस प्रकार जो बुरी क्लेशदायक रीति से तप करते हैं उनके तप का हे किरीटी! तामस तप कहते हैं।

(17.263) तात्पर्य यह कि सत्त्व आदि विभागों में आया हुआ तप तीन प्रकार का होता है; उसे हमने भली भाँति व्यक्त कर बताया।

(17.264) अब कथा कहते हुए प्रसंगानुसार दान के भी त्रिविध चिह्नों का निरूपण करते हैं।

(17.265) संसार में गुणों के कारण दान भी त्रिविध हुआ है। उनमें से प्रथम सात्विक दान सुनो।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ 17.20॥

(17.266) स्वधर्मानुसार आचरण करते हुए जो कुछ धन प्राप्त हो वही अत्यन्त आदर-पूर्वक दान करना चाहिए।

(17.267) उत्तम बीज प्राप्त हो परन्तु उसे जैसे खेत और अनुकूल भाफ न मिलने, वैसा ही सम्बन्ध दान का भी दिखाई देता है।

(17.268) बहुमोल रत्न हाथ आवे तो कभी सोने का टोटा पड़ जाता है और रत्न और सोना दोनों प्राप्त हों तो कभी शरीर अलंकार पहनने योग्य नहीं होता,

(17.269) पर जब सौभाग्य का उत्कर्ष होता है तब त्योहार, स्वजन और सम्पत्ति तीनों वस्तुएँ एकत्र प्राप्त हो जाती हैं;

(17.270) वैसे ही दान की घटना के लिए जब सत्त्व गुण सहकारी होता है तो देश, काल, पात्र और द्रव्य भी मिल जाते हैं।

(17.271) प्रथम दान की चेष्टा के लिए कुरुक्षेत्र वा काशी होनी चाहिए, अथवा और कोई देश होना चाहिए जो योग्यता में उनकी बराबरी का हो।

(17.272) फिर सूर्य या चन्द्र-ग्रहण के समान पुण्यकाल अथवा वैसा ही कोई और निर्मल समय होना चाहिए।

(17.273) ऐसे काल में और ऐसे देश में दान का पात्र भी ऐसा होना चाहिए मानों शुचिता ही मूर्तिमती हो आई हो।

(17.274) इस प्रकार शुद्धाचरण की भूमिका, अथवा वेदों का वसतिस्थान जैसा निर्मल द्विज-रत्न प्राप्त कर

(17.275) उसे अपने द्रव्य का सत्त्व अर्पण करना चाहिए। परन्तु प्रिय पति के सन्मुख जैसे कान्ता जाती है,

(17.276) अथवा जैसे कोई किसी की अमानत में रक्खी हुई वस्तु लौटा कर उऋण हो जाता है, अथवा ख़िदमतगार जैसे राजा का पान अर्पण करता है

(17.277) वैसे ही निष्काम-बुद्धि से भूमि इत्यादि अर्पण करनी चाहिए। बहुत क्या कहें, अन्तःकरण में कोई कामना न उठने देनी चाहिए!

(17.278) और जिसे दान दिया जाय वह ऐसा मनुष्य होना चाहिए जो कभी लिये हुए दान का प्रत्युपकार न करे।

(17.279) आकाश में ध्वनि करने से जैसे प्रतिध्वनि नहीं उठती, अथवा दर्पण की दूसरी ओर देखने से जैसे रूप दिखाई नहीं देता,

(17.280) अथवा जल की भूमिका पर गेंद मारने से जैसे वह उछल कर हाथ में नहीं आ सकती,

(17.281) अथवा छूटे हुए साँड़ को चारा देने से या कृतघ्न मनुष्य के साथ उपकार करने से जैसे, वे प्रत्युपकार नहीं करते

(17.282) वैसे ही जिसे दान दिया जाय वह मनुष्य ऐसा होना चाहिए जो दाता के दान का किसी तरह से प्रत्युपकार न करे।

(17.283) इस प्रकार की सामग्री से जिस दान की घटना होती है उसे सब दानों में श्रेष्ठ सात्विक दान कहते हैं।

(17.284) और देश या काल वैसा ही प्राप्त है, पात्र-सम्बन्ध वैसा ही मिले और दानद्रव्य भी शुद्ध और न्याय से प्राप्त हुआ हो,

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ 17.21 ॥

(17.285) परन्तु गाय को जैसे दूध की इच्छा से चारा दिया जाय, अथवा अनाज भरने के लिए बण्डा बना कर जैसे बौनी की जाय,

(17.286) अथवा व्यवहार की ओर दृष्टि दे कर जैसे सम्बन्धियों का निमन्त्रण दिया जाय, अथवा जैसे व्रतस्थ मनुष्य के घर परोसा (पत्तल) भेजा जाय, क्योंकि उसके यहाँ से वह वापिस ही आवेगा,

(17.287) अथवा जैसे ब्याज का पहले गाँठ में घर लेने पर द्रव्य-द्वारा किसी की सहायता की जाय, अथवा द्रव्य ले कर जैसे रोगियों को औषधि दी जाय,

(17.288) वैसे ही यदि इस भाव से दान दिया जाय कि उस दान से दान लेनेवाले का गुजारा हो और वह बार-बार दाता का नाम ले — उसका यश गावे

(17.289) अन्यथा हे पाण्डुसुत! रास्ता चलते कोई प्रत्युपकार न करनेहारा उत्तम ब्राह्मण मिले

(17.290) तो उसे एक कौड़ी देने के साथ ही उसके हाथ सम्पूर्ण कुटुम्बियों के प्रायश्चित्त का संकल्प छोड़ा जाय,

(17.291) उसी प्रकार यदि अनेक स्वर्गीय फलों की इच्छा से दान दिया जाय और वह भी इतना सा कि एक को भूख के लिए भी काफी न हो

(17.292) तथा ब्राह्मण के दान लेकर जाते ही यदि दान देनेहारा उसे हानि समझ कर ऐसा दुखी हो मानों कोई चोर द्रव्यहरण कर ले गया हो,

(17.293) बहुत कहाँ तक कहें, हे सुमति! ऐसी मनोवृत्ति से यदि दान दिया जाय तो उस दान को संसार में राजस कहते हैं।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ 17.22 ॥

(17.294) अब म्लेच्छों की बस्ती, जंगल, अपावन स्थल अथवा डेरे या शहर के चौरस्ते

(17.295) के समान स्थल हों, साँझ का अथवा रात का समय हो, और उस समय चोरी से प्राप्त किये हुए धन का दान किया जाय,

(17.296) दान का पात्र कोई भाट या बाजीगर हो, अथवा कोई वेश्या या जुआरी हो जो मूर्तिमान भ्रम के रूप से दान देनेहारे का भुलाते हैं,

(17.297) तिसपर और नृत्य होता हो, सन्मुख जादू-भरी आँखें हों, भाटों की स्तुति होती है। जो कानों में गूँजती रहे,

(17.298) फूलों की तथा अन्य सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध फैल रही है, तो वह दान देनेहारा तत्काल भ्रम का वेताल ही बन जाता है,

(17.299) और लोगों को लूट कर लाये हुए अनेक पदार्थों के बल जल्लादों के लिए अन्नसत्रों का आरम्भ करता है।

(17.300) इस प्रकार के दान का मैं तामस दान कहता हूँ। और भाग्यवशात् और भी एक घटना हो सकती है, सुनो।

(17.301) जैसे कभी घुन लगने से लकड़ी पर अक्षर का भी आकार हो जाता है, अथवा कभी ताली बजाते ही कौवा गिर पड़ता है, वैसे ही कभी तामस मनुष्य को भी पुण्यस्थल में पर्वकाल का लाभ हो जाता है।

(17.302) वहाँ उसे श्रीमान जान कर कोई योग्य पुरुष दान माँगने के लिए आवे तो उस समय यद्यपि वह अभिमान से फूल कर भ्रमिष्ठ होता है,

(17.303) तथापि मन में श्रद्धा नहीं रखता। इस माँगनेवाले के सन्मुख सिर नहीं झुकाता; स्वयं अर्ध्य इत्यादि नहीं देता और न किसी दूसरे से दिलवाता है।

(17.304) उसे बैठने के लिए वह आसन तक नहीं देता फिर गन्ध या अक्षत का तो कहना ही क्या है। योग्य प्रसंग पर तामसी लोग निश्चय से ऐसा अनुचित आचरण करते हैं।

(17.305) किसी ऋण के तगादेवाले को जैसे ऋणी थोडा-सा देकर रास्ते लगाता है वैसे दी वह माँगनेवाले की वंचना करता है। अबे-तबे का प्रयोग वह बहुत करता है।

(17.306) हे किरीटी! वह जिसे जो कुछ देता है उसका उस दान के द्वारा अपमान करता है अथवा अवहेलना कर उसे दुर्वचन बोलता है।

(17.307) अस्तु, बहुत हुआ। इस प्रकार जो द्रव्य खर्च करना है उसे संसार में तामस दान कहते हैं;,

(17.308) एवं हे राजतनय अर्जुन! अपने-अपने लक्षणों से अलंकृत तीनों दानों का स्पष्ट वर्णन हो चुका।

(17.309) अब हे विद्वन् मैं जानता हूँ कि तुम कदाचित् अपने मन में ऐसी कल्पना करोगे

(17.310) कि संसार-बन्ध से छुड़ानेवाला एक सात्विक कर्म ही है तो फिर इन दूसरे विरोधी और दोषयुक्त कर्मों के वर्णन की क्या आवश्यकता है।

(17.311) परन्तु जैसे भूत का हटाये बिना गड़ा हुआ द्रव्य हाथ नहीं आता, अथवा धुवाँ सहे बिना जैसे आग नहीं सुलगती,

(17.312) वैसे ही शुद्धसत्त्व की ओट में रज और तम के पट लगे हैं, उनका भेद क्या बुरा कहा जा सकता है?

(17.313) हमने जो वर्णन किया कि श्रद्धा से दान तक सम्पूर्ण क्रियासमूह तीनों गुणों से व्याप्त है

(17.314) उसमें निश्चय से हमारा अभिप्राय तीनों गुणों के उपदेश करने का नहीं है, हमने तो केवल सत्त्व का परिचय देने लिए अन्य दोनों का वर्णन किया है,

(17.315) क्योंकि दो वस्तुओं बीच जो तीसरी वस्तु रहती है वह दोनों का त्याग करने से दिखाई देती है। जैसे दिन या रात्रि के त्याग से सन्ध्या का रूप व्यक्त होता है,

(17.316) वैसे ही रज और तम के विनाश से तीसरा जो उत्तम दिखाई देता है वही सत्त्व है और वह आप ही प्रतीत हो जाता है।

(17.317) सत्त्व ही बताने के लिए हमने रज और तम का निरूपण किया। इन रज-तमों का छोड़ कर अपना कार्य साधो।

(17.318) सम्पूर्ण यज्ञ इत्यादि इसी शुद्ध सत्त्व के द्वारा करो। तब तुम्हें अपना स्वरूप हाथ लगेगा।

(17.319) सूर्य का प्रकाश होते ही, क्या नहीं दिखाई देता? वैसे ही सत्त्व से किया हुआ कौन-सा कर्म सफल न होगा?

(17.320) सत्त्व गुण में निश्चय से चाहे जिस फल का लाभ कर देने की उत्तम शक्ति है। परन्तु जो मोक्ष से एकरूप हो मिलना है

(17.321) वह एक जुदी ही वस्तु है। उसकी सहायता प्राप्त हो तब मोक्ष के गाँव में प्रवेश होता है।

(17.322) जैसे सोना पन्द्रह के भाव का हो तथापि उस पर राजमुद्रा के अक्षर पड़ते हैं तब वह सिक्का बनता है,

(17.323) अन्य स्थलों के जल स्वच्छ, शीतल, सुगन्धित और सुखदायक होते हैं, परन्तु पवित्रता तीर्थ के सम्बन्ध से ही होती है,

(17.324) नदी चाहे जितनी बड़ी हो परन्तु जब गंगा उसका अंगीकार करे तभी इसका प्रवेश समुद्र में हो सकता है,

(17.325) वैसे ही हे किरीटी! सात्विक कर्म को मोक्ष की भेंट के लिए आते हुए कोई प्रतिबन्ध न हो, इसलिए एक वस्तु और आवश्यक है।

(17.326) यह वचन सुनते ही अर्जुन के हृदय में उत्कण्ठा न समा सकी। वह बोला, हे देव! कृपा कर उस वस्तु का वर्णन कीजिए।

(17.327) तब कृपालुओं के राजा श्रीकृष्ण ने कहा कि सात्विक कर्म का जिस वस्तु के द्वारा मुक्तिरूपी रत्न दिखाई दे सकता है उसका स्पष्टीकरण सुनो।

> ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
> ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ 17.23 ॥

(17.328) जगत् इत्यादि सब का विश्रान्ति-स्थान जा अनादि परब्रह्म है उसका नाम एक ही परन्तु त्रिधा है।

(17.329) ब्रह्म वस्तुतः नाम-रहित या जाति रहित है परन्तु अविद्यारूपी रात्रि में उसे पहचानने के लिए वेदों ने उसका एक नाम रख दिया है।

(17.330) बालक उत्पन्न होता है तो उसका कोई नाम नहीं रहता, परन्तु रक्खे हुए नाम से पुकारने पर वह उत्तर देता हैं;

(17.331) वैसे ही जो लोग संसार-व्यथा से कष्टी हो इस कष्ट का निवेदन करने के लिए ईश्वर के पास जाते हैं इन्हें वह जिस नाम से उत्तर देता है उसी नाम से हमारा अभिप्राय है।

(17.333) श्रेष्ठ वेद से कृपा-पूर्वक ऐसा एक मन्त्र देख निकाला है कि जिससे ब्रह्म की अनिर्वाच्यता मिट जाती और उसकी अद्वैत-पूर्वक प्राप्ति हो जाती है।

(17.334) उस वेदोपदिष्ट मन्त्र से पुकारते ही ब्रह्म, लीला से, पीछे अथवा सन्मुख आ खड़ा होता है;

(17.335) परन्तु यह प्रतीति उन्हीं को होती है जो वेदरूपी पर्वतों के शिखर पर उपनिषदों के अर्थ-रूपी नगर में ब्रह्म की ही पंक्ति में बैठे हुए हों।

(17.335) अस्तु, प्रजापति और शक्ति जो सृष्टि उत्पन्न करते हैं वे जिस एक नाम के अनुष्ठान से उत्पन्न करते हैं;

(17.336) हे वीरोत्तम! सृष्टि के आरम्भ के पूर्व ब्रह्मा अकेले एक पागल मनुष्य के समान थे,

(17.337) वे मुझ ईश्वर को नहीं जानते थे और न उनमें सृष्टि रचने की सामर्थ्य थी, किन्तु उन्हें जिस एक नाम ने श्रेष्ठ बना दिया;

(17.338) अन्तःकरण में जिस एक नाम के अर्थ का ध्यान करने से, जिन तीन अक्षरों का जप करने से उन्हें विश्व रचने की योग्यता प्राप्त हो गई,

(17.339) और फिर उन्होंने ब्राह्मण उत्पन्न किये, उन्हें आचरण के लिए वेदों का उपदेश किया और उसके निर्वाह के लिए यज्ञ का अनुष्ठान नियत कर दिया,

(17.340) और अनन्तर न जाने कितने अन्य लोक उत्पन्न किये जिनकी गणना नहीं हो सकती और उन्हें तीनों भुवन मानों इनाम में दे दिये,

(17.341) श्रीलक्ष्मीपति कहते हैं, इस प्रकार जिस नाम-मन्त्र के द्वारा ब्रह्मा भी श्रेष्ठ हो गये उसका स्वरूप सुनो।

(17.342) सब मन्त्रों का राजा ओंकार उस नाम का पहला अक्षर है। तत्कार दूसरा अक्षर है और सत्कार तीसरा;

(17.343) एवं ब्रह्म का नाम `ओंतत्सत्` इन तीन अक्षरों का है। उपनिषद इसी सुन्दर फूल की सुगन्ध लेते हैं।

(17.344) इस नाम से युक्त हो जब सात्विक कर्म किया जाता है तो वह मोक्ष का घर का टहलुआ बना देता है।

(17.345) जैसे भाग्य से यदि कपूर के अलंकार प्राप्त हो भी जाय तो यह दिक्कत होती है कि वे पहने किस तरह जाये

(17.346) वैसे ही सत्कर्म का आचरण हो सकेगा, ब्रह्म के नाम का जप भी हो सकेगा परन्तु यदि उसके उपयोग का मर्म ज्ञात न हो

(17.347) तो जैसे कोट्यवधि महन्त जन आप ही आप घर पर पधारें और उनका सन्मान न किया जाय तो पुण्य का क्षय होता है;

(17.348) अथवा जैसे सुन्दर अलंकार पहनने की इच्छा से कुछ अलंकार और सोना एकत्रित कर गले में बाँध लिया जाय,

(17.349) वैसे ही मुख से ब्रह्म नाम का जप हो और हाथों से सत्कर्म होता हो तथापि उसका विनियोग मालूम न हो ते वह सब काम निष्फल है।

(17.350) अजी! अन्न और भूख दोनों समीप हों तथापि खाना न जाननेहारे बालक को लंघन ही करनी होगी;

(17.351) अथवा तेल, बत्ती और अग्नि तीनों मिले तथापि हे वीर! उन्हें सुलगाने की युक्ति न मालूम हो तो प्रकाश का लाभ नहीं हो सकता;

(17.352) वैसे ही समयानुसार कर्म किया जाय और उसका मन्त्र भी याद हो तथापि विनियोग के बिना वह सब वृथा है।

(17.353) इसलिए अब यह जो तीन अक्षरों का परब्रह्म का एक ही नाम है उसका विनियोग कैसे किया जाता है सो सुनो।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ 17.24 ॥

(17.354) इस नाम के तीनों अक्षर कर्म के आरम्भ में, मध्य में और अन्त में इस प्रकार तीनों स्थानों में लगाने चाहिए।

(17.355) हे किरीटी! इसी एक युक्ति के सहाय से ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्म की भेंट हुई है।

(17.356) ब्रह्मानुभव होने के हेतु वे शास्त्रज्ञों के कहे हुए यज्ञों का त्याग नहीं करते,

(17.357) परन्तु प्रथम ध्यान के द्वारा ओंकार को प्रत्यक्ष करते हैं, और अनन्तर उसका वाणी से उच्चारण करते हैं,

(17.358) और ऐसे प्रत्येक ध्यान और स्पष्ट ओंकारोच्चार के साथ क्रियाओं का आरम्भ करते हैं।

(17.359) कर्म के आरम्भ में ओंकार का ऐसा समझो जैसे अँधेरे में जाने के लिए एक अखण्ड दीपक, अथवा जंगल में जाने के लिए कोई बलवान साथी।

(17.360) वे ब्रह्म-ज्ञानी लोग वेदोक्त देवताओं के उद्देश्य से, नीति से उपार्जित बहुतेरा द्रव्य खर्च कर ब्राह्मणों के द्वारा अग्नि का यजन करते हैं।

(17.361) आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण इन तीनों अग्नियों में निक्षेपरूपी हवन का विधि-पूर्वक और दक्षता से यजन करते हैं।

(17.362) बहुत क्या कहें, वे अनेक यज्ञकर्मों की सहायता ले अप्रिय उपाधि का त्याग करते हैं,

(17.363) अथवा न्याय से सम्पादन की हुई भूमि इत्यादि पर्वतों और स्वतन्त्र वस्तुओं का शुद्ध देश और काल में सत्पात्र का दान देते हैं,

(17.364) अथवा एक दिन के अन्तर से, कृच्छ्र-चान्द्रायण इत्यादि व्रत कर, महीनों उपवास के द्वारा शरीर की धातुओं का सुखा कर तप करते हैं।

(17.365) इस प्रकार यज्ञ, दान, तप, जो बन्धरूप कहे जाते हैं वही उन ब्रह्म-ज्ञानियों का सुलभ मोक्ष के साधन होते हैं।

(17.366) जहाँ नावें नहीं चल सकतीं वहाँ लोग तैर कर चले जाते हैं, वैसे ही इस नाम के द्वारा बन्धकारक कर्मों से मुक्ति हो सकती है।

(17.367) परन्तु अस्तु, ये यज्ञ, दान इत्यादि क्रियाएँ ओंकार की सहायता से प्रवृत्त होने पर

(17.368) जब अल्प ही फलद्रूप होने लगती हैं उस समय तच्छब्द का प्रयोग किया जाता है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ 17.25 ॥

(17.369) तत् शब्द से वह परब्रह्म कहा गया है जे सम्पूर्ण जगत् के परे है तथा जो एक सर्व-साक्षी है।

(17.370) ज्ञानीजन उसे सबका आदि जान अन्तःकरण में उसके रूप का ध्यान कर उसे उच्चारण-द्वारा भी प्रत्यक्ष करते हैं,

(17.371) और फिर कहते हैं कि तद्रूप ब्रह्म को ये सब क्रियाएँ इनके फलों-सहित अर्पण हों, हमारे भोगों के लिए कुछ शेष न रहे।

(17.372) इस प्रकार वे तत्स्वरूपी ब्रह्म को सब कर्म समर्पण कर "न मम" (यह मेरा नहीं है) कह कर अलग हो जाते हैं।

(17.373) अब जो ओंकार से आरम्भ किया जाता है और तत्कार से समर्पित किया जाता है (इस प्रकार जिस कर्म को ब्रह्मत्व प्राप्त होता है)

(17.374) वह वास्तव में ब्रह्माकार हो जाता है; तथापि उससे भी कुछ सफलता नहीं होती क्योंकि जो कर्म करता है उसका द्वैत-भाव रह जाता है।

(17.375) लवण जल में गल जाता है पर उसकी क्षारता शेष रह जाती है, वैसे ही ब्रह्माकार कर्म द्वैत ही जान पड़ता है।

(17.376) और देव ने ही निज मुख से वेद-वाणी-द्वारा कहा है कि जब-जब द्वैत की घटना होती है तब-तब संसार-भय प्राप्त होता है।

(17.377) अतएव निज से परे जो ब्रह्म उसका पर्यवसान आत्मस्वरूप में हो, इस बात की पूति के लिए देव ने सत्शब्द की योजना की है।

(17.378) अतः ओंकार और तत्कार के द्वारा जो कर्म ब्रह्माकार हो जाते हैं, जो प्रशस्त इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं

(17.379) उन प्रशस्त कर्मों में सत्शब्द का जो विनियोग किया जाता हैं वह सुनने योग्य है। उसका हम वर्णन करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ 17.26 ॥

(17.380) इस सच्छब्द से असद्रूपी सिक्का छोड़ निष्कलंक सत्ता का स्वरूप व्यक्त होता है।

(17.381) जो सत् है वह वस्तु किसी काल में या देश में निजस्वरूप से भिन्न नहीं हो सकती। वह स्वयं अपनी जगह अखण्डित बनी रहती हैं।

(17.382) जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह जो कुछ दिखाई देता है वह अनित्य होने के कारण सत् नहीं है तब जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है

(17.383) उस ब्रह्म से सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूपाकार हो जाने-वाले प्रशस्त कर्म का साम्य कर उसे एकरूप देखना चाहिए।

(17.384) इस प्रकार ओंकार या तत्कार से कर्म ब्रह्माकार होता है पर उसके भी परे जा कर एकदम सद्रूप प्राप्त हो जाय,

(17.385) ऐसा इस सच्छब्द का अन्तर्गत विनियोग है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने विवरण किया, मैंने नहीं।

(17.386) क्योंकि यदि मैं कहूँ कि यह सब मैंने कहा तो यह हानि होगी कि श्रीकृष्ण के विषय में द्वैतभाव दिखाई देगा, अतः यह प्रवचन श्रीकृष्ण का ही है।

(17.387) अव यह सच्छब्द सात्विक कम का एक प्रकार से और उपकारी होता है।

(17.388) उत्तम सत्कर्म अपने अधिकारानुसार किये जा रहे हैं, परन्तु वे यदि किसी बात में न्यून हों

(17.389) तो जैसे सम्पूर्ण शरीर किसी एक अवयव से विहीन रहता है, अथवा जैसे चक्रहीन रथ की गति बन्द हो जादी है

(17.390) वैसे ही जिस समय किसी एक गुण के अभाव के कारण सत् कर्म भी असद्रूप धारण करता है

(17.391) उस समय ओंकार और तत्कार की उत्तम प्रकार की सहायता से युक्त हो सच्छब्द ही उस कर्म की त्रुटि की पूर्ति करता है।

(17.392) सच्छब्द उस असत्स्वरूप को मिटाता है और अपने सत्त्व के बल से उसे सद्भाव की स्थिति को ला पहुँचाता है।

(17.393) दिव्यौषधि जैसे कृश रागी की सहकारिणी होती है वैसे ही न्यूनांग कर्म के लिए सच्छब्द है;

(17.394) अथवा किसी प्रमाद से यदि कर्म अपनी मर्यादा का त्याग कर निषिद्ध मार्ग में जा पड़े,

(17.395) (क्योंकि चलनेहारा ही मार्ग भूलता है, परीक्षा करनेहारे को ही भ्रम हो जाता हैं, व्यवहार में ऐसी कौन-सी घटना नहीं होती?

(17.396) अतः इसी प्रकार यदि अविचार के कारण कर्म अपनी सीमा छोड़ कर असाधु अर्थात् बुरे नाम का पात्र बना चाहता हो)

(17.397) तो उस समय हे प्रबुद्ध! ओंकार और तत्कार की अपेक्षा इस सच्छब्द के विनियोग से ही उस कर्म को साधुता प्राप्त होती है।

(17.398) लोह जैसे पारस से घिसा जाय, नाले को जैसे गंगा की भेंट हो, अथवा मृत मनुष्य पर जैसे अमृत की वृष्टि हो

(17.399) वैसे ही हे वीरेश! सच्छब्द का प्रयोग असाधु कर्म का उपकारी होता है। अस्तु, इस नाम की ऐसी ही महिमा है।

(17.400) इस विवेचन का मर्म समझ कर यदि इस नाम का विचार करोगे तो तुम्हें ज्ञात होगा कि यह केवल ब्रह्म ही है।

(17.401) देखो, "ओं तत्सत्", ये अन्तर मुमुक्षु का वहाँ ले जाते हैं जहाँ से यह दृश्यमान जगत् प्रकाशित होता हैं।

(17.402) वह तो अपरिच्छिन्न है. शुद्ध परब्रह्म है, ओं तत्सत् उसका अन्तर्गत और व्यंजक नाम है,

(17.403) तथापि जैसे आकाश का आश्रय आकाश ही हैं, वैसे ही इस नाम का आशय वही नामरहित परब्रह्म है तथा वह उस नाम से अभिन्न है।

(17.404) आकाश में उदित होने पर सूर्य ही सूर्य को प्रकाशित करता है ऐसे ही ब्रह्म को यह नाम-व्यक्ति प्रकाशित करती है।

(17.405) अतः यह नाम तीन अक्षरों का शब्द नहीं, यह केवल ब्रह्म ही है। यहाँ तक कि जो जो कर्म किया जाय

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ 17.27 ॥

(17.406) – वह यज्ञ हो, या दान हो, या गहन तप इत्यादि हो, पूर्ण किये गये हों या अपूर्ण रह गये हों,

(17.407) परन्तु पारस की कसौटी पर जैसे उत्तम या हीन भेद नहीं होते वैसे ही वे सब कर्म ब्रह्म को समर्पित करते ही ब्रह्म ही हो जाते है।

(17.408) समुद्र से मिलन पर जैसे नदियाँ जुदी नहीं की जा सकती, वैसे ही ब्रह्म में मिलने पर यह भेद शेष नहीं रहता कि यह अधूरा है और यह पूरा हैं।

(17.409) इस प्रकार हे पार्थ, हे ज्ञानी! ब्रह्म नाम की शक्ति का सोपपत्तिक वर्णन हुआ।

(17.410) और है वीर! एक-एक अक्षर का अलग-अलग विनियोग भी हम उत्तम रीति से दिखा चुके।

(17.411) हे राजा! अब तुम यह मर्म समझ गये कि यह ब्रह्म नाम कितना श्रेष्ठ है।

(17.412) अब आज से सर्वदा इसी नाम की श्रद्धा का विस्तार होने दो, जिसके होने से जन्म-बन्ध शेष नहीं रह सकता।

(17.413) जिस कर्म में इस नाम का उत्तम विनियोग किया जायगा वह कर्म वेद के ही पूर्ण अनुष्ठान के बराबर होगा।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ 17.28॥

(17.414) अन्यथा, यह मार्ग छोड़ कर, श्रद्धा का आसरा छोड़ कर, दुराग्रह की सीमा बढा कर

(17.415) कोई कोटि अश्वमेध करे, रत्नों-सहित पृथ्वी का दान दे, एक अँगूठे पर खड़े रह कर सहस्रावधि तप करे,

(17.416) जलाशय की जगह चाहे नवीन समुद्र ही रचे, तथापि बहुत क्या कहें, ये सम्पूर्ण बातें वृथा हैं।

(17.417) जैसे पत्थर पर जल बरसना, अथवा राख में हवन करना, अथवा छाया का आलिंगन देना,

(17.418) अथवा हे अर्जुन! जैसे आकाश का थप्पड़ मारना — वैसे ही वह कर्म भी वृथा जाता है।

(17.419) और कोल्हू में पत्थर पेलने से जैसे न तेल और न खली हाथ आती है, वैसे ही उस कर्म से केवल दरिद्रता का ही लाभ होता है।

(17.420) गाँठ में केवल खपरी बँधी हो तो वह जैसे, देश हो या परदेश हो, कहीं नहीं बिकती और भूखों मारती है,

(17.421) वैसे ही उपयुक्त कर्म-समूह से इस लोक के ही भोग प्राप्त नहीं हो सकते तो फिर परलोक की इच्छा ही कौन कर सकता है?

(17.422) अतः ब्रह्म नाम की श्रद्धा छोड़ कर जो कुछ कर्म किया जाय वह, बहुत क्या कहें, इस लोक या परलोक दोनों के सम्बन्ध से केवल कष्ट करना है।

(17.423) इस प्रकार पापरूपी हाथी के नाशक सिंह, त्रिताप-रूपी अन्धकार के सूर्य, कमलापति सकल वीरों के राजा श्रीकृष्ण ने कहा।

(17.424) तब जैसे चन्द्रमा चाँदनी से ढँक जाता है वैसे ही अर्जुन निःसीम आत्मानन्द में डूब गया।

(17.425) आश्चर्य है कि यह संग्राम एक ऐसा व्यापार है जिसमें बाणों की नोकें मानों माप हैं, और उनमें शरीर का मांस और जीवन भी भर कर मापा जाता है,

(17.426) ऐसे कठिन अवसर पर स्वानन्द का राज्य कैसे भोगा जा सकता है! आज ऐसा भाग्योदय और दूसरी जगह नहीं है।

(17.427) संजय कहते हैं कि हे कौरवराज! शत्रु है तथापि उसके सद्गुणों से आनन्द होता है। इस समय तो वह हमें यह आनन्द प्राप्त करा देनेवाला गुरु ही है।

(17.428) अर्जुन यदि यह बात न निकालता तो श्रीकृष्ण क्यों यह मर्म प्रकट करते? और हमें परमार्थ की प्राप्ति कैसे होती?

(17.429) हम अज्ञान के अँधेरे में अपनी जन्मपीड़ा काटते हुए पड़े थे वहाँ से वह हमें आत्म-प्रकाशरूपी मन्दिर में ले आया।

(17.430) इतना बड़ा उपकार उसने तुम्हारे और हमारे ऊपर किया है इस लिए वह मुझे गुरुत्व की दृष्टि से व्यास मुनि का भाई ही दिखाई देता है।

(17.431) इतने में संजय ने मन में सोचा कि हम क्या बोल रहे हैं, यह बड़ाई राजा के हृदय में चुभेगी।

(17.432) अतः उसने वह वर्णन छोड़ दिया और दूसरी बात छेड़ दी जिसके विषय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया

(17.433) निवृत्तिनाथ के ज्ञानदेव कहते हैं कि जैसा संजय ने वर्णन किया वैसा मैं भी करता हूँ, सुनिए।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायां सप्तदशोऽध्यायः।

अठारहवाँ अध्याय

(18.1) हे देव, हे निर्मल, हे निज भक्तों का सम्पूर्ण मंगल करनेहारे, हे जन्म और जरा-रूपी मेघों के समूह का नाश करनेहारी वायु! आपका जयजयकार हो।

(18.2) हे देव, हे प्रबल, हे पापों के समुदाय का नाश करनेहारे, वेद और शास्त्र-रूपी वृक्ष के फल और फल के देनेहारे! आपका जयजयकार हो।

(18.3) हे देव, हे पूर्ण, हे वैराग्य-सम्पन्न पुरुषों के प्रेमी, कृतान्त के कुतूहल का नाश करनेहारे और हे कलातीत! आपका जयजयकार हो।

(18.4) हे देव, हे निश्चल, हे भक्तों के चित्त की चंचलता पीने के कारण तुन्दिल दिखाई देनेहारे, और जगत् का प्रकाश कर उस में निरन्तर क्रीडा करने में प्रेम रखनेहारे! आपका जयजयकार हो।

(18.5) हे देव, हे निष्कल, शान्त आनन्द को स्फुरद्रूप करनेहारे, सर्वदा सम्पूर्ण पापों का निरसन करनेहारे, हे मूल कारण, आपका जयजयकार हो।

(18.6) हे देव, हे आत्म-प्रकाशवान, है जगद्रूप मेघों के आकाश, जगदुत्पत्ति के आदिस्तम्भ, तथा जगत् का नाश करनेहारे, आपका जयजयकार हो।

(18.7) हे देव, हे उपाधि-रहित, हे अविद्या-रूपी बगीचे का नाश करनेहारे हाथी, शम-दम-द्वारा मदन के मद का नाश करनेहारे, हे दया के समुद्र, आपका जयजयकार हो।

(18.8) हे देव, हे एकरूप, हे काम-रूपी सर्प के गर्व का हरण करनेहारे, भक्तों के प्रेम-मन्दिरों के दीपक और ताप-हर्ता, आपका जयजयकार हो।

(18.9) हे देव, हे अद्वितीय, केवल पूर्णशान्तियुक्त पुरुष पर ही प्रेम करनेहारे, भक्तों के अधीन, भजने करने क योग्य तथा माया से अगम्य, आपका जयजयकार हो।

(18.10) हे देव, हे श्रीगुरु, हे अकल्पित फल देनेहारे कल्पवृक्ष, हे आत्मज्ञान-वृक्ष के बीज के उगने की भूमि! आपका जयजयकार हो।

(18.11) हे निर्विशेष इस प्रकार अनेक भाषा-भेदों से आपकी अलग-अलग स्तुति कहाँ तक करूँ?

(18.12) मैं जानता हूँ कि जिन विशेषणों से आपकी स्तुति करता हूँ वे आपका यथार्थ रूप प्रकट नहीं करते। अतः ऐसी स्तुति करते हुए मुझे लज्जा उत्पन्न होती है।

(18.13) परन्तु समुद्र मर्यादित तभी तक कहा जा सकता है जब तक वह पूर्ण चन्द्र को उदित हुआ न देखे।

(18.14) सोमकान्त पसीजता है सो कुछ चन्द्रमा को अर्घ्य अपर्ण करने के हेतु नहीं, किन्तु चन्द्रमा ही उसे द्रवीभूत करता है।

(18.15) वसन्त-काल आते ही न जान कैसे अकस्मात वृक्षों के अंकुर इतनी अधिकाई से फूटते हैं कि उनके अनुरूप वृक्ष उन्हें धारण नहीं कर सकते।

(18.16) पद्मिनी को रविकिरणों का लाभ होते ही वह लज्जा का अंगीकार न करके प्रफुल्लित होती है, अथवा जल का स्पर्श होते ही जैसे लवण अपने शरीर की सुधि भूल जाता है,

(18.17) वैसे ही जब मैं आपका स्मरण करता हूँ तब अपनापन भूल जाता हूँ। अफरा हुआ मनुष्य जैसे डकारे लेता हैं,

(18.18) वैसी ही स्थिति आपने मेरी कर दी हैं। पागल जैसे बोलता ही रहता है, वैसे ही आपने मेरी अहन्ता देशान्तर को भगा मेरी बाणी का स्तुति की धुन लगा दी है।

(18.19) परन्तु यों भी, यदि मैं निज की स्मृति रख कर आपकी स्तुति करूँ तो आपके गुण और अगुणों की छान करनी पड़ेगी।

(18.20) परन्तु आप तो एकरसात्मक लिंग है, आपके गुण या अगुण-रूपी विभाग कैसे हो सकते हैं। मोती का फाड़ कर टुकड़े करना भला कि समूचा रखना भला?

(18.21) आप माता-पिता हैं ऐसा कहने से भी आपकी स्तुति नहीं होती, क्योंकि उसमें बालक-रूपी उपाधि का दोष आता है।

(18.22) इसमें कहना ही क्या है कि मैं आपका सेवक हूँ और आप स्वामी हैं? पर ऐसा उपाधि से दूषित वर्णन क्या करूँ?

22) यदि यह कहूँ कि सब कुछ आप ही एक आत्मस्वरूपी हैं, तो हे गुरु! आप जो अन्तर्यामी हैं उन्हें बाहर निकाला सा दिखाई देगा।

(18.24) अतः वास्तव में आपकी स्तुति करने के लिए संसार में कुछ दिखाई नहीं देता। आप मौन के अतिरिक्त कोई अलंकार भी शरीर में धारण नहीं करते।

(18.25) कुछ न बोलना ही वास्तव में आपकी स्तुति है, कुछ न करना ही आपकी पूजा है, किसी विषय के पास न सन्नद्ध होना ही आप में रहना है।

(18.26) जैसे कोई भ्रम के वश दो पागल की तरह बकबक करे, वैसा ही मेरा स्तुति करना है। हे माता! इसकी आप क्षमा करें।

(18.27) अब मेरी वाणी को गीतार्थ-रूपी मोती की अँगूठी से अलंकृत कीजिए जिससे वह इन सज्जनों की सभा में सम्मान पावे।

(18.28) इस पर श्री निवृत्ति देव ने कहा कि बारबार ऐसी प्रार्थना का प्रयोजन नहीं है। लोहे को पारस से क्या बराबर घिसना पड़ता है?

(18.29) तब ज्ञानदेव ने निवेदन किया कि यह आपका प्रसाद हुआ; अब देव ग्रन्थ की ओर अवधान दें।

(18.30) महाराज! यह अठारहवाँ अध्याय अर्थरूपी चिन्तामणि का बनाया हुआ इस गीतारत्न-मन्दिर का कलश है जो सम्पूर्ण गीता-दर्शन का मुकुट है।

(18.31) संसार में भी ऐसी ही प्रथा है कि दूर से मन्दिर का कलश ही दिखाई देता है, और उस कलश के दर्शन से देवता दर्शन के फल की प्राप्ति समझी जाती है।

(18.32) वही हाल इस अध्याय का है। क्योंकि इसी एक अध्याय के देखने से सम्पूर्ण गीता-शास्त्र अवगत हो जाता है।

(18.33) इसी लिए मैं इस अठारहवें अध्याय को, श्रीव्यासजी-द्वारा गीता-मन्दिर पर चढ़ाया गया कलश, समझता हूँ।

(18.34) जैसे मन्दिर पर कलश के अनन्तर कुछ काम शेष नहीं रह जाता वैसे ही यह अध्याय गीता की समाप्ति का द्योतक है।

(18.35) व्यासजी स्वभावतः बड़े श्रेष्ठ शिल्पकार हैं। उन्होंने वेद-रूपी रत्नों के पर्वत पर उपनिषदार्थ-रूपी पथरीली धरती खोदी

(18.36) और उसमें से जो धर्म, अर्थ, और काम-रूपी बहुत-सी अनुपयोगी मिट्टी निकली उसका चहुँओर महाभारत-रूपी परकोटा बना दिया।

(18.37) उसके बीच में कृष्णार्जुन-संवाद-रूपी कुशलता से अखण्ड आत्मज्ञान-रूपी शुद्ध और उत्तम पत्थरों का समुदाय रचा

(18.38) और परमार्थ-रूपी डोरियाँ तान कर और सब शास्त्रों की सहायता से मोक्ष-मर्यादा का आकार सिद्ध किया।

(18.39) इस प्रकार इस मन्दिर की रचना करते हुए पन्द्रह अध्याय तक उसके पन्द्रह खन पूरे हो चुके;

(18.40) तदनन्तर सोलहवाँ अध्याय मानों उसका घण्टा है और सत्रहवाँ अध्याय कलश रखने की भूमि है।

(18.41) उस पर यह अठारहवाँ अध्याय मानों कलश चढ़ाया गया है और उस पर श्रीव्यास से गीता के नाम की ध्वजा लगा दी है।

(18.42) अतः यह अध्याय बताता है कि पिछले अध्याय जो एक पर एक चढ़ते हुए खण्ड हैं उनकी पूर्णता मुझसे हुई है।

(18.43) कलश होने से जैसे कोई काम छिपा नहीं रक्खा जा सकता वरन प्रकट होता ही है वैसे ही अष्टादश अध्याय सम्पूर्ण गीताशास्त्र को प्रकट करता है।

(18.44) इस प्रकार श्रीव्यासजी ने कुशलता से गीता-मन्दिर की रचना कर प्राणियों की बहुतेरी रक्षा की है।

(18.45) कोई इसका पाठ करते अर्थात् इसकी बाहरी ओर से प्रदक्षिणा करते हैं, कोई श्रवण-मिस से मानों गीता-मन्दिर की छाया का सेवन करते हैं।

(18.46) कोई अवधान-रूपी ताम्बूल और दक्षिणा लेकर इसके अर्थज्ञान-रूपी गर्भ-गृह में प्रवेश करते हैं

(18.47) और जल्दी से आत्मज्ञान के द्वारा श्रीहरि परमात्मा से जा मिलते हैं; तथापि इस मोक्ष-मन्दिर में इन सब साधनों की योग्यता समान ही है।

(18.48) श्रेष्ठों के घर पंक्ति में भाजन करनेवाले नीचे-ऊपर बैठे हुए सब लोगों का समान ही पक्वान्न परोसे जाते हैं, वैसे ही इस गीता के श्रवण से, अर्थज्ञान से या पाठ से मोक्ष का ही लाभ होता है।

(18.49) अतः उपर्युक्त भेद जान कर मैं कहता हूँ कि गीता-ग्रन्थ विष्णु का मन्दिर है और अठारहवाँ अध्याय उसका कलश है।

(18.50) अब सत्रहवें अध्याय के अनन्तर अठारहवें अध्याय की रचना कैसी की गई है, वह सम्बन्ध जैसा मुझे जान पड़ता है वैसा निवेदन करता हूँ।

(18.51) गंगा आर यमुना का जल यद्यपि प्रवाह-भेद से अलग जान पड़ता है तथापि जलत्व में एक ही है,

(18.52) अथवा अर्धनारीनटेश्वर के रूप में दोनों आकृतियों की कुछ हानि न होकर दोनों का मिला कर एक ही रूप रचा हुआ दिखाई देता है,

(18.53) अथवा चन्द्रकला दिन-दिन बढ़ती हुई चन्द्र-बिम्ब में विस्तृत दिखाई देती है पर चन्द्रमा

एक ही है, उस पर चन्द्रकला की कोई जुदी-जुदी तह नहीं चढ़ती

(18.54) वैसे ही प्रति अध्याय में प्रति श्लोक के चारों चरण जुदे-जुदे जान पड़ते हैं।

(18.55) परन्तु जो सिद्धान्त व्यक्त किया गया है उसके रूप कोई जुदे-जुदे नहीं हैं। जैसे एक ही डोरी अनेक रत्न-मणि धारण करनेहारी रहती हैं,

(18.56) अथवा अनेक मोती मिलने पर जैसे एक ही हार बनता है और उनकी शोभा देनेहारी कान्ति भी एक ही होती है,

(18.57) फूलों का हार बनाते हुए फूलों की संख्या अधिक होती जाती हैं तथापि उनकी सुगन्ध की गणना करने के लिए एक के अतिरिक्त दूसरी अँगुली का उपयोग नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन अध्यायों का और श्लोकों का हाल समझना चाहिए।

(18.58) श्लोक सात सौ हैं और अध्यायों की संख्या अठारह है, परन्तु श्रीकृष्ण ने जिस तत्त्व का निरूपण किया वह एक ही है, दूसरा नहीं।

(18.59) और मैंने भी उस मार्ग का अवलम्बन न छोड़ कर ग्रन्थ का स्पष्टीकरण किया है। सम्प्रति उसी मार्ग के अनुसार निरूपण करता हूँ सुनो।

(18.60) सत्रहवाँ अध्याय समाप्त होते समय अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा

(18.61) कि हे अर्जुन! ब्रह्म नाम के विषय में आस्थाबुद्धि छोड़ कर जितने कर्म किये जाय उतने सब असत्कर्म होते हैं।

(18.62) श्रीकृष्ण के ये वचन सुनते ही अर्जुन को आनन्द हुआ। उसने सोचा — कि श्रीकृष्ण ने कर्मनिष्ठ लोगों को दोष दिया।

(18.63) वे बेचारे अज्ञानान्ध सन्मुख खड़े हुए ईश्वर का नहीं पहचानते तो उन्हें नाम की श्रेष्ठता कैसे जान पड़े?

(18.64) और रज और तम दोनों का नाश हुए बिना श्रद्धा अल्प ही रहती है तो वह ब्रह्मनाम में कैसे लग सकती है?

(18.65) अतः शस्त्र का आलिंगन देना, वार्ता सुनते ही दौड़ना या नागिन का खिलाना आदि बातें जैसी घातक होती हैं,

(18.66) वैसे ही दुर्घट कर्म करने से जन्मान्तर ही की प्राप्ति होती है। कर्म से ऐसा दुःखद लाभ होता है।

(18.67) यदि भाग्यवशात् कर्म यथासांग हो तभी उसे ज्ञान की योग्यता हो सकती है, अन्यथा उससे नरक ही प्राप्त होता है।

(18.68) यहाँ तक कर्म में अनेक अड़चनें हैं, तो फिर कर्मठों को मोक्ष की पारी कब आ सकती है!

(18.69) अतः कर्म की पराधीनता मिट जाय, इसलिए सम्पूर्ण कर्म का ही त्याग कर देना चाहिए, और पूर्ण संन्यास का स्वीकार करना चाहिए।

(18.70) जिन के द्वारा ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त है जाता है कि जिससे कभी कर्म-बाधा के भय की वार्ता ही नहीं रहती,

(18.71) जो ज्ञान के आवाहन-मन्त्र हैं, अथवा ज्ञान के उत्तम खेत हैं, अथवा ज्ञान को आकर्षित करनेहारे सूत्र हैं,

(18.72) उन संन्यास और त्याग का अनुष्ठान करने से संसार की मुक्ति होती है, इसलिए यही बात उत्तम रीति से और स्पष्ट पूछ लेनी चाहिए।

(18.73) ऐसा सोच कर पार्थ ने त्याग और संन्यास का स्पष्टीकरण करने के लिए श्रीकृष्ण से प्रश्न किया।

(18.74) उस पर श्रीकृष्ण ने जो वचन कहे वो अठारहवें अध्याय के रूप से प्रकट हुए हैं।

(18.75) इस प्रकार जन्य-जनक भाव से एक अध्याय से दूसरा उत्पन्न हुआ है। अब जो प्रश्न किया गया उसे उत्तम रीति से सुनो।

(18.76) श्रीकृष्ण के वे अन्तिम वचन सुन कर पार्थ को मन में दुख हुआ।

(18.77) यों तो वह तत्त्व के विषय में वास्तव में निश्चिन्त हो गया था, परन्तु श्रीकृष्ण चुप हो रहें, यह उससे न सहा गया।

(18.78) बछ्डा दूध पी कर अघा जाता है तथापि वह यही चाहता है कि गाय उससे दूर न हो। अनन्य प्रीति ऐसी ही रहती है।

(18.79) जो प्रेमी रहता है उसकी यही इच्छा रहती है कि मेरा प्रेम-पात्र, यद्यपि कारण न हो तथापि, बोलता ही रहे; उसने मुझे देख लिया हो तथापि और भी देखता रहे। तात्पर्य कि प्रेम का भोग लेते हुए उसकी इच्छा दुगुनी बढ़ती जाती है।

(18.80) प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है, और पार्थ तो मूर्तिमान प्रेम ही है। इसलिए श्रीकृष्ण का चुपचाप रहना उसे दुःखद मालूम हुआ।

(18.81) जैसे दर्पण में देखना आत्म-रूप ही देखना है, वैसे हो श्रीकृष्ण के संवाद के मिस से वास्तव में निष्कर्म ब्रह्म का ही उपभोग लेना है।

(18.82) अतः संवाद के बन्द पड़ने से वह उपभोग भी न रहेगा। यह बात, जो उस सुख का आस्वाद लिये रहता है वह, कैसे सह सकता है।

(18.83) इसलिए त्याग और संन्यास के विषय में प्रश्न करने के बहाने अर्जुन ने श्रीकृष्ण से फिर गीता के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करवाया।

(18.84) यह अठारहवाँ अध्याय नहीं, इसे एकाध्यायी गीता ही समझो। वत्स जो गाय को दुहने लगे तो उसे समय असमय कहाँ रहता है

(18.85) वैसे ही समाप्ति के समय अर्जुन ने फिर से गीता कहवाई है। सेवक के प्रश्न करने पर क्या स्वामी उत्तर न देंगे?

(18.86) परन्तु अस्तु, अर्जुन ने यों कहा कि हे विश्वेश! मैं विनती करता हूँ सुनिए।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ 18.1 ॥

(18.87) महाराज! संन्यास और त्याग दोनों का सम्बन्ध एक ही अर्थ से है। जैसे संघात और संघ दोनों का अर्थ एक समुदाय ही होता है

(18.88) वैसे ही त्याग और संन्यास दोनों से त्याग ही कहा जाता है। हम तो यही समझते हैं,

(18.89) पर यदि कोई भिन्न अर्थ हो तो देव उसे स्पष्ट करें। इस पर श्रीमुकुन्द ने कहा कि उनका अर्थ भिन्न है;

(18.90) तथापि हे अर्जुन! त्याग ओर संन्यास दोनों का अर्थ एक ही मालूम होता है यह मैं भी खूब समझता हूँ।

(18.91) इन दोनों शब्दों से असल में त्याग का ही अर्थ होता हैं, पर भेद इतना ही है

(18.92) कि जब सर्वथैव कर्म का छोड़ दिया जाता है तब उसे संन्यास कहते हैं और केवल फल का त्याग करना त्याग कहलाता है।

(18.93) अब किस कर्म का फल-त्याग करना चाहिए और कौन कर्म का निःशेष त्याग करना चाहिए, उसका भी हम स्पष्ट वर्णन करते हैं, ध्यान दे।

(18.94) जंगल में और पर्वतों पर जैसे आप ही आप अगणित वृक्ष उत्पन्न होते हैं वैसे किसी धान्य के पेड या बगीचे के झाड़ नहीं उत्पन्न होते।

(18.95) बिना बोये जैसे घास जहाँ-तहाँ उगती है वैसे खेत में बिना जमाये घान नहीं उग सकता;

(18.96) अथवा शरीर तो आप ही आप उत्पन्न होत¦ है पर उसके आभरण उद्योग से ही तैयार होते हैं, नदी आप ही आप होती हैं पर कुएँ खुदवाये जाते हैं;

(18.97) इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्म स्वाभाविक होते हैं, पर सकाम कर्म कामना से अलग नहीं होता।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ 18.2 ॥

(18.98) अश्वमेध इत्यादि जा यज्ञ किये जाते हैं उनका अनुष्ठान करना कामनाओं का ही समूह इकट्ठा करना है

(18.99) तालाब, कुएँ, बगीचे और बड़े-बड़े गाँव दान देना, और भी नाना प्रकार के व्रतों का आचरण करना

(18.100) इत्यादि जो सम्पूर्ण इष्टापूर्ति के कर्म हैं उनके मूल में केवल कामना ही रहती है, और उनसे कर्मानुसार फलों का भाग अवश्य ही प्राप्त होता है।

(18.101) हे धनंजय! शरीररूपी गाँव में आकर जैसे जन्म-मृत्यु का संस्कार नहीं मेटा जा सकता,

(18.102) अथवा ललाट में जो लिखा रहता है वह जैसे, कुछ भी करा, नहीं टलता, अथवा मनुष्य का कालापन या गोरापन जैसे धोने से भी नहीं मिटता

(18.103) वैसे ही सकाम कर्म फलभोग के लिए धरता दे बैठता है, जैसे कि साहूकार का तगादेवाला ऋण वसूल करने के लिए धरना दे कर बैठता है;

(18.104) अथवा यदि अकस्मात् कामना के बिना भी बन पड़े, तथापि वह काम्य कर्म ऐसा घातक होता है जैसे झूठे युद्ध में भी लग जाने पर कोई बाण घातक होता है।

(18.105) बिना जाने भी गुड मुँह में डाला जाय तो मीठा ही लगेगा, अँगारे का राख समझ कर भी दबाया जाय तथापि हाथ अवश्य ही जलेगा,

(18.106) वैसे ही फल देना कास्य कर्म में एक स्वाभाविक सामर्थ्य है। अतएव मुमुक्षुओं का ऐसा कर्म कुतूहल से भी नहीं करना चाहिए।

(18.107) बहुत क्या कहें, हे पार्थ! ऐसा जो काम्य कर्म है उसका त्याग उबके हुए विष के समान करना चाहिए।

(18.108) हे सर्व-ज्ञानी! ऐसे त्याग का संसार में अन्तर्दृष्ट्या संन्यास कहते हैं।

(18.109) द्रव्य का त्याग करना जैसे चोरी का डर छोड़ देना है वैसे ही काम्य कर्म का त्याग करना कामना का ही उन्मूलन करना है।

(18.110) और चन्द्र या सूर्य-ग्रहण के समय श्राद्ध या दान करना, माता-पिता की मृत्यु का दिन मानना,

(18.111) अथवा अतिथि की पूजा इत्यादि करना ऐसे जो कर्म करने पड़ते हैं वे नैमित्तिक कर्म समझने चाहिए।

(18.112) वर्षा ऋतु में आकाश खलबलाता है, वसन्त ऋतु में वन की शोभा दुगुनी बढ़ती है, यौवन में शरीर की सुन्दरता प्रकट होती है,

(18.13) अथवा सोमकान्त-मणि चन्द्र का देख कर पसीजती है, कमल का फूल सूर्य का दर्शन होते ही खिलता है, इन सबों में जैसे उनका विद्यमान गुण ही विस्तार पाता है, दूसरा नहीं

(18.114) वैसे ही जो नित्य कर्म है वही जब किसी निमित्त के समय नियम से किया जाय तो वह श्रेष्ठ समझा जाता है; इससे उसे नैमित्तिक नाम दिया गया हैं।

(18.115) और प्रातःकाल, मध्याह्न व सन्ध्या के समय जो प्रति दिन कर्तव्य ही है, परन्तु दृष्टि जैसे नेत्रों से परिमित रहती है और उनसे अधिक नहीं रहती,

(18.116) अथवा उपयोग के पूर्व गति से चरणों में ही रहता है, अथवा प्रभा जैसे दीप-बिम्ब में रहती है

(18.117) आने के पूर्व सुगन्धि जैसे चन्दन में ही रहती है, वैसे ही जो अधिकार का स्वरूप प्रकट करनेहारा कर्म है

(18.118) उसे हे पार्थ! संसार में नित्य-कर्म कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें नित्य और नैमित्तिक दोनों कर्म समझा चुके।

(18.119) ये नित्य और नैमित्तिक-कर्म अवश्यमेव कर्तव्य हैं। कोई उन्हें निष्फल भी समझते है।

(18.120) परन्तु जैसे भोजन से यह फल होता है कि तृप्ति होती तथा भूख का नाश होता है वैसे ही नित्य और नैमित्तिक कर्म सब तरह से फल-दायक है।

(18.121) निकृष्ट सोना अग्नि में डाला जाय तो उसके मल का नाश हाता और उसके कस का गुण बढ़ता जाता हैं, उसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक-कर्म का फल समझो।

(18.122) क्योंकि ज्यों-ज्यों पाप का नाश हाता है त्यों-त्यों मनुष्य का अधिकार बढ़ता जाता है और उसे तत्काल सद्गति प्राप्त होती है।

(18.123) नित्य-कर्मों का इतना बड़ा फल है। परन्तु उस फल का, मूल नक्षत्र में उपज हुए बालक के समान, त्याग करना चाहिए।

(18.124) वसन्त ऋतु में ज्योंही सम्पूर्ण लताएँ बढ़ने लगती हैं त्योंही आम्र वृक्ष भी पल्लवित होता है, परन्तु वसन्त ऋतु जैसे उन्हें हाथ न लगा कर उनका त्याग कर चला जाता हैं,

(18.125) वैसे ही कर्म की सीमा का उल्लंघन न करके नित्य-नैमित्तिक-कर्मों की ओर चित्त देना चाहिए, परन्तु उनके सम्पूर्ण फलों को उबके हुए अन्न के समान त्याज्य समझना चाहिए।

(18.126) इस कर्मफल के त्याग को ज्ञानी जन त्याग कहते हैं। इस प्रकार हम तुम्हें त्याग और संन्यास की व्याख्या सुनो चुके।

(18.127) जब संन्यास किया जाता है तब काम्य कर्म की बाधा नहीं हो सकती तथा निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः निषिद्ध होने के कारण ही तज दिया जाता है।

(18.128) जो नित्य इत्यादि कर्म रहे वे फलत्याग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, जैसे शिर छाँट डालने से शेष शरीर का भी अन्त हो जाता है।

(18.129) अन्त में फसल के पकने पर जैसे धान्य हाथ आता है वैसे ही सम्पूर्ण कर्म का अन्त होने पर आत्मज्ञान आप ही आप खोजता हुआ आ पहुँचता है।

(18.130) ऐसी युक्ति के साथ त्याग और संन्यास दोनों का अनुष्ठान करने से वे आत्मज्ञान की योग्यता प्राप्त करा देते हैं।

(18.131) अन्यथा इस युक्ति में भूल हो जाय और फिर यदि अनुमान से कर्मत्याग किया जाय तो कुछ त्याग नहीं होता, किन्तु और भी अधिक उलझाव हो जाता है।

(18.132) यदि रोग से अपरिचित औषधि का सेवन किया जाय तो वह विषरूप हो जाती है; अन्न का त्याग करने से क्या भूख से मृत्यु नहीं हो जाती?

(18.133) अतएव जो कर्म त्याज्य नहीं है उसका त्याग नहीं करना चाहिए, और जो त्याज्य है उसका लोभ भी न रखना चाहिए।

(18.134) त्याग के सूक्ष्म मार्ग में भूल हो जाय तो जो कुछ त्याग किया जाय वह सब बोझा ही होता है। अतः जो वैराग्यसम्पन्न हैं वे सर्वदा निषिद्ध कर्मों का नाश करने में प्रवृत्त रहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ 18.3 ॥

(18.135) कुछ लोग, जो फल-त्याग नहीं कर सकते, कहते हैं कि कर्म बन्धक हो होते हैं, जैसे कोई स्वयं नंगा हो और कहे कि संसार बड़ा लड़ाका है;

(18.136) अथवा हे धनंजय! जैसे कोई जिह्वा-लम्पट रोगी नाना प्रकार के अन्नों को दूषण दे, अथवा जैसे कोई कोढ़ी अपने शरीर पर न रूठ कर मक्खियों पर कोप करे,

(18.137) वैसे ही जो फलेच्छा के वश रहते हैं वे कहते हैं कि कर्म करना ही बुरा है, और इसलिए वे निर्णय करते हैं कि कर्म का त्याग ही करना चाहिए।

(18.138) कोई कहते हैं कि यज्ञ इत्यादि कर्म अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि इनके अतिरिक्त चित्तशुद्धि करनेहारी दूसरी वस्तु ही नहीं है।

(18.139) मनशुद्धि के मार्ग में यदि शीघ्र ही विजय-सम्पादन करना हो तो कर्मरूपी शस्त्र का हाथ में लेने में आलस्य न करना चाहिए।

(18.140) सोना शुद्ध करना हो तो जैसे अग्नि से न उकताना चाहिए, अथवा दर्पण स्वच्छ करना हो तो रजःकणों का संचय करना चाहिए

(18.141) अथवा कपड़े स्वच्छ करने की इच्छा हृदय में हो तो जैसे धोबी की नाद अशुद्ध समझ कर न छोड़नी चाहिए

(18.142) वैसे ही कर्मों को क्लेश-कारक समझ कर उनका अनादर नहीं करना चाहिए। रींधे बिना क्या सुन्दर अन्न का लाभ हो सकता है?

(18.143) ऐसे-ऐसे वचनों से कई लोग जान-बूझ कर कर्म-प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार त्याग के विषय में विरुद्ध-वाद मचा है

(18.144) तथापि वाद मिट जाय और त्याग का निश्चित अर्थ-ज्ञान हो अतः हम उस अर्थ का अच्छी तरह विवरण करते हैं सुने।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ 18.4 ॥

(18.145) हे पाण्डव! संसार में त्याग तीन प्रकार का है। वे तीनों प्रकार हम जुदे-जुदे वर्णन करते हैं।

(18.146) परन्तु यद्यपि हम त्याग के तीन प्रकारों का वर्णन करेंगे तथापि उन सबका तात्पर्य और निष्कर्ष थोडा-सा ही है।

(18.147) अतः मुझ सर्वज्ञ की बुद्धि का भी जो निश्चय से ग्राह्य जान पड़ता है वह निश्चयतत्त्व पहले सुन ले।

(18.148) अपनी मुक्ति पाने के लिए जो मुमुक्षु जागृत रहना चाहता है उसे चाहिए कि हम जो बताते हैं वही एक बात, हर तरह से, करे।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ 18.5 ॥

(18.149) पथिक को जैसे मार्ग में पगडण्डी या रास्ता न छोड़ने चाहिए वैसे ही मनुष्य का यज्ञ, दान, तप इत्यादि जो आवश्यक कर्म हैं उनका त्याग न करना चाहिए।

(18.150) जैसे जब तक खोई हुई वस्तु न मिल जाय तब तक उसकी खोज न छोड़नी चाहिए, अथवा तृप्ति न हो तब तक सामने की थाली अलग न करनी चाहिए,

(18.151) जब तक किनारे न लग जाय तब तक नाव न छोड़नी चाहिए, फल लगने के पूर्व केले के वृक्ष का त्याग न करना चाहिए, रक्खी हुई वस्तु जब तक न मिले तब तक हाथ का दीपक रखना न चाहिए,

(18.152) वैसे ही जब तक आत्मज्ञान के विषय में उत्तम रीति से निश्चय न हो जाय तब तक यज्ञ इत्यादि कर्मों से उदासीन न होना चाहिए।

(18.153) वरन अपने-अपने अधिकार के अनुसार उन यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्मों का अनुष्ठान आग्रहपूर्वक तथा अधिकाधिक करना चाहिए।

(18.154) चलने का वेग यदि बढ़ता ही जाय तो उस वेग के कारण मनुष्य को थक कर बैठना ही पड़ता है, वैसे ही कर्मातिशय भी निष्कर्मता का हेतु होता है।

(18.155) औषधि खाने का धैर्य ज्यों-ज्यों अधिक बढ़ता है त्यों-त्यों रोग का निवारण भी जल्दी होता जाता है।

(18.156) वैसे ही ज्यों-ज्यों बारम्बार विधिपूर्वक कर्म किये जाते हैं त्यों-त्यों रज और तम निःशेष होते जाते हैं।

(18.157) सुवर्ण का ज्यों-ज्यों एक के अनन्तर एक इस प्रकार अनेक पुटों में क्षार दिया जाता है त्यों-त्यों उसकी अशुद्धता जल्दी-जल्दी निकलती जाती है और वह निर्दोष होता जाता है,

(18.158) वैसे ही निष्ठा से कर्म किया जाय तो वह रज और तम का नाश कर सत्त्वशुद्धि का स्थान प्रत्यक्ष करता है।

(18.159) अतः हे धनंजय! सत्त्वशुद्धि की प्राप्ति की इच्छा करनेहारे के लिए कर्म तीर्थों की बराबरी करते हैं।

(18.160) तीर्थों से बाहरी मल की शुद्धि होती है और कर्मों से अन्तःकरण उज्ज्वल होता है। अतः सत्कर्म निर्मल तीर्थ ही हैं।

(18.161) मरुदेश में चलती हुई घाम की लुहें जैसे किसी प्यासे के लिए अमृत बरसा दें, अथवा किसी अन्धे के नेत्रों को जैसे सूर्य का प्रकाश ही प्राप्त हो जाय,

(18.162) बूड़ते हुए को जैसे नदी ही तारक हो जाय, अथवा गिरते हुए का पृथ्वी ही दया से बचा ले, अथवा मरते हुए के स्वयं मृत्यु ही और अधिक आयुष्य अपर्ण कर दे,

(18.163) वैसे हे पाण्डुसुत! कर्म ही मुमुक्षुओं को कर्मबद्धता से मुक्त कर देते हैं। जैसे रसायन की रीति से लेने से विष ही मृत्यु से बचाता है,

(18.164) वैसे ही हे धनंजय! कर्म करने की भी एक युक्ति है जिससे वे बन्धन से छुड़ाने के लिए समर्थ होते हैं।

(18.165) अब हे किरीटी! हम उस युक्ति का वर्णन करते हैं जिससे कर्म करने से कर्म का नाश हो जाता है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ 18.6 ॥

(18.166) महायाग प्रमुख कर्म, शुद्ध रीति से करते हुए, यह अभिमान न होना चाहिए कि मैं यह यज्ञ करनेहारा हूँ।

(18.167) जो दूसरे के पैसे से तीर्थ को जाता है जैसे वह सन्तोष के साथ ऐसी डींग नहीं मार सकता कि मैं यात्रा कर रहा हूँ,

(18.168) अथवा हे राजा! जो किसी राजा की मोहरबन्द आज्ञा के आधार पर अकेला ही किसी को पकड लाता है वह जैसे ऐसा गर्व नहीं कर सकता कि मैं जीतनेहारा हूँ

(18.169) अथवा जो दूसरे के सहारे से तैरता है उसमें जैसे तैरने का अभिमान नहीं रहता, अथवा पुरोहित जैसे दातृत्व का अभिमान नहीं रख सकता,

(18.170) वैसे ही कर्तृत्व का अहंकार ग्रहण न करके यथाकाल सम्पूर्ण कर्मरूपी मोहरे सरकाते जाना चाहिए।

(18.171) हे पाण्डव! किये हुए कर्म की जो फल-प्राप्ति हो उसकी ओर चित्त न जाने देना चाहिए।

(18.172) पहले से ही फल की आशा छोड़ कर कर्मों का इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे कि दाई पराये बालक को सँभालती है।

(18.173) पाकर की आशा से जैसे कोई पीपल के वृक्ष को जल नहीं देता, वैसे ही. फल के विषय में निराश हो कर्म करना चाहिए।

(18.174) चरवाहा जैसे दूध की आशा न रख कर गाँव की सब गायें इकट्ठी करता है वैसे ही कर्मफल की आशा छोड़नी चाहिए।

(18.175) ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करेगा उसे अपने में हो आत्मप्राप्ति हो जावेगी।

(18.176) अतः मेरा उत्तम सन्देश यही है कि फल की आशा और देहाभिमान का छोड़ कर कर्म करना चाहिए।

(18.177) बन्ध से जो जीव कष्टी है, और अपनी मुक्ति के लिए परिश्रम करता है, उससे मैं बारबार कहता हूँ कि इस वचन के विपरीत आचरण मत करो।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ 18.7 ॥

(18.178) नहीं तो जैसे कोई अन्धकार पर क्रोध कर अपनी ही आँखें फोड़ने की चेष्टा करे वैसे ही कर्म के द्वेष से सम्पूर्ण कर्मों का जो त्याग करता है

(18.179) उसका कर्म-त्याग करना मैं तामस त्याग समझता हूँ, मानों आधासीसी पर क्रोध कर कोई सिर ही छाँट डाले।

(18.180) अजी! रास्ता बुरा है तो उसे पैरों से ही काटना चाहिए, कि रास्ते के अपराध के लिए उन पैरो को ही काट डालना चाहिए?

(18.181) भूखे के सन्मुख रक्खा हुआ अन्न कितना भी उष्ण हो तथापि यदि वह बुद्धि का उपयोग न करे तो थाली का लात मार कर लंघन करता बैठा रहे

(18.182) वैसे ही कर्म की बाधा कम करने के ही रहस्य से मिटती है। यह बात तामस मनुष्य भ्रम से मत्त होने के कारण नहीं जानता।

(18.183) तात्पर्य यह है कि तामसी मनुष्य उसी कर्म का त्याग करता है जो कि स्वभावतः उसके विभाग में आता है। अतः ऐसे तामस त्याग के वश न होना चाहिए,

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ 18.8 ॥

(18.184) अथवा जो अपना अधिकार जानता है, विहित है उसे भी जो समझता है परन्तु कर्म की कठिनता देख जिसे त्रास उपजता है,

(18.185) (क्योंकि रोटी जैसे बाँध ले जाते समय भारी मालूम होती है वैसे कर्म भी आरम्भ में थोडे कठिन जान पड़ते हैं;

(18.186) नीम जैसे जीभ का कडुवा लगता है, हड़ जैसे पहले-पहल कसैली लगती है, वैसे ही कर्म का आरम्भ कठिन जान पड़ता है,

(18.187) अथवा गाय दोहते समय प्रथम जैसे उसके सींगों का डर लगता है, सेवती का फूल तोड़ते समय काँटों का डर रहता है, भोजन-सुख के पहले राँधने की कठिनता सहनी पड़ती है,

(18.188) वैसे ही मैं बारम्बार यही कहता हूँ कि कर्म आरम्भ में ही अत्यन्त कठिन मालूम पड़ता है।) एवं जो कर्म करनेहारा उस श्रम के कारण उस कर्म का कठिन समझता है,

(18.189) अथवा विहित जान कर कर्म का आरम्भ करता है पर क्लेश होते ही उस आरम्भित कर्म को ऐसा छोड़ भागता है मानों अग्नि से जल गया हो,

(18.190) और कहता है कि बड़े भाग्य से यह शरीर जैसी वस्तु मिली हैं उसे, कर्म इत्यादि कर, किसी पापी की तरह मैं क्यों क्लेश दूँ?

(18.191-92) कर्म का जो फल होता हो वह चाहे मुझे न मिले, आज जो भोग मुझे उपलब्ध हैं उन्हीं का उपभोग क्यों न लूँ? इस प्रकार हे वीरेश! जो शरीरक्लेश के डर से कर्मों को छोड़ता है उसका त्याग राजस त्याग है।

(18.193) यों तो वह भी कर्म का त्याग है, पर उसे उस त्याग का फल नहीं मिलता। उफना हुआ दूध अग्नि में गिरे तो उससे जैसे होम का फल नहीं मिलता,

(18.194) अथवा जल में डूबने से मृत्यु हो जाय तो वह जलसमाधि नहीं कही जा सकती किन्तु वह दुर्मरण ही है

(18.195) वैसे ही देह के लाभ से जो कर्म पर पानी छोड़ता है उसे सचमुच त्याग के फल का लाभ नहीं होता।

(18.196) बहुत क्या कहें, जब आत्मज्ञान का उदय होता है तब जैसे प्रातःकाल नक्षत्रों का लोप करता है

(18.197) वैसे ही हे धनंजय! सब क्रिया कारण-सहित विलीन हो जाती है। ऐसे कर्मत्याग का जो मोक्ष-फल होता है वह मोक्षफल

(18.198) हे अर्जुन! अज्ञानी त्यागी को नहीं मिलता। अतः वह त्याग राजस न समझना चाहिए।

(18.199) अब संसार में कौन-सा त्याग करने से मोक्ष-फल घर आता है, उसका हम प्रसंगानुसार वर्णन करते हैं, सुनो।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ 18.9 ॥

(18.200) जो अपने अधिकारानुसार स्वभावतः प्राप्त कर्म का विधि-विधान सहित आचरण करता है

(18.201) परन्तु जिसके हृदय में यह स्मृति भी नहीं रहती कि यह कर्म मैं कर रहा हूँ, तथा जो फल की आशा को तिलांजलि देता है,

(18.202) (जैसे माता की अवज्ञा करना अथवा उसके विषय में काम रखना ये दोनों बातें अधोगति का हेतु होती हैं

(18.203) अतः इन दोनों पापों का त्याग कर माता की सेवा करनी चाहिए, अन्यथा गाय का मुँह अपवित्र है इसलिए क्या कोई गाय का ही त्याग कर देता है?

(18.204) जो फल भाता है उसके छिलके और गुठली में रस न होने के कारण क्या कोई उस फल को ही फेंक देता है?

(18.205) वैसे ही कर्तृत्व का अभिमान और कर्म-फल की इच्छा दोनों को कर्म का बन्ध कहते हैं;

(18.206) अतः इन दोनों के विषय में जो इस प्रकार रहता है जैसा कि बाप बेटी के विषय में निरभिलाष रहता है। वह मनुष्य विहित कर्म करता हुआ कभी दुःखी नहीं हो सकता।

(18.207) यही त्याग एक श्रेष्ठ वृक्ष है जिसमें मोक्ष-रूपी महाफल लगता है। संसार में यही त्याग सात्विक नाम से प्रसिद्ध है।

(18.208) अब जैसे बीज जला देने से वृक्ष निर्वंश हो। जाता है वैसे हो जो फल का त्याग कर कर्म-त्याग करता है

(18.209) उसके रज और तम ऐसे छूट जाते हैं जैसे पारस का स्पर्श होते ही लोहे का अमंगल दोष निकल जाता है।

(18.210) फिर शुद्ध सत्त्व के कारण आत्मज्ञान-रूपी नेत्र खुलते हैं, और सन्ध्या के समय जैसे मृगजल नहीं दिखाई देता

(18.211) वैसे ही उस सात्विक मनुष्य की बुद्धि इत्यादि के सन्मुख इतना बड़ा विश्वाभास भी, आकाश जैसा, कहीं दिखाई नहीं देता।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ 18.10 ॥

(18.212) और प्रारब्धानुसार जो भले-बुरे कर्म प्राप्त होते हैं वे, जैसे आकाश में विलीन हो जाय

(18.213) वैसे, उस सात्विक मनुष्य दृष्टि से निर्मल हो जाते हैं। इसलिए वह सुख-दुःख से सन्तोषी या दुखी नहीं होता।

(18.214) शुभ कर्म का ज्ञान होने पर आनन्द से उसका अनुष्ठान करना अथवा अशुभ कर्म का द्वेष करना ये दोनों बातें उसमें नहीं होतीं।

(18.215) जैसे जाग्रत मनुष्य का स्वप्न के विषय में कुछ सन्देह नहीं रहता वैसे ही उस सात्विक मनुष्य का इन शुभाशुभ कर्मों के विषय में कुछ संशय नहीं रहता।

(18.216) अतः हे पाण्डुसुत! कर्म और कर्ता-रूपी द्वैत भाव की वार्ता न जानना ही सात्विक त्याग है।

(18.217) इस त्याग के द्वारा कर्मत्याग किया जाय तभी कर्मों का सर्वथा त्याग होता है, नहीं तो अन्य रीति से त्याग करने से वे और भी अधिक बन्धन करनेहारे होते हैं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ 18.11 ॥

(18.218) हे सव्यसाची! शरीर धारण कर जो कर्म से ऊबते हैं वे अज्ञानी हैं।

(18.219) घट मिट्टी से ऊब कर क्या करेगा? पट तन्तु का त्याग क्योंकर कर सकेगा?

(18.220) वैसे ही अग्नि स्वयं उष्ण है, और उष्णता से उकतावे अथवा दीप अपनी प्रभा से द्वेष कर तो क्या होगा?

(18.221) हींग अपनी गन्ध से अकुलावे तथापि उसे सुगन्ध कहाँ से प्राप्त हो सकती है? जल अपनी जलता छोड़ कहाँ रह सकता है?

(18.222) वैसे ही मनुष्य जब तक शरीर के रूप से रहता है तब तक कर्म-त्याग का पागलपन वृथा है।

(18.223) हम तिलक लगा सकते हैं अतः उसे पोंछ भी सकते हैं, पर क्या माथे को भी वैसे ही लगा या मिटा सकते हैं?

(18.224) वैसे ही विहित कर्म हम स्वयं आरम्भ करते हैं, इसलिए उसका त्याग किया जाय तो हो सकता है, परन्तु जो कर्म देहरूप ही हो गया है वह कैसे छोड़ा जा सकता है?

(18.225) क्योंकि श्वास और उच्छ्वास तो नींद में भी होते रहते हैं, कुछ भी न करो तथापि वे होते ही रहते हैं।

(18.226) इसी प्रकार इस शरीर के मिस से कर्म ही मनुष्य के पीछे लगा है; वह जीते-जी तथा मृत्यु के अनन्तर भी पीछा नहीं छोड़ता।

(18.227) इस कर्म के त्याग की रीति एक यही है कि कर्म करते हुए फलाशा के अधीन न होना चाहिए।

(18.228) कर्म का फल ईश्वर को समर्पित किया जाय तो उसके प्रसाद से ज्ञान प्रकट होता है, और फिर रज्जु के ज्ञान से जैसे उस पर होनेवाला सर्प का भ्रम मिट जाता है

(18.229) वैसे ही उस आत्मज्ञान से अविद्या के साथ कर्म का नाश हो जाता है। हे पार्थ! ऐसा त्याग करना ही वास्तव में त्याग है।

(18.230) अतएव संसार में जो इस प्रकार कर्मों का त्याग करता है वही महात्यागी है। दूसरे जो त्यागी हैं वे ऐसे हैं जैसे कि किसी रोगी को मूर्च्छा आने से कोई समझे कि उसे आराम हुआ,

(18.231) अथवा जैसे कोई छड़ी के बदले घूँसे की मार खाने को प्रवृत्त हो, वैसे ही वे एक कम से दुखी हो विश्रान्ति के हेतु दूसरे कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

(18.232) परन्तु अस्तु, तीनों लोकों में त्यागी वही है जिसने फलत्याग के द्वारा कर्म का निष्कर्मता की स्थिति प्राप्त करा दी है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ 18.12 ॥

(18.233) और है धनंजय! इस त्रिविध कर्मफल का उपभोग लेने के लिए वही समर्थ होते हैं जो आशा का त्याग नहीं करते

(18.234) परन्तु कन्या को स्वयं उत्पन्न कर पिता जैसे "न मम" (मेरी नहीं) कह कर छूट जाता है और उसका दान लेनेवाला (दामाद) उससे सम्बद्ध हो जाता है,

(18.235) दूकान में जो विष का भण्डार भर रखते हैं उसे बेचते और जीते रहते हैं, पर जो मोल ले खाते हैं वही मरते हैं

(18.236) वैसे ही कर्म करनेहारा कर्ता और फलाशा न रखनेहारा अकर्ता इन दोनों से यद्यपि कर्म वश में नहीं हो सकता,

(18.237) जैसे मार्ग में पके हुए वृक्ष का फल जो चाहे सो ले सकता हैं वैसा ही साधारण यद्यपि कर्म का फल है,

(18.238) तथापि जो कर्म करके उसके फल की इच्छा नहीं रखता वह संसार-विषयक कामों में बद्ध नहीं होता। क्योंकि यह सम्पूर्ण त्रिविध संसार कर्म का ही फल है।

(18.239) देव, मनुष्य और स्थावर को ही संसार कहते हैं और ये तीनों कर्मफल के ही प्रकार हैं।

(18.240) कर्मफल तीन प्रकार का है, एक अनिष्ट अर्थात् बुरा, एक इष्ट अर्थात् भला और एक इष्टानिष्ट अर्थात् भले-बुरे का मिश्रण।

(18.241) हृदय में विषय-प्रिय बुद्धि रख कर तथा विधि का त्याग कर निषिद्ध और बुरे कर्मों में प्रवृत्त होने से

(18.242) जो कृमि, कीट, मिट्टी इत्यादि निकृष्ट शरीरों की प्राप्ति होती है उसे अनिष्ट कर्मफल कहते हैं।

(18.243) परन्तु स्वधर्म का आदर कर अपने अधिकार की ओर दृष्टि देकर वेदों की आज्ञा के अनुसार सत्कर्म करने से

(18.244) जो इन्द्र इत्यादि देवताओं के शरीर प्राप्त होते हैं वह कर्म-फल, हे सव्यसाची! इष्ट-नाम से प्रसिद्ध है।

(18.245) जैसे खट्टे और मीठे के मिश्रण से एक तीसरा ही रस, दोनों से अलग और दोनों से सुस्वादु, उत्पन्न हाता है,

(18.246) जैसे योग-प्रक्रिया के द्वारा रेचक ही कुम्भक का हेतु होता है वैसे ही सत्य और असत्य की एकता होने से सत्य और असत्य दोनों जीते जाते हैं।

(18.247) उसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्मों के समभाग मिश्रण का अनुष्ठान करने से जो मनुष्य-देह का लाभ होता है वह कर्म का मिश्रफल है।

(18.248) इस प्रकार संसार में कर्मफल जिन तीन भागों में बँटा है उनका भाग उन लोगों से नहीं छूटता जो आशा के वश हैं।

(18.249) जीभ का ललचाना ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों खाना तो भला लगता है पर उसका परिणाम अवश्य मरण ही होता है।

(18.250) साहु-चोर की मित्रता तभी तक भली रहती है जब तक जंगल नहीं आ पहुँचता, वेश्या तभी तक भली है जब तक वह शरीर को हाथ नहीं लगाती,

(18.251) वैसे ही जब तक शरीर है तभी तक कर्मों का महत्व बढा हुआ रहता है परन्तु मृत्यु होने पर उनके फल ही भागने पड़ते हैं।

(18.252) कोई बलवान धनी अपने ऋणी से, करार पर, अपना पावना धन माँगने के लिए आवे तो उसे टालते नहीं बनता, वैसे ही प्राणियों का कर्मफल का भाग भी अवश्य भोगना पड़ता है।

(18.253) और, ज्वार के भुट्टे से जो दाना निकलता है वह पृथ्वी में बोया जाय तो फिर ज्वार के भुट्टे उत्पन्न होते हैं; फिर वही दाना पृथ्वी में बोया जाता है और फिर से वही धान्य उत्पन्न होता है,

(18.254) ऐसे ही कर्म-भोग से जो फल होता है उससे और दूसरे फल होते जाते हैं, जैसे कि चलते समय एक के अनन्तर एक डग पड़ता जाता है।

(18.255) भाड़े की नाव नदी के किसी तीर पर रहे, इसे फिर पर्ले पार जाना पड़ता है वैसे ही भागों का चक्कर भी बन्द नहीं होता।

(18.256) मतलब यह कि फलभोग साध्य और साधन-द्वारा संसार में फैला हुआ है, और जो अत्यागी हैं वे उसमें उपयुक्त रीति से उलझे हुए है।

(18.257) चमेली का फूल जैसे खिलने के साथ ही सूखने लगता है वैसे ही कर्म के मिस से जो वास्तव में निष्कर्म हो जाते हैं,

(18.258) (जहाँ नौकरों को बीज ही बाँट दिया जाता है वहाँ बढ़ी हुई खेती हो तथापि वह भी जैसे बैठ जाती है, वैसे ही) जिनके फलत्याग से कर्म का नाश हो जाता है

(18.259) और सत्त्वशुद्धि के सहाय से एवं चहुँओर गुरुकृपामृत-तुषारों के फैलने से द्वैतरूपी दारिद्रय का नाश हो जाता हैं,

(18.260) और फिर जगदाभास के रूप से जो त्रिविध कर्मफल दिखाई देते हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं तथा भोग्य और भोक्ता दोनों आप ही आप विलीन हो जाते हैं;

(18.261) वैसे ही हे वीरेश! जो ज्ञानप्रधान संन्यास करते हैं, वे फल-भोगरूपी दुःख से मुक्त हो जाते हैं।

(18.262) वास्तव में जब इस संन्यास के द्वारा आत्मस्वरूप में दृष्टि प्रवेश करती है तब क्या कर्म कोई स्वतन्त्र वस्तु दिखाई दे सकती है?

(18.263) भीत गिर पड़े तो उस पर लिखे हुए चित्रों की केवल मिट्टी ही हो जाती हैं, अथवा प्रातः काल होने पर क्या रात का अँधेरा शेष रह सकता है?

(18.264) जब रूप ही खड़ा नहीं है तो छाया किस वस्तु की हो सकती है? दर्पण के अतिरिक्त मुख का प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ सकता हैं?

(18.265) निद्रा का ठिकाना नहीं रहता तब स्वप्न की घटना कैसे हो सकती है? और स्वप्न सत्य हैं या मिथ्या है यह कौन कह सकता है?

(18.266) वैसे ही इस संन्यास के कारण अविद्या ही जीती नहीं रहती तो फिर उसके कार्य का लेना-देना कौन करे?

(18.267) अतः संन्यासी कर्म की वार्ता ही क्या करेगा? परन्तु जब तक शरीर में अविद्या है,

(18.268) जब तक कर्तृत्व-बल से आत्मा शुभ और अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, जब तक दृष्टि भेदरूपी राज्य पर बैठी हुई है,

(18.269) हे मर्मज्ञ! जब तक आत्मा और कर्म पश्चिम और पूर्व के समान अत्यन्त जुदे रहते हैं, तब तक,

(18.270) अथवा जैसे आकाश और अभ्र, सूर्य और मृगजल, पृथ्वी और वायु भिन्न हैं,

(18.271) नदी की चट्टान जैसे नदी के पानी का आच्छादन ले नदी में डूबी रहती है परन्तु जैसे वे दोनों बिलकुल ही भिन्न रहती हैं,

(18.272) सेवार जल के समीप रहती है पर जैसे वह जल से भिन्न ही है, दीपक के गुल का दीपक के संग रहने के कारण क्या दीपक कह सकते हैं!

(18.273) कलंक यद्यपि चन्द्रमा में रहता है तथापि जैसे कलंक और चन्द्रमा एक ही वस्तु नहीं हैं, दृष्टि और नेत्रों में जैसे अत्यन्त अन्तर है,

(18.274) अथवा पथिक में और मार्ग में, प्रवाह में बहनेहारे में और प्रवाह में, दर्पण देखनेहारे में और दर्पण में जितना असाधारण अन्तर है,

(18.275) उतना ही अन्तर हे पार्थ! आत्मा और कर्म में होता है, परन्तु अज्ञान के कारण वे दोनों एक जान पड़ते हैं।

(18.276) सरोवर में शोभा देनेहारी कमलिनी प्रफुल्लित होते ही जैसे सूर्य का उदय कराती है और भ्रमरों से अपने मकरन्द का उपभोग लिवाती है

(18.277) वैसे ही आत्मक्रिया भी अन्य कारणों से उत्पन्न होती है। उन्हीं पाँचों कारणों का हम निरूपण करते हैं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ 18.13 ॥

(18.278) वे पाँच कारण कदाचित् तुम भी जानते होगे। क्योंकि जिनका वर्णन शास्त्रों ने हाथ उठा कर किया है,

(18.279) जो वेदराज की राजधानी में सांख्य और वेदान्त के मन्दिरों में निरूपण-रूपी डंके की ध्वनि से गर्जना करते हैं,

(18.280) वही संसार में सब कर्मों की सिद्धि की पूँजी हैं। यह निश्चय जानो कि आत्मराज कर्मसिद्धि का कारण नहीं है।

(18.281) ऐसे वचनों का डंका बजाने से उनकी प्रसिद्धि हुई है। अतः तुम्हें उनका वर्णन सुनना चाहिए।

(18.282) और जब कि तुम्हारे हाथ मुझ जैसा ज्ञानरत्न है तो वह वर्णन ऐसा कौन भारी है कि दूसरों के मुख से सुनना चाहिए?

(18.283) सामने दर्पण रक्खा हुआ हैं तो फिर अपना मुख देखने के लिए क्या दूसरों के नेत्रों का सन्मान करना चाहिए? यानी शीशा रहने पर भी क्या दूसरों से यह पूछना चाहिए कि — कहो, मेरा स्वरूप कैसा है!

(18.284) जहाँ जिस भाव से भक्त मुझे देखें वहाँ मैं वही वस्तु बन जाता हूँ। मैं आज तुम्हारे हाथ का खिलौना बन रहा हूँ।

(18.285) इस प्रकार जब श्रीकृष्ण प्रीति के वेग मे बोलते हुए निज का स्मरण भूल गये तब अर्जुन स्वयं आनन्द में डूब गया।

(18.286) जैसे चाँदनी चटक रही हो तो चन्द्रकान्तमणि-रूपी पर्वत पसीजता है और वहाँ एक सरोवर ही होता सा दिखाई देता है,

(18.287) वैसे ही जब सुख और अनुभव इस दोनों भावें की भीत टूट गई और वे भाव केवल अर्जुनरूप से ही मूर्तिमान दिखाई देने लगे,

(18.288) तब श्रीकृष्ण समर्थ थे इस लिए उन्हें उसकी स्मृति हुई और वे उस डूबे हुए अर्जुन को बचाने के लिए दौड़ गये।

(18.289) अर्जुन का ऐसे आनन्द की बाढ़ आई थी कि वह इतना ज्ञानी होने पर भी अपने बुद्धिविस्तार के साथ उसमें डूब गया। उस बाढ़ को श्रीकृष्ण ने खींच लिया

(18.290) और कहा कि है पार्थ! सावधान हो। तब अर्जुन ने सावधान हो माथा नवाया

(18.291) और कहा हे गुरु! में आपके जुदे व्यक्तिसान्निध्य से ऊब कर आपसे एकरूप हुआ चाहता हूँ।

(18.292) वह कौतूहल यद्यपि आप प्रेम से पूर्ण करते हैं, लेकिन महाराज! फिर यह जीव-रूपी प्रतिबन्ध क्यों बनाये रखते हैं

(18.293) तब श्रीकृष्ण ने कहा कि ठीक! अजी दीवाने! तुम क्या अब तक यही नहीं जानते कि चन्द्र और चन्द्रिका को मिलने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

(18.294) परन्तु यह भाव भी हम तुम से प्रकट करने में डरते हैं क्योंकि प्रेम तो वियोग होने से ही बल पाता है।

(18.295) तथापि एक दूसरे के संकेत-द्वारा वियोग तत्काल नष्ट हो जाता है। परन्तु अब इस विषय की चर्चा रहने दो।

(18.296) हे पाण्डुसुत! हम यह वर्णन कर रहे थे कि आत्मा और कर्म किस प्रकार भिन्न हैं।

(18.297) तब अर्जुन ने कहा कि हे देव! मैं भी यही चाहता था। मैं जो चाहता था उसी का आपने प्रस्ताव किया।

(18.298) आपने प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हें सकल कर्मों का बीज जो कारण-पंचक है वह सुनावेंगे

(18.299) और यह भी कहा था कि उससे और आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। वह प्रतिज्ञा-ऋण अब चुकाइए।

(18.300) इन वचनों से श्रीकृष्ण अत्यन्त सन्तुष्ट हो बोले कि इस विषय में धरना दे बैठनेवाला कौन मिलता है?

(18.301) अतः हे अर्जुन! हम उस शब्दाभिप्राय का निरूपण करते हैं और तुम्हारे ऋण से मुक्त होते हैं।

(18.302) तब अर्जुन ने कहा कि हे देव। क्या आप पिछली बातें भूल गये ऐसा कहने से तुम-हम-रूपी द्वैत की रक्षा होती है।

(18.303) इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, भला अब जो हम निरूपण कर रहे थे उसे भली भाँति ध्यान से सुनो।

(18.304) हे धनुर्धर! यह सत्य है कि सब कर्मों की घटना परस्पर पाँच साधनों के द्वारा होती है।

(18.305) और इन पाँच कारणों का समूह जिनके द्वारा कर्माकृति को प्राप्त होता है वे हेतु भी पाँच हैं।

(18.306) इस विषय में आत्मा उदासीन रहता है। वह न कर्मों का हेतु है न उपादान है, और न वह कर्मसिद्धि का सहकारी होता है।

(18.307) जैसे आकाश में दिन और रात होते रहते हैं वैसे ही आत्मा के अधिष्ठान पर शुभ और अशुभ कर्म होते हैं।

(18.308) अग्नि, जल और धूम का वायु से सम्मेलन हो तो हो अभ्र बन जाता है, पर आकाश जैसे उससे जुदा रहता है;

(18.309) अथवा काठ की नाव बनाई जाती है, उसे केवट चलाता है और वह वायु के सहाय से चलती है परन्तु पानी जैसे केवल उसका साक्षी रहता है;

(18.310) अथवा जैसे किसी मिट्टी के पिण्ड से कुम्हार के चक्के पर किसी बासन का आकार बनता है और डण्डे से घुमाने से वह चक्का घूमता है

(18.311) उसमें कर्तृतव कुम्हार का है, और पृथ्वी का आधार के अतिरिक्त क्या खर्च होता है!

(18.312) यह भी रहने दो जैसे लोगों के सम्पूर्ण व्यापार होते हैं, पर उनमें से क्या कोई सूर्य का व्यापार कहा जा सकता है?

(18.313) वैसे ही पाँच हेतुओं से उत्पन्न पाँच कारणों के द्वारा कर्मलताएँ गाई जाती हैं पर आत्मा उनसे जुदा रहता है।

(18.314) अब हम भली भाँति इन पाँचों का अलग-अलग विवेचन करते हैं। जैसे मोती परख कर लिये जाते हैं

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ 18.14॥

(18.315) – वैसे ही इन पाँचों कारणों का लक्षणों-सहित वर्णन सुनो। इन में पहला कारण देह है।

(18.316) इसे अधिष्ठान कहते हैं, वह इसी लिए कि इसमें भोक्ता अपने भोग्य के साथ रहता है।

(18.317) इन्द्रिय-रूपी दसों हाथों से, रात और दिन कष्ट करके, प्रकृति के द्वारा जो सुख और दुःख प्राप्त होते हैं,

(18.318) उन्हें भागने के लिए पुरुष को और दूसरा स्थान ही नहीं है, इसलिए देह का अधिष्ठान कहा गया है।

(18.319) यह देह चौबीस तत्वों के रहने का कुटुम्बघर है। बन्ध और मोक्ष का उलझाव यहीं टूटता है।

(18.320) बहुत क्या कहें, हे धनंजय! यह देह जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का अधिष्ठान है, इसलिए इसे अधिष्ठान लाम दिया गया है।

(18.321) कर्म का दूसरा कारण कर्ता है जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहाता है।

(18.322) आकाश ही पानी बरसाता है, और जब वह पानी डबरों (गड्ढ़ों) में भर जाता है तो वही आकाश आप ही इसमें प्रतिबिम्बित होता और तदाकार हो जाता है,

(18.323) अथवा घोर निद्रा के वश हो राजा अपना राजत्व भूल जाता और स्वप्न में रंक बन जाता है

(18.324) वैसे ही अपनी विस्मृति के कारण जो चैतन्य ही देहाकार से प्रतिभासित होता और देह के रूप में प्रकट होता है,

(18.325) विचार-पूर्ण जनों में जो जीव नाम से प्रसिद्ध है, जिसने मानों देह का सम्पूर्ण विषय प्राप्त करा देने की प्रतिज्ञा की हैं,

(18.326) प्रकृति कर्म करती है तथापि जो भ्रम में पड़ा हुआ कहता है कि मैं करता हूँ उस जीव को यहाँ कर्ता नाम दिया गया है।

(18.327) फिर दृष्टि एक होते हुए वह जैसी पलकों के बालों (बरुनियों) के कारण खुले हुए चँवर की तरह फटी हुई सी मालूम होती है,

(18.328) अथवा घर में रक्खा हुआ एक ही दीपक जैसे झिलमिली में से अनेक रूपों में दिखाई देता है,

(18.329) अथवा एक ही पुरुष जैसे नवों रसों का अनुभव लेता हुआ नवविध जान पड़ता है,

(18.330) वैसे ही बुद्धि का एक ही ज्ञान इन श्रोतृ इत्यादि भेदों के कारण जिन जुदी-जुदी इन्द्रियों-द्वारा बाहर आविष्कृत होता है,

(18.331) उन जुदी-जुदी इन्द्रियों का होना, हे अर्जुन! कर्म का तीसरा कारण है।

(18.332) अब, पूर्व या पश्चिम मार्ग से बहते हुए नाले जब नदियों में जा मिलते हैं तो उनका पानी जैसे एक ही हो जाता है,

(18.333) वैसे ही प्राणवायु में जो अविनाशी क्रियाशक्ति है वह जुदे-जुदे स्थानों में प्रकट होने के कारण जुदी-जुदी जान पड़ती है।

(18.334) वाचा में दिखाई देती है तब उसे वाणी कहते हैं। हाथों में प्रकट होती है तब उसे लेने-देने की क्रिया कहते हैं।

(18.335) चरणों में वही क्रियाशक्ति गति कहलाती है और मल-मूत्र द्वारों का क्षरण भी उसी शक्ति की क्रिया है।

(18.336) शरीर में नाभिस्थान से हृदय तक जो ओंकार की अभिव्यक्ति होती है उसी को प्राण कहते हैं,

(18.337) अनन्तर ऊपर की ओर जो श्वासोच्छवास होता हैं वह वही शक्ति है, पर वह उदान नाम से जानी जाती है।

(18.338) गुद द्वार से निकलने के कारण उसे अपान कहते हैं और सब शरीर में व्यापक होने से उसे व्यान नाम दिया गया है।

(18.339) खाये हुए रस का वह सब शरीर में एकसा भर देती है और आप उस शरीर का न छोड़ कर सब सन्धियों में बनी रहती है;

(18.340) इस व्यापार के कारण हे किरीटी! वही क्रियाशक्ति समान अथवा नाभिस्थ वायु कहलाती है।

(18.341) और जमुहाई लेना, छींकना, डकारना आदि जो व्यापार हैं वे नाग, कूर्म, कृकर इत्यादि उपप्राण हैं;

(18.342) एवं ये सब व्यापार एक वायु के ही हैं, परन्तु हे सुभट! व्यापार के कारण उस वायु में जो भिन्नता जान पड़ती है

(18.343) वह वृत्तियों के कारण भिन्न होनेवाली वायुशक्ति ही कर्म का चौथा कारण है;

(18.344) तथा ऋतुओं में जैसे शरदृतु उत्तम होती है और शरदृतु में भी शुक्लपक्ष और उसमें भी जैसे पूर्णमासी की रात्रि उत्तम होती है,

(18.345) अथवा बसन्त ऋतु में जैसे बगीचा सुखकारक होता है; बगीचे में जैसे प्रिया का सहवास, और उसमें भी स्रक्, चन्दन इत्यादि उपचारों का रहना सुखकारक होता है,

(18.346) अथवा हे पाण्डव! कमल का विकास सुन्दर होता है और उस विकास में भी पराग का उद्भव अधिक सुन्दर होता है;

(18.347) बाणी का कवित्व शोभा देता है, कवित्व में रसिकता अधिक शोभा देती है, और उस रसिकता में जैसे ब्रह्मनिरूपण और भी अधिक शोभा देता है

(18.348) वैसे ही सव वृत्ति-वैभव से युक्त एक बुद्धि ही उत्तम है, और बुद्धि में भी नूतन इन्द्रियबल का होना उत्तम है।

(18.349) इन्द्रिय-मण्डल की भी शोभा तभी है जब हे निष्पाप! उनके अधिष्ठाता देवताओं की अनुकूलता हो;

(18.350) एवं सूर्य इत्यादि देवताओं के समूह कृपालु हो चक्षु इत्यादि दसों इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं।

(18.351) हे अर्जुन! यह देव-समूह ही कर्म का पाँचवाँ कारण है।

(18.352) इस प्रकार जिसमें तुम समझ सको ऐसी रीति से, हमने सब कर्मों के पंचविध कारणों का निरूपण किया।

(18.353) अब इन्हीं कारणों की वृद्धि होते-होते जिन हेतुओं से कर्म-सृष्टि की रचना होती है उन पाँच हेतुओं के भी स्पष्ट कर बताते हैं।

> शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
> न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ 18.15॥

(18.354) अकस्मात् वसन्त ऋतु आ जाती है ते वही नूतन पल्लवों की उत्पत्ति का हेतु हो जाती है। पल्लवों से पुष्प-समुदाय उत्पन्न होता और पुष्पों से फल उत्पन्न होते हैं,

(18.355) अथवा वर्षाकाल के आने से मेघ उत्पन्न होते हैं, मेघों से वृष्टि होती और वृष्टि के कारण धान्य-सुख का उपभोग प्राप्त होता है;

(18.356) अथवा पूर्व दिशा से अरुण का उदय होता है, अरुण से सूर्योदय होता और सूर्य से सम्पूर्ण दिन प्रकाशित होता है;

(18.357) वैसे ही हे पाण्डव! कर्मसंकल्प का हेतु मन है, उस संकल्प से वाणी-रूपी दीपक प्रकाशित होता है

(18.358) और वह वाचा-दीपक सम्पूर्ण कर्मों के मार्गों का प्रकाशित करता है जिससे कर्त्ता कर्तृत्व के व्यापार में प्रवृत्त होता है।

(18.359) वस्तुतः शरीर इत्यादि समुदाय का हेतु शरीर ही है, जैसे लोहे का काम लोटे से ही किया जाता है,

(18.360) अथवा जैसे तन्तु का ही ताना और तन्तु का ही बाना, इस प्रकार हे ज्ञानी! तन्तु ही कपड़ा बनता है

(18.361) वैसे ही मन, वाचा और देह के कर्म का हेतु मन इत्यादि ही है जैसे कि रत्नसमुदाय का हेतु रत्न ही है।

(18.362) यहाँ यदि कोई यह पूछे कि शरीर इत्यादि जो कर्म के कारण हैं वही क्योंकर हेतु कहे जाते हैं तो सुनिए।

(18.363) देखिए, सूर्य के प्रकाश का हेतु और कारण जैसे सूर्य ही है,अथवा ईख की गँड़ेरी जैसे ईख की बाढ़ का हेतु है,

(18.364) अथवा वाग्देवी की स्तुति करने के लिए जैसे वाचा को ही श्रम करता पड़ता है, अथवा वेदों की महिमा जैसे वेदों से ही बखानी जा सकती है,

(18.365) वैसे ही शरीर इत्यादि कर्म के कारण तो हैं ही पर यह भी मिथ्या नहीं कि वही कर्म के हेतु भी हैं।

(18.366) देह इत्यादि कारणों का देह इत्यादि हेतुओं से मेल होते ही जो कर्ममात्र की घटना होती हैं

(18.367) वह कर्म यदि शास्त्र-सम्मत मार्ग के अनुसार हो तो न्याय का हेतु (न्याय्य कर्म) होता है।

(18.368) जैसे बरसात के जल का प्रवाह कदाचित् धान में बह जाय तो वह वहाँ सोख जाता है, पर उससे लाभ भी खूब होता है,

(18.369) अथवा क्रोध से भी घर छोड़ कर कोई अकस्मात् द्वारका का मार्ग ले तो, वह दुःखी हो तथापि, इसका उस मार्ग से चलना निष्फल नहीं जाता,

(18.370) वैसे ही हेतु और कारण के मेल से कोई अन्ध कर्म भी उत्पन्न हो तथापि उस पर यदि शास्त्र की दृष्टि पड़े तो वही न्याय्य कर्म कहलाता है।

(18.371) अथवा दूध जब उफनता है तब बढ़ते-बढ़ते बर्तन के मुँह तक पहुँच कर स्वभावतः बाहर गिरता है, वह भी वस्तुतः दूध का खर्च ही हैं, पर जैसे उसे खर्च नहीं कहते

(18.372) वैसे ही शास्त्र की सहायता के बिना किया हुआ कर्म यद्यपि वृथा न समझा जाय तथापि क्या द्रव्य का लूटा जाना दान किये जाने के समान लेखा जा सकता हैं?

(18.373) अजी हे पाण्डुसुत! ऐसा कौन-सा मन्त्र है जो वर्णमाला के बावन अक्षरों में न हो? और ऐसा कौन-सा जीव है जो इन्हीं बावन अक्षरों का न उच्चारता हो?

(18.374) परन्तु हे कोदण्डपाणि जब तक मन्त्र की युक्ति मालूम नहीं होती तब तक वाचा को इस मन्त्र के उच्चारण-फल का लाभ नहीं होता,

(18.375) वैसे ही कारण और हेतु के मेल से जो अनियमित कर्म उत्पन्न होता है उसे जब तक शास्त्र की अनुकूलता का लाभ नहीं होता

(18.376) तब तक यद्यपि कर्म होता ही रहता हैं तथापि वह वास्तव में कर्म करना नहीं, अन्याय है तथा वह अन्याय का ही हेतु होता है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ 18.16 ॥

(18.377) इस प्रकार हे उत्तम कीर्तिमान अर्जुन! कर्म के पाँच कारणों के ये पाँच हेतु होते हैं। अब कहो तो कि इनमें क्या आत्मा दिखाई देता है?

(18.378) बात यह है कि सूर्य जैसे विषयरूप न होकर नेत्रों के विषयों का प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा कर्मरूप न होकर कर्म प्रकट करता है।

(18.379) हे वीरेश! देखनेहारा जैसे प्रतिबिम्ब या दर्पण दोनों न होकर दोनों को प्रकाशित करता है,

(18.380) अथवा हे पाण्डुसुत! सूर्य जैसे दिन या रात्रि न होते हुए दिन और रात्रि को प्रकट करता है, वैसे ही आत्मा कर्म या कर्तारूप न होकर उन दोनों को प्रकट करता है।

(18.381) परन्तु जिसकी बुद्धि को यह विस्मृति हुई है कि मैं देह हूँ और इस कारण जो बुद्धि देह में ही व्याप्त हो गई है इसे आत्मा के विषय में मानों मध्यरात्रि का अन्धकार रहता है।

(18.382) जो समझता है कि चैतन्यरूपी ईश्वर या ब्रह्म की परम सीमा देह ही है उसका यह दृढ विश्वास चाहे भले ही हो जाय कि आत्मा कर्ता है

(18.383) परन्तु उसे यह तत्त्वतः निश्चय नहीं रहता कि आत्मा ही कर्म-कर्ता है। वह समझता है कि मैं जो देह हूँ वह कर्म करता है

(18.384) क्योंकि यह बात वह कभी कानों से नहीं सुनता कि मैं कर्म के परे हूँ और सब कर्मों का साक्षी हूँ

(18.385) इस लिए मुझ अपरिमित आत्मा को वह देह से मापने की चेष्टा करता है; इसमें क्या आश्चर्य है? घुग्घू क्या दिन की रात नहीं बना देता?

(18.386) जिसने कभी आकाशस्थित सत्य सूर्य नहीं देखा है वह क्या डबरे में दिखाई देनेहारे सूर्य को ही सत्य न समझेगा?

(18.387) डबरे का होना सूर्य की उत्पत्ति का कारण हो जाता है, तथा उसके नाश से सूर्य का भी नाश होता है और उसके कम्पायमान होने से सूर्य भी कँपता हुआ दिखाई देता है;

(18.388) निद्रस्थ मनुष्य का जब तक चेत नहीं आता तब तक स्वप्न सत्य ही रहता है, डोरी का अज्ञान होते हुए सर्प का डर रहे, इसमें आश्चर्य क्या है?

(18.389) जब तक आँखों में पोलिया रोग है तब तक चन्द्रमा पीला दिखाई देता है; मृग भी क्या मृग-जल की भूल में न पड़े?

(18.390) इसी प्रकार शास्त्र या गुरु का तो कहना ही क्या, जो अपनी सीमा का उनकी हवा भी नहीं लगने देता, जो केवल मूर्खता के बल जीवन धारण करता है

(18.391) वह, जैसे गीदड़ मेघों के वेग को चन्द्र पर ही आरोपित करते हैं वैसे ही, देहात्म-बुद्धि के कारण आत्मा पर देह-रूपी जाल फैलाता है।

(18.392) और फिर वह उस भूल के कारण देह-रूपी कैदखाने में मानों कर्म की दृढ गाँठ से बाँधा जाता है।

(18.393) देखो, दृढ-बन्ध की भावना के कारण. नली पर बैठा हुआ बेचारा तोता क्या पंज मुक्त रहते हुए भी नहीं फँसता?

(18.394) अतएव जो निर्मल आत्मस्वरूप पर प्रकृति के किये हुए कर्म आरोपित करता है वह कोट्यवधि कल्पों के माप से कर्मों की गणना करता रहता है।

(18.395) अब जो कर्म से व्यापृत है परन्तु समुद्र का जल जैसे बड़वानल को स्पर्श नहीं करता वैसे ही, जिसे कर्म स्पर्श नहीं करता,

(18.396) जो यों जुदा रहता हुआ कर्म से व्यापृत है उसे कौन पहचान सकता है, कहूँ?

(18.397) क्योंकि जैसे अपनी खोई हुई वस्तु दीपक से देखने पर दिखाई देती है वैसे ही मुक्त का निश्चय करते हुए निज को ही मुक्ति का लाभ हो जाता है,

(18.398) अथवा, जैसे दर्पण रगड़ कर साफ किया जावे तो अपना ही रूप दिखाई दे सकता है; अथवा, जैसे लवण को जल का लाभ हो तो वह जलरूप ही हो जाता है,

(18.399) यह भी रहने दो।, प्रतिबिम्ब यदि लौट कर बिम्ब को देखे तो वह देखना नहीं बिम्ब ही बन जाना है

(18.400) वैसे ही जिस आत्मा की विस्मृति हो गई है उसका जब लाभ हो जाय तभी सन्तों की स्थिति का निश्चय हो सकता है।

अतएव सर्वदा सन्तों की ही स्तुति और उनका वर्णन करना चाहिए।

(18.401). अतः जो कर्मों में रह कर सुख-दुःखों के वश नहीं होता, तथा जैसे चर्म-चक्षु के चाम से दृष्टि बद्ध नहीं रहती

(18.402) वैसे ही जो मुक्त है, उसका हम उपपत्तिरूपी हाथ उठा कर वर्णन करते हैं।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ 18.17 ॥

(18.403) हे ज्ञानी! जो अनादि काल से अविद्यारूपी नींद में सोता हुआ विश्वरूप व्यापार का उपभोग ले रहा है

(18.404) वह महावाक्य के द्वारा और गुरुकृपा के सहाय से, ज्योंही गुरु उसके माथे पर हाथ रखते है — नहीं, मानों उसे जागृत करते हैं —

(18.405) त्योंही हे धनंजय! वह विश्वरूपी स्वप्न-सहित मायारूपी निद्रा का छोड़ अद्वयानन्दरूप में जागृत हो जाता है।

(18.406) और फिर निरन्तर एक सी दिखाई देनेवाली मृगजल की बाद जैसे चन्द्रमा की किरणें प्रकाशित होते ही मिट जाती है,

(18.407) अथवा बाल्यावस्था निकल जाने पर जैसे हौवा सत्य नहीं जान पड़ता, अथवा ईंधन जल जाने पर जैसे पाक-क्रिया नहीं हो सकती,

(18.408) अथवा नींद से चेत आने पर जैसे स्वप्न दिखाई नहीं देता, वैसे ही हे किरीटी! उसमें अहंता और ममता शेष नहीं रहती।

(18.409) फिर अँधेरे की खोज करने के लिए सूर्य चाहे जिस सुरंग में प्रवेश करे तथापि जैसे उसका लाभ उसके भाग्य में नहीं लिखा है,

(18.410) वैसे ही वह मनुष्य आत्मस्वरूप से ही वेष्टित हो जाता है। वह जिस दृश्य का देखता है वह दृश्य द्रष्टासहित उसे आत्मस्वरूप ही दिखाई देता है।

(18.511) जैसे जिस पदार्थ में आग लगे वह स्वयं आग हो जाता है और फिर यह भिन्नता नहीं रहती कि एक वस्तु जलानेवाली है और दूसरी जलनेवाली

(18.512) वैसे ही कर्म को निज से भिन्न जान कर आत्मा का जो कर्तृत्व का जाल लगाया जाता था उसके दूर हो जाने पर जो कुछ अवशेष बच रहे

(18.513) उस आत्मस्थिति का राजा क्या देह को कोई जुदी वस्तु मानेगा? प्रलय-काल का जल क्या किसी जुदे प्रवाह का अस्तित्व मानता है?

(18.514) वैसे ही हे पाण्डुसुत! उस मनुष्य की पूर्ण अहंता क्या देह से परिच्छिन्न हो सकती है? क्या सूर्य के प्रतिबिम्ब से सूर्य हाथ लग सकता है?

(18.515) छाछ का मन्थन करने से जो माखन निकलता है, फिर छाछ में डालने से क्या वह उससे लिप्त हो उसमें मिल सकता है?

(18.516) अथवा हे वीरेश! अग्नि को काष्ठ से जुदा करने पर क्या वह काष्ठ के सन्दूक में बन्द रह सकती है?

(18.517) अथवा रात्रि के गर्भ से निकला हुआ सूर्य क्या कभी रात्रि की बात भी सुनता है?

(18.518) वैसे ही जानने की वस्तु और जाननेहारा दोनों जिसने विलीन कर डाले हैं उसे ऐसा अहंकार कैसे रह सकता है कि मैं देह हूँ?

(18.519) और, आकाश जिस स्थान से जिस स्थान को जावे वहाँ वह भरा ही हुआ है, अतएव वह स्वभावतः सर्वत्र व्याप्त है,

(18.520) वैसे ही वह मनुष्य जो कुछ करे वह स्वभावतः तद्रूप ही है, तो फिर कर्ता होकर कर्म से वेष्टित होने के लिए कौन बच रहता है?

(18.421) आकाश से अलग कोई स्थान ही नहीं है, समुद्र का कभी प्रवाह नहीं होता, ध्रुव नक्षत्र में कभी गति नहीं उत्पन्न होती, वैसे ही उस मनुष्य की स्थिति हो जाती है।

(18.422) इस प्रकार ज्ञान के द्वारा उसका अहंकार मिथ्या हो जाता है, तथापि जब तक उसका देह रहता हैं तब तक कर्म होते ही रहते हैं।

(18.423) हवा चल-चलते बन्द हो जाय तथापि वृक्षों के हिलने का वेग शेष रहता है, अथवा डिब्बी में से कपूर निकाल लिया हो तथापि इसमें सुगन्ध रह जाती हैं,

(18.424) अथवा गीत समाप्त होने पर भी उसमें मग्न होनेवालों के चित्त में प्रसन्नता बनी रहती है; पृथ्वी पर से जल बह जाने पर भी सील बनी रहती है,

(18.525) अथवा सन्ध्या के समय सूर्य अस्त हो जाता है तथापि उसकी ज्योति-दीप्ति दिखाई देती रहती है,

(18.526) अथवा निशाने पर बाण लगने पर भी उसमें जब तक बल अवशेष रहता है तब तक वह उस निशाने में घुसता जाता है,

(18.527) अथवा कुम्हार चक्के पर बासन बना कर निकाल लेता है तथापि चाक पहले घुमाया हुआ रहता है इसलिए घूमता ही रहता है,

(18.528)उसी प्रकार हे धनंजय! देहाभिमान चला जाय तथापि जिस स्वभाव के कारण देह उत्पन्न हुआ है वह उससे कर्म करवाता ही जाता है।

(18.529) संकल्प के बिना ही जैसे स्वप्न उत्पन्न हाता है, जंगल की आग जैसे बिना लगाये ही लगती है, आकाश में दिखाई देनेहारे गन्धर्वनगर जैसे बिना बनाये ही दिखाई देते हैं,

(18.530) वैसे ही आत्मा की चेष्टा बिना ही देह आदि पाँच कारणों से आप ही आप कर्म उत्पन्न होते हैं।

(18.431) ये पाँच कारण और हेतु पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार अनेक कर्म करवाते हैं।

(18.432) उन कर्मों से चाहे सम्पूर्ण जगत् का संहार हो, चाहे उत्तम नूतन जगत् की रचना हो

(18.433) परन्तु, कुमुदिनी कैसे सूखती है अथवा कमलिनी कैसे विकासती है, ये दोनों बातें जैसे सूर्य नहीं देखता;

(18.434) अथवा मेघों से बिजली गिरने पर चाहे पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जाये, अथवा वर्षा हो कर हरा चारा उत्पन्न हो

(18.435) तथापि आकाश जैसे ये दोनों बातें नहीं जानता, वैसे ही जो देह में ही देहातीत स्थिति में रहता है

(18.436) वह, जागृत मनुष्य जैसे स्वप्न नहीं देखता वैसे ही, देह इत्यादि के कर्मों से सृष्टि की उत्पत्ति हो या लय हो तथापि उन्हें नहीं देखता।

(18.437) यों तो जो उसे चर्म-चक्षु से देखते हैं वे निश्चय से उसे कर्म करनेहारा ही समझेंगे,

(18.438) क्योंकि गुणों का पुतला बनाया हो और खेत में खड़ा कर रक्खा हो तो क्या गीदड़ उसे असली रखवाला नहीं समझते?

(18.439) पागल मनुष्य कपड़ा पहने हुए है या नंगा है यह जैसे दूसरे ही जानते हैं, युद्ध में मरे हुए सैनिकों के घाव दूसरे ही गिनते हैं,

(18.440) अथवा महासती के भोगों (नहाना, कपड़े पहनना आदि) को सम्पूर्ण जगत् देखता है, परन्तु वह अग्नि की ओर अथवा अपने

शरीर की ओर अथवा लोगों की ओर भी नहीं देखती, बल्कि अपने पति के प्रेम में ही निमग्न रहती है,

(18.441) वैसे ही जा देखनेहारा आत्मस्वरूप प्राप्त कर दृश्य वस्तु-सहित विलीन हो जाता है वह नहीं जानता कि इन्द्रिय-समूह क्या व्यापार करता है।

(18.442) बड़ी लहरों में छोटी लहरें मिल जाती हैं तब यद्यपि तीर पर खड़े हुए लोग समझते हैं कि एक लहर में दूसरी समा गई

(18.443) तथापि वहाँ क्या कोई दूसरी वस्तु रहती है जो जल को लीलती है? वैसे ही जो पूर्ण हो चुका है उसे कोई दूसरा शेष नहीं रहता जिसका कि वह नाश करे।

(18.444) सोने की बनाई हुई देवी सोने के शूल से सोने के बनाये हुए महिषासुर का वध करती है।

(18.445) यह काम मन्दिर में पास खड़े रहनेहारे पुजारी का सत्य जान पड़ता है परन्तु वास्तव में वह देवी, शूल वा महिष सब सुवर्ण ही रहता है।

(18.446) चित्र में लिखा हुआ जल या अग्नि केवल दृष्टि का ही भ्रम है, चित्र पर वस्तुतः अग्नि या जल दोनों नहीं रहते;

(18.447) वैसे ही मुक्त मनुष्य का शरीर भी पूर्व-संस्कार के बल ही हिलता-डुलता देख कर भ्रमिष्ट लोग इसे कर्ता समझते हैं।

(18.448) वस्तुतः उसके कर्मों से चाहे त्रैलोक्य का नाश क्यों न हो तथापि ऐसा न समझना चाहिए कि वह नाश उसने किया।

(18.449) अजी! अँधेरे में प्रकाश लाने पर यह कहने का अवकाश ही कहाँ रहता है कि वह प्रकाश उस अँधेरे का नाश करे? वैसे ही ज्ञानी का द्वैत ही नहीं रहता तो वह नाश किस वस्तु का करेगा?

(18.450) उसकी बुद्धि पाप और पुण्य की बात भी नहीं जानती, जैसे कि गंगा में मिलने पर नदी में कोई अशुद्धता नहीं रहती।

(18.451) हे धनंजय! अग्नि अग्नि से मिले तो क्या वह जलेगी अथवा शस्त्र क्या स्वयं अपने पर दी घाव कर सकता है?

(18.452) वैसे ही जो सम्पूर्ण कर्म-समूह का अपने से जुदा नहीं समझता उसकी बुद्धि किस वस्तु में लिप्त हो सकती है?

(18.453) इस प्रकार कार्य, कर्त्ता और क्रिया तीनों को जो अपना ही स्वरूप समझता है उसे शरीर इत्यादि के कारण कर्मबन्ध नहीं होता।

(18.454) क्योंकि कर्म करनेहारा जीव कुशलता के साथ पंचमहाभूतों की खानें खोद कर इन्द्रिय-रूपी दसों हथियारों से कर्मरूपी हवेलियों की रचना कर रहा है।

(18.455) इनमें पुण्य और पापरूपी द्विविध रूप रचे जाते हैं और तत्क्षण कर्मरूपी मन्दिर बनते जाते हैं।

(18.456) परन्तु यह निश्चय जानो कि इस बड़े काम में आत्मा सहायक नहीं होता। यदि तुम कहो कि आत्मा इस कर्म के आरम्भ में सहायक होता है,

(18.457) तो वह आत्मा तो साक्षिरूप है, ज्ञानस्वरूप हैं, फिर जो कर्मप्रवृत्ति का संकल्प उठता है उसे उठने के लिए वह कैसे आज्ञा दे सकता है?

(18.458) अतः कर्मप्रवृत्ति के विषय में भी उसे कुछ श्रम नहीं करना पड़ता, क्योंकि प्रवृत्ति की बेगार भी जीव ही करते हैं।

(18.459) अतएव जो केवल आत्मस्वरूप हो रहा है वह कभी इस कर्म-रूपी बन्दीखाने में नहीं जाता।

(18.560) परन्तु अज्ञान-रूपी पट पर जो विपरीत ज्ञान-रूपी चित्र प्रतिबिम्बित होता है उस चित्र के खींचनेहारी जो त्रिपुटी प्रसिद्ध है

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ 18.18 ॥

(18.461) – जिसे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय कहते हैं, जो तीन वस्तुएँ संसार की बीजभूत हैं, वही (त्रिपुटी) निःसन्देह कर्म की प्रवृत्ति है।

(18.462) अब हे धनंजय! इन तीनों विषयों का जुदा-जुदा वर्णन करते हैं, सुनो।

(18.463) जीवरूपी सूर्यबिम्ब की किरणें जो श्रोत्र इत्यादि पाँच इन्द्रियाँ हैं उनके कारण जब विषय-रूपी कमल की कली खिलती है

(18.464) अथवा जीवरूपी राजा के खुली पीठ के घोड़े जब इन्द्रिय-रूपी दौड़ लगा कर विषय-रूपी देश को लूट लाते हैं

(18.465) तब जो इन इन्द्रियों में व्यापार करता है, जो जीव का सुख या दुःख का लाभ करा देता है, वह ज्ञान घार निद्रा के समय जहाँ विलीन हो जाता है

(18.467) उस जीव को ज्ञाता कहते हैं। और हे पाण्डुसुत! अभी प्रथम जिसका वर्णन किया वह ज्ञान है

(18.467) और हैं किरीटी! वह अविद्या के गर्भ से उत्पन्न होते ही निज का त्रिधा भिन्न कर लेता है

(18.468) तथा अपनी दौड़ के सन्मुख ज्ञेयरूपी निशान खड़ा कर पीछे की ओर ज्ञाता को खड़ा करता है;

(18.469) एवं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के बीच में रहने के कारण जो इन दोनों का सम्बन्ध जोड़ता है;

(18.470) ज्ञेय की सीमा का उल्लंघन करते ही जिसकी दौड़ बन्द हो जाती है और जो सम्पूर्ण पदार्थों के नाम रखता है

(18.471) वह सामान्य ज्ञान है। यह वचन मिथ्या नहीं है। अब ज्ञेय के लक्षण सुनो।

(18.472) शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध, और रस ये पाँच प्रकार के लक्षण ज्ञेय के हैं।

(18.473) अलग-अलग इन्द्रियों का स्पर्श कराने से जैसे एक ही आम का रस, वे और सुगन्ध जुदे-जुदे ज्ञात होते हैं

(18.474) वैसे ही ज्ञेय वस्तु एक ही है, परन्तु उसका ज्ञान इन्द्रिय-द्वारा होता है इस लिए उसके पाँच लक्षण हो गये हैं।

(18.475) प्रवाह समुद्र का पहुँच कर समाप्त हो जाता है, सीमा प्राप्त होते ही दौड़ बन्द हो जाती है, फल आते ही धान्य की बाढ़ बन्द हो जाती है

(18.476) वैसे ही इन्द्रियों के मार्ग से दौड़ते हुए जहाँ ज्ञान की सीमा हो जाती हैं उस विषय को हे किरीटी! ज्ञेय कहते हैं।

(18.477) इस प्रकार हे धनंजय! ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का वर्णन हुआ। इन्हीं तीनों से कर्मप्रवृत्ति होती है।

(18.478) क्योंकि शब्द इत्यादि विषयरूपी जो पंचविध ज्ञेय है वही एक प्रिय या अप्रिय रहता है।

(18.479) और हे धनंजय! ज्ञान ज्योंही ज्ञाता के सन्मुख ज्ञेय का अल्पसा प्रकट करता है त्योंही ज्ञाता उसके स्वीकार या त्याग में प्रवृत्त होता है।

(18.480) मीन को देख कर जैसे बगला, द्रव्य का देख कर जैसे रंग, अथवा स्त्री को देख कर जैसे कामी मनुष्य प्रवृत्त होता है,

(18.481) उतार में जैसे जल बहने लगता है, फूलों की सुगन्ध से जैसे भ्रमर आकर्षित होते हैं, अथवा सन्ध्याकाल के समय छूटा हुआ वत्स जैसे गाय की ओर भागता है,

(18.482) अजी! स्वर्ग की उर्वशी की वार्ता सुन कर मनुष्य जैसे आकाश में यज्ञ-रूपी सीढ़ियाँ बाँधते हैं,

(18.483)हे किरीटी! कबूतर जैसे आकाश में चढ़ा हो तथापि कबूतरी का देखते ही शरीर का लोट-पाट करता हुआ गिरता है,

(18.484) अथवा मेघों की गर्जना होते ही मोर जैसे आकाश की ओर उड़ता है, वैसे ही ज्ञेय को देख कर ज्ञाता तत्काल ही दौड़ता हैं।

(18.485) इसलिए संसार में सम्पूर्ण कर्मों की प्रवृत्ति ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यों त्रिविध होती है।

(18.486) इनमें ज्ञेय यदि भाग्यवशात् ज्ञाता का प्रिय हो तो उसका भाग लेने में क्षण का भी विलम्ब उससे नहीं सहा जाता,

(18.487) परन्तु यदि कदाचित् वह उसके प्रतिकूल हो तो उसका त्याग करते हुए वही क्षण उसे युग के समान मालूम होता है।

(18.488) मनुष्य को सर्प या रत्नों का हार दिखाई दे तो तत्काल भय या आनन्द उत्पन्न होता है,

(18.489) वही हाल प्रिय अथवा अप्रिय ज्ञेय का देख कर ज्ञाता का होता है, और फिर वह उस ज्ञेय के त्याग या स्वीकार की चेष्टा करता है।

(18.490) उस समय, दूसरे मल्ल को देखते हीं जिसका जी मल्लयुद्ध करने को चाहता है वह चाहे सब सेना का सेनापति भले ही हो तथापि जैसे रथ का त्याग कर पैदल हो जाता है

(18.491) वैसे ही जो ज्ञाता है वही कर्त्ता के रूप में प्रकट होता है। जैसे कोई भोजन करनेहारा भोक्ता राँधने बैठे

(18.492) अथवा भ्रमर ही बगीचा लगावे, कसौटी ही कस लगानेवाला बन जावे, अथवा देव ही मन्दिर बनाने के काम में प्रवृत्त हो,

(18.493) वैसे ही ज्ञेय की अभिलाषा से ज्ञाता इन्द्रियों के समुदाय से व्यापार कराता है और उससे वह, हे पाण्डव! कर्ता बन जाता है।

(18.494) और खुद कर्ता होने के कारण ज्ञान को करणता प्राप्त कराता है, इसलिए ज्ञेय भी स्वभावतः कार्य हो जाता है।

(18.495) इस प्रकार हे सुमति! ज्ञान की निज की गति बदल जाती है, और रात को जैसे नेत्रों की शोभा बदल जाती है,

(18.496) अथवा प्रारब्ध प्रतिकूल हो जाने से जैसे श्रीमान के विलासों में अन्तर पड़ता है, पूर्णमासी के अनन्तर जैसे चन्द्रमा बदल जाता है

(18.497) वैसे ही इन्द्रियों के व्यापार द्वारा ज्ञाता कर्तृत्व से वेष्टित हो जाता है। यह दशा क्योंकर होती है उसका अब हम वर्णन करते हैं, सुनो।

(18.498) बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार ये चतुर्विध अन्तःकरण अथवा आन्तरिक इन्द्रियाँ हैं।

(18.499) और त्वचा, कान, नेत्र, जिह्वा और नाक ये पाँच प्रकार की बाह्य इन्द्रियाँ हैं।

(18.500) अब आन्तरिक इन्द्रियों के द्वारा कर्ता जब कर्तव्य का निश्चय करता है तब यदि.उसे सुख होता सा मालूम हो

(18.501) तो वह बाह्य चक्ष इत्यादि दसों इन्द्रियों को जाग्रत कर व्यापार में प्रवृत्त करता है,

(18.502) और जब तक कर्तव्य का लाभ हाथ नहीं आता तब तक इस इन्द्रियसमूह को उस व्यापार में ही लगाये. रखता है;

(18.503) अथवा यदि उसे मालूम हो कि इस कर्तव्य का फल दुःखद होगा तो वह उन दसों इन्द्रियों का उसके त्याग करने में प्रवृत्त करता है,

(18.504) और जब तक दुःख निर्मूल नहीं होता तब तक रात और दिन उन्हें कर्म में जोते रहता हैं। जैसे कण-रहित तुष जिधर की वायु हो उधर उड़ता है

(18.505) वैसे ही जब इन्द्रियों की प्रवृत्ति ज्ञाता के त्याग या स्वीकार के अनुसार होती है तब उस ज्ञाता को कर्त्ता कहते हैं।

(18.506) और कर्ता के सब कर्मों में इन्द्रियाँ इस तरह काम देती हैं जैसे कि खेती में हल-बखर काम आते हैं इसलिए हम उन्हें (इन्द्रियों का) करण कहते हैं।

(18.507) और इन्हीं करणों के द्वारा कर्ता जो क्रिया करता है, उससे जो व्याप्त रहता है उसे यहाँ कर्म कहा गया है।

(18.508) सुनार की बुद्धि से व्याप्त जैसा अलंकार, चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त जैसी चन्द्रिका, अथवा सुन्दरता से व्याप्त जैसी बेल,

(18.509) अथवा प्रभा से व्याप्त जैसा प्रकाश, मधुरता से व्याप्त जैसा ईख का रस, अथवा अवकाश से व्याप्त जैसा आकाश,

(18.510) वैसा ही हे धनंजय! जो कर्ता की क्रिया से व्याप्त है उसे कर्म कहना अन्यथा नहीं है।

(18.511) इस प्रकार हे ज्ञानियों के शिरोमणि! हम कर्ता, कर्म और करण तीनों के लक्षण कह चुके।

(18.512) जैसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों से कर्म-प्रवृत्ति होती है वैसे ही कर्ता, करण और कार्य कर्म का साहित्य है।

(18.513) अग्नि में जैसे धूम्र समाया रहता है, बीज में जैसे वृक्ष समाया रहता है, अथवा मन में जैसे मनोरथ सदा मौजूद रहता है

(18.514) वैसे ही कर्ता, क्रिया और करण यही कर्म का जीवन है, जैसे कि सोने की खानि ही खान का उत्पत्ति-स्थान है।

(18.515) हे पाण्डुसुत! तात्पर्य यह कि जहाँ इस प्रकार प्रवृत्ति होती है कि यह कार्य है और मैं कर्ता हूँ वहाँ आत्मा सम्पूर्ण क्रियाओं से दूर रहता है।

(18.516) इसलिए हे सुमति! मैं बारम्बार कहता हूँ कि आत्मा कर्मों से भिन्न ही है। अस्तु, अब यह तुम कहाँ तक सुनोगे।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ 18.19 ॥

(18.517) परन्तु जिन ज्ञान, कर्म और कर्ता का हमने वर्णन किया वे तीनों तीन गुणों के कारण त्रिधा भिन्न हैं।

(18.518) इसलिए हे धनंजय। ज्ञान, कर्म या कर्ता का विश्वास न करना चाहिए क्योंकि तीन गुणों में से दो गुण बन्धकारक होते हैं और मुक्ति के लिए केवल एक ही समर्थ है।

(18.519) वह एक सात्विक गुण ज्ञात हो, इसलिए हम इन गुणों का निरूपण, जैसा सांख्यशास्त्र में किया गया है वैसा, करते हैं।

(18.520) जो विचाररूपी क्षीरसागर है, आत्मज्ञानरूपी कुमुदिनी का चन्द्रमा है, जो ज्ञानरूपी नेत्रवान् शास्त्रों का राजा है,

(18.522) अथवा जो प्रकृति-पुरुषरूपी मिश्रित रात्रि और दिन का अलग करनेहारा त्रिभुवन का सूर्य है,

(18.522) जिस में इस अपरिमित मोह-राशि को चौबीस तत्त्वों के माप से माप कर परतत्त्व का सुख वर्णन किया है,

(18.523) वह सांख्यशास्त्र, हे अर्जुन! जिनका स्तुति-पाठ करता है उन गुणों की कथा ऐसी है

(18.524) कि उन्होंने अपने निज बल से और अपनी त्रिविधता के चिह्न से जितना दृश्य मात्र है सब अंकित कर डाला है;

(18.525) एवं सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की इतनी महिमा है कि यह त्रिविधता सृष्टि में सब से आदि जो ब्रह्मा उनमें तथा सबसे अन्तिम जो कृमि उसमें भी है।

(18.526) अब सम्प्रति जिसके भिन्न होने से सब सृष्टि-समुदाय गुणभेद में पड़ा हुआ है सो ज्ञान का वर्णन प्रथम करते हैं।

(18.527) क्योंकि यदि दृष्टि स्वच्छ हो तो चाहे जो वस्तु स्वच्छ दिखाई दे सकती है वैसे हो शुद्ध ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं का शुद्धस्वरूप मालूम हो सकता है।

(18.528) अतः कैवल्य-गुणनिधान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अब हम सात्विक ज्ञान का लक्षण कहते हैं सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ 18.20 ॥

(18.529) हे अर्जुन! शुद्ध सात्विक ज्ञान असल में वह है जिसका उदय होते ही ज्ञेय वस्तु ज्ञाता-सहित विलीन हो जावे।

(18.530) जैसे सूर्य कभी अन्धकार नहीं देखता, समुद्र कभी यह नहीं जानता कि नदी कैसी होती हैं, अथवा जैसे कभी अपनी छाया को आलिंगन नहीं दिया जा सकता

(18.531) वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा शिव से लेकर तृण-पर्यन्त सम्पूर्ण भूत-व्यक्तियाँ भिन्न नहीं दिखाई देती,

(18.532) अथवा जैसे लिखे हुए चित्र पर हाथ फेरने पर, लवण को जल से धोने पर अथवा स्वप्न से जागृत होने पर जैसी स्थिति होती है

(18.533) वैसे ही जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को देखते ही न ज्ञाता, न ज्ञान, न ज्ञेय शेष रहता हैं;

(18.534) जैसे अलंकार का गला कर सोना नहीं अलगाया जा सकता अथवा पानी छान कर तरंग अलग नहीं की जा सकती

(18.535) वैसे ही जिस ज्ञान से कोई दृश्य वस्तु भिन्न दिखाई नहीं देती वही ज्ञान वास्तव में सात्त्विक ज्ञान है।

(18.536) कुतूहल से दर्पण देखने जाइए तो देखनेहारा ही सन्मुख आ खड़ा होता है, वैसे हो जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञेय ज्ञाता का ही उलट कर आया हुआ स्वरूप जान पड़ता है

(18.537) वही, मैं फिर कहती हूँ, सात्विक ज्ञान है जे मानों मोक्ष-लक्ष्मी का मन्दिर है। अस्तु, अब राजस ज्ञान का लक्षण सुनो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ 18.21 ॥

(18.538) हे पार्थ! सुनो. भेद का आश्रय कर जो ज्ञान प्रवृत्त होता है वह राजस है।

(18.539) भूतमात्र में भिन्नत्व से व्याप्त हो जिस ज्ञान ने उसे विचित्रता प्राप्त करा दी है और उससे ज्ञाता को जिसने अटल भ्रम में डाल दिया है,

(18.540) जैसे निद्रा सत्यस्वरूप पर विस्मृतिरूपी परदा डाल कर जीव को स्वप्नरूपी कष्ट का अनुभव कराती है

(18.541) वैसे ही आत्मज्ञान के मन्दिर के बाहर — मिथ्या मोह के वर्तुल के भीतर — जो ज्ञान जीव को जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का खेल दिखाता है,

(18.542) अलंकारत्व से ढका हुआ सोना जैसे बालकों को प्रतीत नहीं होता वैसे ही जिस ज्ञान से नाम और रूप का ही ज्ञान होता और अद्वैत दूर रह जाता है,

(18.543) मूर्ख लोग जैसे घड़ों या मटको के रूपवाली पृथ्वी को नहीं पहचान सकते, दीपक का

रूप लेने से जैसे अग्नि अपरिचित हो जाती है,

(18.544) अथवा वस्त्रता का आरोपण होने के कारण मूर्ख मनुष्य यह नहीं पहचानता कि वह तन्तु का ही रूप है, अथवा चित्र देख कर जैसे अज्ञानी मनुष्य को पट की विस्मृति होती है

(18.545) वैसे ही जिस ज्ञान के कारण भूत-व्यक्तियों को भिन्न देख कर एकता-ज्ञान की भावना नष्ट हो जाती है,

(18.546) और ईधन भिन्न होने से जैसे अग्नि भिन्न जान पड़ती है, फूल जुदे-जुदे होने से जैसे सुगन्ध भिन्न जान पड़ती है, अथवा जुदे-जुदे जलाशय होने से जैसे चन्द्रमा, पूर्ण होने पर भी, भिन्न दिखाई देता है,

(18.547) वैसे ही पदार्थों में अनेक भेद देख कर जो सर्वत्र छोटा-बड़ा इत्यादि वेष से भरा हुआ है उसे राजस ज्ञान कहते हैं।

(18.548) अब तामस ज्ञान का लक्षण कहते हैं। उसे भी भली भाँति पहचान लो, जैसे कि डोम के घर से बचने के हेतु उसे पहचान रखते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ 18.22 ॥

(18.549) हे किरीटी! जो ज्ञान, विधिरूपी वस्त्र से विहीन है, संचार करता है उसके नग्न होने के कारण श्रुति उसकी ओर पीठ फेर लेती है;

(18.550) तथा जिस ज्ञान को दूसरे शास्त्र भी बाह्य समझ कर अपवित्र ठहराते और निन्दा कर म्लेच्छ-धर्म रूपी पर्वत की ओर हाँक देते हैं,

(18.551) जो ज्ञान ऐसा है कि तमोगुणरूपी नक्र उसका ग्रहण करते ही भ्रमिष्ट हो घूमता है,

(18.552) जो ज्ञान किसी सम्बन्ध की बाधा नहीं समझता, किसी पदार्थ का निषिद्ध नहीं समझता, जैसे ओस पड़े हुए किसी गाँव में छूटा हुआ कुत्ता

(18.553) जो वस्तु मुँह में समा नहीं सकती अथवा जिसके खाने से मुँह जलता है उसी को छोड़ता है, बाकी सब कुछ खाता है;

(18.554) सोने की चीज चुरा ले जाते हुए जैसे चूहा भला-बुरा नहीं देखता, अथवा मांस खानेहारा जैसे यह नहीं देखता कि यह मांस काले जानवर का है या गोरे का,

(18.555) अथवा जंगल में लगी हुई आग जैसे कोई विचार नहीं करती, अथवा मक्खी जैसे जीता या मरा हुआ जीव न देख कर हर कहीं बैठती है,

(18.556) कौए का जैसे यह विवेक नहीं है कि यह उबका हुआ अन्न है या परोसा हुआ, अथवा यह ताजा अन्न हैं या सड़ा हुआ,

(18.557) वैसे ही जो ज्ञान विषयों में व्यापार करता हुआ यह नहीं जानता कि निषिद्ध आचरण छोड़ देना चाहिए अथवा विहित आचरण करना चाहिए,

(18.558) जो कुछ उसकी दृष्टि के सन्मुख आता है उस सब विषय का जो सेवन करता हैं; स्त्री-विषय शिश्न को और द्रव्य-विषय उदर को बाँट देता है,

(18.559) जिससे तृषा शान्त हो उसी को जो सुखकारक जल समझता है, इसके सिवा जो जल के विषय में पवित्र या अपवित्र ये नाम भी नहीं जानता,

(18.560) उसी प्रकार जो यह भी नहीं कहता कि यह खाने योग्य है, यह खाने योग्य नहीं है, अथवा यह निन्द्य है, यह अनिन्द्य हैं; जो समझता है कि जो मुँह को भावे वही पवित्र है,

(18.561) और जितनी स्त्रीजाति है उतनी जो केवल स्पर्शेन्द्रिय से ही पहचानता हैं, उसकी मित्रता करने के लिए जो सदा अभिलाषी रहता है,

(18.562) जिस ज्ञान से अपना उपकार करनेहारा ही मित्र समझा जाता है, तथा जिससे देह-सम्बन्ध का अन्त नहीं होता,

(18.563) जैसे मृत्यु का सभी कुछ खाद्य हैं, और अग्नि के लिए सभी ईंधन है वैसे ही जो सारे जगत् का ही अपना धन समझता है वह तामस ज्ञान है।

(18.564) इस प्रकार जो सम्पूर्ण विश्व को विषय ही समझता हैं उसे देहपोषण ही एक हेतु रहता है।

(18.565) आकाश से गिरे हुए जल का एक आश्रय जैसे समुद्र ही होता है वैसे हो वह सब कर्म केवल एक उदर के ही हेतु समझता है।

(18.566) इसके अतिरिक्त कोई स्वर्ग या नरक है अथवा प्रवृत्ति या निवृत्ति उसका हेतु है इत्यादि ज्ञान की उसे रात्रि ही रहती है।

(18.567) जो ज्ञान इस छोटे से देह को ही आत्मा कहता है और पत्थर की मूर्ति को ईश्वर समझता है, इसके परे जिसकी बुद्धि ही प्रवृत्त नहीं होती;

(18.568) जो समझता है कि शरीर-पात होते ही कर्म-सहित आत्मा का नाश हो जाता है फिर भोगनेवाला किस स्वरूप से शेष रह सकता है?

(18.569) अथवा ईश्वर देखता है, वह फलभोग करवाता है ऐसा कहिए, तो जो देव की मूर्ति ही बेच खाता है;

(18.570) नगर के मन्दिरों के देवता कर्म-फल देते हैं कहिए तो जो उत्तर देता है कि फिर दूर दिखाई देनेवाले पर्वत क्यों चुप रहते हैं?

(18.571) इस प्रकार जो कदाचित् देवता को माने तो उसे पत्थर की मूर्ति ही समझता है तथा देह का ही आत्मा समझता है,

(18.572) और जो पाप, पुण्य इत्यादि हैं उन सब को जो मिथ्या कहता और अग्नि-मुख के समान चाहे जिस वस्तु का उपभोग लेना ही जो भला समझता है;

(18.573) जिसकी यही सत्य प्रतीति है कि चर्म-चक्षु जो वस्तु दिखावे, इन्द्रियाँ जिसका चसका लगा दें वही उत्तम है;

(18.574) बहुत क्या कहें, हे पार्थ! जैसे धूम की बेल वृथा ही आकाश में ऊँची उठती है वैसे ही जिसकी स्थिति बढ़ती हुई दिखाई दे,

(18.575) भेंड़ नाम का वृक्ष (जो न गीला न सूखा उपयोगी होता है) जैसे बढ़ा हुआ हो। तथापि टूटे के ही समान है,

(18.576)अथवा ईख के भुट्टे अथवा नपुंसक मनुष्य, या निवडुंग (सेमर?) का लगा हुआ वन,

(18.577) अथवा बालक के मनोरथ या चोरों के घर का धन या बकरी के गले के स्तन

(18.578) की तरह जो ज्ञान निष्फल और बुरा दिखाई देता है उसे मैं तामस ज्ञान कहता हूँ।

(18.579) इसे ज्ञान नाम देना ऐसा ही है जैसे जन्मान्ध के लिए यह कहना कि इसकी आँखें बड़ी हैं,

(18.580) अथवा बहिरे के विषय में कहना कि इसके कान बड़े तीक्ष्ण हैं, अथवा जो पीने-योग्य नहीं है उसे पेय वस्तु कहना, वैसे ही इस तामस ज्ञान को 'ज्ञान' नाम झूठमूठ दिया गया है।

(18.581) अस्तु, कहाँ तक वर्णन करें। तात्पर्य यह कि ऐसा जो ज्ञान देखा उसे ज्ञान नहीं प्रत्यक्ष अन्धकार जानो।

(18.582) हे श्रोताओं के शिरोमणि! तीनों गुणों से भिन्न ज्ञान के जो लक्षण हैं वे हम तुम्हें बतला चुके।

(18.583) अब हे धनुर्धर! इन्हीं तीन प्रकार से कर्ता की क्रियाएँ भी ज्ञान के प्रकाश से गोचर होती हैं।

(18.584) इसलिए जैसे बहते हुए जल के विभाग हो जाय वैसे ही कर्म के भी तीन विभाग हो जाते हैं।

(18.585) उस ज्ञानत्रय के कारण त्रिधा हुए कर्म के विभागों में से सात्विक कर्म ऐसा है, सुनो।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ 18.23 ॥

(18.587) जैसे पतिव्रता अपने प्रियपति को आलिंगन देती है वैसे ही जो कर्म अपने अधिकारानुसार किया जाता है और मान्य होता है,

(18.587) साँवले शरीर पर जैसे चन्दन अथवा स्त्रियों के नेत्रों में जैसे काजल शोभता है, वैसे ही जो कर्म सर्वदा अधिकार को शोभा देनेहारा होता हैं

(18.588) वह नित्य कर्म उत्तम कहा है; और नैमित्तिक कर्म उसका सहकारी हो तो मानों सोने में सुगन्ध ही प्राप्त हो जाती हैं।

(18.589) माता जैसे तन-मन खर्च करके बालक की रक्षा करती है तथापि उससे उकताना कभी नहीं जानती

(18.590) वैसे ही अपना सर्वस्व समझ कर जो कर्म करता है, परन्तु उस कर्म का फल दृष्टि के सन्मुख नहीं रखता, सम्पूर्ण क्रिया ब्रह्म में ही समर्पित करता है;

(18.591) और जैसे प्रियजन भोजन को आवें तो कोई यह नहीं सोचता कि यह पदार्थ मेरे लिए बचेगा या नहीं, वैसे ही यदि सत्कर्म रह जाय

(18.592) तो जो कर्म के न होने से मन में दुखी नहीं होता तथा कर्म बन पड़े तो उस आनन्द से जो फूलना भी नहीं जानता

(18.593) ऐसी-ऐसी युक्ति के साथ जो कर्म करता है उसके उस कर्म को हे धनंजय! सात्विक-सरीखा सत्त्वगुण-सम्बन्धी नाम दिया गया है।

(18.594) अब हम राजस कर्म के लक्षण वर्णन करते हैं, अवधान न्यून मत होने दो।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ 18.24॥

(18.595) मूर्ख जैसे घर में माता-पिता से अच्छी तरह नहीं बोलता पर बाहर सब संसार का आदर करता है,

(18.596) अथवा तुलसी के पेड में दूर से एक छीटा भी नहीं डालता पर द्राक्षा की जड़ में दूध देता है,

(18.597) वैसे ही जो नित्य-नैमित्तिक आवश्यक कर्म हैं उनके नाम से बैठक छोड़ उठ नहीं सकता,

(18.598) पर दूसरे काम्य-कर्मों के लिए जो अपना सब तन और धन भी खर्च करना बहुत नहीं समझता,

(18.599) अजी! जहाँ ड्योढ़ा मूल्य आता है वहाँ बिक्री करने से जैसे कोई नहीं अघाता, बीज बोते हुए जैसे कोई नहीं थकता,

(18.600) अथवा पारस हाथ लगे तो साधक जैसे लोहा मोल लेने के लिए सब सम्पत्ति खर्च कर देता है और उन्नति प्राप्त करता है

(18.601) वैसे ही अगले फल देख कर कठिन-कठिन काम्य-कर्म करता हुआ जो उन्हें थोड़ा ही समझता है,

(18.602) वह फलेच्छा करनेहारा जितनी काम्य क्रियाएँ यथाविधि और भली भाँति करता है उतनी सब क्रियाएँ राजस कर्म हैं।

(18.603) और कर्म कर जो उसके साथ उस कर्म की डोंडी पीटता है और अपने अधिकार के बायन बाँटता फिरता है

(18.604) इस प्रकार जो कर्माभिमान से फूलता है और, कालज्वर जैसे औषधि को नहीं मानता वैसे ही, जो पिता या गुरु का भी नहीं मानता,

(18.605) ऐसे अहंकार से जो फल की इच्छा करनेहारा मनुष्य आदर के साथ जो-जो क्रिया करें वह राजस कर्म है;

(18.606) एवं वह क्रिया भी जो प्रायः कष्ट के साथ करता है, बाजीगर लोग जैसे पेट भरने के लिए कष्ट करते हैं

(18.607) अथवा चूहा जैसे एक कण के लिए सम्पूर्ण पहाड़ में छेद कर डालता है. या दादुर जैसे सेवार खोजने के लिए सम्पूर्ण समुद्र को गँदला कर डालता है

(18.608) या सँपेरा जैसे भीख के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं करता तथापि साँप लिये फिरता है, वैसे ही क्या किया जाय, जिसे कष्ट करना ही भाता है,

(18.609) अथवा एक परमाणु के लाभ के लिए दीमक जैसे पाताल लाँघ जाती है वैसे ही जो स्वर्ग-सुर के लाभ से जो-कुछ श्रम करता है

(18.610) उस सक्लेश और सकाम कर्म का राजस कर्म समझना चाहिए। अब तामस कर्म के लक्षण सुनो।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ 18.25 ॥

(18.611) तामस कर्म उसे कहते हैं जो निन्दा का काला या पापी घर है तथा जिससे निषेध का जन्म सार्थक हुआ है।

(18.612) पानी पर लकीर खींचने से जैसे वह दिखाई नहीं देती वैसे ही जिस कर्म के उत्पन्न होने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता,

(18.613) अथवा जैसे काँजी मथने से या राख फूँकने से अथवा कोल्हू में रेती पेलने से कुछ भी हाथ नहीं आता,

(18.614) अथवा जैसे भूसा फटकना या आकाश छेदना या वायु को फाँसना

(18.615) इत्यादि सब चेष्टाएँ निष्फल हो नष्ट हो जाती हैं वैसे ही जो कर्म किया हुआ निष्फल होता है,

(18.616) परन्तु जिस कर्म के करने में नरदेह जैसा द्रव्य खर्च होता है तथा संसार-सुख का नाश हो जाता है;

(18.617) जैसे कमलवन में कँटीली जाली पंक कमल तोड़ने की चेष्टा करने से निज को क्लेश होता तथा कमलों का नाश होता है,

(18.618) अथवा पतंग जैसे दीपक के द्वेष से स्वयं जलता है और दीपक को बुझा कर दूसरों के लिए अँधेरा कर देता है,

(18.619) वैसे ही सम्पूर्ण धन वृथा जाय और चाहे शरीर का भी घात हो जाय तथापि जो कर्म दूसरों का अपाय दी करता है,

(18.620) जैसे कोई मक्खी निगल ले तो वह अपने शरीर का नाश करती तथा निगलने हारे का वमन कराने का क्लेश पहुँचाती है वैसे ही जो कर्म दोषी होता है;

(18.621) तथा जो कर्म यह विचार न करके किया जाता है कि मुझमें कर्म करने की सामर्थ्य है या नहीं;

(18.622) मेरा प्रयत्न कितना है इसे करते हुए क्या मौका आन पड़ेगा और करने पर भी क्या प्राप्ति होगी

(18.623) इत्यादि विचार को, अविवेक के कारण, मिटा कर अभिमान से जो कर्म किया जाता है, (

(18.624) जैसे आग जब अपने रहने का स्थान जला कर आसपास फैलती है अथवा समुद्र जब अपनी मर्यादा छोड़ फैल जाता है

(18.625) तब जैसे वे दोनों थोड़ा या बहुत नहीं विचारते, आगे-पीछे नहीं देखते, मार्ग या अमार्ग एकत्र करते चलते हैं,

(18.626) वैसे ही जो कर्म कर्तव्य या अकर्तव्य का एक-सा ही रगड़ता चलता है, स्वधर्म या परधर्म कुछ भी श्रेष्ठ नहीं रहने देता वह निश्चय से तामस कर्म है।

(18.627) इस प्रकार दे अर्जुन! हम तीनों गुणों के अनुसार विभिन्न हुए कर्म का विवेचन उपपत्ति-सहित कर चुकी

(18.628) अब ऐसा कर्म करने से कर्माभिमानी कर्त्ता जो जीव है उसे भी त्रिविधता प्राप्त हुई है।

(18.629) जैसे एक ही पुरुष ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रमों के कारण चार तरह का जान पड़ता है वैसे ही कर्मभेद से कर्त्ता को सात्विक, राजस और तामस-रूपी त्रिविधता प्राप्त हुई है।

(18.630) परन्तु उन तीनों में से सम्प्रति हम सात्विक का वर्णन करते हैं। उसे ध्यान दे कर सुनो।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ 18.26॥

(18.631) जैसे मलय पर्वत के चन्दन वृक्षों की शाखाएँ फल की इच्छा छोड़ कर सीधी बढ़ती रहती हैं,

(18.632) अथवा नागबेल [1] में फल न लगने पर भी वह जैसी उपयोगी होती हैं, वैसे ही जो नित्य नैमित्तिक इत्यादि हितकारी क्रियाएँ करता है,

(18.633) उसकी फलशून्यता का अर्थ विफलता न करना चाहिए। क्योंकि हे पाण्डुसुत! जो फल ही है उसमें और फल क्या लगेंगे?

(18.634) और जो आदरसहित अनेक क्रियाएँ करता है परन्तु वर्षाऋतु के मेघसमूह के समान यह अभिमान नहीं रखता कि मैं कर्त्ता हूँ,

(18.635) वैसे ही परमात्मस्वरूप का समर्पण करने के योग्य कर्म उत्पन्न हो, इसलिए

(18.636) जो काल का उल्लंघन नहीं करता, देशशुद्धि भी प्राप्त करता है, तथा शास्त्रों क प्रकाश से कर्मों का निर्णय करता है,

(18.637) इन्द्रियाँ और मनोवृत्तियों की एकता कर जो चित्त को फल की ओर जाने नहीं देता तथा उसे नियमों की साँकल से बाँधे रखता है,

(18.638) और जो सर्वदा यह चिन्ता करता रहता हे कि उक्त प्रतिबन्ध सहने के लिए उत्तम धैर्य प्राप्त हो,

---

[1] पान की बेल।

(18.639) और आत्मप्राप्ति की इच्छा से जो आये हुए कर्म करता है पर देहसुख की परवा नहीं रखता,

(18.640) इस प्रकार ज्यों-ज्यों नींद दूर होती है, ज्यों-ज्यों भूख का स्मरण नहीं हाता, ज्यों-ज्यों शरीर का सुख नहीं मिलता

(18.641) त्यों-त्यों — जैसे सोने का आग में रखने से वह तौल में कम होता पर कस में उत्तम होता जाता है वैसे ही — वह अधिक-अधिक उत्साहित होता जाता है;

(18.642) यदि सच्चा प्रेम हो तो जीवन भी दुःखरूप मालूम होता है, अग्नि में कूदती हुई सती के शरीर पर क्या रोमांच हुए दिखाई देते हैं?

(18.643) फिर हे धनंजय! जो आत्मा जैसे प्रिय जन का प्रेमी है उसे क्या देह-कष्ट होने से दुःख होगा?

(18.644) इसलिए ज्यों-ज्यों विषय-प्रेम टूटता है, ज्यों-ज्यों देह-बुद्धि मिटती जाती हैं त्यों-त्यों जिसे कर्म करने का आनन्द दुगुना होता जाता है,

(18.645 – 646) इस प्रकार जो कर्म करता हैं, गाड़ी अगर पहाड़ से गिर कर टूट जाय तो भी गाडी का जैसे उसका दुःख नहीं होता वैसे ही कर्म बन्द हो जाने से जिसे दुःख नहीं होता,

(18.647) अथवा आरब्ध कर्म पूर्ण सिद्ध हुआ हो तो भी जो उसकी बड़ाई नहीं मारता,

(18.648) जो ऐसे लक्षणों-सहित कर्म करता हुआ दिखाई देता है उसे तत्त्वतः सात्विक कर्त्ता कहते हैं।

(18.649) अब हे धनंजय! राजस कर्त्ता की पहचान यह है कि वह संसार की अभिलाषा का आश्रयस्थान होता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ 18.27 ॥

(18.650) जैसे गाँव के कूड़े-कचरे के लिए घृणा ही एक स्थान है, अथवा सम्पूर्ण अमंगलों का श्मशान में आश्रय मिलता है,

(18.651) वैसे ही जो सम्पूर्ण संसार के मनोरथों के पाँवों के धोये हुए दोषों का घर बन रहा है,

(18.652) इसलिए जिस कर्म से सहज फल-प्राप्ति होती दिखाई दे उसका जो उत्तम उपक्रम करता है,

(18.653) और प्राप्त किये हुए धन में से एक कौड़ी खर्च नहीं करता है, क्षण-क्षण में उस पर से अपने जी की भी निछावर करता है,

(18.654) जैसे कृपण अपना अन्तःकरण अपने धन की ओर रखता है, जैसे बगला मछली का ध्यान धरता है वैसे दी जो दूसरे के धन के विषय सावधान रहता है;

(18.655) बेर की झाड़ी जैसे, पास जाने से, मनुष्य का उलझा लेती और स्पर्श करने से शरीर को छेदती है और उसके फल भी भीतर से पोले होते हैं

(18.656) वैसे ही जो मन से, वाणी से और शरीर से हर किसी को दुःख ही देता रहता है तथा स्वार्थ-प्राप्ति करता हुआ दूसरों का हित नहीं विचारता,

(18.657) तथा जो शरीर से क्षमारूपी कर्म नहीं कर सकता और जिसके मन से भी मलिनता नहीं छूटती,

(18.658) धतूरे के फल में जैसे बाहर काँटे और भीतर नशा भरा रहता है वैसे ही जो अन्तर्बाह्य शुचिता के विषय में दुबला दो रहा है,

(18.559) और हे धनंजय! कर्म करने पर यदि फल प्राप्त हो तो जो हर्ष से संसार को बिराने लगता है,

(18.660) अथवा यदि आरम्भ किया हुआ कर्म निष्फल हो जाय तो दुःख से व्याकुल हो उसका धिक्कार करने लगता है,

(18.661) इस प्रकार जिसका कर्म का व्यवहार देखो वही निश्चय से राजस कर्त्ता है।

(18.662) अब इसके उपरान्त जो कुकर्मों का घर तामस कर्त्ता है उसका भी वर्णन करते हैं।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ 18.28 ॥

(18.663) अग्नि जैसे यह यह नहीं जानती कि मेरे लगने पर पदार्थ कैसे जलता है,

(18.664) शस्त्र जैसे यह नहीं जानता कि मेरी तीक्ष्णता के कारण मृत्यु कैसे हो जाती हैं, अथवा जैसे कालकूट विष अपना फल स्वयं नहीं जानता,

(18.665) वैसे ही हे धनंजय! जो दूसरों का तथा अपना भी घात करता हुआ बुरे कर्मों का आचरण करता है

(18.666) पर उस आचरण के समय जो यह नहीं सोच सकता कि मैं क्या कर रहा हूँ, और आँधी की वायु के समान कर्म में प्रवृत्त होता है,

(18.667) वास्तव में हे धनंजय! कर्तव्य के साथ जिसका कुछ मेल नहीं मिलता, जिसके सन्मुख पागल का भी कुछ ठिकाना नहीं लगता,

(18.668) और बैलों को लगी हुई किलनी के समान जो इन्द्रियों के सन्मुख डाला हुआ चारा चर कर अपना जीवन रखता है,

(18.669) बालक जैसे बिना अवसर के हँसने या रोने लगता है, वैसे ही जो उच्छृंखल व्यवहार करता है,

(18.670) प्रकृति के अधीन होने के कारण जो कर्तव्य या अकर्तव्य कर्मों की रूचि नहीं रखता, तथापि कचरे से घूरे की तरह जो तृप्त हो फूलता है,

(18.671) अतः सन्मान्यता के बल से युक्त हो जो ईश्वर के सन्मुख भी सिर नहीं झुकाता और स्तब्धता के विषय में पर्वतों को भी कुछ नहीं समझता,

(18.672) और जिसका मन कपटी, आचरण उचक्केपन का, और दृष्टि मूर्तिमती वेश्या की ही होती है,

(18.673) बहुत क्या, जिसका मानों शरीर ही कपट का बना हुआ होता है, जिसका जीता रहना जुआरी के खेल का स्थान है,

(18.674) उस मनुष्य का यह जन्म नहीं, केवल लुटेर भीलों का गाँव है, इसलिए वहाँ किसी को आवागमन न करना चाहिए।

(18.675) तथा दूसरों का भला करने से जिसे बैर हैं, जैसे लवण दूध में मिलते ही उसे अपेय बना देता है,

(18.676) अथवा कोई ठण्डा पदार्थ अग्नि में डाला जाय तो अग्नि तत्काल भड़क कर प्रज्वलित हो जाती है,

(18.677) अथवा हे किरीटी! उत्तम-उत्तम पदार्थ पेट में प्रविष्ट होने पर जैसे मलरूप हो जाते हैं,

(18.678) वैसे ही दूसरे का हित जिसके अन्तःकरण में प्रविष्ट हो कर पूर्णतः अहित ही हो निकलता है,

(18.679) जो गुण लेता पर दोष ही देता हैं, और सर्प का पिलाये गये दूध की तरह जो अमृत को भी विष बना देता है,

(18.680) और जब यह मौका हो कि इस लोक में बचानेवाला और परलोक देनेवाला उचित कर्म करना चाहिए

(18.681) तब जिसे स्वभावतः नींद आ जाती है, पर कुकर्म के समय जिससे वही नींद किसी अस्पृश्य वस्तु के समान दूर रहती है,

(18.682) द्राक्षों में रस भरता है उस समय अथवा आमों में रस भरता है तब कौओं का मुँह सड़ जाता है, अथवा दिन के समय जैसे घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं,

(18.683) वैसे ही जब कल्याण का समय होता है तब जिसे आलस-वश कर लेता है परन्तु कुकर्म के समय वही आलस जिसकी आज्ञा में रहता है,

(18.684) समुद्र के पेट में जैसे अखण्ड अँगीठी जल रही है वैसे ही जो अन्तःकरण में खेद बनाये रखता है,

(18.685) कण्डियों की आग में जैसे धुआँ अवश्य होता है, अपानद्वार से निकली हुई वायु जैसे अवश्य ही दुर्गन्ध से युक्त रहती है, वैसे ही जो जन्म-भर विषाद से युक्त रहता है,

(18.686) और हे वीर! जो कल्पान्त के अनन्तर के लाभ की अभिलाषा से युक्त हो व्यापार में प्रवृत्त होता है,

(18.687) हृदय में चिन्ता तो संसार से भी परे की रखता है पर कर्तव्य देखो तो जिसे तृण का भी लाभ नहीं होता,

(18.688) ऐसा जो संसार में मूर्तिमान पापों का समूह दिखाई दे वह सर्वथा तामस कर्ता है;

(18.689) एवं हे सुजनों के राजा! कर्म, कर्ता और ज्ञान तीनों के त्रिधा लक्षण हम तुमसे वर्णन कर चुके।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ 18.29 ॥

(18.690) अब अविद्यारूपी नगर में मोहरूपी वस्त्र पहन कर और सन्देह-रूपी अलंकार धारण कर

(18.691) आत्मनिश्चयरूपी निज की सुन्दरता जिस बुद्धिरूपी दर्पण में मूर्तिमान दिखाई देती हैं उस बुद्धि के भी तीन भेद हैं।

(18.692) अजी, संसार में कौन-सी वस्तु हैं जो सत्त्व इत्यादि गुणों से त्रिधा नहीं हुई है!

(18.693) जिसमें अग्नि नहीं है ऐसी कौन-सी लकड़ी है, वैसे ही दृश्य वर्ग में कौन-सी वस्तु है जो त्रिविध नहीं है?

(18.694) अतः तीनों गुणों के कारण बुद्धि त्रिगुणित हुई है और उसी प्रकार धृति भी भिन्न हुई है।

(18.695) अतः इन भिन्न हुई वस्तुओं का वर्णन अलग-अलग लक्षणों-सहित करते हैं।

(18.696) प्रथम हे धनंजय! बुद्धि और धृति दोनों में से बुद्धि के भेदों का वर्णन सुनो।

(18.697) हे उत्तम योद्धा! संसार में प्राणियों के आने के मार्ग उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के हैं।

(18.698) जो कर्तव्य कर्म, काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म हैं वे यही तीन प्रसिद्ध मार्ग हैं! इन्हीं से जीवों का संसार-भय की प्राप्ति होती हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 18.30 ॥

(18.699) अतः संसार में अपने अधिकारानुसार और विधि के मार्ग से आया हुआ जो नित्य कर्म है वही एक उत्तम है।

(18.700) आत्मप्राप्ति-रूपी फल को दृष्टि के सन्मुख रख उसी कर्म का इस प्रकार आचरण करना चाहिए जैसे कि प्यास बुझाने के लिए जल-पान किया जाता है।

(18.701) इस रीति से बह कर्म जन्म-भय का दुःख मिटा देता है और मोक्ष का लाभ सुगम कर देता है।

(18.702) जो सज्जन इस प्रकार कर्म करता है वह संसार-भय से मुक्त हो जाता है और उस कर्म के बल से मुमुक्षु का पद प्राप्त कर लेता है।

(18.703) फिर, जो बुद्धि वैसा ही दृढ निश्चय रखती है उसे मोक्ष इस प्रकार प्राप्त हो जाती है मानों वह उसी के लिए रक्खी हुई थी।

(18.704) इस प्रकार प्रवृत्ति की भूमिका पर निवृत्ति की ही रचना की गई है तो फिर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए कि न होना चाहिए?

(18.705) प्यासे का जैसे जल से जीवन प्राप्त होता है, बाढ़ में गिरे हुए को जैसे तैरने से, अथवा अँधेरे कुएँ में गिरे हुए का सूर्य की किरणों से ही गति मिल सकती है,

(18.706) अथवा जैसे पथ्य और औषधि मिले तो रोगग्रस्त मनुष्य भी जी जाता है, अथवा मछली को जल का आश्रय मिले

(18.707) तो जैसे उसके जीवन का कुछ अपाय नहीं होता वैसे ही इस नित्य-कर्म के करने से अवश्य ही मोक्ष का लाभ होता है।

(18.708) इस नित्यकर्म की ओर जो शुद्ध बुद्धि प्रवृत्त होती है, और आचरण के लिए जो कर्म हैं

(18.709) अर्थात् जो काम्य इत्यादि संसार-भय देनेवाले कर्म हैं, जिन पर निषिद्धता की मुहर लगी हुई है,

(18.710) उन अकरणीय और जन्म-मरण का भय देनेवाले कर्मों ओर से जो बुद्धि, प्रवृत्ति को, पिछले पाँवों भगाती है,

(18.711) अग्नि में जैसे प्रवेश करते नहीं बनता, अथाह पानी में जैसे डूबा नहीं जाता, अत्यन्त प्रखर शूल जैसे पकड़ा नहीं जाता,

(18.712) काले नाग को फुफकारते देख उस पर जैसे हाथ नहीं डाला जाता, अथवा बाघ की गुफा में जैसे जाया नहीं जाता,

(18.713) वैसे ही निषिद्ध कर्म देख कर जिस बुद्धि का अवश्य ही महाभय उत्पन्न होता है,

(18.714) विष मिला कर अन्न पकाया गया हो तो जैसे मृत्यु अवश्यम्भावी है, वैसे ही जो बुद्धि जानती है कि निषिद्ध कर्मों से जन्म-मरण-रूपी बन्ध नहीं टूटता,

(18.715) और ऐसे बन्ध-भय से भरे हुए निषिद्ध कर्म के प्राप्त होने पर जो बुद्धि इस कर्म का त्याग करने का प्रबन्ध करना जानती हैं,

(18.716) तथा जो कार्य और अकार्य का विवेक रखती हैं, जो प्रवृत्ति-निवृत्ति का माप करनेहारी है, रत्नों का परखैया जैसे अच्छा-बुरा रत्न पहचान लेता है

(18.717) वैसे ही जो कर्तव्य और अकर्तव्य की उत्तम परख करना जानती है वही बुद्धि सात्विक है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ 18.31 ॥

(18.718) बगलों के गाँव में जैसे दूध और पानी मिला हुआ ही पिया जाता हैं (अलग नहीं किया जाता), अथवा अन्धा जैसे दिन और रात का भेद नहीं जानता,

(18.719) जो फूलों के मकरन्द का सेवन करता है वही लकड़ी में भी छेद करता है पर जैसे उसका भ्रमरत्व नष्ट नहीं होता,

(18.720) वैसे ही जो बुद्धि कार्य और अकार्य, धार्मिक और अधार्मिक विषयों का यथार्थतः न समझ कर उनका आचरण करती हैं,

(18.721) अजी! जैसे परखे बिना मोती लिये जाय तो कदाचित् ही अच्छे मिलें, वरन् अच्छे न मिलना तो रक्खा ही हुआ है,

(18.722) वैसे हो जो बुद्धि निषिद्ध कर्म कदाचित् प्राप्त न हो तो ही बचती है अन्यथा जो भले-बुरे दोनों कर्मों का समान ही आचरण करती है,

(18.723) जैसे कोई योग्यायोग्य का विचार न करके सब जन-समुदाय का निमन्त्रण दे, वैसे ही जो बुद्धि उत्तम कर्म की परख नहीं करती उसे राजसी कहते हैं।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ 18.32 ॥

(18.724) और जैसे राजा जिस मार्ग से जाता है वही चोर के लिए जंगल का रास्ता है (यानी राजमार्ग चोर के काम का नहीं),अथवा राक्षस के लिए जैसे दिन का प्रकाश ही रात है,

(18.725) अथवा भाग्यहीन के लिए गड़ा हुआ द्रव्य जैसे कोयले का ढेर बन जाता है, अथवा स्वयं विद्यमान रहते हुए भी जैसे कोई अपने का अविद्यमान समझ ले

(18.726) वैसे हो जितने धर्म-विषय हैं उतने सब, जिस बुद्धि को, पापरूप दिखाई देते हैं; सत्य को जो मिथ्या ही समझती है,

(18.727) सम्पूर्ण शुद्ध अर्थों का जो विपरीत अर्थ करती है, जो-जो अच्छे गुण हैं उन्हें जो दोष ही मानती है,

(18.728) बहुत क्या, वेदों ने जिन विषयों को आश्रय दे मान्य किया है उन सबों को जो विपरीत ही समझती है

(18.729) उसे हे पाण्डुसुत! बिना किसी से पूछे तामसी बुद्धि समझना चाहिए। रात की सत्यता सिद्ध करने के लिए क्या धर्मशास्त्रों के अर्थ देखने की आवश्यकता होती है?

(18.730) इस प्रकार हे ज्ञानरूपी कमल के सूर्य! बुद्धि के तीनों भेद हम तुमसे विशद रीति से कह चुके।

(18.731) अब इसी बुद्धिवृत्ति से जब कर्मों का निश्चय किया जाता है तब जिस धृति का उपक्रम होता है वह धृति भी त्रिविध है।

(18.732) उस धृति के भी तीनों विभागों का उनके लक्षणों-सहित वर्णन करते हैं, सुनो।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 18.33 ॥

(18.733) सूर्य का उदय होते ही जैसे चोरी और अन्धकार दोनों का अन्त हो जाता है, अथवा जैसे राजा की आज्ञा से बुरे कर्मों का प्रतिबन्ध हो जाता है,

(18.734) अथवा वायु का वेग तीव्र हो तो मेघ जैसे गर्जना करते और स्वयं अपना शरीर भी छोड़ देते हैं,

(18.735) अथवा अगस्त्य का दर्शन होते ही समुद्र जैसे चुप हो जाते हैं, अथवा चन्द्र का उदय होते ही कमल जैसे बन्द हो जाते हैं,

(18.736) अथवा सिंह यदि सन्मुख आ खड़ा हो तो मदोन्मत्त हाथी उठाया हुआ पाँव आगे नहीं रख सकता,

(18.737) वैसे ही अन्तःकरण में जिस धैर्य का उदय होने से मन इत्यादि अपने व्यापार फौरन छोड़ देते हैं,

(18.738) और हे किरीटी! इन्द्रियों के और विषयों के सम्बन्ध आप ही आप छूट जाते हैं, दसों इन्द्रियाँ मनरूपी माता के पेट में समा जाती हैं,

(18.739) ऊर्ध्ववायु और अधोवायु का मार्ग बन्द कर प्राण नवों वायुओं की गठड़ी बाँध सुषुम्ना में कूद पड़ता है,

(18.740) और मन संकल्प-विकल्प-रूपी आवरण छोड़ कर बुद्धि के पीछ्र चुपचाप जा बैठता है,

(18.741) इस प्रकार जो धैर्यराज मन, प्राण और इन्द्रियों से उनके व्यापारों का समारम्भ छुड़वा देता है,

(18.742) और फिर उन सबों को अकेले रख योग की युक्ति से ध्यान के हृदयकमल में बन्द कर देता है,

(18.743) और जब तक वे परमात्मा-रूपी चक्रवर्ती का उसके हाथ बिना रिश्वत लिये न सौंप दें तब तक जो धैर्य उन्हें पकड़े रहता है,

(18.744) वह धैर्य, श्रीलक्ष्मीकान्त अर्जुन से कहते हैं, केवल सात्विक धैर्य कहलाता हैं।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ 18.34 ॥

(18.745) जो निज का शरीर समझ कर धर्म, अर्थ और काम-रूपी तीन उपायों से स्वर्ग और संसार दोनों घर रहता और पेट भरता है

(18.746) वह मनुष्य मनोरथरूपी समुद्र में धर्म, अर्थ और कामरूपी जहाजों के द्वारा जिस बल से युक्त हो व्यापार करता है,

(18.747) जिस धृति के बल से ऐसा साहस करता हैं कि जिस कर्म की पूँजी लगावे उसके चौगुने का लाभ उठाता है

(18.748) उसे हे पार्थ! राजस धृति कहते हैं। अव तीसरी जो तामस है सो सुनो।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ 18.35 ॥

(18.749) कोयला जैसे कालेपन का ही बनाया हुआ है वैसे ही जो सब अधम राखों का ही रूप है.

(18.750) – यदि कोई कहे कि प्राकृत और निकृष्ट वस्तु भी क्या 'गुण' विशेषण के योग्य है, तो राक्षस भी क्या पुण्यजन नहीं कहलाता?

(18.751) ग्रहों में जो अग्नि रूप है उसे जैसे मंगल कहते हैं वैसे ही साधारणतः तम को गुण शब्द लगाया गया है –

(18.752) हे उत्तम योद्धा! जो सब दोषों के बसने का स्थान है, जिस मनुष्य की गठन तम को ही सिद्ध कर संगठित हुई है

(18.753) वह आलस का काँख में ही दबाये रहता है। अतः जैसे पापों का पोषण करने से दुःख नहीं छोड़ते वैसे ही उसे कभी निद्रा नहीं छोड़ती।

(18.754) और पत्थर को जैसे कठिनता नहीं छोड़ सकती वैसे ही शरीर और धन के लाभ के कारण उसे भी भय नहीं छोड़ता।

(18.755) कृतघ्न मनुष्य से जैसे पाप दूर नहीं जा सकता वैसे ही वह तामसी मनुष्य, पदार्थ-मात्र से प्रीति होने के कारण, शोक का घर ही बन जाता है

(18.756) और वह रात-दिन हृदय में असन्तोष रखता है इसलिए विषाद उससे मित्रता करता है।

(18.757) लहसुन को जैसे दुर्गन्ध नहीं छोड़ती, अथवा अपथ्य करनेहारे को रोग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार विषाद उससे, उसके मरते दम तक, मित्रता रखता है।

(18.758) और वह अपने यौवन का, अपने धन का और काम का घमण्ड रखता है इसलिए मद भी उसे अपना घर बना लेता है।

(18.759) उष्णता जैसे अग्नि का नहीं छोड़ती, ऊँची जाति का साँप जैसे बैर नहीं छोड़ता, अथवा भय जैसे सर्वदा सब जगत् से वैर रखता है,

(18.760) अथवा काल जैसे कभी शरीर को भूल नहीं सकता, वैसे ही मद भी तामसी मनुष्य में अटल बना रहता है।

(18.761) इस प्रकार तामसी मनुष्य में निद्रा इत्यादि ये पाँचों दोष जिस धृति ने धारण किये हैं

(18.762) उस धृति का नाम — जगत् के देव श्रीकृष्ण कहते हैं — तामसी धृति है।

(18.763) यों त्रिविध बुद्धि के द्वारा प्रथम जो कर्म निश्चय किया जाता है वह इस धृति से सिद्ध होता है।

(18.764) सूर्य से मार्ग प्रकट होता है और पाँवों से उस मार्ग से, चलते हैं, पर जैसे चलने की क्रिया धैर्य के ही कारण होती है

(18.765)वैसे ही बुद्धि कर्म का प्रकट करती है और वह कर्म इन्द्रिय-सामग्री से किया जाता है, परन्तु उस क्रिया के लिए जो धैर्य आवश्यक हैं

(18.766) वही यह त्रिविध धृति है जिसका हमने अभी वर्णन किया। इस धृति से त्रिविध कर्मों की निष्पत्ति होने पर

(18.767) जो एक फल उत्पन्न होता है, जिसे कि सुख कहते हैं, वह भी कर्मानुसार त्रिविध हुआ हैं।

(18.768) अतः अब फलरूप जो सुख त्रिधा भिन्न है उसका हम उत्तम शब्दों से शुद्ध निरूपण करते हैं।

(18.769) वह शुद्धता ऐसी है कि शब्द के द्वारा उसके निरूपण का ग्रहण करने से कदाचित् कर्णरूपी हाथ का मल उसे लग जाय

(18.770) इसलिए उसे प्रेमयुक्त अन्तःकरण से (जिसका कि उपरोध करने से अवधान भी चला जाता है) श्रवण करना चाहिए।

(18.771) ऐसा कह कर श्रीकृष्ण ने त्रिविध सुख के निरूपण का प्रस्ताव किया। उसी वृत्तान्त का हम वर्णन करते हैं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ 18.36 ॥

(18.772) श्रीकृष्ण कहते हैं हे प्राज्ञ! त्रिविध सुख के लक्षण कहने की जो हमने प्रतिज्ञा की थी सो सुनो।

(18.773) हे किरीटी! सुख का रूप हम वह समझते हैं कि जो जीव को आत्मा की भेंट होने पर प्राप्त हो

(18.774) जैसे दिव्य औषधि मात्रा-मात्रा के प्रमाण से ली जाती है, अथवा राँगे की चाँदी, कीमिया की कृति से, पुटों पर पुट देकर बनाई जाती है,

(18.775) अथवा लवण का पानी करने के लिए जैसे उसे दो-चार बार जल से धोना पड़ता है,

(18.776) वैसे ही थोड़ा-सा सुख हो तो बारबार वही अभ्यास करने से जहाँ जीव-दशा के दुःख का नाश हो जाता है

(18.777) वही आत्मसुख है। वह त्रिगुणात्मक है। अब हम उसके एक-एक रूप का वर्णन करते हैं।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ 18.37 ॥

(18.778) साँपों से वेष्टित होने के कारण जैसे चन्दन की जड़ भयानक होती है, अथवा गड़े हुए हण्डे का मुँह जैसे — उस पर रहनेहारे भूत के कारण — भयानक होता है,

(18.779) स्वर्ग जैसे सुन्दर होता है पर उसको पाने के लिए यज्ञरूपी संकट आ पड़ते हैं, (यानी यज्ञ किये जाय तब कहीं स्वर्ग मिले) अथवा बालक ऊधम मचाता है अतः उसकी बाल्यावस्था पीडा-कारक जान पड़ती है,

(18.780) अथवा दीपक जलाने के पूर्व जैसे धुआँ अवघट जान पड़ता है, [1] अथवा मुँह पर रखते ही जैसे औषधि कड़वी लगती हैं,

(18.781) वैसे ही हे पाण्डव! जिस सुख का आरम्भ दुःखद होता है, तथा जिस में यम, दम इत्यादि साधनों का समुदाय इकट्ठा करना पड़ता है,

(18.782) जिससे ऐसा वैराग्य उठता है कि जो सब विषय-प्रीति को चपेट लेता और स्वर्ग और संसाररूपी प्रतिबन्ध का निकाल फेंकता है,

---

[1] पुराने जमाने मे चिराग जलाने के लिए आग जलानी पड़ती थी और आग जलाते समय आँखों को धुआँ लगता ही है।

(18.783) जिसमें विवेक का श्रवण, तथा तीव्र और कठोर व्रतों का आचरण करते-करते बुद्धि इत्यादि के लत्ते उड़ जाते हैं,

(18.784) जिसमें सुषुम्नारूपी मुँह में प्राण और अपान वायु के प्रवाह लील लिये जाते हैं, आरम्भ में ही जहाँ इतने भारी क्लेश हैं,

(18.785) सारस की जोड़ी का वियोग होने से, पन्हाई हुई गाय के पास से बछड़े को दूर खींचने से, मँगते को परोसी हुई थाली पर से भगाने से जैसा दुःख होता है,

(18.786) अथवा माता के सामने से मृत्यु यदि उसके इकलौते बालक का उठा ले जाय तो उसे अथवा जल से जुदा होने पर मीन को जैसे दुःख होता है

(18.787) वैसे ही जहाँ वैराग्ययुक्त वीर, इन्द्रियों को विषयों का घर छोड़ते हुए जो युगान्त-सा दुःख होता है उसे सहते हैं,

(18.788) इस प्रकार जिस सुख का आरम्भ कठिन और क्षोभकारक है परन्तु चीरसमुद्र से जैसे अमृत का लाभ होता है

(18.789) वैसे ही यदि पहले वैराग्यरूपी विष के लिए धैर्यरूपी शंकर अपना कण्ठ आगे करें तो जहाँ ज्ञानरूपी अमृत का आनन्द दिखाई देता है,

(18.790) द्राक्षा के फलों की हरियाली तक्षक को भी हराती है पर पकने पर जैसे इसमें माधुर्य भर जाता है,

(18.791) वैसे ही आत्म-प्रकाश के बल से वैराग्य इत्यादि का जब परिपाक होता है तब वैराग्य के संग अविद्या-समूह का नाश हो जाता है

(18.792) और फिर सागर में जैसे गंगा वैसे आत्मा में बुद्धि के मिलने से आप ही आप अद्वयानन्द की खानि प्रकट होती है;

(18.793) इस प्रकार जिस सुख के मूल में वैराग्य है और जो आत्मानुभवप्राप्तिरुपी परिणाम को प्राप्त होता है उसे सात्विक कहते हैं।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ 18.38॥

(18.794) हे धनंजय! विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से जो सुख दोनों तीरों पर से उभराने लगता है,

(18.795) जैसे किसी अधिकारी के नगर-प्रवेश का उत्सव अच्छा लगता है अथवा ऋण लेकर किया हुआ विवाह, करते समय, सुखकारी होता है,

(18.796) अथवा रोगी को मुँह पर रक्खा हुआ केला और शक्कर खाते में मीठी लगती है, अथवा जैसे बचनाग की आरम्भ की मिठास भली लगती है,

(18.797) अथवा जैसे साहु-चोर की मित्रता प्रथम सुखदायक होती है, जैसे बाजार की वेश्या का आचरण प्रथम प्रिय मालूम होता है, जैसे बहुरूपिये के विचित्र खेलों से आनन्द होता है

(18.798) इसी प्रकार विषय और इन्द्रियों के संयोग से जीव को प्रथम सुख होता है परन्तु फिर परिणाम वैसा ही दुःखदायक है जैसे हंस चट्टान पर से बहते हुए पानी में तारों के प्रतिबिम्ब को रत्न समझ कर कूदने पर फँस जाता है;

(18.799) इसी प्रकार सब पूर्व-सम्पादित लाभ की हानि हो जाती है, जीवन का ठाँव मिट जाता है और पुण्यरूपी धन की भी गाँठ छूट जाती है,

(18.800) और जो कुछ भोग भोग लिये हों वे स्वप्न के समान विलीन हो जाते हैं और केवल दुःख की राशि में लोटते रहना ही शेष रह जाता है।

(18.801) इस प्रकार जो सुख इस लोक में विपत्तिरूप परिणाम पाता है वह परलोक में विषरूप हो प्रकट होता है।

(18.802) क्योंकि इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण कर धर्मरूपी बगीचा जला कर विषयों के समारोह का जो भोग लिया जाता है

(18.803) उससे पापों का बल बढ़ता है और वे नरक में जा रहते हैं। जिस सुख से परलोक में ऐसा अपाय होता है

(18.804) जैसे मधुर नामक विष, जो नाम से तो मधुर है पर परिणाम में अवश्य ही मारक होता है, वैसे ही जो सुख प्रथम मधुर पर अन्त में कटु होता है

(18.805) वह सुख हे पार्थ! सचमुच रजोगुण का ही बना हुआ है। अतएव उसे कभी स्पर्श न करो।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ 18.39॥

(18.806) अपेय वस्तु के पीने से, अखाद्य वस्तु के खाने से, और इच्छानुसार स्त्रीसंग करने से जो सुख होता है,

(18.807) अथवा दूसरों को मारने से या दूसरों का द्रव्य हर लेने से, अथवा भाटों के मुख से की कीर्तिश्रवण करने से जो सुख उत्पन्न होता है,

(18.808) जो आलस्य से पुष्ट होता है, जो निद्रा में दिखाई देता है, जिसके आरम्भ में तथा परिणाम में मनुष्य आत्मलाभ का मार्ग भूल जाते हैं

(18.809) उस सुख को हे पार्थ! सर्वथा तामस जानो। इसका वर्णन विशेष नहीं बढ़ाते हैं क्योंकि वह निन्द्य ही है।

(18.810) इस प्रकार मुख्य फल का सुख भी, जो कर्मभेद से त्रिधा हुआ है, हम तुमसे शास्त्रानुसार व्यक्त कर चुके।

(18.811) तात्पर्य यह कि इस स्थूल या सूक्ष्मसृष्टि में केवल कर्त्ता, कर्म और फलरूपी त्रिपुटी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(18.812) और यह त्रिपुटी तो, हे किरीटी! पट जैसे तन्तुओं से बुना हुआ रहता है, वैसे तीन गुणों से बुनी हुई है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ 18.40 ॥

(18.813) इसलिए स्वर्ग में या मृत्युलोक में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं जो सत्त्व इत्यादि से (जो प्रकृति का आभास है) सम्बद्ध न हो।

(18.814) ऊन के बिना कम्बल कैसे रह सकता है, मिट्टी के बिना ढेला कैसे रह सकता है, अथवा जल के बिना तरंग कैसे हो सकती हैं?

(18.815)वैसे ही गुण के न होने पर सृष्टि का व्यापार करनेहारा कोई प्राणी हई नहीं।

(18.816) अतः यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल तीनों गुणों की बनी हुई है।

(18.817) गुणों से ही देवों की — ब्रह्मा, विष्णु और महेश-रूपी — त्रयी की है। गुणों से ही लोकों की, स्वर्ग, मृत्यु, और पाताल-रूपी त्रिपुटी हुई हैं, और गुणों से ही चारों वर्णों के जुदे-जुदे कर्म नियत हुए हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ 18.41 ॥

(18.818) ये चारों वर्ण कौन से हैं? वही जिनमें कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं,

(18.819) और दूसरे जो क्षत्रिय और वैश्य हैं वे भी ब्राह्मणों के समान ही माने जाते हैं क्योंकि वे भी वैदिक क्रियाओं के लिए योग्य हैं।

(18.820) चौथे जो शुद्र हैं उन्हें हे धनंजय! वेदों का अधिकार नहीं है, तथापि उनकी उपजीविका अन्य तीनों वर्णों के अधीन होती है।

(18.821) उस सेवा-वृत्ति के सान्निध्य से ही मानों ब्राह्मण इत्यादि तीन वर्णों की पंक्ति में शूद्र एक चौथा वर्ण हो गया है।

(18.822) जैसे फूलों के संग से श्रीमान मनुष्य डोरा भी सूँघते है उसी प्रकार श्रुति, ब्राह्मण के संग के कारण, शुद्र का भी स्वीकार करती है।

(18.823) ऐसी हे पार्थ चतुर्वर्ण व्यवस्था है। अव इनके कर्म-मार्ग का स्पष्टीकरण करते हैं

(18.824) जिससे कि ये चारों वर्ण जन्ममृत्युरूपी संकट से छूट कर ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट हो सकते हैं।

(18.825) आत्मप्रकृति के सत्त्व इत्यादि तीन गुणों ने कर्मो के चार विभाग कर उन्हें चारों वर्णों में बाँट दिया हैं।

(18.826) जैसे पिता का सम्पादित किया हुआ धन बेटों में बाँटा जाय, अथवा सूर्य जैसे पथिकों का मार्ग बाँट दे, अथवा स्वामी जैसे अपने सेवकों को जुदे-जुदे व्यापार बाँट दे,

(18.827) वैसे ही प्रकृति के गुणों ने इन चारों वर्णों में कर्मो का बटवारा किया है।

(18.828) उनमें से सत्त्व ने अपने सम-विषम भाग से ब्राह्मण और क्षत्रिय दो उत्तम वर्ण उत्पन्न किये;

(18.829) और सत्त्वमिश्रित रज से वैश्य उत्पन्न हुए और तमोमिश्रित रज से शूद्र उत्पन्न हुए।

(18.830) इस प्रकार हे प्रबुद्ध! इन गुणों ने एक ही प्राणिसमूह में चार वर्णों का भेद उत्पन्न किया है।

(18.831) और अपना ही रक्खा हुआ धन जैसे दीपक के सहाय से रक्खा-रखाया दिखाई देता है वैसे ही शास्त्र-गुणानुसार भिन्न होनेहारे कर्मों का प्रकट करता है।

(18.832) अब वे वर्णविहित कर्म कौन-कौन से हैं, उनके लक्षण क्या हैं, सो कहते हैं। हे भाग्यवान! सुनो।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ 18.42 ॥

(18.833) प्रिया जैसे एकान्त में अपने पति से मिलती है वैसे ही जब सब इन्द्रिय-वृत्तियों को अपने हाथ में ले बुद्धि आत्मा से जा मिलती है,

(18.834) तब उसके इस प्रकार विराम पाने का शम कहते हैं। यह शम नामक गुण जिस कर्म के आरम्भ में है,

(18.835) और इन्द्रियों के समुदाय को विधिरूपी डण्डे से पीट कर कभी उसे अधर्म की ओर न जाने देनेहारा

(18.836) तथा शम का सहाय करनेहारा दम नामक गुण जिस कर्म में दूसरा है, तथा तप नामक गुण (स्वधर्म का आचरण कर जीवन रखना,

(18.837) तथा जन्म-दिन से छठी रात को जैसे दिया न बुझने देना चाहिए, वैसे ही सदा अन्तःकरण में ईश्वर का विचार करना

(18.838) तप कहाता हैं) जिस कर्म में तीसरा है, और शौच (जहाँ दो प्रकार की पापरहित शुचिता है

(18.839) अर्थात् मन निर्मल विचारों से भरा है और शरीर सत्कर्मों से अलंकृत हो रहा है, इस प्रकार जीवन का जो अन्तर्बाह्य उत्तम होना है

(18.840) उसे हे पार्थ! शौच कहते हैं) जिस कर्म में चौथा गुण है और क्षमा (पृथ्वी के समान सव प्रकार से सब कुछ सहना ही

(18.841) हे पाण्डव! क्षमा कहाता है) गुण जिस कर्म में पाँचवाँ है, (स्वरों में जैसा पंचम स्वर मधुर होता है वैसा ही यह पाँचवाँ गुण है)

(18.842) और ऋजुता (प्रवाह टेढा बहता हो तथापि गंगा सरल ही है, अथवा ईख टेढ़ा-मेढ़ा झुका हुआ हो तथापि उसकी मधुरता समान ही रहती है

(18.843) वैसे ही दुःखद प्राणियों से भी भली भाँति सरल रहना ऋजुता है) जिस कर्म का छठा गुण है, और ज्ञान

(18.844) (जिसे माली प्रयत्न कर वृक्षों की जड़ों में पानी डालने में अथक श्रम करता है परन्तु वे सब श्रम फल-दायक होते हैं

(18.845) वैसे ही शास्त्र के अनुसार आचरण करने पर एक ईश्वर की ही प्राप्ति होने की बात निश्चय से जानना ही ज्ञान है)

(18.8546) जिस कर्म का सातवाँ गुण है और गुणरत्न विज्ञान

(18.847) (सत्त्वशुद्धि के समय, शास्त्र के विचार-द्वारा, अथवा ध्यान के बल से, निश्चयात्मिका बुद्धि ईश्वरतत्त्व से मिल जाय

(18.848) उसे उत्तम विज्ञान कहते हैं) जिस कर्म में आठवाँ है और आस्तिक्य

(18.849) (राजा की मुहर जिसके हाथ है वह कोई हो, प्रजा उसका आदर करती है, वैसे ही जिस मार्ग का शास्त्रों ने स्वीकार किया है

(18.850) उसका आदर से मानना ही आस्तिक्य है जिससे कि कर्म चरितार्थ होता है) जिसका नवाँ गुण है;

(18.851) इस प्रकार जिस कर्म में ये शम इत्यादि नवों गुण निर्दोष हैं उसी को ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म समझो।

(18.852) ब्राह्मण इन नौ गुणरत्नों का समुद्र होता हुआ, इन नौ रत्नों का हार कभी जुदा न करके पहने ही रहता है। प्रकाश अलग न करके जैसे सूर्य उससे अलंकृत रहता है,

(18.853) अथवा चम्पा का वृक्ष जैसे चम्पा के फूल से सुशोभित रहता है, अथवा चन्द्रमा जैसे अपनी चाँदनी से प्रकाशित रहता है, अथवा चन्दन अपनी ही सुगन्ध से चर्चित रहता है,

(18.854) वैसे ही इन नौ गुणों से जड़ा हुआ हार ब्राह्मण का निर्दोष अलंकार है। वह कभी ब्राह्मण के शरीर से जुदा नहीं होता।

(18.855) अब हे धनंजय! क्षत्रिय को जो कर्म उचित है उसका वर्णन करते हैं, खूब ध्यान से सुनो।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ 18.43॥

(18.856) तेज के लिए जैसे सूर्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता, अथवा जैसे सिंह कोई दूसरा सहकारी नहीं खोजता

(18.857) वैसे ही स्वयं आप ही बलवान होना, किसी की सहायता बिना ही शूर होना, यह जिसमें पहला गुण हैं, –

(18.858) और जैसे सूर्य के प्रताप से करोडों तारे लुप्त हो जाते हैं, सूर्य न रहे तो चन्द्र और तारों का लोप नहीं होता,

(18.859) वैसे ही अपने बलिष्ठ गुण से संसार का आश्चर्य-चकित करना और स्वयं किसी वस्तु से क्षुब्ध न होना ऐसा

(18.860) जो तेज का प्रगल्भरूप है वह जिस कर्म का दूसरा गुण है — और धैर्य जिसका तीसरा गुण है,

(18.861) (यहाँ धैर्य उसे समझो कि जिसके ऊपर यदि आकाश भी आ गिरे तथापि मनरूपी बुद्धि के नेत्र जरा भी न मिंचें

(18.862) और जैसे पानी चाहे जितना हो पर कमल उसके ऊपर ही जा फूलता है, अथवा उँचाई में जैसे आकाश ने प्रत्येक वस्तु को जीत लिया है,

(18.863) वैसे दी हे पार्थ! अनेक अवस्थाएँ उपस्थित होते हुए उन्हें बुद्धि से जीत कर फलरूप अर्थ में प्रवेश करना

(18.864) यह जो शुद्ध दक्षता है सो जिस कर्म का चौथा गुण है, – और असाधारण युद्ध करना जिसका पाँचवाँ गुण हैं,

(18.865) सूर्यमुखी के फूल जैसे सदा सूर्य के सन्मुख ही रहते हैं वैसे ही सदा शत्रु के सन्मुख रहना,

(18.866) गर्भवती स्त्री का समागम जैस प्रयत्न के साथ टालना चाहिए वैसे ही युद्ध के समय शत्रु को पीठ न दिखाना

(18.867) यह क्षत्रियों के कर्म का पाँचवाँ और सबसे श्रेष्ठ गुण है, जैसे कि चारों पुरुषार्थों में भक्ति ही श्रेष्ठ है, –

(18.868) और वृक्ष की शाखा जैसे निज से उत्पन्न हुए फूल और फल दे देती है, अथवा कमलों का सरोवर जैसे सुगन्ध के विषय में उदार रहता हैं,

(18.869) अथवा जैसे हर कोई चाहे जितनी चाँदनी ले सकता हैं, वैसे ही दूसरे के संकल्प के अनुसार देना,

(18.870) ऐसा अपरिमित दान जिस कर्म का छठा गुण रत्न है, – और वेदाज्ञा का एकनिष्ठता से पालन करना

(18.871) जैसे अपने अवयवों का पोषण करते से ही इनके द्वारा अपने इच्छानुसार कर्म कर सकते हैं, वैसे ही केवल वेदाज्ञा पालन करने के लोभ से जगत् का उपभोग लेना

(18.872) ईश्वर-भाव कहाता है जो कि सब सामर्थ्य का घर है; यह गुणों का राजा जिस कर्म में सातवाँ हैं, –

(18.873) ऐसा जो कर्म इन शौर्य इत्यादि सात गुण विशेषों से अलंकृत है; जैसे सप्त ऋषियों से आकाश

(18.874) वैसे ही जो कर्म इन सात गुणों से चित्रित हैं, तथा जो जगत् में पवित्र समझा जाता है, वह क्षात्र नामक क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म हैं।

(18.875) अथवा वह पुरुष क्षत्रिय नहीं, वह सत्त्वरूपी सुवर्ण का मेरु ही हैं, अतः वह इन सात गुणरूपी स्वर्ग का आधार हैं;

(18.876) अथवा वह सप्त गुणों से युक्त कर्म नहीं करता, मानों सप्तगुणरूपी समुद्रों से वेष्टित पृथ्वी के राज्य का ही उपभोग लेता है;

(18.877) अथवा उसकी क्रिया संसार में मानों सात गुणरूपी प्रवाहों में बहती हुई गंगा है और वह स्वयं महासागर है जिसमें वह गंगा शोभा दे रही है।

(18.878) परन्तु यह सब जाने दो। तात्पर्य यह कि शौर्य इत्यादि गुणात्मक कर्म क्षत्र-जाति का स्वाभाविक कर्म है।

(18.879) अब हे महामते! वैश्य-जाति का जो उचित कर्म है उसका भी यथार्थ वर्णन करते है, सुनो।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ 18.44 ॥

(18.880) भूमि, बीज, हल इत्यादि पूँजी के आधार पर अपार लाभ प्राप्त करना,

(18.881) किंबहुना, खेती पर उपजीविका चलाना, गायें रखने का उद्यम करना, अथवा सस्ते मोल में ली हुई वस्तु महँगे भाव से बेचना,

(18.882) हे पाण्डव! इतना ही वैश्यों का कर्म-समुदाय है। यह वैश्य जाति का स्वाभाविक कर्म है।

(18.883) और वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण ये जो तीनों द्विज वे (अर्थात् दो जन्मवाले, एक सामान्य जन्म जिसे शौक्ल कहते हैं और दूसरा उपनयन के समय सावित्री मन्त्र के उपदेश से माना हुआ जन्म जिसे सावित्र कहते हैं) हैं उनकी सेवा करना शूद्र-कर्म है।

(18.884) द्विजों की सेवा के अतिरिक्त शूद्रों का दूसरा कर्म ही नहीं है। अब यह चारों वर्णों के उचित कर्मों का निरूपण हो चुका।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छ्रुणु॥ 18.45 ॥

(18.885) ज्ञानी! इन जुदे-जुदे वर्णों के लिए यही कर्म उचित हैं। जैसे जुदी-जुदी इन्द्रियों के लिए शब्द आदि विषय योग्य हैं,

(18.886) अथवा दे पाण्डुसुत! मेघों से घिरे हुए जल के लिए नदी, और नदी के लिए समुद्र ही उचित है,

(18.887) इसी प्रकार वर्णाश्रम के अनुरूप जो कर्तव्य गोरे मनुष्य के गोरेपन के समान स्वभावतः प्राप्त हुआ हो।,

(18.888) उस स्वभाव-विहित कर्म का शास्त्रानुसार आचरण करने के लिए हे वीरोत्तम! अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिए।

(18.889) जैसे रत्न अपना ही हो परन्तु परखैये के हाथ से परखा लिया जाता है वैसे ही स्वकर्म भी शास्त्र के द्वारा अवगत करना चाहिए।

(18.890) जैसे अपने पास दृष्टि रहती है पर दीपक के बिना उसका उपभोग नहीं लिया जा सकता, अथवा रास्ता ही न मिलना हो तो पाँव होने से ही क्या उपयोग हो सकता है?

(18.891) वैसे ही जाति के अनुसार जो अपना स्वाभाविक अधिकार हो उसे अपने शास्त्र से प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए।

(18.892) फिर जैसे घर में ही द्रव्य रक्खा हुआ हो और वह दीपक के द्वारा दिखाई दे तो हे पाण्डव! उसकी प्राप्ति में क्या प्रतिबन्ध हो सकता है?

(18.893) वैसे ही जो स्वभावतः अपने बाँटे में आया है और शास्त्र से भी जिसकी प्रतीति होती है वह विहित कर्म जो करता है,

(18.894) तथा आलस्य का छोड़ फल की आशा का त्याग कर शरीर से और मन से जो उसी कर्म का आदर करता है,

(18.895) प्रवाह का जल जैसे इधर-उधर बहना नहीं जानता वैसे ही जो उस कर्म के आचरण में ठीक प्रबन्ध से रहता है,

(18.896) हे अर्जुन! इस प्रकार जो स्वयं विहित-कर्म करता है वह मोक्ष के इस पार तक पहुँच जाता है।

(18.897) क्योंकि वह अकर्तव्य और निषिद्ध कर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता इस लिए मोक्ष के विपरीत जो संसार है सो उससे छूट जाता है;

(18.898) और बेड़ी चन्दन की बनी हो। तथापि जैसे उसका कोई स्वीकार नहीं करता वैसे ही काम्य कर्म की ओर वह कुतूहल से भी नहीं फिरता।

(18.899) और नित्य कर्म तो वह सब फलत्याग द्वारा छोड़ ही चुकता है इसलिए वह मोक्ष की सीमा प्राप्त कर सकता है।

(18.900) इस प्रकार वह शुभ और अशुभ संसार से मुक्त हुआ पुरुष वैराग्य-रूपी मोक्ष के द्वार में जा खड़ा होता है।

(18.901) जो सकल भाग्य की सीमा है, मोक्ष-लाभ का निश्चय है, अथवा कर्म-मार्ग के श्रमों का जहाँ अन्त हो जाता है,

(18.902) जो मानों मोक्ष-फल का रक्खा हुआ रहन है, जो सत्कर्मरूपी वृक्ष का फूल है, उस वैराग्यपद पर वह पुरुष भ्रमर की तरह पाँव रखता है।

(18.903) और देखो, वह आत्मज्ञानरूपी सूर्य के उदय की सूचना देनेहारे अरुणोदयरूपी वैराग्य की प्राप्ति कर लेता है।

(18.904) बहुत क्या कहें, वह पुरुष मानों वैराग्यरूपी एक दिव्यांजन ही लगा लेता है जिससे आत्मज्ञान-रूपी गड़ा हुआ धन इसके हाथ लग जाता है।

(18.905) इस प्रकार हे पाण्डुसुत! उस मनुष्य का विहित कर्म के आचरण से मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता प्राप्त हो जाती हैं।

(18.906) हे पाण्डव! यह विहित कर्म अपना एक ही आधार है, और इसका आचरण करना ही मुझ सर्वात्मक ईश्वर की परम सेवा है।

(18.907) सम्पूर्ण उपभोगों (-सहित जैसे पतिव्रता अपने प्रिय पति के संग क्रीडा करे तो इसके लिए वही उसका तप है

(18.908) अथवा बालक के एक माता के अतिरिक्त जीवन के लिए कौन-सी वस्तु है? अतः उसकी सेवा करना ही उसका श्रेष्ठ धर्म है;

(18.909) अथवा गंगा में जल है यह जान कर मछली जैसे गंगा का न छोड़ कर सब तीर्थों के सहवास का लाभ प्राप्त करती है,

(18.910) वैसे ही यदि विहित कर्म इस बुद्धि से किया जाय कि उसे छोड़ दूसरा उपाय ही नहीं हैं तो ईश्वर पर उसका बोझ पड़ता है।

(18.911) जिसका जो विहित कर्म है वही उसे करना चाहिए। यह ईश्वर की इच्छा है, अतः उस कर्म का आचरण करने से निःसन्देह उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है।

(18.912) हृदय-रूपी कसौटी की जाँच से जो उत्तम पाई जाती हैं वह दासी भी हो तथापि स्वामिनी बन जाती है; इस प्रकार उस दासी की सेवा विवाह में परिणत हो जाती है।

(18.913) अतः स्वामी के इच्छानुसार आचरण करने में भूल न करना ही उसकी परम सेवा है। हे पाण्डव! इसके अतिरिक्त आचरण करना वाणिज्य है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 18.46 ॥

(18.914) अतएव विहित कर्म करना कर्म करना नहीं, उस परमात्मा का मनोगत पालना है जिससे कि सब भूतमात्र उत्पन्न हुए हैं,

(18.915) जो जीवरूपी गुड़िया का अविद्या-रूपी चिन्धियाँ लपेट कर सत्त्व, रज और तम-रूपी तीन लड़ों की अहंकार-रूपी डोरी से नचाता है,

(18.916) और जो इस सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्बाह्य इस प्रकार भरा हुआ है जैसा कि दीपक तेज से भरा हुआ रहता है।

(18.917) हे वीर! विहित कर्म करना उस सर्वात्मक ईश्वर के अपार सन्तोष के हेतु उसकी स्वकर्मरूपी फूलों से पूजा करना ही है।

(18.918) अतः वह आत्मराज उस पूजा से सन्तुष्ट हो उस पुरुष का वैराग्य-सिद्धि का प्रसाद देता है।

(18.919) जिस वैराग्य-दशा में ईश्वर की ही धुन लग जाने के कारण अन्य सब विषय ऐसे अप्रिय हो जाते हैं मानों वसन किया हुआ अन्न हो।

(18.920) और जैसे प्राणनाथ को चिन्ता से विरहिन स्त्री को जीते रहना भी दुःखद होता है, वैसे ही उस पुरुष को सम्पूर्ण सुख दुःख ही जान पड़ते हैं।

(18.921) और वह मनुष्य ज्ञान की ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि उसे अपरोक्ष अनुभव होने के पूर्व ही केवल चिन्तन से ही तन्मयता हो जाती है।

(18.922) इसलिए मोक्ष का लाभ प्राप्त करने की जो मनुष्य इच्छा करता हो उसे स्वधर्म का आचरण उत्तम आस्थापूर्वक करना चाहिए।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ 18.47 ॥

(18.923) अजी। अपना धर्म यद्यपि आचरण में कठिन हो तथापि परिणाम में जो फल होनेवाला है उसकी और ध्यान देना चाहिए।

(18.924) हे धनंजय! यदि अपने सुख के लिए नीम ही उपयोगी हो तो उसकी कड़वाहट से उकताना नहीं चाहिए।

(18.925) फलने के पूर्व केले के वृक्ष का देख कर निराशा-सी होती है, पर उसी समय उसका त्याग कर देने से उसके मधुर फल कैसे मिलेंगे?

(18.926) उसी प्रकार स्वधर्म को कठिन जान कर दूर कर दिया जाय तो मनुष्य मोक्ष-सुख से वंचित रहेगा।

(18.927) अपनी माता यद्यपि कुब्जा हो तथापि जो प्रेम अपना जीवन है उसका वह प्रेम कुछ टेढ़ा नहीं है?

(18.928) अन्य जो रम्भा से भी सुन्दर स्त्रियाँ हैं उनसे बालक को क्या मतलब?

(18.929) अजी! जल की अपेक्षा घी में निश्चय से बहुतेरे गुण हैं, तथापि मछली क्या घी में रह सकती है?

(18.930) सम्पूर्ण जगत् के लिए जो विष है वही विष कीड़े के लिए अमृत है, और जगत् के लिए जो मधुर है वही वस्तु उस कीड़े के लिए मृत्युकारक होती है।

(18.931) अतएव जिसके लिए जो कर्म विहित है (जिससे कि संसार का धरना छूटे,) वह कर्म यद्यपि कठिन हो तथापि उसे उसी का आचरण करना चाहिए।

(18.932) दूसरों के आचार का आश्रय करते से ऐसा हाल होगा जैसे कि पाँवों से चलने की क्रिया सिर से की जाय।

(18.933) इसलिए अपने जातिस्वभाव के अनुसार जो कर्म प्राप्त हो वही करो। उससे कर्म-बन्धन टूटेगा।

(18.934) और हे पाण्डव! यदि यह नियम न किया जाय कि स्वधर्म का पालन करना चाहिए और परधर्म का त्याग करना चाहिए

(18.935) तो जब तक आत्मा की प्रतीति नहीं होती तब तक कर्म करना क्या बन्द हो सकता है? और जहाँ कर्म है तहाँ उसके आचरण के कष्ट पहले हैं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ 18.48 ॥

(18.936) और फिर यदि हर किसी कर्म के आरम्भ में कष्ट होते हैं तो स्वधर्म में ही क्या दोष है कहो?

(18.937) अजी! सीधे रास्ते से चलने से पाँवों को श्रम करना पड़ता है और आड़े-टेढ़े जंगली रास्ते से दौड़ने में भी उन्हीं को श्रम होता है।

(18.938) पत्थर बाँध ले जाओ अथवा कलेवा बाँध ले जाओ; बोझ दोनों वस्तुओं का पड़ता है, परन्तु जो विश्राम के लिए उपयोगी है वही वस्तु ले जानी चाहिए।

(18.939) धान्य तथा भुस के कूटने में समान ही श्रम होता है, पकाने का श्रम जितना कुत्ते के मांस के लिए होता है उतना ही हवि के लिए भी होता है।

(18.940) हे ज्ञानी! दही हो या जल हो, मन्थन का श्रम दोनों में समान होता है। कोल्हू में तिली डाली जाय वा रेत, दोनों वस्तुएँ समान ही पेली जाती हैं।

(18.941) नित्य होम के लिए हो अथवा और किसी काम के लिए, आग सुलगाने के समय धुवाँ सहने का कष्ट समान ही होता है।

(18.942) धर्मपत्नी हो अथवा कोई व्यभिचारिणी स्त्री, दोनों के रखने में समान ही खर्च होता है, तो फिर धर्मपत्नी का छोड़ दूसरी स्त्री रखने की अपकीर्ति क्यों लेनी चाहिए?

(18.943) पीठ पर घाव लगने से यदि मृत्यु नहीं टलती तो शत्रु के घाव से मरना क्या अधिक कीर्त्तिकारक नहीं है?

(18.944) कुलस्त्री दूसरे के घर में घुसे और फिर भी डण्डे की मार सहती रहे, तो उसने अपने पति का वृथा ही छोड़ दिया;

(18.945) वैसे ही, चाहे जो कर्म हो, यदि वह श्रम किये बिना नहीं हो सकता तो यह क्योंकर कहा जा सकता है कि विहित कर्म ही कठिन है!

(18.946) और हे पाण्डुसुत! जिससे जीवन का अविनाशिता का लाभ होता है वह अमृत थोड़ा-सा भी लेने के लिए यदि सर्वस्व खर्च हो जाय तो कुछ हानि नहीं।

(18.947) पर जिस विष से मृत्यु प्राप्त होती हैं और आत्महत्या का दोष लगता है उसे मोल लेकर क्यों पीना चाहिए?

(18.948) वैसे ही, इन्द्रियों को कष्ट दे सम्पूर्ण आयुष्य के दिन खर्च कर पापों का आचरण करने से दुःख के अतिरिक्त और क्या प्राप्त होता है?

(18.949) इसलिए स्वधर्म का आचरण (जो श्रम का परिहार करता है और उचित और श्रेष्ठ पुरुषार्थों के राजा मोक्ष को प्राप्त करा देता है) करना चाहिए।

(18.950) अतएव हे किरीटी! संकट के समय जैसे सिद्धमन्त्र को न भूलना चाहिए वैसे ही स्वधर्माचरण कभी न छोड़ना चाहिए;

(18.951) अथवा समुद्र में जैसे नाव का त्याग न करना चाहिए, महारोग में जैसे दिव्य औषधि को न त्यागना चाहिए. उसी प्रकार संसार में स्वकर्म न छोड़ना चाहिए।

(18.952) क्योंकि हे कपिध्वज! स्वकर्म करते रहने से ईश्वर स्वकर्म की महापूजा से सन्तुष्ट है। रज और तम को झड़ा कर

(18.953) अपनी वासना को सत्त्व के मार्ग पर ले आता हैं और यह प्रतीति करा देता है कि संसार और स्वर्ग दोनों कालकूट विष हैं;

(18.954) अधिक क्या कहें, पहले हमसे वैराग्य नाम दे जिस संसिद्धि का वर्णन किया था वही पद प्राप्त करा देता है।

(18.955) अब यह भूमिका हस्तगत कर लेने पर पुरुष सर्वत्र किस प्रकार रहता है, और पूर्ण होता हुआ क्या प्राप्त करता है उसका वर्णन करते है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ 18.49 ॥

(18.956) जाली में जैसे वायु नहीं बाँधी जा सकती वैसे ही संसार में जो देह आदि जाल फैलाया है उसमें वह पुरुष नहीं उलझता।

(18.957) परिपाक के समय डण्ठल फल का नहीं सँभाल सकता अथवा फल जैसे डण्ठल का पकड़े नहीं रह सकता, वैसे दी उस पुरुष की आसक्ति सब विषयों के विषय में निर्बल हो जाती है।

(18.958) पुत्र, धन या कलत्र उसके अधीन हों, तथापि जैसे कोई विष के पात्र का स्वामित्व स्वीकार नहीं करता वैसे ही वह उन्हें भी अपने नहीं कहता।

(18.959) इतना हो नहीं वरन् जैसे कोई हाथ के जलते ही उसे पीछे खींच लेता है वैसे ही वह बुद्धि को विषय-मात्र से पीछे पलटा कर हृदय के एकान्त में प्रवेश करता है।

(18.960) इस प्रकार, स्वामी के भय से जैसे दासी उसकी आज्ञा का अनादर नहीं करती वैसे ही उसका अन्तःकरण बाह्य विषयों के विषय में उसकी शपथ नहीं तोड़ता

(18.961) तथा वह, अपने चित्त का एकता की मुट्ठी में दे उसे आत्मा का चसका लगा देता है।

(18.962) उस समय, अग्नि का राख में दाब देने से जैसे धुआँ बन्द हो जाता है वैसे ही उसकी इस लोक की और परलोक की इच्छा आप ही आप बन्द हो जाती है।

(18.963) इस प्रकार मन का नियमन करने से वासना अपने आप नष्ट हो जाती है। बहुत क्या कहें, उसे उक्त भूमिका (स्टेज) प्राप्त होती हैं।

(18.964) हे पाण्डव! उसका सम्पूर्ण विपरीत ज्ञान नष्ट हो जाता तथा उसका अन्तःकरण केवल ज्ञान का ही आश्रय लेता है।

(18.965) जमा किया हुआ पानी जैसे खर्च करते-करते समाप्त हो जाता है वैसे ही वह प्रारब्ध का भोग भोगता रहता हैं और नया कर्म वे वह कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता।

(18.966) कर्म करने से जब इस प्रकार साम्य दशा हो जाती है तब हे वीरेश! उसे श्रीगुरु आप ही आप आ मिलते हैं।

(18.967) रात के चार पहर जाते ही जैसे नेत्रों का सूर्य का दर्शन होता है,

(18.968) अथवा फल आते ही जैसे केले के पेड़ की बाढ़ बन्द हो जाती है, वही बात मुमुक्षु को श्रीगुरु की भेंट होने पर होती है।

(18.969) चन्द्रमा जैसे पूर्णमासी की भेंट होते हो अपनी न्यूनता छोड़ देता है वही स्थिति हे वीरोत्तम! गुरु-कृपा के बल उसकी हो जाती हैं।

(18.970) फिर जितना अज्ञान हो सब गुरु-कृपा से नष्ट हो जाता है, तथा रात्रि के संग जैसे अन्धकार का भी नाश हो जाता है

(18.971) वैसे ही अज्ञान के पेट में जो कर्म, कर्त्ता और कार्य-रूपी त्रिपुटी रहती है वह मानों गर्भिणी अवस्था में हो नष्ट हो जाती है।

(18.972) इस प्रकार अज्ञान के नाश के साथ सम्पूर्ण कर्म का नाश हो जाता है। अर्थात् मूल के साथ कर्म का त्याग करने से संन्यास सिद्ध होता है।

(18.923) इस मूल अज्ञान का संन्यास करने पर मनुष्य जहाँ देखे वहाँ स्वयं अपना ही स्वरूप देखता है।

(18.974) स्वप्न में यदि हम दह में गिरते हैं तो जाग पड़ने पर क्या हमें उस दह में से निकालना पड़ता है?

(18.975) वैसे ही उस मनुष्य का 'मैं अज्ञानी हूँ,' 'मैं अब सीखता हूँ' आदि दुःस्वप्न बन्द हो जाता हैं, और वह ज्ञाता या ज्ञेय के परे जाकर चिदाकार हो जाता है।

(18.976) हे वीरेश! जैसे दर्पण को मुख के प्रतिबिम्ब-सहित अलग करने से देखनेहारा बिना देखे ही रह जाता है

(18.977) वैसे ही अज्ञान चला जाता है तो उसके साथ ज्ञान भी नहीं रहता, और फिर क्रिया-रहित ज्ञानस्वरूप ही शेष रह जाता हैं।

(18.978) उसकी स्वभावतः कोई किया नहीं रहती इस लिए उसका नाम निष्क्रिय है।

(18.979) वह स्वयं भी अपना स्वरूप है, तथापि वह भी मिथ्या हो विलीन हो जाता है, जैसे वायु के बन्द होते ही तरंग विलीन हो केवल समुद्र ही रह जाता है।

(18.980) इस प्रकार जो निष्कर्मता उत्पन्न होती है वही नैष्कर्म्यसिद्धि जानो। सब सिद्धियों में स्वभावतः श्रेष्ठ यही है।

(18.981) मन्दिर के काम में जैसे कलश श्रेष्ठ है, गंगा के लिए जैसे समुद्र-प्रवेश श्रेष्ठ हैं, अथवा सुवर्ण-शुद्धि के विषय में जैसे सोलहवाँ कस श्रेष्ठ है,

(18.982) वैसे ही ज्ञान से अपना अज्ञान मिटा देना और फिर उस ज्ञान को भी लील बैठना — ऐसी दशा के

(18.983) अतिरिक्त और कुछ निष्पन्न नहीं हो सकता इसलिए उस दशा को परम सिद्धि कहते हैं।

(18.984) परन्तु जिस भाग्यवान को श्रीगुरुकृपा-प्राप्ति-पूर्वक यह आत्मसिद्धि प्राप्त हो जाय उसे

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ 18.50 ॥

(18.985) – सूर्य का उदय होते ही जैसे अन्धकार प्रकाशरूप हो जाता है, अथवा दीपक के संसर्ग से कपूर भी दीपरूप हा जाता है,

(18.986) लवण का कण जैसे जल में मिलते ही जलरूप हो रहता है.

(18.987) अथवा जगा देने पर जैसे सोये हुए मनुष्य की नींद का नाश स्वप्न-सहित हो जाता है और वह जैसे अपनी स्थिति के आ पहुँचता है,

(18.988) वैसे ही जिस किसी के भाग्य से गुरु-वाक्य-श्रवण के साथ ही द्वैत का नाश हो वृत्ति आप हो आप विश्राम पा जाती है

(18.989) उसे फिर कर्म करना शेष रह जाता है, यह कौन कह सकता है? आकाश क्या कहीं आता-जाता है?

(18.990) इसका निश्चय से कोई कर्तव्य नहीं रहता। परन्तु जिस किसी की ऐसी स्थिति नहीं होती

(18.991) कि श्रवणों पर उपदेश-वचन पड़ते ही हे किरीटी! वह ब्रह्मस्वरूप हो जाय,

(18.992) परन्तु जिसने स्वकर्मरूपी अग्नि में काम्य और निषिद्ध कर्म-रूपी ईंधन के रूप से प्रथम रज और तम दोनों का जला डाला है,

(18.993) पुत्र, वित्त और परलोक इन तीनों की इच्छा जिसके घर की दासी बन गई है,

(18.994) जो इन्द्रियाँ विषयों में स्वच्छन्द प्रवेश कर पापमय हो गई थीं उन्हें जिसने संयमरूपी तीर्थ में नहलाया हैं

(18.995) और सब स्वधर्म-रूपी फल ईश्वर को अर्पण कर अटल वैराग्य-पद प्राप्त कर लिया है —

(18.996) इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार में परिणत होने-वाली ज्ञान की उत्कर्ष दशा का लाभ करानेवाली सब सामग्री जिसने प्राप्त कर ली है,

(18.997) और उसी समय उसे सद्गुरु की भेंट हो गई है और उन्होंने भी उसे किसी बात से वंचित नहीं रक्खा

(18.998) (तथापि क्या औषधि लेने के साथ ही आरोग्य-प्राप्ति हो सकती है? अथवा दिन निकलते ही क्या मध्याह्न हो सकता है?

(18.999) खेत अच्छा हो और धरती भीगी हुई हो तो उसमें यदि उत्तम बीज बोया जाय तो अटूट फल का लाभ होगा, परन्तु समय आने पर ही होगा,

(18.1000) रास्ता सुगम हो और संग भी सज्जनों का मिले तो इष्ट स्थल को पहुँचेंगे अवश्य ही, परन्तु समय ही लगेगा।)

(18.1001) हाँ, तो जिसे वैराग्य का लाभ और सद्गुरु की भी भेंट हो जाय और अन्तःकरण में विवेक का अंकुर फूटा हो

(18.1002) उसे इस बात की दृढ प्रतीति अवश्य हो जाती है कि ब्रह्म एक हैं और अन्य सब भ्रम है,

(18.1003) तथापि वास्तव में जो परब्रह्म सर्वात्मक और सर्वोत्तम है, जहाँ मोक्ष का कोई काम ही नहीं रहता,

(18.1004) हे किरीटी! जो ज्ञान संसार की तीनों अवस्थाओं का लय करता है इस ज्ञान का भी जो वस्तु चपेट लेती है,

(18.1005) जहाँ ऐक्य की एकता भी नहीं रहती, जहाँ आनन्द का अंश भी लीन हो जाता है, और कुछ भी न होते हुए जो एक वस्तु शेष बच रहती है,

(18.1006) इस ब्रह्म से एक ही ब्रह्मस्वरूप हो रहना क्रम से ही प्राप्त हो सकता है।

(18.1007) भूखे को षड्रस अन्न परोसा जाय तथापि वह जैसे कौर पर कौर लेकर ही तृप्ति प्राप्त करता है,

(18.1008) वैसे ही वैराग्य के आश्रय से विवेकरूपी दीपक प्रकाशित करने पर क्रमशः आत्मरूपी निधान हाथ लगता है।

(18.1009) अब जो आत्मसम्पत्ति का उपभोग लेने योग्य योग्यता की सिद्धि से निरन्तर अलंकृत हैं

(18.1010) वह जिस क्रम के द्वारा ब्रह्मरूप की प्राप्ति सुलभ कर लेता है उस क्रम का मर्म कथन करते हैं, सुनो।

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ 18.51 ॥

(18.1011) प्रथम वह गुरु के बताये हुए मार्ग से विवेकरूपी तीर्थ के किनारे पहुँच कर बुद्धि का मल धो डालता है

(18.1012) जिससे बुद्धि शुद्ध हो आत्मस्वरूप से जा मिलती है, मानों राहु के ग्रास से मुक्त हुई प्रभा का चन्द्रमा ने आलिंगन दिया हो।

(18.1013) कुलस्त्री जैसे दोनों कुलों का अभिमान छोड़ केवल अपने प्रिय पति का अनुसरण करती है वैसे ही वह बुद्धि द्वैत का त्याग कर आत्मचिन्तन में निमग्न हो जाती है।

(18.1014) और सर्वदा ज्ञानरूपी प्रिय वस्तु पिला-पिला कर इन्द्रियों ने जिन शब्द इत्यादि विषयों की महिमा बढ़ा रक्खी हैं

(18.1015) उन पाँचों विषयों का वह मनुष्य वृत्तिनिरोध के द्वारा ऐसा लय कर देता है जैसा कि किरणसमूह दूर होते ही मृगजल विलीन हो जाता है।

(18.1016) बिन जाने यदि नीच मनुष्य का अन्न खाया जाय तो जैसे वमन कर देना चाहिए वैसे ही वह इन्द्रियों से वासना-सहित विषय को उगल डालता है

(18.1017) और फिर उन इन्द्रियों को प्रत्यगात्मारूपी गंगा के तीर पर ले जाकर शुद्ध करता है। इस प्रकार वह शुद्ध प्रायश्चित्त करता है।

(18.1018) अनन्तर वह उन इन्द्रियों का सात्विक धैर्य से शोधन कर उन्हें मन सहित योग-धारण में प्रवृत्त करता है;

(18.1019) तथा अनुकूल या प्रतिकूल प्रारब्ध का भोग प्राप्त हो तो भी वह अनिष्ट भोग देख कर उसका तिरस्कार नहीं करता,

(18.1020) और यदि कदाचित् इष्ट भोग सन्मुख रक्खे जाय तो उनके लिए भी वह साभिलाष नहीं होता।

(18.1021) इस प्रकार हे किरीटी! वह मनुष्य अनुकूल या प्रतिकूल विषयों का राग वा द्वेष छोड़ कर गिरि-कन्दराओं या निर्जन वनों में जा बसता है।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ 18.52 ॥

(18.1022) संसार की गचपच बस्ती छोड़ वह वनस्थलों को अकेले अपने अंग-समुदाय से बसाता है।

(18.1023) शम, दम इत्यादि उसके खेल हैं, मौन उसका बोलना हैं, गुरुवाक्य के चिन्तन से उसे और काम के लिए समय ही नहीं मिलता।

(18.1024-25) और भोजन करते समय वह — शरीर का बल बढ़े अथवा क्षुधा शान्त हो, अथवा जीभ की रुचि तृप्त हो — इन तीनों बातों की परवा नहीं करता। वह अल्प आहार से सन्तोष मानता है पर उसका माप कभी नहीं करता।

(18.1026) कुछ भी न खाने से जठराग्नि प्रदीप्त होकर प्राणों का नाश होने की सम्भावना है, अतएव वह उतना ही थोड़ा-सा आहार करता है जिससे प्राणों की रक्षा हो।

(18.1027) और पर-पुरुष इच्छा करे तथापि कुलस्त्री जैसे उसके वश नहीं होती वैसे ही वह इतना आहार नहीं करता कि निद्रा या आलस के वश हो जाय।

(18.1028) केवल दण्डवत् करने क समय ही उसका शरीर धरती से लगता है, अन्यथा उससे और कुछ अविचार नहीं होता।

(18.1029) वह उतने ही प्रमाण से हाथ-पाँव हिलाता है जितने से शरीर के व्यापार हों। किंबहुना, उसने अन्तर्बाह्य सब कुछ अपने अधीन कर लिया रहता है।

(18.1030) और हे वीर! जब वह अपनी वृत्ति को मन की देहली भी नहीं खूँदने देता तो वहाँ वाणी के व्यापार के लिए कहाँ अवसर मिल सकता है?

(18.1031) इस प्रकार शरीर, वाचा और मनरूपी बाह्य-प्रदेशों का जीत कर वह ध्यान के आकाश को अपने काबू में कर लेता है।

(18.1032) और गुरु के उपदेश से जागृत हो वह अपने ज्ञान का इस प्रकार निश्चय कर लेता है जैसे कोई दर्पण में अपना रूप देख ले।

(18.1033) स्वयं ध्यान करनेहारा है, परन्तु वृत्ति में वही ध्यान-रूप होकर निज का ही ध्येय बना उसका ध्यान करता है। यह उसके ध्यान की रीति है।

(18.1034) इस प्रकार जब तक ध्येय, ध्याता और ध्यान तीनों एकरूप न हो जायँ तब तक हे पाण्डुसुत! वह ध्यान करता रहता है।

(18.1035) अतः वह मुमुक्षु आत्मज्ञान के विषय में समर्थ हो जाता है, परन्तु योग की प्रक्रिया के सहाय से।

(18.1036) हे धनंजय! गुदा और शिश्न के बीच में एड़ी दबा कर वह समूल-बन्ध सिद्ध करता है।

(18.1037) अधोभाग संकुचित कर मूल-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और जालन्धर-बन्ध तीनों सिद्ध कर सब वायुओं को समान करता है।

(18.1038) कुण्डलिनी को जाग्रत कर, सुषुम्ना का विकास कर आधार-चक्र से लेकर अग्नि-चक्र तक सबका भेद करता है,

(18.1039) फिर सहस्र-दल कमल-रूपी मेघ में से जो उत्तम अमृत की वर्षा होती है उसका प्रवाह मूलाधार चक्र तक ला छोड़ता है।

(18.1040) और अनन्तर अग्नि-चक्ररूपी पुण्य-पर्वत पर नाचते हुए चैतन्यरूपी भैरव के भिक्षापात्र में मन और पवन-रूपी खिचड़ी भर देता है।

(18.1041) इस प्रकार योग का बलिष्ठ समुदाय आगे कर उसके आसरे से वह ध्यान स्थिर करता है।

(18.1042) और ध्यान और योग दोनों निर्विघ्नता के साथ आत्मतत्त्वज्ञान में प्रविष्ट हों, इसलिए वह पहले से ही

(18.1043) वैराग्य जैसे मित्र को प्राप्त कर लेता है, जो कि सब भूमिकाओं में उसके संग ही रहता है।

(18.1044)जो वस्तु देखनी है उसके दिखाई देने तक दीपक यदि दृष्टि का संग न छोड़े तो उस वस्तु के दिखाई देने में क्या अवकाश लगेगा?

(18.1045) वैसे ही जो मोक्ष की ओर प्रवृत्त हुआ है उसकी वृत्ति के ब्रह्म में लीन होने तक वैराग्य उसका साथ देता है, तो फिर उसकी मोक्ष-प्राप्ति का भंग कैसे हो सकता है?

(18.1046) अतः वह भाग्यवान् वैराग्य-सहित ज्ञान का अभ्यास कर आत्मप्राप्ति के योग्य हो जाता है;

(18.1047) एवं शरीर में वैराग्यरूपी वज्र-कवच पहन कर वह राजयोगरूपी घोड़े पर चढ़ता है।

(18.1048) और बीच में जिस छोटी.बड़ी वस्तु पर दृष्टि पड़ उसका संहार अपनी विवेकरूपी मुष्टि में धारण की हुई ध्यानरूपी जोरदार तलवार से करता है।

(18.1049) इस प्रकार जैसे सूर्य अँधेरे में प्रवेश कर अँधेरे का नाश करता जाता है वैसे ही वह भी मोक्षरूपी विजयश्री का वर होने के हेतु इस संसार-रूपी रण में प्रवेश करता है।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 18.53 ॥

(18.1050) वहाँ रास्ता रोकने के लिए आये हुए जिन दोषरूपी वैरियों को वह पछाड़ता हैं उनमें से पहला देहाभिमान है

(18.1051) जो मार कर भी मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता, पैंदा कर जीने नहीं देता, और केवल इस हड्डियों के ढाँचे में ठसाठस भर देता है।

(18.1052) हे वीर!उस देहाभिमान का देहरूपी किला जो आसरा है उसी को वह मुमुक्षु तोड़ डालता है। दूसरा वैरी, जिसे वह मारता है, बल है

(18.1053) जो विषयों के नाम से चौगुना बलवान हो जाता है और जिसके कारण अन्यत्र सब जगह मरी ही छा जाती है।

(18.1054) वह विषयरूपी विष का घर है, सम्पूर्ण दोषों का राजा है, परन्तु वह ध्यानरूपी खंग का घाव कैसे सह सकता है?

(18.1055) उसी प्रकार प्रिय विषयों की प्राप्ति होने से जो सुख उत्पन्न होता है उसी का आच्छादन ले जो शरीर में प्रकट होता है,

(18.1056) जो सन्मार्ग भुला देता है और अधर्मरूपी जंगली रास्ते में डाल नरक इत्यादि-रूपी बाघों के वश करा देता है,

(18.1057) उस दर्प-नामक शत्रु को वह मुमुक्षु श्रद्धारूपी शस्त्र से मार उसका अन्त कर देता है। और तपस्वी जिससे भय खाते हैं,

(18.1058) क्रोध-सरीखा महादोष जिसका परिणाम हैं, जिसकी जितनी ही पूर्ति जाय उतना ही और अधिक रीता होता जाता है,

(18.1059) उस काम को वह ऐसा अदृश्य कर डालता है कि वह फिर कभी दिखाई ही नहीं देता। वही स्थिति क्रोध की भी होती है।

(18.1060) जड़ टूटना जैसे शाखाओं के नाश का हेतु हो जाता है वैसे ही काम के नाश से क्रोध का भी नाश हो जाता है।

(18.1061) अतः जहाँ कामरूपी शत्रु ठिकाने लग गया वहाँ क्रोध का आवागमन भी बन्द हो गया समझना चाहिए।

(18.1062) और राजा जैसे, प्रतिज्ञा से, जिसको बेड़ियाँ पहनानी हों उसी के सिर उनको ढुलवा ले जाता है, वैसे ही जो परिग्रह-भार से और बलवान हो।

(18.1063) सिर पर बैठता है, कई अवगुण लगा देता है, और अन्तःकरण के हाथ "यह मेरा है" ऐसा अभिमान का दण्ड धारण करवाता है,

(18.1064) शिष्य-सम्प्रदाय-पद्धति के द्वारा और मठ इत्यादि या योगमुद्रा इत्यादि के मिस से निःसंग भी जिसके फन्दे में आ जाते हैं,

(18.1066) घर देखिए तो कुटुम्ब का त्याग किया है पर वन में जो वनसम्बन्धी विषयों में ममत्व-रूप से दिखाई देता है, जो नंगों के शरीर में भी सना हुआ है,

(18.1067) ऐसा दुर्जय जो परिग्रह हैं उसका ठाँव मिटा कर जो मुमुक्षु संसार के विजयोत्सव का उपभोग लेता है,

(18.1068) उसके समीप अमानित्व इत्यादि जो ज्ञान-गुणों के समुदाय हैं वे मानों मोक्ष देश के राजाओं की तरह आते हैं

(18.1068) और उसे सम्यकज्ञान रूपी भेंट दे कर स्वयं उसके परिवार हो रहते हैं।

(18.1069) उसकी सवारी जब प्रकृति-रूपी राज-मार्ग से निकलती है तब जागृति इत्यादि अवस्थारूपी स्त्रियाँ डग-डग पर उस पर से अपने सुख की निछावर करती हैं

(18.1070) और सामने विवेक-रूपी चोपदार ज्ञान-रूपी मनुष्य लेकर दृश्य-रूपी लोगों की भीड़ को हटाता हुआ चलता है और मानों

योग-भूमिका-रूपा स्त्रियाँ उसकी आरती करने के लिए खड़ी रहती हैं।

(18.1071) उस समय प्रसंगवशात् ऋद्धि और सिद्धि के अनेक समुदाय मिलते हैं और उसकी पुष्पों की वर्षा से वह मानों नहा जाता है।

(18.1072) इस प्रकार ब्रह्मैकतारूपी स्वराज्य-प्राप्ति ज्यों-ज्यों समीप आती है त्यों-त्यों उसे तीनों लोक आनन्द से उछलते हुए दिखाई देते हैं।

(18.1073) उस समय हे धनंजय! उसे “यह मेरा वैरी" अथवा “यह मेरा मित्र है” ऐसा कहने के लिए तुलना-बुद्धि ही शेष नहीं रहती;

(18.1074) अथवा किसी मिस से भी वह किसी का "मेरा" कहे, ऐसी दूसरी वस्तु भी इस प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार वह अद्वितीय हो जाता हैं।

(18.1075) तात्पर्य यह है कि हे पाण्डुसुत! वह सब संसार के एक अपनी ही सत्ता से लिपटा कर ममता का ऐसा त्याग कर देता है कि उसका भी पता ही न लगे।

(18.1076) इस प्रकार सब शत्रुओं को जीत कर जगत् की अवगणना कर उसका योगरूपी घोड़ा शान्त हो खड़ा हो जाता हैं।

(18.1077) उस समय वह जो वैराग्यरूपी दृढ कवच पहने था उसे भी क्षण-भर के लिए ढीला कर देता है।

(18.1078) और ध्यानरूपी खंग के सन्मुख मारने के लिए दूसरी वस्तु ही नहीं रही इसलिए उसे धारण करनेहारी वृत्ति का हाथ भी पीछे खींच लेता है।

(18.1079) जैसे सच्ची रसायन रोग का नाश कर स्वयं भी शेष नहीं रहती वैसे ही इसकी स्थिति हो जाती हैं।

(18.1080) दौड़नेहारा मनुष्य जैसे ठहरने का मुकाम देख कर दौड़ता हुआ रुक जाता है, वैसे हो वह ब्रह्म की समीपता प्राप्त कर अभ्यास का वेग बन्द कर देता है।

(18.1081) महासागर में मिलते ही गंगा जैसे अपना वेग छोड़ देती है, अथवा कामिनी जैसे अपने पति के समीप जा शान्त हो जाती है,

(18.1082) अथवा केले के वृक्ष की बढ़ती जैसे फल का समय आते ही बन्द हो जाती है, अथवा गाँव आ पहुँचने पर जैसे रास्ता भी समाप्त हो जाता हैं,

(18.1083) वैसे हो वह मुमुक्षु आत्मसाक्षात्कार की प्रतीति पाते ही साधन-रूपी शस्त्र धीरे से रख देता है।

(18.1084) इसलिए हे धनंजय! जब वह ब्रह्म से एकरूप होता हैं तब उसके साथ कोई साधन नहीं रहते।

(18.1085) अतः वैराग्य की साँझ, ज्ञानाभ्यास की वृद्धावस्था, योगफल की परिणाम-दशा,

(18.1086) ऐसी जो शान्ति है वह, हे सुभग! उस मुमुक्षु में पूर्ण रूप से छा जाती हैं। उस समय वह पुरुष ब्रह्म होने के योग्य हो जाता है।

(18.1087) पूर्णमासी से जैसे चतुर्दशी के दिन चन्द्रमा कुछ हल्का रहता है, अथवा पूर्ण सोलह आने की अपेक्षा पन्द्रह आने सोने का कस जैसे कुछ कम होता है,

(18.1088) अथवा जल है तो समुद्र के ही समान पर जो वेग से बहता है उस रूप को गंगा कहते हैं और जो निश्चल रहता है वह समुद्र है,

(18.1089) वैसा ही भेद ब्रह्म और ब्रह्म होने की योग्यता में है। मुमुक्षु इस योग्यता को शान्ति के द्वारा प्राप्त कर लेता है।

(18.1090) ब्रह्म न बन कर ब्रह्मत्व का अनुभव होना ही ब्रह्म होने की योग्यता समझो।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ 18.54 ॥

(18.1091) फिर हे पाण्डुसुत! ब्रह्म होने की योग्यता के द्वारा वह पुरुष आत्मज्ञान-प्रसन्नता के पद पर जा बैठता है।

(18.1092) जिस अग्नि पर रसोई तैयार की जाती है वह जब शान्त हो जाती है तब रसोई का आनन्द लिया जाता हैं;

(18.1093) अथवा शरत्काल में ज्वार-भाटा छोड़ जैसे गंगा शान्त हो जाती है, अथवा गीत समाप्त होते ही उसके उपांग — तबला-तम्बूरा इत्यादि — भी जैसे बन्द हो जाते हैं,

(18.1094) वैसे ही आत्मज्ञान के लिए उत्तम करने के जो श्रम होते हैं वे भी जहाँ शान्त हो जाते हैं,

(18.1095) उस दशा का नाम आत्मज्ञान-प्रसन्नता है। हे महामति! वह योग्य पुरुष उस दशा का उपभोग लेता है।

(18.1096) उस समय "यह वस्तु मेरी है" ऐसा समझ कर सोच करना, अथवा किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करना आदि बातों का अन्त हो जाता है। उस में केवल ऐक्यभाव भरा हुआ रहता है।

(18.1097) सूर्य का उदय होते ही सम्पूर्ण नक्षत्र जैसे अपनी दीप्ति खो देते हैं

(18.1098) वैसे ही हे पार्थ! आत्मानुभव प्राप्त होते ही वह पुरुष अनेक भूतव्यक्तियों की रचना तोड़ते-तोड़ते सब आकाशरूप ही देखता है।

(18.1099) जैसे पाटी पर लिखे हुए अक्षर हाथ से पोंछ लिये जाये, वैसे हो उसकी दृष्टि से सब भेदान्तरों का लोप हो जाता है।

(18.1100) जागृति और स्वप्न ये दो अवस्थाएँ जो विपरीत ज्ञान का ग्रहण करती है उन्हें वह सुषुप्तिरूपी अज्ञान में लीन कर देता है।

(18.1101) फिर ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों वह अव्यक्त भी घटता जाता है और पूर्ण ज्ञान होते ही सम्पूर्ण विलीन हो जाता है।

(18.1102) जैसे भोजन करते समय भूख धीरे-धीरे बुझती जाती है और तृप्ति के समय सम्पूर्ण शान्त हो जाती है,

(18.1103) अथवा चलते-चलते जैसे रास्ता कटता जाता है और इष्ट स्थान के पहुँचते ही समाप्त हो जाता है,

(18.1104) अथवा ज्यों-ज्यों जागृति आती जाती हैं त्यों-त्यों नींद छूटती जाती है और पूर्ण जागृत होने पर उसका पता ही नहीं रहता,

(18.1105) अथवा वृद्धि समाप्त होने पर जब चन्द्र अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो शुक्लपक्ष भी निःशेष समाप्त हो जाता है

(18.1106) वैसे ही वह पुरुष जब ज्ञेय विषयों को लील कर ज्ञान के द्वारा मुझमें आ मिलता है तव सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो जाता है।

(18.1107) तब कल्पान्त के समय जैसे नदी या समुद्र की सीमा के टूट जाने से ब्रह्मलोक तक जल ही जल भर जाता है,

(18.1108) अथवा घट या मठ का नाश होने पर जैसे एक आकाश ही सर्वत्र रहता है. अथवा लकडी जला कर जैसे अग्नि ही रह जाती है,

(18.1109) अथवा जैसे अलंकारों को साँचे में डाल कर गलाने से उनके नाम और रूपों का नाश हो सोना ही रह जाता है,

(18.1110) यह भी रहने दो, जागने पर जैसे स्वप्न का नाश हो जाता और मनुष्य केवल आप ही रह जाता है

(18.1111) वैसे ही उस पुरुष को केवल एक मेरे अतिरिक्त स्वयं अपने समेत और कुछ भी नहीं रहता। इस प्रकार वह मेरी चौथी भक्ति प्राप्त करता है।

(18.1112) दूसरे आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी जिन रीतियाँ से मेरी भक्ति करते हैं उनकी अपेक्षा से हम इसे चौथी भक्ति कहते हैं।

(18.1113) अन्यथा यह न तीसरी है, न चौथी है, न पहली है, न अन्तिम है। वास्तव में मेरी ब्रह्मरूपी स्थिति का ही नाम भक्ति है।

(18.1114) जो मेरे अज्ञान को प्रकाशित कर, मुझे अन्यरूप से दिखा कर, सबको सब विषयों की रुचि लगा उनका ज्ञान करा देता हैं,

(18.1115) जिस अखण्ड प्रकाश से जो जहाँ जिस वस्तु का देखना चाहे वह वस्तु उसे वहाँ वैसी ही दिखाई देती है,

(18.1116) स्वप्न का दिखाई देना न देना जैसे अपने अस्तित्व पर निर्भर है वैसे ही जिस प्रकाश से ही विश्व की उत्पत्ति या लय होता है,

(18.1117) वह मेरा जो स्वाभाविक प्रकाश है उसी को हे कपिध्वज! भक्ति कहते हैं।

(18.1118) अतः आर्तों में यह भक्ति इच्छारूप हो जिस वस्तु की अपेक्षा करती है वह मैं ही हूँ।

(18.1119) जिज्ञासु में भी हे वीरेश! यही भक्ति जिज्ञासारूप हो मुझे जिज्ञास्य रूप से प्रकट करती है।

(18.1120) और है अर्जुन! यही भक्ति अर्थप्राप्ति की इच्छा वन मानो मुझे ही अपनी प्राप्ति के पीछे लगा मुझे अर्थ नाम का पात्र बनाती है;

(18.1121) एवं यदि मेरी भक्ति अज्ञान के साथ हो तो वह मुझ सर्वसाक्षी को दृश्यरूप से बचाती हैं।

(18.1122) दर्पण में मुख से ही मुख दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं; परन्तु यह जो मिथ्या द्वितीयत्व है उसका हेतु दर्पण है।

(18.1123) दृष्टि वास्तव में चन्द्रमा का ही ग्रहण करती है पर एक चन्द्र के जो दोष दिखाई देते है वह नेत्र-रोग के कारण।

(18.1124) वैसे ही हे धनंजय! वास्तव में मैं ही सर्वत्र निज का ही देखता हूँ परन्तु जो मिथ्या दृश्य-पदार्थ दिखाई देते हैं वह अज्ञान का कारण हैं।

(18.1125) वह अज्ञान उस चौथे भक्त का मिट जाता है; और प्रतिबिम्ब जैसे बिम्ब में मिल जाय, वैसे ही मेरी साक्षिरूपता मुझमें ही समा जाती है।

(18.1126) सोना जब मिश्रित स्थिति में रहता हैं तब भी सोना हो रहता है, परन्तु मिश्रण अलगाने पर जैसे वह शुद्ध रूप से शेष रहता है,

(18.1127) अजी! पूर्णमासी के पहले चन्द्रमा क्या सावयव नहीं रहता, परन्तु जैसे उस दिन उसकी पूर्णता उससे आ मिलती है,

(18.1128) वैसे ही दिखाई तो मैं ही देता हूँ पर अज्ञान के कारण दृश्यरूप से और भिन्न दिखाई देता हूँ, और दृष्टत्व विलीन होने पर मुझे ही अपनी प्राप्ति हो जाती हैं।

(18.1129) अतएव हे पार्थ! दृश्यपथ के परे जो मेरा भक्तियोग है उसे मैंने चौथा कहा हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18.55 ॥

(18.1130) यह तुम सुन ही चुके हो कि इस ज्ञान-भक्ति से युक्त हो जो भक्त मुझसे एकरूप हे जाता है वह केवल मद्रूप है।

(18.1131) क्योंकि हे कपिध्वज! हम सातवें अध्याय में हाथ उठा कर कह चुके हैं कि ज्ञानी हमारा आत्मा है।

(18.1132) इसी भक्ति के अत्यन्त उत्तम होने के कारण हमने कल्प के आरम्भ में श्रीभागवत के मिस से ब्रह्मदेव को उसका उपदेश किया।

(18.1133) ज्ञानी इसे आत्मज्ञान कहते हैं, शिवोपासक इसे शक्ति कहते हैं, और हम अपनी परमभक्ति कहते हैं।

(18.1134) कर्मयोगियों को मद्रूप होते समय इस भक्ति-फल का लाभ हो जाता है जिससे उन्हें सम्पूर्ण जगत् केवल मुझसे ही भरा दिखाई देता है।

(18.1136) उस समय वैराग्य और विवेक सहित बन्ध मोक्ष में लय पाता है और वृत्ति भी निवृत्ति-सहित विलीन हो जाती है।

(18.1137) जब त्वंपद सहित तत्पद भी विलीन हो जाता है, तब जैसे आकाश अन्य चारों भूतों को लील कर स्वयं शेष रहता है,

(18.1137) वैसे ही साध्य और साधन के परे शुद्ध स्वरूप जो मैं हूँ उस मुझसे एकरूप हो वह पुरुष मेरा उपभोग लेता है।

(18.1138) जैसे गंगा समुद्र से मिल कर भी समुद्र में जुदी शोभा देती है उसी प्रकार वह मेरा उपभोग करता हैं

(18.1139) अथवा दर्पण को जैसे कोई साफ घिसा हुआ दर्पण दिखाया जाय वैसा हो उस उपभोग का सुख जान पड़ता हैं;

(18.1140) अथवा जब दर्पण अलग करने से चेहरे का दिखाई देना बन्द हो जाता है, तब जैसे देखनेहारा केवल अपने में ही दृष्टत्व सुख का अनुभव लेता है,

(18.1141) जागृत होने पर स्वप्न नहीं रहता और अपनी एकता ही दिखाई देती है उसका उपभोग जैसे द्वैत के बिना ही लिया जाता है,

(18.1142) (जो समझते हो कि एकरूप होने पर उस वस्तु का उपभोग नहीं हो सकता वे शब्द से ही शब्द का उच्चारण कैसे करते है?

(18.1143) उनके गाँव में सूर्य को प्रकाशित करने के लिए दीपक का उपयोग करते हो, अथवा आकाश को धारण करने के लिए मण्डप खड़ा करते हो तो दूसरी बात है।

(18.1144) अजी! राजत्व प्राप्त किये बिना ही क्या कोई राजसुख का उपभोग ले सकता है?अन्धकार क्या सूर्य का आलिंगन कर सकता है?

(18.1145) और जो आकाश नहीं हो जाता उसे आकाश की व्याप्ति क्या जान पड़ सकती है? घुँघुचियों के अलंकार रत्नों के अलंकारों की शोभा कहीं दे सकते है?

(18.1146) अतएव जो मद्रूप नहीं होता उसे मेरा ज्ञान ही कहाँ होता है, फिर मेरी भक्ति का तो कहना ही क्या?)

(18.1147) तरुणांगी जैसे तारुण्य का भोग लेती है वैसे ही वह कर्मयोगी मद्रूप हो मेरा उपभोग लेता है।

(18.1148) तरंगें जैसे सर्वतः जल का चुम्बन करती है, प्रभा जैसे बिम्ब में सर्वत्र प्रकाशित होती है, अथवा अवकाश जैसे आकाश में सर्वत्र व्याप्त है

(18.1149) वैसे ही वह पुरुष मत्स्वरूप होकर कोई क्रिया किये बिना ही मेरा भजन करता है। सोने की घनता जैसे स्वभावतः सोने को ही भजती है,

(18.1150) अथवा चन्दन की सुगन्ध जैसे चन्दन का ही सेवन करती है, अथवा चन्द्रिका जैसे स्वभावतः चन्द्रमा में ही अनुरक्त रहती है

(18.1151) वैसे ही अद्वैतस्थिति में, वास्तव में कोई क्रिया न होते हुए भी, भक्ति हो सकती है। यह बात केवल अनुभव के ही योग्य है, शब्दों से कहने योग्य नहीं।

(18.1152) अतः वह पुरुष प्रारब्धकर्मानुसार जो कुछ बोलता है उन शब्दों से वह मानों मुझे ही पुकारता है, और वही बोलना मेरा उत्तर देना है।

(18.1153) जहाँ बोलनेहारे को केवल उसी बोलनेहारे की भेंट हो और दूसरा कोई न रहे वहाँ वास्तव में बोलने की क्रिया ही नहीं होती; ऐसा जो मौन है वही मेरा उत्तम स्तवन है।

(18.1154) अतएव वह पुरुष जो कुछ बोलता है उससे मेरी (बोलनेहारे की) भेंट होते ही वह मौन हो जाता है, उसी मौनभाव से वह मेरी स्तुति करता है।

(18.1155) उसी प्रकार हे किरीटी! वह बुद्धि से या दृष्टि से जो कुछ देखने की चेष्टा करता है वह दर्शनक्रिया दृश्य का लोप कर उसे देखनेहारे का ही स्वरूप बताती है।

(18.1156) दर्पण में देखने के पूर्व जो देखनेहारे का स्वरूप है वही जैसे दर्पण में देखने से दिखाई देता है वैसे ही पुरुष का देखना देखनेहारे की प्राप्ति करा देता है।

(18.1157) दृश्य का लोप होकर दृष्टत्व जब द्रष्टा में ही लीन हो जाता है तब केवल एकता रहने के कारण द्रष्टात्व भी नहीं रह सकता।

(18.1158) तब, जैसे जागने पर स्वप्न में देखे हुए प्रिय जन को आलिंगन देने की चेष्टा करने के समय द्वैत न रह कर केवल आप ही अकेले रहते हैं,

(18.1159) अथवा जैसे दो लकड़ियाँ घिसने से उनमें से जो अग्नि उठती है वह लकड़ी और अग्नि नामक द्वैत का नाम मिटा कर केवल आप ही बच रहती है,

(18.1160) अथवा सूर्य अपने प्रतिबिम्ब को हाथ में ले तो जैसे उसकी प्रतिबिम्बापेक्षित बिम्बता चली जाती है,

(18.1161) वैसे ही देखनेहारा यदि मद्रूप होकर दृश्य देखने जाय तो वह दृष्टत्व-सहित विलीन हो जाता है।

(18.1162) सूर्य अन्धकार को प्रकाशित करता है तब जैसे प्रकाश्य न रहने से उसकी प्रकाशकता भी नहीं रहती वैसे ही मद्रूप होने पर दृश्य-सम्बन्धी दृष्टत्व भी नहीं रहता।

(18.1163) फिर देखना और न देखना ऐसी जो दशा होती है वह वास्तव में मेरा दर्शन है।

(18.1164) हे किरीटी! उस दर्शन का उपभोग मेरा भक्त हर किसी पदार्थ की भेंट से, उसमें द्रष्टा या दृश्य के परे की दृष्टि द्वारा, सर्वकाल लेता है,

(18.1165) और आकाश जैसे आकाश के ही बोझ से नहीं डिगता वैसे ही उसकी स्थिति मुझ आत्मा के कारण हो जाती है।

(18.1166) कल्प के अन्त में जैसे जल जल से ही प्रतिबद्ध हो जाता और उसका बहना बन्द हो जाता है वैसे ही वह एक मुझ आत्मा से ही भरा हुआ रहता है।

(18.1167) पाँव निज को ही कैसे नाँघ सकता है? अग्नि निज को ही कैसे लग सकती है? जल स्वयं जल से स्नान करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

(18.1169) जल की तरंग यद्यपि अत्यन्त वेग से दौड़े तथापि उसे किसी भूमिभाग का आक्रमण नहीं करना पड़ता।

(18.1170) क्योंकि वह जिस वस्तु का ग्रहण करे या त्याग करे अथवा उसका चलना या चलने का मार्ग सब एक जल ही है;

(18.1171) एवं तरंग कहीं जाय तथापि हे पाण्डुसुत! जल ही होने के कारण जैसे उसकी एकात्मता नहीं टूटती

(18.1172) वैसे ही वह पुरुष — जो मुझसे सना हुआ रहता है — सब भावों से मुझ में आ पहुँचता है और इस प्रकार यात्रा करनेहारा बनता है।

(18.1173) उस समय हे पाण्डुसुत! कर्म और कर्ता नहीं रहते बल्कि मैं ही निज रूप से निज को ही देखता हूँ। इस प्रकार वह केवल मद्रूप ही हो रहता है।

(18.1175) दर्पण दर्पण को देखे तो जैसे वह देखना नहीं कहा जा सकता, सोने को सोने से ही ढाँकना ढाँकना नहीं कहा जा सकता.

(18.1176) दीपक को दीपक से ही प्रकाशित करना प्रकाशित करना नहीं हो सकता, वैसे ही मेरा कर्म करना 'करना' कैसे कहा जा सकता है?

(18.1177) कोई कर्म करता ही रहे परन्तु यदि ऐसा न कहा जा सके कि वह कर्म करता है तो उसका करना न करना ही है।

(18.1178) सम्पूर्ण क्रियाएँ मद्रूप हो जाने के कारण जो अकर्तृत्व की घटना होती है उसी का नाम मेरी सांकेतिक पूजा है।

(18.1179) एवं हे कपिध्वज! कर्म, जो किया जाने पर भी न किया सो होता है, उससे वह पुरुष मेरी महापूजा करता है;

(18.1180) एवं वह जो बोले सो मेरा स्तवन है, जो देखे से मेरा दर्शन है, और जो चले सो मुझ अद्वितीय की यात्रा है।

(18.1181) वह जो करे से मेरी पूजा है, वह जो कल्पना करे सो मेरा जप है, और उसका नींद लेना ही मेरी समाधि

(18.1182) कंकण जैसे सोने से अनन्य हो रहता वैसे ही वह भक्तियोग के द्वारा मुझमें अनन्य हो रहता है।

(18.1183)जल में तरंग, कपूर में सुगंध अथवा रत्न में प्रकाश जैसे अनन्य है

(18.1184) किंबहुना, तन्तुओं से जैसा वस्त्र, मिट्टी से जैसा घट, वैसा ही मेरा भक्त मुझसे एकरूप हो रहता है।

(18.1185) हे सुमति! इस अद्वैत भक्ति के द्वारा वह आप ही सम्पूर्ण दृश्यमात्र में मुझ द्रष्टा को भरा हुआ देखता है।

(18.1186) जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के द्वारा उपाधि और उपाधियुक्त रूपों से, तथा भाव और अभाव रूपों से, जो कुछ दृश्य प्रतीत होता है

(18.1187) वह सब "मैं ही द्रष्टा हूँ" ऐसे ज्ञान के बीच, हे सुभट! आत्मानुभव के आनन्द से नाचता है

(18.1188) सर्प का आभास दिखाई देने के पश्चात् जब रस्सी दृष्टिगोचर हो जाती है तब जैसे यह निश्चय हो जाता हैं कि वह सर्प नहीं रस्सी ही थी,

(18.1189) अलंकार गलाने पर जैसे यह निश्चय हो जाता है कि उसमें सोने के अतिरिक्त अलंकारत्व एक रत्ती-भर भी नहीं है,

(18.1190) यह जान कर कि जल के अतिरिक्त तरंग कोई वस्तु नहीं है जैसे उस आकार का ग्रहण नहीं किया जाता,

(18.1191) अथवा स्वप्न-विकार के अनन्तर जागृत हो देखने पर जैसे अपने सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता,

(18.1192) वैसे ही उस पुरुष का ऐसा अनुभव होता है कि संसार में जो कुछ है वा नहीं है उस सबसे ज्ञेय वस्तु ही प्रकाशित होती हैं और वह जाननेहारा भी मैं ही हूँ; तथा वह उस अनुभव का उपभोग लेता है।

(18.1193) वह जान लेता है कि मैं अजन्मा हूँ, जरा-रहित हूँ, मैं अविनाशी हूँ तथा अत्तर हूँ, मैं अपूर्व हूँ तथा अपार आनन्दरूप हूँ,

(18.1194) मैं अचल हूँ तथा अच्युत हूँ, मैं अन्त-रहित हूँ तथा अद्वितीय हूँ, मैं आद्य हूँ तथा अव्यक्त और व्यक्त भी मैं ही हूँ;

(18.1195) मैं ईश्य हूँ तथा मैं ही ईश्वर हूँ, मैं अनादि हूँ तथा अमर हूँ, मैं भयरहित हूँ तथा आधार और आधेय मैं ही हूँ,

(18.1196) मैं सर्वदा सब का स्वामी हूँ, मैं सर्वदा स्वभावसिद्ध हूँ. मैं सर्वदा सर्वगत हूँ तथा सबके परे हूँ,

(18.1197) मैं नूतन हूँ तथा पुराना हूँ. मैं शून्य तथा सम्पूर्ण हूँ, मैं सूक्ष्म हूँ तथा अणु से भिन्न जो कुछ है सो मैं ही हूँ,

(18.1198) मैं क्रियारहित तथा एक हूँ, मैं संगरहित तथा शोक-रहित हूँ, मैं व्याप्त हूँ तथा मैं व्यापक और पुरुषोत्तम हूँ;

(18.1199) मैं शब्द रहित तथा श्रवणरहित हूँ, अरूप तथा अगोत्र हूँ, मैं समान तथा स्वतन्त्र और परब्रह्म हूँ।

(18.1200) इस प्रकार वह मुझ अद्वितीय को आत्मरूप जान इस अद्वैत भक्ति के द्वारा वस्तुतः जानता है और इस ज्ञान का ज्ञाता भी मुझे ही जानता है।

(18.1201) जागृत होने पर जैसे अपनी एकता ही शेष रहती है, और वह निज को निज में ही ज्ञात होती है,

(18.1212 अथवा सूर्योदय होने पर जैसे वही सूर्य अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, तथा अपने से अपने अभेद का द्योतक भी वही होता है,

(18.1203) वैसे ही ज्ञेय वस्तुओं का लय हो जाने पर जो केवल ज्ञाता शेष रहता है वही निज को जानता है; तथा यह ज्ञान भी जिसे होता है

(18.1204) उसे अपनी अद्वितीयता के कारण हे धनंजय! इस बात की प्रतीति हो जाती है कि जो ज्ञान-कला है वह मैं ईश्वर ही हूँ।

(18.1205) फिर यह जान कर कि द्वैत और अद्वैत के परे निश्चय से एक में ही आत्मा शेष रहता हूँ, उसका ज्ञान आत्मानुभव में लीन हो जाता है।

(18.1206) तब जागृत होने पर जो हमारी एकता दिखाई देती है वह भी नष्ट हो जाय तो जैसे हमारा स्वरूप न जाने कैसा होगा,

(18.1207) अथवा अलंकार देखते ही जैसे उसे गलाये बिना ही उसके आकार तथा अलंकारत्व का नाश हो सुवर्ण का निश्चय हो जाता है,

(18.1208) अथवा लवण जल हो जाता है तब उसकी क्षारता जल-रूप से रहती है और उस जल के भी नाश होने पर जैसे उसका जलरूप होना भी नष्ट हो जाता है

(18.1209) वैसे ही वह पुरुष मद्रूपता भाव को आत्मानुभव के आनन्द की एकता में मिला कर मुझ में ही प्रवेश करता है

(18.1210) और जब तद्भाव का नाम ही नहीं रहता तब "मैं" शब्द का प्रयाग किसके लिए हो सकता है? इस प्रकार वह न मैं न वह ऐसी स्थिति में हो मेरे स्वरूप में हो समा जाता है

(18.1211) तब जैसे कपूर जल चुकता है उसी समय अग्नि भी बुझ जाती हैं, और दोनों के परे की वस्तु आकाश शेष रहता है,

(18.1212) अथवा एक में से एक घटाने से जैसा शून्य शेष रहता है, वैसे ही सब भावाभाव का शेष मैं ही बच रहता हूँ।

(18.1213) और ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि शब्दों की इच्छा ही नहीं रहती, तथा न बोलने के लिए भी वहाँ कुछ अवकाश नहीं रहता।

(18.1214) इस स्थिति में निःशब्दता ही, बिना ही बोले, मुँह भर के बोली जाती हैं तथा ज्ञान और अज्ञान दोनों न जान कर ज्ञान होता है।

(18.1215) उसमें ज्ञान ही ज्ञान को जानता हैं। आनन्द ही आनन्द ग्रहण करता है, सुख ही केवल सुख भागता है,

(18.1216) लाभ को ही लाभ प्राप्त होता हैं, प्रकाश ही प्रकाश का आलिंगन करता है, और विस्मय ही खड़ा-खड़ा आश्चर्य में डूब जाता है।

(18.1217) उस स्थिति में शम शान्त हो जाता है, विश्रान्ति का विश्राम और अनुभव अनुभूति के कारण बौरा जाता है।

(18.1218) बहुत क्या कहें, इस प्रकार उस पुरुष को कर्मयोग की सुन्दर बेल की सेवा करते से केवल आत्मत्वरूपी फल प्राप्त होता है।

(18.1219) हे किरीटी! मेरा भक्त निज को मुझे अर्पण कर, मैं जो कर्म-योगरूपी राजा के मुकुट में ज्ञानरूपी रत्न हूँ, वही बन जाता है;

(18.1220) अथवा वह कर्मयोगरूपी मन्दिर का जो मोक्षरूपी कलश है उसके भी ऊपर का आकाशरूपी प्रसार बन जाता है।

(18.1221) नहीं नहीं, संसार-रूपी जंगल में कर्मयोग एक सरल मार्ग है, उससे चल कर वह मेरी एकता-रूपी गाँव में पहुँच जाता है।

(18.1222) यह भी रहने दो, कर्म-योगरूपी प्रवाह से उसकी भक्तिरूपी चिद्गंगा आत्मानन्दरूपी समुद्र में जा पहुँचती है।

(18.1223) हे मर्मज्ञ! कर्मयोग की महिमा यहाँ तक है। अतः हम तुम्हें बार-बार इसी का उपदेश करते हैं।

(18.1224) मैं ऐसा नहीं हूँ कि देश-काल-पदार्थ इत्यादि साधनों से मेरी प्राप्ति हो सके। मैं सबों का ही सर्वस्व बना-बनाया हूँ।

(18.1225) इसलिए मेरे लिए कुछ आयास नहीं करना पड़ता। मैं इस कर्मयोग के उपाय से निश्चय से प्राप्त होता हूँ।

(18.1226) एक शिष्य है और एक गुरु है, ऐसा जो व्यवहार जारी हुआ है वह केवल मेरी प्राप्ति की रीति जानने के हेतु से. है।

(18.1227) अजी हे किरीटी! पृथ्वी के पेट में द्रव्य तो सिद्ध ही है, काष्ठ में अग्नि सिद्ध ही है, थनों में दूध सिद्ध ही है

(18.1228) परन्तु इन सिद्ध वस्तुओं के पाने के लिए उपाय करने पड़ते हैं। वैसे ही में भी सिद्ध हूँ और उपायों से प्राप्त होता हूँ।

(18.1229) यदि कोई पूछे कि देव! फल-प्राप्ति के वर्णन के अनन्तर फिर उपाय का प्रस्ताव क्यों करते हैं तो इसका अभिप्राय यह है

(18.1230) कि गीतार्थ की उत्तमता सब मोक्ष-प्राप्ति के विषय में है। अन्य शास्त्रों के उपाय अनुभवसिद्ध नहीं हैं।

(18.1231) वायु से मेघ हट जाते हैं पर उससे सूर्य की घटना नहीं होती, हाथ से सेवार अलग हो सकती है पर उससे जल नहीं बन सकता;

(18.1232) वैसे ही शास्त्र से आत्मानुभव का प्रतिबन्धक जो अविद्यामल है उसका नाश होता है पर जो निर्मल आत्मा है उसे स्वयं मैं ही प्रकाशित करता हूँ।

(18.1233) अतः अविद्या का विनाश करने के लिए सब शास्त्र योग्य हैं, परन्तु वे आत्मानुभव के लिए, समर्थ नहीं हैं।

(18.1234) इन अध्यात्म शास्त्रों से जब सत्य का निर्णय पूछा जाय तब वे जिस स्थान का आश्रय करते हैं वह यह गीता है।

(18.1235) सूर्य से विभूषित पूर्व दिशा के कारण जैसे सब दिशाएँ प्रकाशमयी दिखाई देती हैं, वैसे हो मानों इस गीतारूपी शास्त्रों के राजा से सब शास्त्र सनाथ हुए हैं।

(18.1236) अस्तु, यद्यपि पिछले अध्यायों में इस शास्त्रराज ने आत्मा का करगत करने के उपाय का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है,

(18.1237) तथापि यह सोच कर कि एक ही बार सुनने से वह अर्जुन की समझ में कदाचित् ही आवे श्रीकृष्ण कृपया

(18.1238) वही सिद्धान्त शिष्य के हृदय में स्थिर करने के उद्देश्य से फिर एक बार संक्षेप से वर्णन करते हैं।

(18.1239) और प्रसंगानुसार गीता भी समाप्त होने को आई, इसलिए आदि से अन्त तक गीता की एकार्थता भी बताते हैं।

(18.1240) क्योंकि इस ग्रन्थ के मध्यभाग में अनेक अधिकार-वर्णन के समय अनेक सिद्धान्तों का निरूपण किया है,

(18.1241) अतः कदाचित् कोई पूर्वापर सम्बन्ध न जान कर यह मान ले कि इस ग्रन्थ में उतने सब सिद्धान्तों का प्रस्ताव किया गया है

(18.1242) इसलिए श्रीकृष्ण एक महासिद्धान्त के अन्तर्गत अनेक सिद्धान्तों की श्रेणियों का इकट्ठी कर आरम्भित ग्रन्थ समाप्त करते हैं।

(18.1243) अविद्या का नाश ही इस ग्रन्थ की भूमिका है, मोक्ष-सम्पादन ही उसका फल है, और इन दोनों का साधन ज्ञान है।

(18.1244) इतनी ही बात जो अनेक प्रकार से इस ग्रन्थ में विस्तार से कही गई है उसी का फिर संक्षेपतः वर्णन करने के

(18.1245) उद्देश्य से, उपाय-साध्य वस्तु प्राप्त होने पर भी, श्रीकृष्ण फिर उपाय वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ 18.56 ॥

(18.1246) फिर श्रीकृष्ण ने कहा कि हे उत्तम योद्धा! वह कर्मयोगी निष्ठा से मद्रूप हो कर मुझमें मिल जाता हैं।

(18.1247) स्वकर्मरूपी निर्मल फूलों से मेरी उत्तम पूजा कर वह मुझे प्रसन्न करता और ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करता है।

(18.1248) जब वह ज्ञान-निष्ठा हाथ आती है तब मेरी परम भक्ति उल्लसित होती है जिससे कि वह मुझसे एकरूप हो सुखी होता है।

(18.1249) और जो विश्व का प्रकाशित करनेहारे मुझ निजात्मरूप को सर्वरूप जान भजता है,

(18.1250) (लवण जैसे अपना प्रतिबन्ध छोड़ जल का आश्रय करता है, अथवा वायु जैसे सर्वत्र घूम कर फिर आकाश में निश्चल हो रहती है,

(18.1251) वैसे ही जो बुद्धि से, काया से और वाणी से मेरा ही आश्रय कर रहता है) वह कदाचित् निषिद्ध कर्म भी करे

(18.1252) तथापि जैसे गंगा में मिलने पर नाला या महानदी समान ही हैं वैसे ही उसे मेरा ज्ञान हो जाने के कारण शुभ और अशुभ कर्म समान ही हो जाते हैं।

(18.1253) मलयगिरि चन्दन और सामान्य काष्ठ का भेद तभी तक हो सकता है जब तक उनसे अग्नि लिपट नहीं जाती,

(18.1254) अथवा सोने के निकृष्ट या उत्तम होने के अपवाद तभी तक हैं जब तक पारस उन्हें स्पर्श कर एकरूप नहीं करता,

(18.1255) वैसे ही पुण्य और पाप कर्मों का आभास तभी तक होता है जब तक सर्वत्र एक में ही नहीं दिखाई देवा।

(18.1256) अजी, रात और दिन का द्वैत तभी तक है जब तक सूर्य के प्रदेश में प्रवेश न किया जाय।

(18.1257) अतः हे किरीटी! मेरी प्राप्ति से सब कर्मों का नाश हो जाने पर वह सायुज्यता के पद पर आरूढ़ होता है,

(18.1258) एवं उसे मेरे अविनाशी पद का लाभ होता है जिसका देश, काल या स्वभाव से क्षय होना असम्भव है।

(18.1259) किंबहुना, हे पाण्डुसुत! उसे मुझ आत्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है जिसकी प्राप्ति होने पर ऐसा कौन लाभ है जो प्राप्त नहीं हो सकता?

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ 18.57 ॥

(18.1260) इस लिए हे धनंजय! तुम्हें अपने सब कर्मों का मुझमें संन्यास करना चाहिए।

(18.1261) परन्तु हे वीर! संन्यास केवल बाह्यतः मत करो। चित्तवृत्ति आत्मविचार में स्थिर रक्खो।

(18.1262) उस विचार के बल से तुम स्वयं कर्म से भिन्न हो जाओगे और सब कर्म मेरे निर्मल स्वरूप में ही दिखाई देंगे

(18.1263) और कर्म की जन्मभूमि जो प्रकृति है वह तुमसे अत्यन्त दूर दिखाई देगी।

(18.1264) अनन्तर हे धनंजय! रूप के बिना जैसे छाया नहीं रह सकती वैसे ही आत्मा के बिना प्रकृति भी नहीं रहती।

(18.1265) इस प्रकार प्रकृति का नाश होने पर अनायास ही कारण-सहित कर्मों का संन्यास हो जावेगा।

(18.1266) फिर कर्मों का नाश होने पर मैं — केवल आत्मा — शेष रहता हूँ उस मुझमें बुद्धि का पतिव्रता स्त्री के समान स्थिर करनी चाहिए।

(18.1267) ऐसी अनन्यता-पूर्वक जब बुद्धि मुझमें प्रवेश करती है तब चित्त सब विषयों का त्याग कर मेरा ही भजन करता है।

(18.1268) इस प्रकार सदा और शीघ्र ही ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि विषयों का त्याग कर चित्त मुझसे ही युक्त हो रहे।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ 18.58 ॥

(18.1269) फिर इस अनन्य सेवा से जब चित्त मेरे स्वरूप से ही सन जावेगा तब समझना कि मेरा पूर्ण प्रसाद हुआ।

(18.1270) उससे सब दुःख के स्थल जो जन्म-मृत्यु द्वारा भोगे जाते हैं वे दुर्गम होने पर भी तुम्हें सुगम हो जावेंगे।

(18.1271) आँखें जब सूर्य-प्रकाश के सहाय से युक्त हो जाती हैं तब उनके सम्मुख अँधेरा क्या वस्तु है?

(18.1272) वैसे ही मेरे प्रसाद से जिसका जीवांश नष्ट हों जाय वह संसार के हौवे से कैसे डर सकता है?

(18.1273) अतएव हे धनंजय! तुम मेरे प्रसाद से इस संसार दुर्गति के पार हो जाओगे।

(18.1274) परन्तु यदि अहंकार के वश हो तुम मेरा यह सम्पूर्ण उपदेश अपने कान या मन की हद में न आने दोगे

(18.1275) तो तुम नित्य-मुक्त और अव्यय होते हुए भी वृथा देह-सम्बन्ध के घाव सहते रहोगे।

(18.1276) इस देह-सम्बन्ध से डग-डग पर आत्मघात ही होता है और भोगों से कभी विश्राम नहीं मिलता।

(18.1277) यदि तुम मेरा उपदेश न सुनोगे तो तुम्हें इतनी दारुण, बिना मृत्यु की मृत्यु प्राप्त होगी।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 18.59 ॥

(18.1278) पथ्य का द्वेष करनेहारा रोगी जैसे ज्वर की पुष्टि ही करता है अथवा दीपक का द्वेष करनेहारा जैसे अन्धकार को ही बढ़ाता है, वैसे ही विवेक के द्वेष से अहंकार को बढ़ा कर

(18.1279) तुम अपने शरीर को अर्जुन, शत्रुओं को अपने स्वजन, और इस संग्राम को मलिन पापाचरण,

(18.1280-81) इस प्रकार अपने मतानुसार तीनों को तीन नाम दे है धनंजय! अपने हृदय में जो यह दृढ निश्चय करते हो कि युद्ध न करना चाहिए सो तुम्हारे नैसर्गिक स्वभाव अर्थात् क्षात्रधर्म के सम्मुख वृथा है।

(18.1282) और मैं अर्जुन हूँ और ये मेरे आप्त-जन हैं, इनका वध करना पाप है आदि बातें क्या माया के अतिरिक्त तत्त्वतः कुछ सत्य हैं?

(18.1283) तुम स्वभावतः योद्धा हो तो तुम्हें युद्ध करते के लिए शस्त्र उठाना चाहिए कि युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए?

(18.1284) अतः तुम्हारा युद्ध न करने का निश्चय वृथा है, तथा लोक दृष्टि से भी लोक-व्यवहार के योग्य नहीं माना जा सकता;

(18.1285) एवं तुम यद्यपि मन में निश्चय कर रहे हो कि युद्ध न करेंगे तथापि प्रकृति तुमसे उसके विरुद्ध ही करावेगी।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 18.60॥

(18.1286) पानी पूर्व की ओर बहता हो तो पश्चिम की ओर तैरना केवल हठ करना है, क्योंकि तैरनेहारे को पानी अपने प्रवाह की ओर ही खींचता है,

(18.1287) अथवा धान का कण कहे कि मैं धानरूप से न उगूँ तो स्वभाव-धर्म के विपरीत होने के कारण क्या ऐसी बात हो सकती है

(18.1288) वैसे ही हे प्रबुद्ध! प्रकृति ने तुम्हें क्षात्र संस्कारों से युक्त रचा है, अतः तुम्हारा यह कहना कि हम युद्ध नहीं करते केवल एक व्यापार है; परन्तु तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा।

(18.1289) हे पाण्डुसुत! प्रकृति ने तुम्हें जन्म से ही शूरता, तेज, दक्षता इत्यादि गुण दिये हैं।

(18.1290) अतः हे धनंजय! उस गुण-समुदाय के अनुरूप कर्म न करके तुम चुपचाप नहीं बैठ सकते।

(18.1291) अतएव हे कोदण्ड़पाणि! तुम तीन गुणों से तीनों ओर बँधे रहने के कारण अवश्य ही क्षात्रधर्म के मार्ग में प्रवृत्त होगे,

(18.1292) अथवा यद्यपि तुम अपने जन्म के मूल का विचार न करते हुए केवल यही अटल निश्चय कर लो कि मैं युद्ध न करूँगा

(18.1293) तथापि जिसे हाथ-पाँव बाँध कर रथ में बैठा रक्खा हो वह जैसे स्वयं न चल कर भी देशान्तर का चला जाता है

(18.1294) वैसे ही तुम अपनी ओर से यह कह कर चुपचाप रहो कि मैं कुछ कर्म नहीं करता तथापि तुम्हें अवश्य ही करना पड़ेगा।

(18.1295) गोग्रहण के समय जब राजा उत्तर युद्ध में से भागता था तब तुमने क्यों युद्ध किया? यही तुम्हारा क्षत्रिय-स्वभाव तुमसे अब भी युद्ध करावेगा।

(18.1296) जिस स्वभाव-बल से ग्यारह अक्षौहिणी सेना का तुमने अकेले ही युद्ध में पराजित किया वही स्वभाव हे कोदण्ड़पाणि! तुम्हें अब भी लडावेगा।

(18.1297) अजी! रोगी को क्या रोग की चाह रहती है, दरिद्री को क्या दरिद्रता की इच्छा रहती है, तथापि जिस बलिष्ठ प्रारब्धानुसार उन्हें रोग या दरिद्रता भोगनी ही पड़ती है

(18.1298) वह प्रारब्ध ईश्वर के वश होने के कारण अन्यथा कभी नहीं होता। वह ईश्वर भी तुम्हारे हृदय में बसता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ 18.61 ॥

(18.1299) जो सब भूतों क भीतर रहनेहारे हृदय-रूपी महाकाश में ज्ञान-वृत्ति-रूपी हजारों किरणों-सहित उदित हुआ है,

(18.1300) और जो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थारूपी तीनों लोकों को सम्पूर्ण प्रकाशित कर विपरीत ज्ञानवाले पथिकों का जागृत करता है,

(18.1301) जो वेद्य-रूपी जल के सरोवर में विषयरूपी कमलों के खिलते ही उन्हें इन्द्रियरूपी छः पाँववाले जीवरूपी भ्रमरों से चरवाता है —

(18.1302) अस्तु, रूपक जाने दे — वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के अहंकार से आवृत्त हो सर्वदा उल्लसित है।

(18.1303) निजमाया-रूपी परदे की आड़ में खड़ा हो वह अकेला डोरी हिलाता है और बाहर की ओर चौरासी लाख छायाचित्रों को सजाता

(18.1304) और ब्रह्मा से ले कर कीटक तक सब भूतों को उनके योग्यतानुसार देहाकार दिखाता है,

(18.1305) एवं जिसके सन्मुख, उसके योग्यतानुसार, जो देह रखता है उसे वह जीव समझता है कि यह मैं ही हूँ। इस बुद्धि से वह जीव उस देह पर आरूढ़ हो जाता है।

(18.1306) सूत सूत से ही लपेटा गया हो, घास घास से ही बाँधी गई हो, अथवा बालक जैसे जल में अपना प्रतिबिम्ब देख भ्रम में पड़े,

(18.1307) वैसे ही यह जान कर कि देहस्वरूप से दिखाई देनेहारा मैं ही हूँ, जीव आत्मबुद्धि प्रकट करता है।

(18.1308) इस प्रकार शरीर-रूपी यन्त्रों पर जीवों का बैठा कर वह ईश्वर आप पूर्व-कर्मरूपी सूत्र हिलाता है।

(18.1309) तब जिसके लिए जो कर्मसूत्र स्वतन्त्र रच रक्खा हो वह वैसी ही गति का पहुँचता है।

(18.1310) बहुत क्या कहें, हे धनुर्धर! वायु जैसे तिनकों को आकाश में घुमाती है वैसे ही ईश्वर प्राणियों को स्वर्ग और संसार में घुमाता है।

(18.1311) चुम्बक के संग से लोहा जैसे चक्कर खाता है वैसे हो जीवगण ईश्वर की सत्ता से व्यापार करते हैं।

(18.1312) हे धनंजय! जैसे समुद्र इत्यादि, एक चन्द्रमा के सान्निध्य से, अपने-अपने योग्यतानुरूप व्यापार करते हैं —

(18.1313) समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, सोमकान्त मणि पसीजता है और कुमुद और चकोर पक्षी आनन्द प्रदर्शित करते हैं,

(18.1314) वैसे ही मूलप्रकृति के वश अनेक जीवों को जो व्यापार में प्रवृत्त करता है वह एक ईश्वर तुम्हारे हृदय में है।

(18.1315) हे पाण्डुसुत! अर्जुनत्व का छोड़ तुममें जो अहंवृत्ति उठती है वही उस ईश्वर का तात्विक स्वरूप है।

(18.1316) इसलिए यह निश्चय जानो कि वह प्रकृति का प्रवृत्त करेगा, और यद्यपि तुम युद्ध न करो तथापि वह प्रकृति तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त करेगी।

(18.1317) तात्पर्य कि ईश्वर स्वामी है, वह प्रकृति का नियमन करता है और प्रकृति अपने इच्छानुसार इन्द्रियों से कर्म करवाती है।

(18.1318) तुम्हें चाहिए कि करना न करना दोनों प्रकृति का सौंप कर प्रकृति भी जिस हृदयस्थ ईश्वर के अधीन है

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ 18.62 ॥

(18.1319) – उसे अपना अहंकार, काया, वाचा और मन अर्पण कर, गंगाजल जैसे समुद्र की शरण में जाता है वैसे उसकी शरण में जाओ।

(18.1320) उसके प्रसाद से तुम सब विषयों की उपशान्तिरूपी स्त्री के पति हो आत्मानन्द से निजरूप में ही रममाण होगे।

(18.1321) और उत्पत्ति जहाँ से उत्पन्न होती है, विश्रान्ति जहाँ विश्राम पाती हैं, अनुभूति जिस अनुभव का अनुभव लेती है,

(18.1322) लक्ष्मीनाथ कहते हैं हे पार्थ! इस अक्षय स्वात्मपद के तुम राजा बन जाओगे।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ 18.63 ॥

(18.1323) यह जो गीता नाम से प्रसिद्ध है, जो सब वेदों का सार हैं, जिससे आत्मा रत्न के समान करगत हो सकता है,

(18.1324) वेदान्त ने ज्ञान नाम से जिसकी महिमा वर्णन की है, अतः सब संसार में जिस की उत्तम कीर्ति फैल गई है,

(18.1325) बुद्धि इत्यादि ज्ञान जिस ज्ञान के सन्मुख अन्धकाररूप हैं, जिसका उदय होते हो मैं सर्वद्रष्टा दिखाई देता हूँ,

(18.1326) वह आत्मज्ञान मुझ सर्वगुण का भी गुप्तधन है, परन्तु तुम्हें पराया समझ कर मैं उस गुप्तधन का क्या करूँ?

(18.1327) अतएव हे पाण्डव। मैंने कृपा से व्याप्त हो वह गुप्तधन तुम्हें दे दिया।

(18.1328) जैसे प्रेम में भूली हुई माता बालक से प्रेम-युक्त वचन बोलती है मैंने केवल वैसा ही नहीं किया

(18.1329) वरन् आकाश भी जैसे गलाया जाय, अमृत की भी छाल निकाली जाय, अथवा जो स्वयं दिव्य है उसे और दिव्य किया जाय,

(18.1330) जिसके अंग-प्रकाश से पाताल का भी परमाणु दिखाई दे सकता है उस सूर्य को भी जैसे अंजन लगाया जाय

(18.1331) वैसे ही मुझ सर्वज्ञ ने भी सब बातों की छान-बीन कर निश्चय किया और हे धनंजय! जो तुम्हारे हित का था वही उपदेश किया।

(18.1332) अब इस पर तुम्हें क्या करना चाहिए, इसका तुम भी विचार कर निश्चय करो और फिर जैसा चाहे वैसा करो।

(18.1333) श्रीकृष्ण के ये वचन सुन कर अर्जुन चुपचाप हो रहा। तब देव ने कहा तुम वंचना करनेहारे नहीं हो

(18.1334) परोसनेहारी परोसती हो तथापि भूखा मनुष्य यदि लज्जा से कह दे कि मैं अघा गया तो वही भूख से व्याकुल होगा, अतः उसका दोष उसी पर है;

(18.1335) वैसे ही सर्वज्ञ श्रीगुरु मिलने पर यदि शिष्य लज्जावश हो आत्मनिश्चय न पूछे

(18.1336) तो वह निज की ही वंचना करता है, और उस वंचना का पाप भी लगता है तथा वह आत्मस्वरूप से अवश्य ही वंचित हो रहता है।

(18.1337) परन्तु हे धनंजय! तुम चुप रहे हो इसका अर्थ यही मालूम होता है कि हम एक बार फिर से उस ज्ञान का सार कह बतावें।

(18.1338) तब अर्जुन ने कहा — हे गुरु! आप मेरा अन्तःकरण जाननेहारे हो। पर इसमें कहना ही क्या है? आपके अतिरिक्त क्या कोई दूसरा जाननेहारा है?

(18.1339) अन्य जो सम्पूर्ण वस्तुएँ हैं वे ज्ञेय हैं, आप ही एक स्वभावतः ज्ञाता हैं। अतः सूर्य को सूर्य कह कर स्तुति करने से क्या प्रयोजन है?

(18.1340 यह वचन सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा कि यह क्या थोड़ी स्तुति हुई? यदि तुम जानना चाहते हो

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ 18.64 ॥

(18.1341) - तो खूब सावधान हो कर एक बार और मेरे निर्मल वचन सुन लो।

(18.1342) यह बात ऐसी नहीं है कि बोलने के योग्य हो और बोली जा सके, अथवा सुनने का विषय हो और सुनी जा सके। परन्तु तुम्हारा भाग्य अच्छा है।

(18.1343) कछवी के बच्चों के लिए हे धनंजय! उसकी दृष्टि ही पन्हाती है, चातक के लिए आकाश ही पानी भर लाता है,

(18.1344) जहाँ जो व्यवहार नहीं घटता वहाँ भाग्यवशात् उसका फल ही प्राप्त हो जाता है; देव अनुकूल हो तो कौन-सा लाभ नहीं हो सकता?

(18.1345) अन्यथा यह रहस्य, जिसका कि हम वर्णन करते हैं, ऐसा हैं कि उसका उपभोग द्वैत भाव का दूर कर एकता के घर में ही हो सकता हैं।

(18.1346) और हे प्रियोत्तम! जो निष्काम प्रेम का विषय है वह दूसरा नहीं, आत्मा ही है।

(18.1347) हे धनंजय! देखने के समय जैसे जो दर्पण साफ किया जाता हैं वह दर्पण के हेतु नहीं, अपने ही लिए किया जाता है

(18.1348) वैसे ही हे पार्थ! मैं तुम्हारे मिस से केवल अपने लिए ही बोलता हूँ। हमारे-तुम्हारे बीच क्या कोई द्वैतभाव हैं?

(18.1349) अतः मैं अपने जीवरूप तुम पर अपना अन्तर्गत रहस्य प्रकट करता हूँ। मुझे इस एकनिष्ठता का मानों व्यसन है।

(18.1350) हे पाण्डुसुत! लवण अपना देह जल में अर्पण करते ही निज का भूल जाता है और सम्पूर्ण जलरूप होते हुए लज्जित नहीं होता,

(18.1351) वैसे ही जब तुम मुझसे कुछ भी छिपाव नहीं रखते तो मैं भी तुमसे क्या गुप्त रख सकता हूँ?

(18.1352) अतएव जिसके सन्मुख सम्पूर्ण गूढ बातें अत्यन्त प्रकट हो जाती हैं, ऐसा हमारा गुह्य और निर्मल वचन सुनो

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ 18.65 ॥

(18.1353) हे वीर! अपने अन्तर्बाह्य सब व्यापारों का विषय मुझ व्यापक का ही बना दो।

(18.1354) वायु जैसे पूर्णतः आकाश से मिली हुई रहती है वैसे ही तुम सब कर्मों के समय मुझसे ही मिले हुए रहो।

(18.1355) बहुत क्या कहें, अपने मन के लिए मुझे ही एक स्थान बना लो और अपने श्रवण मेरे ही गुणश्रवण से भर लो।

(18.1356) जो आत्मज्ञान से निर्मल हुए हैं तथा जो मेरे ही स्वरूप हैं उन सन्तों पर ही तुम्हारी दृष्टि पड़े, जैसे कि कामी मनुष्य की दृष्टि उसकी इष्ट स्त्री पर ही पड़ती है।

(18.1357) मैं सब संसार का वसतिस्थान हूँ। मेरे जो शुद्ध नाम हैं उन्हें अन्तःकरण में आने के लिए वाचा के मार्ग से लगा दो।

(18.1358) ऐसी चेष्टा करो कि हाथों का कर्म करना या पाँवों का चलना भी मेरे ही हेतु हो।

(18.1359) हे पाण्डव! अपना हो या पराया, उस पर उपकाररूपी यज्ञ कर मेरे उत्तम याज्ञिक बनो।

(18.1360) एक-एक बात क्या सिखाऊँ, अपनी ओर केवल सेवकाई रख अन्य सब कुछ मद्रूप और सेव्य ही समझो

(18.1361) तथा भूत-द्वेष छोड़ कर सर्वत्र एक मुझको ही नमन करो। ऐसा करने से तुम्हें मेरे आत्यन्तिक आश्रय का लाभ होगा,

(18.1362) और इस भरे हुए संसार में तीसरे की वार्ता मिट कर हमारा-तुम्हारा ही एकान्त हो रहेगा।

(18.1363) फिर चाहे जब मैं तुम्हारा और तुम मेरा उपभोग ले सकोगे। इस प्रकार स्वभावतः आनन्द की वृद्धि होगी।

(18.1364) और हे अर्जुन! जब प्रतिबन्ध करनेहारी तीसरी वस्तु का नाश हो जावेगा तब तुम मद्रूप ही होने के कारण अन्त में मुझे प्राप्त कर लोगे।

(18.1365) जल के प्रतिबिम्ब का, जल के नाश होने पर, बिम्ब में मिल जाने के लिए क्या कोई प्रतिबन्ध होता है?

(18.1366) वायु को आकाश में मिलते के लिए, अथवा लहरों के समुद्र में मिलने के लिए किसका प्रतिबन्ध हैं?

(18.1367) इस लिए तुम और हम-रूपी द्वैत देहधर्म के कारण दिखाई देता है। देहधर्म के नाश के समय तुम मद्रूप हो जाओगे।

(18.1368) इस बात में सन्देह मत करो। इसमें कुछ मिथ्या हो तो तुम्हारी ही शपथ।

(18.1369) तुम्हारी शपथ उठाना आत्मस्वरूप का ही स्पर्श करना है, परन्तु प्रेम की जाति ही ऐसी है कि लज्जा का स्मरण नहीं होने देती।

(18.1370) अन्यथा जिसके कारण प्रपंच-सहित यह विश्वाभास सता प्रतीत होता है तथा जिसकी आज्ञा का प्रताप काल को भी जीतता है

(18.1371) वह मैं सत्य-संकल्प ईश्वर हूँ और जगत् का हितचिन्तक पिता हूँ, फिर मुझे शपथ खाने की चेष्टा क्यों करती चाहिए?

(18.1372) परन्तु हे अर्जुन। तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने ईश्वरत्व के चिह्नों का त्याग कर दिया है। अजी! तुम्हारी पूर्णता के सन्मुख मैं अपूर्ण हो रहा हूँ,

(18.1373) तथाच राजा जैसे अपने कार्य के हेतु अपनी ही शपथ लेता है वैसे ही इस ढंग का भी समझो।

(18.1374) इस पर अर्जुन ने कहा, हे देव! ऐसे अद्भुत वचन न कहिए। वास्तव में हमारे सब कार्य केवल आपके एक नाम से ही सिद्ध हो जाते हैं,

(18.1376) तिस पर आप स्वयं उपदेश कर रहे हैं, और उसमें शपथ भी खाते हैं! आपके इस विनोद का कहीं ठिकाना है?

(18.1376) कमलों के वन को सूर्य की एक किरण प्रकाशित कर सकती है, परन्तु वह उसे सदा अपना सम्पूर्ण प्रकाश दे देता है;

(18.1377) पृथ्वी को शान्त कर जो सागर भी भर देती है वह वर्षा केवल एक चातक के मिस से हो होती है,

(18.1378) वैसे ही हे दानियों के राजा, हे कृपानिधि! आपकी उदारता के लिए मैं एक निमित्त हुआ हूँ।

(18.1379) तब श्रीकृष्ण ने कहा — ठहरो, ऐसा कहने का कोई अवसर वहीं है। यह सच है कि उपर्युक्त उपाय से तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे।

(18.1380) हे धनंजय! जिस क्षण सैन्धव समुद्र में पड़ता है इसी क्षण वह गल जाता है, फिर शेष रहने का कारण ही कौन-सा है?

(18.1381) वैसे ही सब भावों से मेरी भक्ति करने से, सर्वत्र मुझे ही देखने से, सम्पूर्ण अहंकार का नाश हो जावेगा और तुम तत्त्वतः मद्रूप हो जाओगे।

(18.1382) इस प्रकार कर्म से ले कर मेरी प्राप्ति तक उपायों का स्पष्ट रीति से वर्णन हो चुका

(18.1383) अर्थात् हे पाण्डुसुत! प्रथम सब कर्मों को मुझे समर्पित कर सर्वतः मेरा प्रसाद प्राप्त करना चाहिए।

(18.1384) अनन्तर मेरे प्रसाद से मेरा ज्ञान सिद्ध होता है, और उससे अवश्य ही मेरे स्वरूप की सायुज्यता प्राप्त हो सकती है।

(18.1385) फिर हे पार्थ! उस समय साध्य और साधन नहीं रहते, अधिक क्या कहे कुछ भी शेष नहीं रहता।

(18.1386) तुमने अपने सब कर्म सर्वदा मुझ समर्पित किये हैं, इसलिए आज मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ

(18.1387) तथा इस प्रसन्नता के बल से मुक्त हो इस अपूर्व युद्ध के प्रतिबन्ध की परवा ने करके मैं एकदम तुम पर भूल गया हूँ।

(18.1388) क्योंकि जिससे प्रपंच-सहित अज्ञान का नाश होता है, जिससे केवल मैं दृग्गोचर होता हूँ, जो गीतारूप है, उपपत्तिपूर्वक ऐसे

(18.1389) आत्मज्ञान का मैंने तुम्हें नाना प्रकार से उपदेश किया है जिससे कि तुम्हारे पाप-पुण्य-रूपी सम्पूर्ण अज्ञान का नाश हो चुका।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ 18.66 ॥

(18.1390) आशा से जैसे दुःख, अथवा निन्दा से पाप, अथवा दुर्भाग्य से दरिद्रता उत्पन्न होती है,

(18.1391) वैसे ही स्वर्ग और नरक की सूचना करनेवाले अज्ञान से धर्म इत्यादि उत्पन्न होते है। उस अज्ञान को इस ज्ञान के बल से निःशेष नष्ट कर डालो।

(18.1392) रज्जु हाथ में लेने से जैसे सर्पाभास नष्ट हो जाता है, अथवा नींद से उठने पर जैसे स्वप्न का प्रपंच नष्ट हो जाता है

(18.1393) अथवा पीलिया रोग की निवृत्ति होने पर जैसे चन्द्रमा का पीला दिखाई देना बन्द हो जाता है, अथवा रोग नष्ट होने पर जैसे मुँह का कड़वापन भी चला जाता है,

(18.1394) अजी! दिन के पीठ फेरते ही जैसे मृगजल भी अदृश्य हो जाता है, अथवा काठ का त्याग करने से जैसे उसमें रहनेहारी अग्नि का भी त्याग हो जाता है,

(18.1395) वैसे ही जिससे धर्माधर्म का कोलाहल प्रतीत होता है उस मूल अज्ञान का त्याग कर सम्पूर्ण धर्म का त्याग करो।

(18.1396) फिर अज्ञान मिट जाने पर स्वभावतः एक मैं ही शेष रहता हूँ। जैसे निद्रा-सहित स्वप्न का नाश हो जाने पर मनुष्य आप ही अकेला रह जाता है

(18.1397) वैसे ही केवल एक मेरे अतिरिक्त कोई भिन्न पदार्थ नहीं रहते। ऐसा जो मैं हूँ उससे सोहं-ज्ञान-द्वारा अनन्य हो रहो।

(18.1398) निज को भिन्न न समझ कर मेरी एकता जानना ही मेरी शरण में आना कहलाता है।

(18.1399) जैसे घट के नाश से घटाकाश आकाश में मिल जाता है वैसी ही एकता मेरी शरण में आ कर होनी चाहिए।

(18.1400) सुवर्ण मणि जैसे सोने में मिल जाता है, तरंग जैसे पानी में मिल जाती है, वैसे ही हे धनंजय! तुम मेरी शरण में आओ।

(18.1401) अन्यथा हे किरीटी! वडवाग्नि भी समुद्र के पेट की शरण में है तथापि वह जुदी ही जलती रहती है वैसी सब बातें छोड़ दो।

(18.1402) मेरी शरण में आना और फिर जीवाभिमान रखना! धिक्कार है! ऐसा कहते हुए लोगों का लज्जा नहीं आती?

(18.1403) अजी हे धनंजय! सामान्य राजा का भी सम्बन्ध करने से उसकी दासी भी उसकी बराबरी की हे! जाती है।

(18.1404) फिर मुझ विश्वेश्वर की भेंट हो और जीवदशा न छूटे! इन अभद्र शब्दों का सुनना भी न चाहिए।

(18.1405) अतः ऐसा करो कि जिसमें मद्रूपता प्राप्त हो जाय और मेरी सेवा सहज में हो सके। ज्ञान से यह बात हाथ आती है।

(18.1406) फिर जैसे मट्ठे से निकाला हुआ माखन फिर मट्ठे में डालने से उसमें, चाहे कुछ भी क्यों न करो, नहीं मिलता,

(18.1407) वैसे ही अद्वैत भाव से मेरी शरण में आने पर स्वभावतः धर्माधर्म भी तुम्हें स्पर्श न करेंगे।

(18.1408) निरे लोहे पर जंग चढ़ता है, पर पारस के संग से जब वह लोहा सोना हो जाता है तब उस पर कोई मैल नहीं बैठ सकता,

(18.1409) अथवा अगर काठ को रगड़ कर अग्नि निकाली जाय तो वह फिर से काठ में बन्द नहीं हो सकती।

(18.1410) हे अर्जुन! सूर्य क्या कभी अँधेरा देखता है! अथवा जागृत होने पर क्या स्वप्न का भ्रम दिखाई दे सकता है?

(18.1411) वैसे ही मुझसे एकरूप होले पर मेरे स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ क्योंकर शेष रह सकता है?

(18.1412) अतएव उसकी तुम अपने मन में कुछ चिन्ता न करो। तुम्हारा सब पाप-पुण्य मैं ही हो जाऊँगा।

(18.1413) फिर सब बन्ध-चिह्नों सहित पाप का भिन्न रह जाना, मेरे ज्ञान के कारण, मिथ्या हो जावेगा।

(18.1414) जल में लवण डाला जाय तो उसका सर्वत्र जल ही हो रहता है वैसे ही हे ज्ञानी! अनन्य रीति से मेरी शरण से आने पर तुम्हें सर्वत्र मत्स्वरूप ही प्रतीत होगा।

(18.1415) इस प्रकार हे धनंजय! तुम आप ही आप मुक्त हो जाओगे। मुझे जान लो तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा।

(18.1416) अतः मुक्ति की चिन्ता मत करो। हे सुमति! केवल मुझ अद्वितीय को जान कर मेरी शरण में आ।

(18.1417) सब रूपों के रूप, सब नेत्रों के नेत्र, सब स्थानों के निवासस्थान श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले,

(18.1418) और अपना कंकण-युक्त और श्यामल दाहिना बाहु फैला कर उन्होंने शरणागत भक्तराज अर्जुन को हृदय से लगा लिया।

(18.1419) जिसकी प्राप्ति न होने के कारण वाणी, बुद्धि को बगल में दबा कर, पीछे हटती है,

(18.1420) ऐसी जो वस्तु है, जो वाचा और बुद्धि को अप्राप्य है, वह अर्जुन को देने के लिए श्रीकृष्ण ने मानों आलिंगन का बहाना किया!

(18.1421) उनका हृदय से हृदय मिल गया। इस हृदय की वस्तु उस हृदय में भर दी गई। इस प्रकार द्वैत का नाश न करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन का अपना जैसा बना लिया।

(18.1422) वह आलिंगन ऐसा हुआ मानों दीपक से दीपक लगाया गया हो। इस प्रकार द्वैत न मिटा कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निजस्वरूप कर डाला।

(18.1423) तब अर्जुन को जो आनन्द की बाढ़ आई उसमें श्रीकृष्ण भी — जो इतने श्रेष्ठ थे — डूब रहे।

(18.1424) समुद्र यदि समुद्र को मिलने जाय तो मिलना तो अलग रहा वही दूना हो जाता है और ऊपर से आकाश भी सहायक हो जाता हैं,

(18.1425) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन का मिलाप था। वह आनन्द दोनों से सँभाला नहीं सँभलता था, तो इसे जान कौन सकता है? बहुत क्या कहें, सम्पूर्ण विश्व श्रीकृष्ण-मय हो गया।

(18.1426) इस प्रकार यह गीता-शास्त्र वेदों का मूलसूत्र है। यही एक ऐसी पवित्र वस्तु है जिसके विषय में सबों के अधिकार है। इस गीता-शास्त्र को श्रीकृष्ण ने प्रकट किया है।

(18.1427) यदि आप कहें कि यह कैसे जाना जाय कि गीता वेदों का मूल है तो सुनिए। हम इसकी एक प्रसिद्ध उपपत्ति वर्णन करते हैं।

(18.1428) जिसके श्वासोच्छवासों से वेदों का जन्म हुआ है उसी सत्यसंकल्प भगवान ने प्रतिज्ञा-पूर्वक अपने ही मुख से इस गीता का निरूपण किया है।

(18.1429) इस लिए गीता वेदों का मूल है! यह कहना उचित ही हैं। इस विषय में और भी एक उपपत्ति है।

(18.1430) अर्थात् जो अपने स्वरूप से नष्ट न होते हुए भी किसी अन्य वस्तु का विस्तार निज में लीन रखता है, वह संसार में उस वस्तु का बीज कहाता है।

(18.1431) उसी प्रकार जैसे बीज में वृक्ष समाविष्ट है वैसे ही गीता में भी कर्म, उपासना और ज्ञानरूपी सम्पूर्ण वेद समाया हुआ है।

(18.1432) इस लिए मुझे गीता वेदों का बीज दिखाई देती है। और वैसे भी यही बात प्रतीत हो रही है।

(18.1433) क्योंकि जैसे सब शरीर अलंकार और रत्नों से सुशोभित किया जाय वैसे ही गीता में वेद के तीनों भाग शोभा दे रहे हैं।

(18.1434) वे कर्म इत्यादि तीनों काण्ड गीता के किन-किन स्थानों में हैं सो हम दिखाते हैं; सुनो।

(18.1436) गीता का पहला अध्याय शास्त्र-निरूपण की प्रस्तावना है। दूसरे अध्याय में सांख्यशास्त्र का तात्पर्य प्रकाशित किया गया है।

(18.1436) इसी अध्याय में यह भी प्रस्ताव किया है कि यह ज्ञान-प्रधान शास्त्र स्वतन्त्रतः मोक्षदायक है।

(18.1437) फिर तीसरे अध्याय में अज्ञान से बद्ध लोगों को मोक्ष-पद प्राप्त कराने के लिए साधन का आरम्भ कहा है।

(18.1438) देहाभिमानरूपी बन्धन और निषिद्ध कर्मों का छोड़ विहित कर्म करना कभी न भूलना चाहिए,

(18.1439) अर्थात् सद्भावपूर्वक कर्म करना चाहिए, ऐसा जो निर्णय श्री कृष्ण ने तीसरे अध्याय में किया है उसे कर्मकाण्ड समझे।

(18.1440) और वही नित्य-नैमित्तिक अज्ञानात्मक परन्तु आवश्यक कर्म किस प्रकार मोक्ष के हेतु हो जाते हैं

(18.1441) यह जानने की इच्छा हो, अर्थात् बद्ध मनुष्य मुमुक्षु दशा को प्राप्त हो, तो उसके लिए श्रीकृष्ण ने ब्रह्मार्पण-पूर्वक कर्म करने का उपदेश किया है

(18.1442) और कहा है कि काया, वाचा और मन से जो विहित कर्म किया जाय वह एक ईश्वर के ही उद्देश्य से किया जाना चाहिए।

(18.1443) यह कर्मयोग-पूर्वक ईश्वर की भजन-कथा का वर्णन चतुर्थ अध्याय के अन्त से आरम्भ किया गया है

(18.1444) और जहाँ विश्वरूपात्मक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त होता है वहाँ तक यही निरूपण चला गया है कि कर्म के द्वारा ईश्वर का भजन करना चाहिए।

(18.1445) आठवें अध्याय में तो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यहाँ गीताशास्त्र बिना ओट या परदे के देवताकाण्ड का ही प्रतिपादन करता है।

(18.1446) और उसी ईश्वर के प्रसाद से श्रीगुरु-सम्प्रदाय से प्राप्त होनेवाला जो कोमल और सत्यज्ञान उत्पन्न होता है

(18.1447) वह बारहवें अध्याय के "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" इत्यादि श्लोकों में, अथवा तेरहवें अध्याय के "अमानित्वमदंभित्व" इत्यादि श्लोकों में भी विस्तार-पूर्वक कहा है इसलिए हम बारहवें अध्याय की गणना ज्ञानकाण्ड में करते हैं।

(18.1448) उस बारहवें अध्याय से लेकर पन्द्रहवें अध्याय के अन्त तक ज्ञानरूपी फल की परिपाकसिद्धि का निरूपण किया गया है।

(18.1449) इसलिए जिनके अन्त में "ऊर्ध्वमूलमधःशाखं" इत्यादि श्लोकवाला पन्द्रहवाँ अध्याय है उन चारों अध्यायों में ज्ञान-काण्ड का वर्णन हैं।

(18.1450) इस प्रकार यह एक काण्डत्रयरूपिणी छोटी-सी श्रुति ही है जो गीता के पद्यरूपी रत्नों के अलंकार पहने हुए है।

(18.1451) अस्तु, काण्डत्रयात्मक श्रुति जो गर्जना कर कहती है कि एक मोक्षरूपी फल ही अवश्य प्राप्तव्य है;

(18.1452) उस फल के साधन ज्ञान से जो प्रतिदिन वैर करता है उस अज्ञानवर्ग का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया गया है,

(18.1453) तथा सत्रहवें अध्याय में यह सन्देशा है कि शास्त्र की सहायता ले कर उस वैरी का जीतना चाहिए।

(18.1454) इस प्रकार पहले से ले सत्रहवें तक श्रीकृष्ण ने वेदों का ही तात्पर्य कहा है।

(18.1455) और जिसमें उन सब अर्थों के अभिप्राय का विचार किया है वह यह अठारहवाँ कलशाध्याय है।

(18.1456) इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान के समुद्र श्रीकृष्ण ने अत्यन्त उदार हो भगवद्गीता ग्रन्थरूप से मानों मूर्तिमान वेद ही रचा है।

(18.1457) वेद स्वयं सम्पन्न है, परन्तु उस जैसा कृपण भी दूसरा नहीं है। क्योंकि उसे तीन ही वर्ण सुन सकते हैं।

(18.1458) अन्य — स्त्री, शूद्र इत्यादि — प्राणियों को, संसार-दुःख होते हुए भी वेदों से लाभ उठाने का अधिकार नहीं।

(18.1459) अतः मैं समझता हूँ कि श्रीकृष्ण ने इस पूर्व त्रुटि की पूर्ति करने के लिए ही वेदों का गीतारूप से रच दिया जिसमें हर कोई उसका सेवन कर सके;

(18.1460) अथवा मन में उसका अर्थ समझता, कानों से सुनना, अथवा जप के मिस से मुख में रखना,

(18.1461) जो इस गीता का पाठ करना जानता है उसकी सहाय के लिए गीता को पुस्तक रूप से लिखना और लिये फिरना

(18.1462) इत्यादि मिस से संसार के चौरास्ते पर वेद ने मानों मोक्ष-सुख का उत्तम सदावर्त बैठाया है।

(18.1463) आकाश में बसने के लिए, पृथ्वी पर बैठने के लिए, सूर्य-प्रकाश में व्यवहार करने के लिए, अथवा आकाश में आहाता घेरने के लिए किसी को प्रतिबन्ध नहीं होता,

(18.1464) वैसे ही इसे कोई भी सेवन करे, यह नहीं पूछता कि तुम उत्तम वर्ण के हो या अधम वर्ण के। यह सब संसार को मोक्ष देकर समान ही सुख देता है।

(18.1465) इससे जान पड़ता है कि वेद पिछली निन्दा से डर कर गीता के गर्भ में आकर अब उत्तम कीर्ति का पात्र हुआ है।

(18.1466) अतः हे पाण्डुसुत! वेदों का रूप, हर किसी के सेवन करने योग्य, यह मूर्तिमती गीता ही है जिसका श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश किया।

(18.1467) बछड़े के प्रेम से गाय का पनहाना घर भर के लिए दूध दिलाता है; वैसे ही पाण्डव के मिस से श्रीकृष्ण ने सब जगत् का उद्धार किया है।

(18.1468) मेघ चातक पर दया कर, जल भर कर दौड़ आते है पर उससे जैसे सम्पूर्ण चराचर की शान्ति होती है,

(18.1469) अथवा सूर्य केवल एकनिष्ठ कमलों के लिए ही बार-बार उदित होता है पर उससे जैसे त्रिभुवन के नेत्रों को सुख होता है,

(18.1470) वैसे ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मिस से गीता प्रकाशित कर जगत् का प्रपंच सरीखा भारी बोझा हटा दिया।

(18.1471) ये श्रीकृष्ण नहीं, निजस्वरुपी आकाश के तीनों जगतों में सकल शास्त्ररूपी रत्नप्रभा प्रकाशित करनेहारे सूर्य ही हैं।

(18.1472) उस कुल को अत्यन्त पवित्र समझना चाहिए जिसमें इस ज्ञान का पात्र अर्जुन उत्पन्न हुआ और जिसने संसार के लिए गीतारुपी एक स्वतन्त्र बाड़ी बना दी।

(18.1473) अस्तु, अर्जुन जो श्रीकृष्ण से एक-रूप हो गया था उसे श्रीकृष्ण फिर द्वैतभाव पर ले आये

(18.1474) और बोले — हे पाण्डव! इस शास्त्र का तुम्हें ठीक परिज्ञान हुआ या नही? अर्जुन ने कहा — हे देव! आपकी कृपा से।

(18.1475) फिर देव कहते है — हे धनंजय! द्रव्य का लाभ चाहे भले ही भाग्य से बदा हो पर सम्पादित धन का उपभोग लेना कदाचित् ही होता है।

(18.1476) क्षीरसागर सरीखे बिना जमे हुए दूध के पात्र की प्राप्ति होने पर भी उसे मन्थन करने में देवताओं और राक्षसों को कितने कष्ट उठाने पड़े!

(18.1477) तथापि उस श्रम का भी फल हुआ, अर्थात् अमृत आँखों से दिखाई दिया। परन्तु अनन्तर उन्होंने उसका जतन करने में भूल की।

(18.1478) इससे सन्मुख जो अमरत्व परोसा गया वही राहु के मरण का हेतु हो गया उपभोग लेना न आता हो तो सम्पत्ति का फल ऐसा होता है।

(18.1479) नहुष स्वर्ग का अधिपति हो गया परन्तु उसके अनुरूप बर्ताव करना भूल गया, इससे उसका जन्म सर्प का हुआ — यह बात क्या तुम नहीं जानते?

(18.1480) अतएव हे धनंजय! तुमने बहुत पुण्य किये है जिससे आज तुम इस गीता-शास्त्र के अधिकारी हुए हो। (तुम्हारी ही वजह से गीता का कथन किया गया।)

(18.1481) परन्तु अब इसी शास्त्र के सम्प्रदाय के अनुसार इस शास्त्रार्थ का उत्तम अनुष्ठान करो।

(18.1482) नहीं तो हे अर्जुन! यदि सम्प्रदाय के अतिरिक्त अनुष्ठान की चेष्टा करोगे तो अमृत-मन्थन की कथा के समान हाल होगा।

(18.1483) हे किरीटी! उत्तम और निर्दोष गाय प्राप्त हो तो भी अपने अनुरूप दूध वह तभी देगी जब कोई उसे दुहने का युक्ति जानता हो;

(18.1484) वैसे ही श्रीगुरु प्रसन्न भी हो जाय और शिष्य को विद्या भी प्राप्त हो गई हो परन्तु वह सम्प्रदाय-द्वारा उपासना करने से ही फलती है।

(18.1485) इसलिए इस शास्त्र में जो उचित सम्प्रदाय है वह अब अत्यन्त आस्थापूर्वक सुनो।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ 18.67 ॥

(18.1486) हे पार्थ! यह गीता शास्त्र तुम्हें आस्था द्वारा प्राप्त हुआ है इसे तपोहीन मनुष्य से कभी न कहना चाहिए;

(18.1487) अथवा, तपस्वी भी हो परन्तु गुरुभक्ति में शिथिल हो तो उसे भी ऐसे तज दो जैसे वेद शूद्रों का त्याग करता है;

(18.1488) अथवा, यज्ञ का शेष पुरोडाश जैसे वृद्ध कौए को भी नहीं दिया जाता वैसे ही गीता भी गुरुभक्तिहीन तपस्वी को न देनी चाहिए;

(18.1489) अथवा जिसने शरीर से तप भी किया हो और जो गुरु और देव की भक्ति भी करता हो। परन्तु श्रवण करने की इच्छा नहीं रखता,

(18.1490) वह उपर्युक्त दोनों अंगों से संसार में उत्तम गिना जाय तथापि गीता-श्रवण के लिए योग्य नहीं है।

(18.1491) मोती चाहे जैसा हो परन्तु यदि उसमें छेद नहीं है तो क्या उसमें डोरी पोही जा सकती है?

(18.1492) समुद्र गम्भीर होता है यह कौन नहीं कहता परन्तु वहाँ वर्षा हो तो वह वृथा ही जाती है।

(18.1493) अफरे हुए को मिष्टान्न परोस कर वृथा खोने की अपेक्षा वह उदारता क्षुधित के प्रति क्यों न दिखानी चाहिए?

(18.1494) अतः कोई चाहे जितना योग्य हो परन्तु यदि उसे सुनने की इच्छा न हो तो यह गीता उसे कभी कौतुक से भी न सुनाओ।

(18.1495) नेत्र रूप देखनेहारा है तथापि उसे क्या सुगन्ध सुँघाना योग्य है? जहाँ जैसा करना योग्य हो वहाँ वैसा हो करना चाहिए।

(18.1496) इसलिए हे सुभद्रापति! तपस्वी हो, भक्त हो, पर शास्त्र-श्रवण में इच्छा रखनेहारे न हो तो उन्हें छोड़ देना चाहिए;

(18.1497) अथवा तप है, भक्ति है, श्रवण करने की इच्छा है, ऐसी सामग्री भी दिखाई दे

(18.1498) परन्तु गीताशास्त्र की रचना करनेहारा और सकल लोकों का शासन करनेहारा जो मैं हूँ उसके विषय में जो सामान्य शब्दों से बोले

(18.1499) (मेरे और मेरे भक्तों के विषय में निन्दासूचक शब्दों से बोलनेवाले बहुत से हैं) उन्हें इस गीता के उपदेश के योग्य मत समझो।

(18.1500) उनकी अन्य सामग्री ऐसी समझो जैसे रात के समय बिना चिराग का कोई चिरागदान रक्खा हो।

(18.1501) देह गोरा हो, और अवस्था तरुण हो, तथा अलंकार भी पहने हो, परन्तु उसमें से जैसे एक प्राण ही निकल गया हो;

(18.1502) घर सुन्दर सोने सरीखा बना हो, परन्तु उसका द्वार जैसे कोई नागिन रोके हुए हो;

(18.1503) उत्तम पक्वान्न बना हुआ हो, पर उसमें जैसे कालकूट विष मिलाया हुआ हो; मित्रता हो, पर वह जैसे भीतर कपट से भरी हो

(18.1504)वैसे ही, हे प्रबुद्ध! मेरी या मेरे भक्तों की निन्दा करनेवाले के तप, भक्ति वा सद्बुद्धि को भी जानो।

(18.1505) इसलिए हे धनंजय! वह भक्त हो, बुद्धिमान हो, और तपस्वी हो तथापि उसे इस शास्त्र का स्पर्श न करने दे।

(18.1506) बहुत क्या कहूँ, निन्दक यदि ब्रह्मदेव के समान भी योग्य हो तथापि उसे यह गीताशास्त्र कुतूहल से भी न देना चाहिए।

(18.1507) अतएव हे धनुर्धर! जो तपरूपी नींव पर पूर्णगुरुभक्तिरूपी मन्दिर बना है,

(18.1508) और जिसका श्रवणेच्छारूपी सामने का दरवाजा सर्वदा खुला रहता है, और जिस पर अनिन्दारूपी रत्न का उत्तम कलश चढा हुआ है

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ 18.68 ॥

(18.1509) – ऐसे निर्मल भक्तरूपी मन्दिर पर इस गीतारत्नेश्वर की प्रतिष्ठा करो। ऐसा करने से तुम मेरी साम्यता पाने के योग्य हो जाओगे।

(18.1510) क्योंकि जो प्रणव एक 'ओम्' अक्षर के रूप से अकार, उकार और मकार-रूपी तीन मात्राओं के पेट में गर्भवास में अटका पड़ा था

(18.1511) वह वेदरूपी बीज गीता-रूपी टहनियों द्वारा विस्तृत हुआ है, और गीता के श्लोक उसके गायत्रीरूप फूल और फल हैं।

(18.1512) जो कोई ऐसी इस गुप्त मन्त्ररूपी गीता को मेरे भक्त को प्राप्त करा देता है, अनन्यगति बालक को जैसे माता आ मिले

(18.1513) वैसे जो प्रेम से मेरे भक्तों को गीता की भेंट करा देता है, वह इस देह के पश्चात् मुझसे एकरूप ही हो जाता है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ 18.69 ॥

(18.1514) और जब वह देहरूपी अलंकार धारण किये हुए जुदा रहता है तब भी मुझे वह प्राणों से और जी से प्यारा रहता है।

(18.1515) ज्ञानी, कर्मठ और तपस्वी इन सब संकेतयुक्त मनुष्यों में जितना प्रिय मुझे वह है

(18.1516) उतना हे पाण्डव! पृथ्वी में दूसरा नहीं दिखाई देता। जो भक्त-जनों के समुदाय में गीता का निरूपण करता है,

(18.1517) मुझ ईश्वर पर प्रेम रख जो स्थिर चित्त से गीता का निरूपण करता हुआ सन्तों की सभा का भूषण बनता है,

(18.1518) श्रोताओं को वृक्ष के नये निकले हुए पल्लवों के समान जो रोमांचित करता है, मन्द वायु के समान कँपाता है, फूलों के बहते हुए जल (मधु) के समान आनन्दाश्रु बहवाता है,

(18.1519) कोयल की मधुर वाणी के समान गद्गद वचन कहवाता है, इस प्रकार मेरे भक्तरूपी बगीचे में मानों वसन्तरूप हो प्रवेश करता है,

(18.1520) अथवा आकाश में चन्द्रमा दिखाई देते ही जैसे चकोरों का जन्म सफल हो जाता है, अथवा मोर के गरजते ही जैसे नूतन मेघ मानों उसकी टेर सुन हूँका देता हुआ आ पहुँचता है,

(18.1521) वैसे ही जो सज्जनों की समाज में, मेरे स्वरूप की ओर दृष्टि रखता हुआ, गीतापद्यरूपी रत्नों की अटूट वर्षा करता है,

(18.1522) उसके समान प्यारा मुझे कोई नहीं है, न पहले कभी था और न आगे होगा।

(18.1523) हे अर्जुन! सन्तों को गीतार्थ की पहुनई करनेहारे को मैं अपने हृदय में धारण करता हूँ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ 18.70 ॥

(18.1524) उसी प्रकार तुम्हारे-हमारे समागम की जो यह कथा है जिसमें मोक्षधर्म भी पराजित हो गया है,

(18.1525) उस सम्पूर्ण अर्थप्रद संवाद का — पदों का अर्थ न करके भी — जो केवल पाठ ही करेगा

(18.1526) वह मानों ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर उसमें मूल अविद्या की आहुति दे मुझ परमात्मा को सन्तुष्ट कर लेगा।

(18.1527) हे बुद्धिमान! ज्ञानी जिस गीतार्थ को खोज कर प्राप्त करता है वहाँ उस पाठ करनेहारे को भी प्राप्त हो जाता है।

(18.1528) अतः गीतापाठक को अर्थज्ञानी के समान ही फल मिलता है। गीता माता के पास ऐसा भेद नहीं है कि यह ज्ञानी बालक है और यह अज्ञानी बालक।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ 18.71 ॥

(18.1529) और जो सब तरह से, निन्दा छोड़कर, शुद्ध आस्थापूर्वक गीता श्रवण में श्रद्धा रखता है

(18.1530) उसके कानों में गीता के अक्षर प्रविष्ट नहीं होने पाते कि उसका पाप एकदम भाग जाता है।

(18.1531) जंगल में जब दावाग्नि लगती है तब जैसे पशु-पक्षी इत्यादि परली तरफ भागते है

(18.1532) अथवा उदयाचल पर्वत पर चमकते हुए सूर्य के दिखाई देते ही जैसे अन्धकार आकाश में विलीन हो जाता है

(18.1533) वैसे ही जब श्रवणरूपी महाद्वार में गीतारूपी गर्जना होती है तब सृष्टि के आरम्भ तक के पाप भाग जाते है।

(18.1534) वंशावली इस प्रकार शुद्ध और पुण्यरूप हो जाती है तथा उसे एक बड़ा फल मिलता है —

(18.1535) वह यह कि गीता के जितने अक्षर कान में पड़े मानों उतने ही वह अश्वमेध यज्ञ कर चुका।

(18.1536) अतः गीता श्रवण से पापों का नाश होता, तथा धर्म की उन्नति होती है जिससे अन्त में स्वर्गरूपी सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(18.1537) वास्तव में गीता श्रवण करनेहारा, मेरे पास पहुँचने के लिए, स्वर्ग का पहला मुकाम करता है। पश्चात् चाहे जब मेरा उपभोग लेता है और अनन्तर मुझमें ही मिल जाता है,

(18.1538) इस प्रकार हे धनंजय! पठन करनेहारे को और सुननेहारे को गीता महा आनन्दरूपी फल देती है। और अधिक क्या कहूँ।

(18.1539) इसलिए बस। परन्तु जिसके पीछे हमने इस शास्त्र का विस्तार किया उस तुम्हारे कार्य के विषय में अब तुमसे पूछते है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ 18.72 ॥

(18.1540) तो कहो हे पाण्डव! यह सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धान्त तुम, सन्देह-रहित हो कर, समझ चुके या नहीं?

(18.1541) हमने जो सिद्धान्त जिस रीति से तुम्हारे श्रवणों के हवाले किया उसे उन्होंने वैसा ही तुम्हारे अन्तःकरण में पहुँचा दिया,

(18.1542) अथवा बीच ही में बखेर दिया? अथवा उपेक्षा कर छोड़ दिया?

(18.1543) हमने जैसा निरूपण किया यदि वैसा ही तुम्हारे अन्तःकरण में जम गया हो तो जो कुछ हम पूछते हैं उसका शीघ्र उत्तर दो।

(18.1544) पहले जिस अज्ञानजनित मोह मैं तुम भूले हुए थे वह अब शेष रहा है या नहीं?

(18.1545) अधिक क्या पूछना है, यही बताओ कि क्या तुम्हें अपने में कर्म या अकर्म कुछ दिखाई देते हैं?

(18.1546) इस प्रश्न के मिस से श्रीकृष्ण पार्थ को आत्मानन्द की सम-रसता में निमग्न हो जाने योग्य भेदबुद्धि की स्थिति पर ले आये।

(18.1547) अर्जुन यदि पूर्ण ब्रह्म हो जाय तो अगले कार्यार्थ की सिद्धि न हो सकेगी, अतः श्रीकृष्णनाथ ने इसे भेद दशा की मर्यादा को नाँघने देना न चाहा।

(18.1548) अन्यथा वे सर्वज्ञ क्या अपनी दी कृति न जानते थे। परन्तु उन्होंने उपर्युक्त हेतु से ही प्रश्न किया,

(18.1549) एवं ऐसा प्रश्न कर उन्होंने अर्जुन से उसके नाश पाये हुए अर्जुनत्व का उसे लौटा कर, अपनी पूर्णता का वर्णन करवाया।

(18.1550) फिर पूर्ण चन्द्रमा जैसे वास्तव में क्षीरसमुद्र से भिन्न न होकर भी उसे छोड़

आकाश में एक तेजोगोल रूप से दिखाई देता है

(18.1551) वैसे ही अर्जुन अहंब्रह्मता भूल गया और फिर सब जगत् को ब्रह्म से भरा हुआ समझने लगा। फिर उसने उस बुद्धि को भी छोड़ दिया जिससे उसके ब्रह्मत्व का ही लोप हो गया।

(18.1552) इस प्रकार ब्रह्मरूपता का मण्डन या लोप करते हुए वह कष्ट के साथ 'मैं अर्जुन हूँ' एवंरूप प्रतीति सहित देह-स्थिति पर जा पहुँचा।

(18.1553) फिर अपने कँपते हुए हाथों से शरीर के रोमांच मिटाता हुआ, स्वेदजल के बिन्दु पोंछता हुआ,

(18.1554) प्राणों की क्षुब्धता से डोलते हुए देह का सँभाल कर स्तब्ध रहता, हुआ, और हलचल करना भूलता हुआ,

(18.1555) आँखों के अश्रुप्रवाह से उभराती हुई आनन्दामृत की बाढ़ को रोकता हुआ,

(18.1556) अनेक उत्सुकताओं के समुदाय से जो अत्यन्त कण्ठ भर आया था उसे फिर हृदय में दबाता हुआ,

(18.1557) वाणी की घिग्घी बँध गई थी उसे तथा प्राणों का सँभालता हुआ, अनियमित श्वासोच्छवासों को पूर्वस्थिति पर लाता हुआ

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ 18.73 ॥

(18.1558) – अर्जुन बोला, – हे देव! आप क्या यह पूछते हैं कि मुझे अभी तक मोह हो रहा है या नहीं? तो महाराज! वह तो अपने कुटुम्ब-सहित अपना डेरा-डण्डा उठा कर चलता बना।

(18.1559) सूर्य किसी के पास आवे और फिर उससे पूछे कि क्या तुम्हें अँधेरा दिखाई देता है! ऐसा कहीं हुआ है?

(18.1560) वैसे ही हे श्रीकृष्णराज! जब आप हमारे नेत्रों के सन्मुख हैं तब कौन-सी बात असम्भव हो सकती है?

(18.1561) इस पर भी आपने माता से भी अधिक प्रेम के साथ विस्तार-पूर्वक ऐसे ज्ञान का उपदेश किया है जो और किसी उपाय से ज्ञात नहीं हो सकता।

(18.1562) फिर अब आप कैसे पूछते हैं कि मेरा मोह शेष है या चला गया? महाराज! मैं आपकी कृपा से कृतार्थ हो चुका।

(18.1563) मैं अर्जुनत्व में उलझा हुआ था सो आपरूप हो मुक्त हो गया। अब पूछना या उत्तर देना दोनों बातें नहीं रही।

(18.1564) आपकी कृपा से जो आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है वह मोह की जड़ों को बचने ही नहीं देता।

(18.1565) अब कर्म करना या न करना जिस द्वैत के कारण उत्पन्न होता है वह सर्वत्र आपके अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता।

(18.1566) इस विषय में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं रहा। मैं निश्चय से वह वस्तु हूँ जहाँ कर्म का अस्तित्व ही नहीं है।

(18.1567) आपकी कृपा से मुझे निजत्व की प्राप्ति हो गई तथा मेरे कर्म का नाश हो गया है। अब आपकी आज्ञा के अतिरिक्त मुझे कुछ कर्तव्य नहीं रहा।

(18.1568) क्योंकि जिसे देखने से अन्य दृश्य का नाश हो जाता है, जिस द्वैत से अन्य द्वैत का लोप हो जाता है, जो एक ही है पर सर्वत्र बसता हैं,

(18.1569) जिसके सम्बन्ध से बन्ध मिट जाता है, जिसकी आशा से अन्य आशाएँ टूट जाती हैं, जिसकी भेंट होने से सर्वत्र आत्मस्वरूप की ही भेंट होती है

(18.1570) वही आपकी गुरुमूर्ति जो मुझ अकेले की सहकारिणी है (वह गुरु-मूर्ति कैसी है? कि) जिसके लिए अद्वैत ज्ञान के परे जाना पड़ता है,

(18.1571) प्रथम स्वयं ब्रह्म हो कर कर्तव्याकर्तव्य का नाश कर फिर जिसकी निःसीम सेवा हो सकती है,

(18.1572) समुद्र का पहुँचते ही जैसे गंगा समुद्र-रूप हो जाती हैं वैसे ही जो भक्तों को निजपद का उत्तमोत्तम लाभ प्राप्त करा देती है,

(18.1573) ऐसी जो आपकी निरुपाधिक सद्गुरुमूर्ति है वह, हे श्रीकृष्ण! मुझे सेवनीय है। अतः ब्रह्मत्व का मैं इतना ही उपकार मानता हूँ

(18.1574) कि आप में और मुझमें जो भेद का प्रतिबन्ध था उसे मिटा कर उसने आपकी सेवा का सुख और भी अधिक मधुर कर दिया।

(18.1575) अतः हे सकल देवों के अधिदेवराज! मैं आपकी जो आज्ञा होगी सो करूँगा। आप चाहे जो आज्ञा करें।

(18.1576) अर्जुन के ये वचन सुन कर श्रीकृष्ण आनन्द में भूले हुए नाचने लगे और कहने लगे कि मुझ विश्वफल का अर्जुनरूपी एक फल और उत्पन्न हुआ है।

(18.1577) क्षीरसागर क्या अपने पुत्र चन्द्रमा को पूर्ण कलाओं से युक्त देख कर मर्यादा नहीं नाँघता?

(18.1578) इस प्रकार संवादरूपी विवाहभूमि पर दोनों के अन्तःकरणों का विवाह होता देख कर संजय आनन्द में निमग्न हो गया।

(18.1579) इस प्रकार सुखी हो संजय ने कदा कि श्रीकृष्ण अत्यन्त कृपानिधि हैं जो उन्होंने अर्जुन को अपने हृदय की बात बताई।

(18.1580) उस आनन्द में संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि महाराज श्रीव्यास ने हम दोनों की खूब रक्षा की।

(18.1581) आपके तो चर्मचक्षु भी नहीं हैं तथापि आपको ज्ञानदृष्टि का व्यवहार करने की शक्ति प्राप्त करा दी

(18.1582) और केवल घोड़ों की परीक्षा करने के लिए ही रथ पर चढ़नेवाले मुझको भी ये बातें मालूम हो गई।

(18.1583) इधर युद्धरूपी घोर और कठिन अवसर है, दोनों में से किसी की भी हार हो तथापि अपनी ही हार के बराबर है,

(18.1584) ऐसे संकट के विद्यमान रहते भी श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द का उपभोग करवाते हैं यह उनका कितना बड़ा अनुग्रह है?

(18.1585) संजय ने इतना कहा तथापि पत्थर पर चन्द्रकिरण पड़े तो जैसे वह नहीं पसीजता वैसे ही धृतराष्ट्र भी न पसीज कर चुप हो रहा।

(18.1586) राजा की ऐसी स्थिति देख कर संजय से वह बात छोड़ दी परन्तु आनन्द से बौराया हुआ वह फिर बोलने लगा।

(18.1587) वह हर्षवेग में भूला हुआ था, इसी लिए धृतराष्ट्र से बोला अन्यथा वह जानता था कि ये वचन धृतराष्ट्र के सुनने योग्य नहीं हैं।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ 18.74 ॥

(18.1588) उसने कहा — हे कुरुराज! आपके भ्रातृपुत्र अर्जन ने उपर्युक्त वचन कहे जिनसे श्रीकृष्ण का बहुत आनन्द हुआ।

(18.1589) अजी, समुद्र पूर्व में भी है और पश्चिम में भी; बस इतने से ही भिन्नता हुई है; अन्यथा सब जल एक ही हैं,

(18.1590) वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन शरीर से ही जुदे-जुदे दिखाई देते हैं, अन्यथा इस संवाद के समय तो कुछ भेद नहीं जान पड़ता।

(18.1591) यदि दर्पण से भी स्वच्छ दो वस्तुएँ एक-दूसरी के सन्मुख की जाये तो जैसे वे एक-दूसरी में अपना ही स्वरूप देखेंगी,

(18.1592) वैसे ही श्रीकृष्ण में अर्जुन, श्रीकृष्णसहित, निज को देखने लगा तथा श्रीकृष्ण अर्जुन में, अर्जुनसहित, निज को देखने लगे।

(18.1593) देव अपने स्वरूप में जहाँ निज को और अर्जुन को देखते हैं उसी भाग में अर्जुन भी दोनों को देखने लगा।

(18.1594) द्वैतभाव है ही नहीं, इसलिए वे क्या करें — दोनों एकरूप ही रहे।

(18.1595) फिर यदि भेद चला जाय तो प्रश्न और उत्तर कैसे हो सकते हैं? नया भेद बना रहे तो संवादसुख कैसे हो सकता है?

(18.1596) अतः यथापि द्वैतरूप से बोलते थे तथापि संवाद सुख का अनुभव लेते हुए द्वैत का नाश करते थे। ऐसा दोनों का सम्भाषण मैंने सुना।

(18.1597) दो दर्पण घिर कर आमने-सामने रक्खें जाय तो कौन किसे देखता समझा जाय?

(18.1598) अथवा दीपक के सामने दीपक रखिए तो कौन किसका प्रकाशक कहा जा सकता है?

(18.1599)नहीं, नहीं, सूर्य के सन्मुख और कोई सूर्य उदित हो तो प्रकाशक कौन है और प्रकाश्य कौन है?

(18.1600) इसका निश्चय करने की चेष्टा करने में निश्चय ही स्तब्ध हो जाता हैं। इस प्रकार वे दोनों संवाद करते हुए एकरूप हो गये थे।

(18.1601) अजी! दो ओर से जल के प्रवाह आ मिले और उनका प्रतिबन्ध करने के लिए बीच में लवण डाला जाय तो वह भी जैसे क्षणभर में उसी रूप का हो जाता है.

(18.1602) उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ वह भी मुझे वैसा ही प्रतीत होता है।

(18.1603) संजय इन शब्दों को पूरा पूरा मुख से निकाल भी न पाया था कि अष्ट सात्विक भाव, उसकी संजयत्व की स्मृति को, न जाने कहाँ हर ले गये।

(18.1604) ज्यों-ज्यों उसके रोमांच खड़े होते त्यों-त्यों शरीर संकोच पाता था। फिर स्तब्धता और स्वेद को जीत कर कम्प अकेला प्रकट होता था।

(18.1605) अद्वैत के आनन्द-स्पर्श से दृष्टि रसभरी हो गई थी। नेत्रों से बहता हुआ जल आँसू नहीं मानों केवल द्रवत्व ही थी।

(18.1606) आनन्द से उसका हृदय फूला नहीं समाता था। कण्ठ में न जाने क्या अटकता-सा जान पड़ता था और श्वासोच्छ्वास शब्दार्थ से गले मिलते जाते थे।

(18.1607) बहुत क्या कहें, आठों सात्विक भावों से संजय की अत्यन्त घिग्घी बँध गई। इस प्रकार वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद-सुख का चौराहा बन गया।

(18.1608) उस सुख का जाति-धर्म ही ऐसा है कि उससे आप ही आप शान्ति प्राप्त होती है। तदनन्तर संजय को फिर से देह की स्मृति हुई।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ 18.75 ॥

(18.1609) तब आनन्द की बाढ़ के उतरने पर संजय ने कहा कि महाराज मैंने श्रीव्यास की कृपा से आज वह बात सुनी जो उपनिषद भी नहीं जानते।

(18.1610) यह संवाद सुनते ही मैंने ब्रह्मत्व को भेंट लिया। हम-तुम-भाव-सहित मेरी विषयदृष्टि जाती रही।

(18.1611) सम्पूर्ण योगरूपी मार्ग जिस स्थान को जा पहुँचते है उस श्रीकृष्ण के वचन मुझे व्यासजी ने सुलभ कर दिये।

(18.1612) अजी! श्रीकृष्ण ने वास्तव में अर्जुन-रूप से निज को ही दूसरा भेष दे निज को ही जो कुछ उपदेश किया।

(18.1613) उसे सुनने के लिए मेरे कानों को भी योग्यता प्राप्त हो गई। श्री गुरु की सामर्थ्य स्वतन्त्र है। उसका क्या वर्णन करूँ!

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ 18.76 ॥

(18.1614) राजा से ये वचन कहते हुए संजय विस्मित होता और जैसे रत्न की कान्ति कभी हिलोरें लेती और कभी रत्न में लीन हो जाती है वैसे, आप भी संवाद में लीन हो जाता था।

(18.1615) जैसे हिमालय के सरोवर, चन्द्रोदय होने के साथ स्फटिक हो जाते और सूर्योदय होते ही फिर जलरूप हो जाते हैं,

(18.1616) वैसे ही शरीर की स्मृति होते ही संजय चित्त में उस संवाद की स्मृति करता और फिर तद्रूप हो जाता था।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ 18.77 ॥

(18.1617) फिर संजय उठा और बोला — हे राजा! श्रीहरि का विश्वरूप देख कर आप कैसे चुप बैठे रह सकते हैं?

(18.1618) न देखते भी जो दिखाई देता है, जो अभावरूप से ही विद्यमान है, विस्मृति करने से भी जिसका स्मरण होता हैं वह कैसे टाला जा सकता हैं?

(18.1619) इतना भी तो अवकाश नहीं कि उसे देख कर आश्चर्य किया जाय आनन्द की बाढ़, मेरे सहित, सब कुछ बहाये लिये जा रही है।

(18.1620) इस प्रकार संजय ने श्रीकृष्णार्जुन-संवाद-रूपी संगम में स्नान कर अपनी अहंता पर तिलांजलि छोड़ी

(18.1621) और उस अटल आनन्द में वह असाधारण रूप से साँस भरता और बार-बार गद्गद वाणी से श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण कहता था।

(18.1622) धृतराष्ट्र को इस अवस्था का स्पर्श भी न था। अतः ज्योंही राजा उसकी कुछ कल्पना करने लगा

(18.1623) त्योंही संजय ने अपने सुखलाभ का आप ही आप स्थिर कर अपना सात्विक अहंकार छोड़ दिया।

(18.1624) तब वास्तव में जिस बात का उपक्रम होना चाहिए था उसे छोड़ राजा ने कहा — हे संजय! तुम्हारी यह बात क्या है?

(18.1625) तुम्हें व्यास जी ने यहाँ किस उद्देश से बैठाया है और तुम बीच में न जाने क्या अप्रासंगिक बात कह रहे हो?

(18.1626) जंगल में रहनेहारे को यदि किसी महल में रक्खा जाय तो उसे दसों दिशाएँ सूनी प्रतीत होती हैं. अथवा इधर दिन निकलता है तो निशाचर उसे अपनी रात समझता है;

(18.1627) इस प्रकार जो जिस विषय का महत्त्व नहीं जानता उसे वह भयकारक जान पड़ता है! इसलिए उस विषय की वार्ता राजा के लिए अप्रासंगिक ही समझनी चाहिए।

(18.1628) फिर राजा ने कहा — -सम्प्रति यह कहो कि यह जो युद्ध हो रहा है उस में अन्त में जीत किसकी होगी?

(18.1629) साधारणतः हमारे मन में तो प्रायः यही आता है कि दुर्योधन ही अधिक प्रतापशाली है

(18.1630) और पाण्डवों की सेना से उसकी सेना भी ड्योढ़ी है; अतः क्या उसी की जीत न होगी?

(18.1631) हम तो यही समझते हैं; पर न जाने तुम्हारे ज्योतिष में क्या आता हो? इसलिए हे संजय! जैसा हो वैसा कहो!

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ 18.78 ॥

(18.1632) इस पर संजय ने कहा — महाराज! इनकी जय होगी या उनकी, यह मैं नहीं जानता। पर इतना सच हैं कि जहाँ आयु शेष है वहाँ जीवन विद्यमान रहता है।

(18.1633) जहाँ चन्द्रमा वहीं चन्द्रिका, जहाँ शंकर वहीं पार्वती, तथा जहाँ सन्त वहीं विवेक की बस्ती रहती हैं।

(18.1634) जहाँ राजा वहीं उसकी सेना, जहाँ सुजनता वहीं मित्रता, जहाँ अग्नि वहीं जलाने की सामर्थ्य रहती है।

(18.1636) जहाँ दया तहाँ धर्म, जहाँ धर्म तहाँ सुख की प्राप्ति, और जहाँ सुख वहीं पुरुषोत्तम का निवास है।

(18.1637) जहाँ वसन्त वहीं वन-शोभा प्रकट होती है, जहाँ वन की बहार हो वहीं फूल खिलते हैं, और जहाँ फूल खिले हों वहीं भ्रमरों के समुदाय इकट्ठे होते हैं।

(18.1637) जहाँ गुरु हों वहीं ज्ञान विद्यमान है। जहाँ ज्ञान हो तहाँ आत्मदर्शन होता है, तथा जहाँ आत्मानुभव हो वहीं समाधान होता है।

(18.1638) जहाँ सौभाग्य हो वहीं सुखोपभोग प्राप्त होता हैं, जहाँ सुख वहीं आनन्द होता है, तथा जहाँ सूर्य वहीं प्रकाश रहता हैं।

(18.1639) वैसे ही हे स्वामी! जिनके सब पुरुषार्थ सनाथ हुए हैं वे श्रीकृष्णराज जहाँ हों वहीं लक्ष्मी रहती है;

(18.1640) और वह जगदम्बा लक्ष्मी जिस अपने पति के पास हो, क्या अणिमा इत्यादि सिद्धियाँ उसकी दासियाँ नहीं हो जाती?

(18.1641) श्रीकृष्ण स्वयं विजयस्वरूप है, अतः वे जिस ओर हो उधर ही जय भी समझो।

(18.1642) अर्जुन विजय नाम से प्रसिद्ध हैं, और श्रीकृष्णनाथ विजयस्वरूप हैं, इसलिए लक्ष्मी-सहित विजय भी निश्चय से वहीं है।

(18.1643) जिसके ऐसे श्रेष्ठ माता-पिता हैं उसके देश के वृक्ष कल्पवृक्ष को भी क्यों न मात करें?

(18.1644) वहाँ के पत्थर भी चिन्तामणि क्यों न बन जाय? वहाँ की भूमि सुवर्ण क्यों न हो जाय?

(18.1645) उसके गाँव की नदियों में अमृत बहे तो हे महाराज! क्या आश्चर्य है? आप ही विचार देखिए।

(18.1646) उसके मुख से निकले हुए अव्यवस्थित शब्दों का वेद कहा जा सकता है, एवं वे मूर्तिमान सच्चिदानन्द क्यों न हों?

(18.1647) तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण जिसके पिता और लक्ष्मी जिसकी माता है उसके अधीन स्वर्ग और मोक्ष दोनों पद हैं।

(18.1648) अतएव वे लक्ष्मीकान्त जिस पक्ष में खड़े हैं वहीं सब सिद्धियाँ आप ही आप उपस्थित होती हैं। इसके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं जानता।

(18.1649) और मेघ समुद्र से उत्पन्न होता है पर उपयोग में उससे श्रेष्ठ होता है, वही सम्बन्ध आज अर्जुन और श्रीकृष्ण का हो रहा है।

(18.1650) लोहे का सुवर्णत्व की दीक्षा देनेहारा गुरु पारस हो, इसमें सन्देह नहीं परन्तु जगत् के पोषण करने का व्यवहार सुवर्ण ही जानता है।

(18.1651) इससे कोई यह न समझे कि गुरुत्व कुछ न्यून है। दीपकरूप से अग्नि ही अपने प्रकाश का प्रकाशित करती है;

(18.1652) वैसे ही श्रीकृष्ण की शक्ति द्वारा ही अर्जुन श्रीकृष्ण से अधिक प्रतीत होता है। इस स्तुति से श्रीकृष्ण की महिमा का ही वर्णन होता है।

(18.1653) पिता की यही इच्छा रहती है कि मेरी अपेक्षा मेरा पुत्र सर्व-गुण-सम्पन्न और बढ़ कर निकले। श्रीकृष्ण की यह इच्छा सफल हो चुकी।

(18.1554) बहुत क्या कहूँ, हे नृप! अर्जुन इस प्रकार श्रीकृष्ण की कृपा से युक्त हो रहा है। वह जिस ओर का पक्ष ले रहा है

(18.1656) वहीं विजय का ठौर है, इसमें तुम्हें सन्देह ही क्या है? वहाँ विजय न हो तो विजय की विजयता वृथा हो जावेगी।

(18.1656) अतः जहाँ लक्ष्मी वहीं श्रीमान रहते हैं, वैसे ही जहाँ पाण्डुसुत अर्जुन हो वहीं सम्पूर्ण विजय और वहीं अभ्युदय रहेगा।

(18.1657) यदि आप व्यासजी की बात पर विश्वास रखते हों तो इन वचनों को निश्चय से सत्य मानिए।

(18.1658) जहाँ श्रीपति श्रीकृष्ण हों वहीं उनका भक्तसमुदाय रहता है, और वहीं सुख और कल्याण का लाभ होता है।

(18.1659) ये वचन यदि अन्यथा हों तो मुझे श्रीव्यास का शिष्य न कहिए। इस प्रकार संजय ने हाथ उठा कर गर्जना कर कहा।

(18.1660) उसने सम्पूर्ण महाभारत का सार एक श्लोक में लाकर धृतराष्ट्र के हाथ पर रख दिया।

(18.1661) जैसे अग्नि न जाने कितनी रहती है, परन्तु सूर्य की अनुपस्थिति की त्रुटि पूर्ण करते के लिए उसे बत्ती के अग्रभाग पर रख कर लाते हैं,

(18.1662) वैसे ही वेद अनन्त हैं, वही सवा लाख श्लोक-युक्त महाभारत में प्रकट हैं, और महाभारत का सर्वस्व गीता के सात सौ श्लोकों में कहा है।

(18.1663) उन सात ही सौ श्लोकों का पूर्ण अभिप्राय इस अन्तिम श्लोक में कहा है जो कि व्यासशिष्य संजय का पूर्णोद्गार है।

(18.1664) जो इसी एक श्लोक से सम्पन्न हो जायगा वह सम्पूर्ण अविद्या को भली भाँति जीत लेगा।

(18.1665) इस प्रकार गीता के सात सौ श्लोक मानों उसके पद (पैर) ही हैं जो स्वयं चल रहे हैं, अथवा इन्हें पद कहूँ कि गीतारूपी आकाश से गिरी हुई परमामृत की वर्षा रहूँ!

(18.1666) अथवा, ये श्लोक मुझे ऐसे प्रतीत होते हैं मानों आत्मारूपी राजा के सभा-मन्दिररूपी गीता के खम्भे हो;

(18.1667) अथवा, गीता सातों सप्तशत मन्त्रों से पूजन करने योग्य देवी है जो मोहरूपी महिषासुर को मार कर आनन्दित हुई है।

(18.1668) अतएव जो काया, वाचा और मन से इसकी सेवा करता है उसे यह स्वानन्द-साम्राज्य का राजा बना देती है;

(18.1669) अथवा, श्रीकृष्णराज ने गीता के मिस से ऐसे श्लोक-रूपी सूर्य प्रकाशित किये हैं जो अविद्या का नाश करने में, अन्धकार का नाश करनेहारे सूर्य को सरासर मात करते हैं;

(18.1670) अथवा, संसार-मार्ग में थके हुए पथिकों की विश्रान्ति के लिए गीता मानों श्लोकाक्षर-रूपी द्राक्षलता से युक्त एक मण्डप बनाई गई है

(18.1671) अथवा, यह गीता श्रीकृष्ण नामक सरोवर में फैली हुई है जिसके श्लोक-रूपी कमलों की सुगन्ध भाग्यवान सन्तरूपी भ्रमर सेवन करते हैं;

(18.1672) अथवा, ये श्लोक नहीं — बड़े-बड़े भाटों के समान गीता की महिमा वर्णन करनेहारे कोई हैं;

(18.1673) अथवा, सब शास्त्र गीतारूपी नगर में इन श्लोकों की सुन्दर बाड़ी बना कर उसमें बसने के लिए आये हैं;

(18.1674) अथवा ये श्लोक नहीं, गीता ने अपने पति आत्मा का प्रेम से आलिंगन देने के लिए ये अपनी बाँहें फैलाई हैं;

(18.1675) अथवा ये गीतारूपी कमल के भृंग हैं, वा गीता-समुद्र की लहरें हैं, वा श्रीहरि के गीतारूपी रथ के घोड़े हैं;

(18.1676) अथवा अर्जुन-रूपी सिंहस्थ प्राप्त हुआ है, इसलिए श्लोक-रूपी सब तीर्थसमुदाय श्रीगीतारूपी गंगा के समीप प्राप्त हुए हैं;

(18.1677) अथवा, ये श्लोकमाला नहीं — चिन्तारहित पुरुषों के चित्त के लिए एक चिन्तामणि हैं, किंवा निर्विकल्पों के लिए मानों कल्पवृक्ष ही लगाये गये हैं।

(18.1678) इस प्रकार ये सात सौ श्लोक हैं, जो कि एक से एक बढ़ कर हैं। अतः किसका विशेष वर्णन किया जाय?

(18.1679) कामधेनु की ओर दृष्टि दे जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह पड़िया है और यह दुधैल है,

(18.1680) दीपक अगला या पिछला, सूर्य छोटा या बड़ा, अमृत का समुद्र गहरा या उथला — कैसे कहा जा सकता है?

(18.1681) वैसे ही गीता के श्लोकों में भी यों नहीं कहा जा सकता कि यह प्रथम है और यह अन्तिम। पारिजात का फूल क्या नया-पुराना कहा जा सकता है?

(18.1682) और श्लोक अनुपम हैं, इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या है? यहाँ वाच्य और वाचक का भेद भी नहीं है,

(18.1683) क्योंकि इस प्रसिद्ध बात को हर कोई जानता है कि इस शास्त्र में एक श्रीकृष्ण ही वाच्य और वही वाचक हैं।

(18.1684) इसमें जो लाभ अर्थ से होता है वही पाठ से भी होता है, अतः यह शास्त्र निश्चय से वाच्य और वाचक की एकता सिद्ध करता हैं।

(18.1685) इस लिए ऐसी कोई बात ही नहीं बची जिसका मैं समर्थन करूँ। इस गीता को श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति समझो।

(18.1686) शास्त्र जब वाच्य और अर्थप्राप्ति द्वारा फलद्रूप होता है तब उसका शास्त्ररूप मिट जाता है। परन्तु गीता वैसा शास्त्र नहीं है। वह सम्पूर्ण परब्रह्म ही है।

(18.1687) देखिए, श्रीकृष्ण ने किस तरह अर्जुन को निमित्त बना, सब जगत् पर दया कर, यह महानन्द सुलभ रूप से प्रकट किया है!

(18.1688) जैसे कलावान् चन्द्रमा, चकोर के निमित्त से. तीनों सन्तप्त भुवनों को शान्ति पहुँचाता है,

(18.1689) अथवा जैसे शंकर ने, गौतम के मिस से, कलिरूपी कालज्वर से पीडित लोगों के हेतु गंगा का प्रवाह बहाया हैं

(18.1690) वैसे ही श्रीकृष्णरूपी गाय से पार्थ को वत्स बना यह गीता-रूपी दूध सम्पूर्ण जगत् के लिए दे रक्खा है।

(18.1691) इसमें यदि जीव-भाव से नहाओगे तो तद्रूप ही हो जाओगे, अथवा यदि पाठ के बहाने इससे जिह्वा लगाओगे

(18.1692) तो भी (जैसे लोहे का एक अंश भी पारस का स्पर्श करे तो अन्य सब लोहा आप ही आप सोना बन जाता है

(18.1693) वैसे ही पाठरूपी कटोरी में रख श्लोक का एक ही चरण ओठों से लगाया नहीं कि) शरीर में ब्रह्मत्व की पुष्टि भर जायगी

(18.1694) अथवा, इसकी ओर टेढ़ा मुँह करके करवट लेने पर भी यदि ये श्लोक कान में जा पड़े तो भी वही फल होगा।

(18.1695) क्योंकि जैसे कोई श्रीमान दाता किसी को 'ना' नहीं कहता, वैसे ही गीता भी श्रवण करने से, पाठ करने से, या अर्थ करने से किसी को मोक्ष से कम कोई फल ही नहीं देती।

(18.1696) इस लिए ज्ञानप्राप्ति के निमित्त गीता की ही सेवा करे।। अन्य सब शास्त्रों का क्या करोगे?

(18.1697) श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो संवाद हुआ उसे श्रीव्यास ने हथेली में लेने योग्य सुलभ कर दिया हैं।

(18.1698) अत्यन्त प्रेम के साथ माता जब बालक को भोजन कराने बैठती है तो ऐसे कौर बनाती है कि वह खा सके;

(18.1699) अथवा, जैसे पंखा निर्मित कर चतुर मनुष्य ने अपार वायु को भी अधीन कर लिया है,

(18.1700) वैसे ही जो शब्द से प्राप्तव्य नहीं है उसी वेद को श्रीव्यास ने अनुष्टुप् छन्द में रच कर स्त्री, शूद्र इत्यादि की बुद्धि में समाविष्ट होने योग्य बना दिया है।

(18.1701) स्वाती के जल से यदि मोती न बनते तो क्या वे सुन्दर स्त्रियों के शरीरों को शोभित कर सकते थे?

(18.1702) नादब्रह्म यदि वाद्य में न आ बसता तो क्या वह हमें गोचर हो सकता था?

(18.1703) पक्वान्न मधुर न होते तो वे रसना का कैसे भा सकते? दर्पण न हो तो क्या नेत्र निज को ही देख सकते हैं?

(18.1704) निराकार श्रीगुरु-मूर्ति ने यदि साकारता न स्वीकारी होती तो वे उपासकों की सेवा कैसे ग्रहण करते?

(18.1705) वैसे ही ब्रह्म (जो असंख्यात है) यदि सात सौ श्लोक-संख्यागत न होता तो संसार में उसकी प्राप्ति किसे हो सकती थी?

(18.1706) मेघ समुद्र का जल भर लाते हैं पर संसार उन्हीं की ओर दृष्टि लगाये रहता है. क्योंकि जो वस्तु अपरिमित है वह किसी को प्राप्त नहीं हो सकती,

(18.1707) वैसे ही यदि ये सुन्दर श्लोक न होते तो यह कैसे सम्भव हो सकता कि जो वस्तु वाचा से प्राप्तव्य नहीं है वह हमारे कानों को और मुख को प्राप्त हो जाती!

(18.1708) अतएव श्रीव्यास ने जो श्रीकृष्ण के सम्भाषण को ग्रन्थ का आकार दिया यह उनका संसार पर बड़ा उपकार हुआ है।

(18.1709) और उसी को मैंने भी श्रीव्यास के पद देख-देख कर भाषा में श्रवण करने योग्य बना दिया है।

(18.1710 जहाँ व्यास आदि मुनियों की बुद्धियाँ शंकित हो व्यवहृत होती हैं वहाँ मुझ जैसे एक रंक ने भी कुछ बकबक की है!

(18.1711) परन्तु गीतारूपी ईश्वर अत्यन्त भोला है। वह व्यासोक्ति-रूपी पुष्पों की माला धारण करता है, तथापि मेरे दूर्वांकुरों के लिए भी 'न' नहीं कहता।

(18.1712) क्षीरसमुद्र के तट पर पानी पीने के लिए हाथियों के समुदाय आते हैं, तथापि क्या वह मच्छर का कभी मना करता है?

(18.1713) नूतन पंख फूट हुए पखेरू उड़ नहीं सकते तथापि आकाश में ही स्थिर रहते हैं, और गगन को पार करनेवाला गरुड़ भी उसी आकाश में रहता है।

(18.1714) राजहंस की मन्द गति संसार मैं उत्तम गिनी जाती है इसलिए क्या और किसी को चलता ही न चाहिए?

(18.1745 अपनी सामर्थ्य के अनुसार गगरी बहुत-सा जल रख सकती है तो क्या चुल्लू में चुल्लू के परिमाण भर जल नहीं भरा जा सकता?

(18.1716) मशाल बड़ी होती हैं, अतः उसका प्रकाश भी बहुत होता है, परन्तु एक बत्ती भी अपने अनुरूप प्रकाश देती ही है या नहीं?

(18.1717) अजी, समुद्र में आकाश समुद्र-विस्तार के अनुरूप प्रतिबिम्बित होता है, डबरे में डबरे के अनुरूप प्रतिबिम्बित होता है, पर होता है अवश्य;

(18.1718) वैसे ही यह बात युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ती कि व्यास इत्यादि महाज्ञानी इस ग्रन्थ पर विचार करते हैं इसलिए हम चुप हो रहें।

(18.1719) जिस समुद्र में मन्दराचल के समान जलचर संचार करते हैं वहाँ, उन जलचरों के सामने, क्या मछलियाँ तैरने के योग्य नहीं होती?

(18.1720) अरुण सूर्य के अत्यन्त पास रहनेहारा है इसलिए वह सूर्य को देखता है, तो क्या पृथ्वी पर की चिउँटी उसे नहीं देख सकती?

(18.1721) अतएव इस अनुचित उक्ति का कुछ प्रयोजन नहीं है कि हम प्राकृत जनों के लिए भाषा में गीतार्थ करना मना हैं।

(18.1722) बाप आगे चलता है, उसी के पाँवों की ओर दृष्टि दे बालक चले तो क्या वह पाँव न चला सकेगा?

(18.1723) वैसे ही व्यासजी के पीछे-पीछे भाष्यकार श्रीशंकराचार्य से मार्ग पूछ कर चलता हुआ मैं, यद्यपि अयोग्य हूँ तथापि, इस स्थल को न पहुँचूँगा तो कहाँ जाऊँगा?

(18.1724) और जिसके क्षमागुण के कारण पृथ्वी स्थावर-जंगम पदार्थों को धारण करती हुई नहीं ऊबती, जिसके अमृत गुण के द्वारा चन्द्रमा संसार का शीतलता पहुँचाता है,

(18.1725) जिसके अंग के तेज की प्राप्ति से सूर्य अन्धकार के परिणामों का नाश करता है,

(18.1726) समुद्र ने जहाँ से जलता प्राप्त की है, जल ने जहाँ से मधुरता प्राप्त की है और जिसके कारण मधुरता को सौन्दर्य प्राप्त है,

(18.1727) पवन को जिसका बल है, आकाश जिससे विस्तृत है, और ज्ञान जिससे उज्जवल और चक्रवर्ती राजा के समान श्रेष्ठ हुआ है,

(18.1728) जिसके कारण वेदों को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई है, सुख जिससे उल्लसित होता है, अथवा सब जगत ने जिसके कारण रूप धारण किया है

(18.1729) वह सब पर उपकार करनेहारा समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे हृदय में भी प्रविष्ट हो व्यापार कर रहा है;

(18.1730) तो फिर मैं आप ही आप संसार में भाषा में गीता कहने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

(18.1731) श्रीगुरु के नाम से पहाड़ पर एक (एकलव्य नामक) कोली ने मिट्टी की ही मूर्ति बना कर तीनों जगतों का अपनी कीर्ति से एक कर डाला था।

(18.1732) चन्दन के पड़ोस में रहनेहारे वृक्ष चन्दन की ही योग्यता के हो जाते हैं। वसिष्ठ का आश्रय पा कर उनके डुपट्टे ने भी सूर्य की बराबरी की थी।

(18.1733 फिर मैं तो सचेतन हूँ, और श्रीगुरु जैसे मेरे स्वामी हैं जो दृष्टि-मात्र से ही अपना पद दे देते हैं।

(18.1734) एक तो पहले ही दृष्टि उत्तम हो और उस पर सूर्य के प्रकाश का सहाय मिले, फिर दिखाई न दे ऐसा कैसे हो सकता है?

(18.1735) अतः मेरे श्वासोच्छवास ही नित्य नूतन प्रबन्ध हो सकते है। ज्ञानदेव कहते हैं कि श्रीगुरु-कृपा से क्या नहीं हो सकता?

(18.1736) अतः मैं ने गीता का अर्थ सब लोगों की दृष्टि को गोचर होने योग्य भाषा में किया है।

(18.1737) यह भाषा की वाणी प्रेम से गाई जा सकती हैं, परन्तु गानेहारे की अपेक्षा होने के कारण वह. कुछ अपूर्ण नहीं है।

(18.1738) अतः यदि गीता गाना चाहो तो यह भाषा उस गीता को शोभा देती है, अथवा वैसे ही पढ़ो तो गीता को भी मात करती है।

(18.1739) सुन्दर अंग में अलंकार न पहने हो तो वह सादगी भी शोभा देती है, अथवा अलंकार पहने हो तब तो खूब ही शोभा होती है।

(18.1740) अथवा जैसे मोतियों का गुण है कि वे सोने को शोभा देते हैं, अथवा जैसे मोतियों की लड़ी अलग भी स्वयं सुन्दर दिखाई देती हैं,

(18.1741) अथवा जैसे वसन्त के आरम्भ की मोगरे की कलियाँ, गुँथी हुई हों या मुक्त हों, सुगन्ध में न्यून नहीं होतीं

(18.1742) वैसा ही मैंने ओवी छन्द में यह प्रबन्ध ऐसा लाभदायक रचा है कि जो गीत में भी बहार देता है और गीत के बिना भी शोभा देता हैं।

(18.1743) इसमें छोटों से ले कर बड़ों तक सब के समझने योग्य, ब्रह्मरस के सुस्वाद से युक्त अक्षर ओवी प्रबन्ध में गूँथे गये हैं।

(18.1744) सुगन्ध के लिए जैसे चन्दन के वृक्ष में फूल लगने की बाट नहीं जोहनी पड़ती,

(18.1745) वैसे ही यह प्रबन्ध, कान में पड़ते ही, समाधि प्राप्त करा देता है, फिर इसका व्याख्यान सुनने से क्या इसकी चाट न लग जावेगी?

(18.1746) इसका पाठ करने के निमित्त से जो पाण्डित्य प्रकट होता हैं उसके सन्मुख अमृत भी प्राप्त हो तो तुच्छ जान पड़ेगा।

(18.1747) इस प्रकार यह प्रबन्ध आप ही आप कवित्व का विश्रान्तिस्थान बन गया हैं, और इसके श्रवण ने मनन और निदिध्यासन को जीत लिया है।

(18.1748) यह प्रबन्ध हर किसी का आत्मानन्दभोग की प्राप्ति करा देगा और श्रवण के द्वारा सब इन्द्रियों को तृप्त करेगा।

(18.1749) चकोर अपनी शक्ति से चन्द्रमा का उपभोग लेने में प्रसिद्ध है, तथापि जैसे चाँदनी हर किसी को प्राप्त है

(18.1750) वैसे ही इस अध्यात्मशास्त्र से अन्तःकरण तो अधिकारियों का ही सुखी होगा परन्तु वाक्चातुर्य से प्राकृत जन भी सुखी होंगे।

(18.1751) इस प्रकार श्रीनिवृत्तिनाथ की महिमा है। यह ग्रन्थ नहीं, उन्हीं की कृपा का वैभव है।

(18.1752) क्षीरसमुद्र के तट पर श्रीशंकर ने पार्वती के कानों में न जाने कब एक बार जो उपदेश किया

(18.1753) वह, चीरसमुद्र को लहरों में किसी मत्स्य के पेट में जो मत्स्येन्द्रनाथ गुप्त थे उनके हाथ लगा।

(18.1754) वे मत्स्येन्द्रनाथ सप्तशृंग पर्वत पर चौरंगीनाथ से मिले जिनके कि हाथ-पाँव लूले थे। मिलते ही चौरंगीनाथ पूर्णांग हो गये।

(18.1755) तदनन्तर अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उस मुद्रा का उपदेश गोरक्षनाथ को किया।

(18.1756) उससे मानों उन्होंने योगरूप कमलिनी के सरोवर, विषयों का विध्वंस करनेहारे एक ही वीर जो सर्वेश्वर शंकर हैं उन्हीं को उस पद पर अभिषिक्त किया।

(18.1757) श्रीशंकर से प्राप्त किया हुआ यह अद्वैतानन्द सुख फिर उनसे सम्पूर्णतः श्रीगैनीनाथ ने सम्पादन किया।

(18.1758) वे सब प्राणियों को कलिकाल से ग्रस्त देख कर दौड़ आये और उन्होंने श्री निवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी

(18.1759) कि आदिगुरु शंकर से ले कर शिष्य-परम्परानुसार हमें जो ज्ञान की निधि प्राप्त हुई है,

(18.1760) उस सब को ले कर तुम दौड़ जाओ और कलि के बलि होते हुए इन जीवों की सब प्रकार से शीघ्र रक्षा करो।

(18.1761) श्रीनिवृत्तिनाथ पहले ही कृपालु थे, उस पर गुरु की आज्ञा के वचन ऐसे हुए मानों वर्षाकाल में मेघ घिर आये हो।

(18.1762) फिर पीडित जनों के प्रेम से गीतार्थ-निरूपण के मिस से उन्होंने जो शान्त रस की वर्षा की वही यह ग्रन्थ है।

(18.1763) यहाँ मैं एक चातक इस रस की इच्छा से बैठा हुआ था परन्तु इतने से ही मैं इस यश को प्राप्त हुआ हूँ;

(18.1764) एवं मेरे स्वामी ने गुरुपरम्परा से प्राप्त जो उनका समाधिधन था वही मुझे इस ग्रन्थ के द्वारा उपदेश कर दे दिया।

(18.1765) अन्यथा मैं तो न कहीं सीखा हूँ न पढ़ा हूँ और स्वामी की सेवा भी नहीं जानता फिर मुझको ग्रन्थ रचने की योग्यता कैसे हो सकती है?

(18.1766) परन्तु यह सत्य जानो कि श्रीगुरुनाथ ने मेरा निमित्त कर इस प्रबन्ध के द्वारा संसार की रक्षा की है।

(18.1767) तथापि पुरोहित की रीति से मैंने आपके सन्मुख जे कुछ थोड़ा-बहुत कहा है उसे आप सन्तजन माता के समा क्षमा करें।

(18.1768) शब्द की रचना कैसे की जाती हैं, सिद्धान्त कैसे स्थापित किया जाता है, अलंकार किसे कहते हैं, इत्यादि मैं कुछ नहीं जानता।

(18.1769) परन्तु डोरी की गति के अनुसार जैसे कठपुतली चलती है वैसे ही मेरे स्वामी ने जो कुछ बताया वही मैंने कहा है।

(18.1770) इस लिए मैं इस ग्रन्थ के गुण-दोषों के विषय में विशेष क्षमा नहीं माँगता क्योंकि साद्यन्त यह ग्रन्थ मुझसे आचार्य ने ही कहवाया है।

(18.1771) और आप सन्तों की सभा में जो कमी आ पड़े वह यदि पूर्ण न हुई तो मैं सप्रेम आप पर ही कोप करूँगा।

(18.1772) पारस का स्पर्श होने पर भी यदि लोहे की लोहस्वरूपी निकृष्ट स्थिति न छूटे तो दोष किसका है?

(18.1773) नाले का काम इतना ही है कि वह गंगा से जा मिले, परन्तु तिस पर भी यदि वह गंगारूप न हो तो उसका क्या कसूर?

(18.1774) अतः बड़े भाग्य से मुझे आप सन्तों के चरण प्राप्त हुए हैं, अब जगत् में मुझे किस वात की कमी है?

(18.1775) अजी! मेरे स्वामी ने मुझे आप सन्तों का लाभ करा दिया है; इससे मेरे सब मनोरथ परिपूर्ण हो चुके।

(18.1776) देखिए, मुझे आप जैसा नैहर अर्थात् सर्वसाधन प्राप्त स्थान मिला इससे ग्रन्थ रचने का मेरा हठ भली भाँति पूरा हुआ।

(18.1777) अजी! सम्पूर्ण पृथ्वीतल सोने का ढाला जा सकेगा, चिन्तामणियों के पर्वतों बनाये जा सकेंगे,

(18.1778) सातों समुद्रों को अमृत से भर देना सुलभ है, तारागणों को चन्द्र बना देना कुछ कठिन नहीं है,

(18.1779) कल्पवृक्षों का बगीचा लगाना कुछ दुर्घट नहीं है, परन्तु गीतार्थ के मर्म की छान नहीं की जा सकती।

(18.1780) सब तरह से गूँगा होने पर भी मैंने जो भाषा में इसका ऐसा वर्णन कर दिया है कि जो सब लोगों को प्रत्यक्ष दिखाई दे,

(18.1781) इतने बड़े ग्रन्थसागर के पार उतर कर मैं जो कीर्तिरूपी विजय की पताका फहरा रहा हूँ,

(18.1782) प्राकार और कलश-सहित गीतार्थरूपी मन्दिर की रचना कर उसमें जा मैं श्रीगुरु मूर्ति की पूजा कर सका हूँ,

(18.1783) गीता-रूपी निष्कपटी माता को भूल कर जो बालक वृथा घूम रहा था उसे उस माता की जो भेंट हो गई है वह सब आपकी ही बदौलत।

(18.1784) मैं आप सज्जनों की कृति की ओर दृष्टि देकर कह रहा हूँ। ज्ञानदेव कहते हैं कि आपके उपकार अल्प नहीं हैं।

(18.1785) बहुत क्या कहूँ, आपने जो यह ग्रन्थ-सिद्धि का आनन्द दिखाया वह मानों मेरे सम्पूर्ण जन्मों का फल प्राप्त करा दिया है।

(18.1786) मैंने जो-जो आशाएँ आपसे की थीं उन सबको पूर्ण कर आपने मुझे बड़ा सुख दिया।

(18.1787) हे स्वामी! मेरे लिए आपने जो यह ग्रन्थरूपी दूसरी सृष्टि ही रची है उसे देख मैं विश्वामित्र की सृष्टि पर हँसता हूँ।

(18.1788) क्योंकि वह नाश होनेवाली सृष्टि त्रिशंकु के लिए और ब्रह्मदेव का न्यून ठहराने के लिए बनाई गई थी। परन्तु यह रचना वैसी नहीं है।

(18.1789) शंकर ने भी उपमन्यु के प्रेम के वश क्षीर-सागर की रचना की है परन्तु वह भी इसकी उपमा के योग्य नहीं है, क्योंकि उसके गर्भ में विष है।

(18.1790) यह सत्य है कि अन्धकाररूपी राक्षस से ग्रस्त चराचर की रक्षा करने के लिए सूर्य दौड़ आये परन्तु वे भी उष्णता पहुँचाते हुए रक्षा करते हैं।

(18.1791) सन्तप्त जगत् के लिए चन्द्रमा अपनी चाँदनी खर्च करता है, परन्तु उस सकलंक चन्द्र के समान यह ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है?

(18.1792) अतएव आप सन्तों ने, संसार में मुझ पर जो यह ग्रन्थरूपी उपकार किया है वह निश्चय से निरूपम है।

(18.1793) किंबहुना, यह ग्रन्थ क्या मानों आपका धर्म-कीर्तन ही पूर्ण हुआ है। इसमें मेरी ओर केवल आपकी सेवकाई ही शेष रही है।

(18.1794) अब मेरे विश्वरूप गुरुदेव इस वाग्यज्ञ से सन्तुष्ट हों और सन्तोष के साथ मुझे यह प्रसाद दें

(18.1795) कि दुष्टों की कुटिलता छूटे और उन्हें सत्कर्म में प्रेम उत्पन्न हो; प्राणियों में परस्पर अन्तःकरणयुक्त मित्रता रहे

(18.1796) पापरूपी अन्धकार का नाश हो, संसार में स्वधर्मरूपी सूर्य प्रकाशित हो, प्राणिमात्र की इच्छाएँ पूर्ण हो,

(18.1797-98) सकल मंगल की वर्षा करते हुए भगवज्जनों के समुदाय (जो मानों करोड़ो चलते हुए कल्पवृक्षों के समूह हैं, जीवित चिन्तामणियों के गाँव हैं, अथवा अमृत के बोलते हुए समुद्र हैं) प्राणियों को संसार में निरन्तर मिलते रहें।

(18.1799) जो कलंकरहित चन्द्रमा हैं अथवा ताप-रहित सूर्य हैं उन सज्जनों से सब लोग सदा सम्बन्ध रक्खें।

(18.1800) बहुत क्या कहें, तीनों लोकों में सब लोग सब सुखों से पूर्ण हो आदिपुरुष का अखण्ड भजन किया करें,

(18.1801) और विशेषतः जो इस लोक में इस ग्रन्थ पर ही जीवन धारण करते हैं उन्हें इस लोक का और परलोक का सुख प्राप्त हो।

(18.1802) इतना सुन कर श्रीगुरु ने कहा कि ठीक है, यह दानप्रसाद दिया जावेगा। इस वर से ज्ञानदेव सुखी हुए।

(18.1803) कलियुग में महाराष्ट्र देश में श्रीगोदावरी के दक्षिण तीर पर

(18.1804) त्रिभुवन में पवित्र रूप पंच-कोश क्षेत्र है, जहाँ जगत् के जीवनसूत्र श्रीमोहनीराज हैं;

(18.1805) वहाँ यादव वंश को शोभा देनेहारा, सकल कलाओं में प्रवीण, न्याय का पालन करनेहारा श्रीरामचन्द्र नामक राजा था।

(18.1806) वहाँ श्रीशंकर-परम्परोत्पन्न श्रीनिवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने गीता को भाषा के अलंकार पहनाये।

(18.1807) निवृत्ति-दास ज्ञानदेव कहते है कि इस प्रकार, महाभारत-रूपी नगर में, भीष्मनामक प्रसिद्ध पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो उत्तम संवाद वर्णन किया गया है,

(18.1808) जो उपनिषदों का सार है, जो सब शास्त्रों का आकर है, परमहंसरूपी हंस जिस सरोवर का सेवन करते हैं,

(18.1809) उसी गीता का कलश यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हो चुका।

(18.1810) उत्तरोत्तर काल से सब प्राणिगण इस ग्रन्थ की पुण्य-सम्पत्ति के द्वारा सब सुखों से सम्पूर्ण हों।

(18.1811) यह टीका ज्ञानेश्वर ने शक 1272 में रची और इसे सच्चिदानन्द बाबा ने लिखा।

इति श्रीज्ञानदेवकृत भावार्थदीपिकायाम् अष्टादशोऽध्यायः।

ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका टीका समाप्त।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

–:o:--